

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No.	DUE DATE	SIGNATURE

राजनय के सिद्धान्त

(Theory & Practice of Diplomacy)



डॉ० हरिचन्द्र शर्मा

आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त भारत में लोक प्रशासन प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं अन्तर्राष्ट्रीय कानून भारत में स्थानीय प्रशासन आदि पुस्तकों के रचयिता

एव

शरी के जैन

एव ए



कालेज बुक डिपो, जयपुर

© Publishers

All Rights Reserved with the Publishers

Published by College Book Depot B3 Tnpoka Japur 2

Type-Setting at Printograph Japur

नये संस्करण की भूमिका

साधारण बोलचाल की भाषा में 'राजनय' (Diplomacy) शब्द का प्रयोग छल कपट धातुर्य एवं असत्य व्यवहार के लिए किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी राजनय को प्रारम्भ में इसी अर्थ में समझा जाता था। कुछ विचारकों की मान्यतानुसार राजनयज्ञ एक राज्य का ऐसा प्रतिनिधि होता है जो विदेशों में झूठ बोलने के लिए भेजा जाता है। भारतीय राजनीतिज्ञ कीटित्य के मतानुसार राजनयज्ञ को शत्रुमुखी नीति द्वारा राज्य के लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। इस नीति के अग हैं—शान्ति युद्ध तटस्थता युद्ध तत्परता सन्धि और शत्रुओं में फूट डालना। इस दृष्टि से राजनय किसी आदर्श को लक्ष्य मानकर नहीं चलता परन्तु राज्य के लिए वास्तविक सफलता प्राप्त करना ही उसका मुख्य लक्ष्य है। आज भी राजनय का लक्ष्य राज्य के राष्ट्रीय हितों की उपलब्धि है। यद्यपि आज राजनय के तरीके प्रक्रिया एवं भाषा में परिवर्तन आ गया है। राज्यों में ज्यों ज्यों पारस्परिक निर्भरता बढ़ती जा रही है त्यों त्यों राजनयिक आचरण भी विशेष आकर्षण का केन्द्र बनता जा रहा है।

राजनय के सिद्धान्त का यह नवीन संशोधित परिवर्द्धित संस्करण प्रस्तुत करते हुए हमें विशेष हर्ष है। इसमें राजनय के सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही पक्षों को पूर्वापेक्षा अधिक समृद्ध बनाया गया है। लगभग प्रत्येक अध्याय को संशोधित परिवर्द्धित करते हुए राजनय की नवीन प्रवृत्तियों के प्रकाश में अद्यतन बनाने की चेष्टा की गई है। राजनय और महाशक्तियाँ, राजनय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून, युद्ध और शान्ति के दौरान राजनय, कुछ महान् राजनयज्ञ आदि पर नए अध्याय जोड़े गए हैं। इसमें नरसिंहराव सरकार के राजनय तक को भी जोड़ा गया है। सोवियत संघ के पतन, पश्चिमी एशिया के समाधान के लिए आयोजित मैड्रिड और वाशिंगटन सम्मेलन भी इसमें शामिल किये गये हैं। आशा है अपने नए स्वरूप में यह संस्करण विश्व में रुचिशील पाठकों के लिए पहले की तुलना में अधिक उपादेय सिद्ध होगा।

सुधार हेतु सुझाव सहर्ष आमन्त्रित हैं। जिन कृतियों और स्रोतों से पुस्तक के प्रणयन में सहायता ली गई है उनके प्रति हम हृदय से आभारी हैं।

लेखकद्वय

अनुक्रमणिका

1. राजनय का जन्म, स्वरूप, विकास, लक्ष्य एवं कार्य
(Origin, Nature, Development, Objectives and Functions of Diplomacy)
राजनय का अर्थ एवं स्वरूप (1) राजनय और विदेश नीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून (6) राजनयिक राजनीति (9) राजनय और विज्ञान (9) राजनय का जन्म या उदय (10) राजनय का विकास (11) राजनय का क्षेत्र (17) राजनय के लक्ष्य (18) राजनय के कार्य (22) राजनयिकों के प्रमुख कार्य (25) राजनय के प्रयोग की विधियाँ (27) राजनय का महत्व अथवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राजनय का स्थान (28)
2. राजनय राष्ट्रीय शक्ति के हथियार और साधन के रूप में
(Diplomacy as a Weapon and Tool of National Power)
राजनयिक सम्बन्धों की स्थापना और मजबूती द्वारा राष्ट्रीय हितों की अनिवार्यता (30) राष्ट्रीय शक्ति के हथियार और साधन के रूप में राजनय पर नौगैरियों के विचार (32) राष्ट्रीय शक्ति के साधन के रूप में राजनय की सकलता के लिए नौ नियम (35) राष्ट्रीय हित की अनिवार्यता के लिए राजनय के नूतन कार्य (38)
3. राजनय के साधन एवं तरीके, राजनयिक व्यवहार का विकास—राजनय के यूनानी, इटालियन, फ्रांसीसी और भारतीय मत
(Means and Methods of Diplomacy, Evolution of Diplomatic Practice—Greek, Italian, French and Indian School of Diplomacy)
यूनानी राजनयिक व्यवहार (40) रोमन राजनयिक व्यवहार (42) राजनयिक आधार का इटालियन तरीका (45) राजनयिक आधार का फ्रांसीसी तरीका (51) राजनयिक आधार का भारतीय तरीका (57) भारतीय राजनय के साधन (60) भारतीय राजनय के प्रकार (62) भारतीय राजनय का व्यवहारिक रूप (64)
4. राजनय के रूप : प्रजातन्त्रात्मक राजनय, संसदीय राजनय, रिक्टर राजनय, सम्मेलनीय राजनय, व्यक्तिगत राजनय तथा सहनितन राजनय, आधुनिक विश्व में उनका प्रभाव और सीमाएँ - पुराना राजनय - पुराने का नए की ओर परिवर्तन, नया राजनय, नई तकनीकें तथा राजनय में आधुनिक विकास .
(Types of Diplomacy—Democratic Diplomacy, Parliamentary Diplomacy, Summit Diplomacy, Conference Diplomacy, Personal Diplomacy and Coalition Diplomacy, Their Potentialities and Limits in the Modern World—Old Diplomacy, Transition from Old to the New, New Diplomacy, New Techniques and Recent Developments in Diplomacy)
प्रजातन्त्रात्मक राजनय (67) संसदीय राजनय (73) रिक्टर राजनय (77) सम्मेलनीय राजनय (84) व्यक्तिगत राजनय (94) सर्वधिकारवादी राजनय (94) खुला राजनय और गुप्त राजनय (95) दुकानदार राजनय

- राजनय बनाम यौद्धिक राजनय (98) प्रचार द्वारा राजनय (100) समुक्त या सहमितन राजनय (100) पुराना राजनय (102) नवीन राजनय (107) सांस्कृतिक राजनय (111) युद्धपोत राजनय (112) राजनय में नयी तकनीकें और नये विकास (113) राजनय पर प्रभाव डालने वाले कुछ नये विकास (115)
- 5 राजनय का दगस्त असंतन्ता का राजनय, सहायता का राजनय अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का राजनय, राष्ट्रमण्डलीय राजनय (The Arena of Diplomacy of Non alignment, Diplomacy of Aid, Diplomacy at the International Organisations, Commonwealth Diplomacy) 117
- असंतन्ता का राजनय (117) सहायता का राजनय (120) अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का राजनय (127) राष्ट्रमण्डलीय राजनय (139)
- 6 आधुनिक राजनय में प्रचार—युद्ध और शान्ति के दौरान राजनय (Propaganda in Modern Diplomacy Diplomacy during War and Peace) 143
- प्रचार का अर्थ (143) प्रचार एव राजनय (144) राष्ट्रीय हित में वृद्धि के लिए प्रचार (145) विदेश नीति के साधन के रूप में प्रचार (146) युद्धकाल और शान्तिकाल में प्रचार का राजनय (147) राजनय प्रचार तथा राजनीतिक युद्ध (149) प्रचार के उपकरण (150) प्रचार के तरीके (152) प्रभावशाली प्रचार की आवश्यकताएँ (155) शान्ति और युद्ध के दौरान महाराष्ट्रियों के प्रचार यन्त्र (156) सोवियत संघ का प्रचार यंत्र (158)
- 7 राजनय और महाराष्ट्रियों—राजनय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Diplomacy and Super Powers Diplomacy and International Law) 160
- समुक्तराज्य अमेरिका का राजनय (160) सोवियत संघ का राजनय (177) ब्रिटिश राजनय (190) राजनय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून (194)
- 8 राजनयिक अधिकार और वाणिज्य दूत श्रेणियाँ एव छम्मुक्तियाँ, तृतीय राज्य के सन्दर्भ में स्थिति, राजनयिक निकाय अग्रत्व का नियम प्रत्यय पत्र एव पूर्णाधिकार 197
- (Diplomatic Agents & Consuls Their Classes and Immunities, Position in Regard to the Third State, The Diplomatic Body, Principle of Precedence Credentials and Full Powers)
- राजनयिक अधिकारों की श्रेणियाँ (198) दूतों की नियुक्ति (202) विशेषाधिकार एव छम्मुक्तियाँ (203) तृतीय राज्य के सन्दर्भ में राजनयिक अधिकारों की स्थिति (207) राजनयिक निकाय (209) अग्रत्व का नियम (210) प्रत्यय पत्र एव पूर्णाधिकार (213) राजनयिक मिशन की समाप्ति (214) वाणिज्य दूत (219) वाणिज्य दूतों का कानूनी स्तर और श्रेणियाँ (218) राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि में राजनयज्ञों का योगदान (223)
- 9 अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन और कार्य सम्पादन (International Meetings and Transactions) 226

- काँग्रेस तथा सम्मेलन (227) सम्मेलन का स्थान (227) सम्मेलन की तैयारियों (228) सम्मेलन के प्रतिनिधि (228) सम्मेलन की भाषा (229) सम्मेलन का अध्यक्ष (229) अग्रत्व (230) सम्मेलनों की प्रक्रिया (230) सम्मेलन का सचिव (232) अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के कुछ उदाहरण (232)
- 10 सन्धियाँ एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीय समझौते, अतिप्रतिपत्ति सन्धि, अतिरिक्त धाराएँ, अन्तिम अधिनियम, प्रामाणिक विवरण, अनुसमर्थन, सहमिलन आदि242
(Treaties and other International Compacts, Concordat, Additional Articles, Final Act, Process Verbal, Ratification, Accession etc.)
सन्धि एवं अधिनियम (242) घोषणाएँ (254) समझौता (255) विदेशाधिकरण (256) सम्पत्तों का विनियम (256) अतिप्रतिपत्ति सन्धि (257) अतिरिक्त धाराएँ (257) अन्तिम अधिनियम (258) सामान्य अधिनियम (258) प्रामाणिक विवरण (258) अस्थादी प्रणाली (259) विशेष समझौते (259)
- 11 राजनयिक सम्पर्क की भाषा एवं अभिलेखों का रूप260
(Language of Diplomatic Intercourse and Forms of Documents)
राजनयिक भाषा अंग्रेजी लेटिन फ्रेंच (260) संक्षिप्त कथन (262) राजनयिक शब्दावली (264) सम्प्रदायों एवं राज्यघटकों के बीच पत्र व्यवहार (268) राजनयिक पत्र व्यवहार की अमान्यता (269)
- 12 कुछ महान् राजनयज्ञ - मेटर्निख, कैसल रे, बिस्मार्क, विल्सन, वेलेरों, के. मेनन, के. एम. पत्रिकर, राजनयज्ञों की बदलती हुई भूमिका270
(Some Great Diplomats - Metternich, Castlereagh, Bismarck, Wilson, Tallaron, K. Menon, K. M. Panikar, Changing Role of Diplomats)
मेटर्निख (270) कैसलरे (275) बिस्मार्क (278) बुडरो विल्सन (282) वेलेरों (286) वी के कृष्ण मेनन (288) वॉशिंगटन राजनय कैसे और क्या? (289) के. एम. पत्रिकर (292) नरसिंहराव का राजनय (293) राजनयज्ञ के लिए परामर्श (295) राजनयज्ञ की बदलती हुई भूमिका (298) राजनयिक कार्य की सीमाएँ (301)
- 13 विदेश नीति एवं राजनय303
(Foreign Policy & Diplomacy)
विदेश नीति का अर्थ (303) विदेश नीति के तत्व (304) विदेश नीति के लक्ष्य (306) विदेश नीति एवं राजनय में सम्बन्ध दोनों एक दूसरे के पूरक (306) राजनय और विदेश नीति में अन्तर (309)
- 14 विदेश सेवा एवं विदेश कार्यालय312
(Foreign Service & Foreign Office)
अमेरिकी विदेश सेवा का योगदान (313) अमेरिकी विदेश सेवा का विकास (314) अमेरिकी विदेश सेवा की वर्तमान स्थिति (318) अमेरिकी विदेश सेवा का मूल्यकन (321) भारतीय विदेश सेवा और विदेश कार्यालय (323)

Suggested Readings

- | | |
|-----------------------------------|---|
| 1 Adair, E R | <i>The Extra-territoriality of Ambassadors in the 16th and 17th centuries</i> |
| 2 Beaulac, Willard L | <i>Career Ambassador</i> |
| 3 Bemis, Samuel Flagg, ed | <i>The American Secretaries of State and their Diplomacy</i> |
| 4 Fraser, Mrs Hugh | <i>A Diplomat's Wife</i> |
| 5 Dodd Mortha | <i>Through Embassy Eyes</i> |
| 6 Heatly, D P | <i>Diplomacy and the Study of International Relations</i> |
| 7 David Jayne Hill | <i>History of Diplomacy in the Development of Europe, 3 Vols</i> |
| 8 Hudson and Feller | <i>Diplomatic Laws and Regulations</i> |
| 9 Kelly and Dot | <i>Dancing Diplomats</i> |
| 10 Knatchbull Hugessen, Sir Hughe | <i>Diplomat in Peace and War</i> |
| 11 Stewart, Irwin | <i>Consular Privileges and Immunities</i> |
| 12 Vane Daniele | <i>The Laughing Diplomat</i> |
| 13 Waddington, Mary King | <i>Letters of a Diplomat's Wife</i> |
| 14 Young, George | <i>Diplomacy Old and New</i> |
| 15 Akzin, Benjamin | <i>Propaganda by Diplomats</i> |
| 16 Aldrige, James | <i>The Diplomat</i> |
| 17 American Assembly | <i>The Representation of the United States Abroad</i> |
| 18 Barchard, Edwin M | <i>The Diplomatic Protection of Citizens Abroad</i> |
| 19 Childs James Reuben | <i>American Foreign Service</i> |
| 20 Crosswell Carol M | <i>Protection of International Personnel Abroad</i> |
| 21 Hankey, Lord Maurice P | <i>Diplomacy by Conference</i> |
| 22 Huddleston, Sisley | <i>Popular Diplomacy and War</i> |
| 23 Mayor, Arno J | <i>Political Origins of the New Diplomacy</i> |
| 24 Numelin, Ragnar, J | <i>The Beginnings of Diplomacy</i> |
| 25 Ronsonby, Arthur | <i>Democracy and Diplomacy A Plea for Popular Control of Foreign Policy</i> |

- | | |
|----------------------|---|
| 26 Satow Sir Ernest | A Guide to Diplomatic Practices |
| 27 Stuart, Graham, H | American Diplomatic and Consular Practice |
| 28 Winston, Henry M | Diplomacy in Democracy |
| 29 Harold Nicolson | Diplomacy |
| 30 Harold Nicolson | Evolution of Diplomatic Methods |
| 31 Krishna Murty | Dynamics of Diplomacy |
| 32 Hayter | Diplomacy of the Great Powers |
| 33 K. M. Panikkar | Principles and Practice of Diplomacy |
| 34 Thayer | Diplomacy |
| 35 Regalla | Trends in Diplomatic Practice |
| 36 Kennedy, A.L. | Diplomacy—Old and New |
| 37 I P Singh | Diplommetry |

राजनय का जन्म, स्वरूप, विकास,

लक्ष्य एवं कार्य

(Origin, Nature, Development, Objectives and Functions of Diplomacy)

आज का युग अन्तर्राष्ट्रीयता का युग है। प्रत्येक राज्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह ऐसे कार्य न करे जिनसे विश्व शान्ति भंग होने की आशंका हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि विश्व के देश परस्पर सहयोग और सद्भाव के साथ अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का निर्वाह इस ढंग से करें कि सन्तुष्टि और युद्ध के अवसर उपस्थित न हों। उनके आपसी विवादों का निपटारा शान्तिपूर्ण ढंग से हो। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने के लिए जिस पद्धति का आश्रय लिया जाता है उसे ही हम राजनय अथवा 'कूटनीति' (Diplomacy) की सहायता देते हैं।

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सम्पूर्ण सात बाना 'राजनयिक व्यवहार और सम्बन्धों पर आश्रित है। परम्परावादी विचारधारा के अनुसार राजनयिक व्यवहार का प्रमुख उद्देश्य भ्रम राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करके एक राज्य के राष्ट्रीय हितों की रक्षा एवं अभिवृद्धि करना है। इसके लिए प्रत्येक राज्य अपने राजदूत (Diplomat) अन्य राज्यों से भेजाता है। ये राजनयिक अपने कुशल बुद्धिपूर्ण एवं सद्भावपूर्ण व्यवहार द्वारा स्वामतकारी राज्य की शान्ति और सरकार का दिल जीतने का प्रयास करते हैं। राजनय अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के विभिन्न सदस्य राष्ट्रों के बीच सम्बन्ध जोड़ने का एक सूत्र है। इसके द्वारा अनेक सम्भावित अवसरों पर मुद्दा रोका जाता है तथा राज्यों के आपसी विवादों को शान्ति प्रयोग के रथान पर समझौते एवं बातचीत द्वारा हल किया जाता है।

मार्गन्धो ने राजनयिक को 'राष्ट्रीय शक्ति का मस्तिष्क' (Brain of National Power) माना है और 'राष्ट्रीय मर्यादा या हौसले को उसकी आत्मा (National morale is its soul) की सहायता देता है। उन्नी के शब्दों में "इतिहास में प्रायः बुद्धि तथा आत्मा से रहित 'गोलियाँ' 'डेविड' द्वारा मारा गया है जिसके दास मस्तिष्क और आत्मा दोनों ही थे। उत्तम श्रेणी का राजनयिक विदेश-नीति के लक्ष्य तथा साधनों का राष्ट्रीय शक्ति के प्रायः साधनों से सामंजस्य स्थापित कर देगा। यह राष्ट्रीय शक्ति के गुप्त स्रोतों की खोज कर लेगा और उन्हें स्थायी रूप से राजनीतिक सत्यताओं में परिणत कर देगा। राष्ट्रीय प्रयत्न को दिशा प्रदान कर यह अन्य तथ्यों जैसे औद्योगिक सम्भावनाओं, सैनिक तैयारी, राष्ट्रीय परित्र तथा राष्ट्रीय हौसले का प्रभाव बढ़ा देगा। यदि नीति के लक्ष्य तथा साधन स्पष्ट रूप

से विदित हों तो राष्ट्रीय शक्ति अपनी तमाम सम्पादनाओं का पूरा सदुपयोग कर सामान्यतया किन्तु युद्ध के समय विशेष रूप से उच्चतम शिखर पर पहुँच सकता है।" इस तरह से राष्ट्रीय शक्ति की अनिदृष्टि में राजनयज्ञ की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

राजनय का अर्थ एवं स्वरूप (The Meaning and Nature of Diplomacy)

लेखकों एवं राजनयज्ञों ने राजनय सम्बन्धी विषय पर प्रचुर साहित्य की रचना की है। प्रारम्भ में इसे एक गोपनीय एवं रहस्यपूर्ण व्यवसाय माना जाता था तथा राजनयज्ञ ऐसे लोग समझे जाते थे जो ऊपरी धमक-दमक के पीछे खतरनाक षडयन्त्रों का आयोजन किया करते थे। आज वे केवल नागरिक सेवा की विशेष शाखा के सदस्य मात्र हैं। यद्यपि राजदूतों एवं मन्त्रियों को दूसरे राज्य में अपने पूर्वदरिद्यों की भक्ति सम्मान विशेषाधिकार, उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती हैं किन्तु उनका अतीतकालीन राजसी टाट-बाट और विलासितापूर्ण जीवन अब केवल इतिहास के पृष्ठों तक ही सीमित रह गया है। राजनयज्ञों के व्यवहार के विभिन्न पहलुओं ने राजनय के अर्थ में भी अनेकरूपता ला दी है। एक सक्रिय व्यवसाय होने के नाते 'राजनय' शब्द का अनेक बार गलत प्रयोग भी किया जाता है। कभी इसे एक नीति के रूप में लिया जाता है और कभी इसे सन्धि वार्ता के सम्पूर्ण क्षेत्र के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

रा. ॥ का शाब्दिक अर्थ (Meaning of the word 'Diplomacy')

हिन्दी का 'राजनय' शब्द अंग्रेजी के 'डिप्लोमेसी' (Diplomacy) का समानार्थी है। डिप्लोमेसी शब्द का प्रयोग आज से लगभग 196 वर्ष पूर्व होने लगा था। सर्वप्रथम 1796 ई. में एडमण्ड बर्क ने इस अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त किया। 'डिप्लोमेसी' शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के 'डिप्लौन' (Diploun) शब्द से हुई है जिसका अर्थ मोड़ना अथवा दोहरा करना (To Fold) होता है। रोमन साम्राज्य में पासपोर्ट एवं सड़कों पर चलने के अनुमति-पत्र आदि दोहरा करके ली दिए जाते थे। ये पासपोर्ट तथा अनुमति-पत्र धातु के पत्रों पर खुदे रहते थे इनको डिप्लोमा (Diploma) कहा जाता था। धीरे-धीरे 'डिप्लोमा' शब्द का प्रयोग सनी सरकारी कागजातों के लिए होने लगा। विदेशियों के विशेषाधिकार अथवा उन्मुक्ति एवं विदेशी सन्धियों सम्बन्धी कागजात को भी 'डिप्लोमा' की सजा दी जाने लगी। जब इन सन्धियों एवं समझौतों की संख्या अधिक हो गई तो इनको सुरक्षित स्थानों पर रखा जाने लगा। ये स्थान बाद में राजकीय अभिलेखागारों के नाम से जाने गए। राज्याभिलेखागारों के डिप्लोमाज की संख्या बढ़ने पर उनको छाँटकर अलग करके और उनकी देखभाल रखने के लिए अलग से कर्मचारी नियुक्त किए जाने लगे। इन कर्मचारियों का कार्य राजनयिक कृत्य (Diplomatic Business) कहलाया। धीरे-धीरे इस कार्य-व्यापार के लिए 'डिप्लोमेसी' शब्द प्रयुक्त होने लगे। राज्याभिलेखागारों का कार्य अलग हो गया। आज भी इस कार्य के लिए अंग्रेजी भाषा में 'डिप्लोमेटिक' शब्द ही प्रचलित है।

परिभाषाएँ एवं स्वरूप (Definitions and Nature)

'राजनय' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। प्रसिद्ध फ्रान्सीसी विद्वान हैरल्ड निकोलसन (Harold Nicolson) के अनुसार ये अर्थ एक-दूसरे से पर्याप्त मिलते

है। यमी इसका प्रयोग विदेश नीति के सामानार्थक के रूप में किया जाता है। कमी इस शब्द द्वारा सन्धि वार्ता को इंगित किया जाता है। राजनय सन्धि वार्ता की प्रक्रिया एव यन्त्र को भी इंगित करता है। कमी कमी विदेशी सेवा की एक शाखा को राजनय कह दिया जाता है।¹ एक अन्य अर्थ में राजनय को अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि वार्ता करने का अमूर्त गुण या कुशलता माना जाता है। राजनय का सबसे अच्छा रूप वार्ता का और सबसे दुरा रूप छल छद्म का है।

इस प्रकार राजनय एक अनेकार्थक शब्द है। इसके अर्थों एवं प्रयोगों की भिन्नता एवं आपसी विरोध अनेक बार पाठक को भ्रम में डाल देता है। सम्भवतः राजनीतिशास्त्र की अन्य कोई शाखा इतना भ्रम उत्पन्न नहीं करती है। हेरल्ड रिब्लान द्वारा वर्णित राजनय के उक्त अर्थों के सम्बन्ध में आर्गेन्स्की (Organski) ने लिखा है कि कुशलता घुसराई एवं कपट एवं अच्छे राजनय के स्मरण हो सकते हैं किन्तु इन्हें राजनय को परिभाषित करने वाली विशेषता नहीं माना जा सकता। राजनय विदेशी नीति के समकक्ष भी नहीं है। यह विदेशी नीति का ऐसा अंग है जो उसकी रचना और विघटन में सक्रिय योगदान करता है। आर्गेन्स्की ने राजनय की यह परिभाषा दी है—“राजनय दो अथवा दो से अधिक राष्ट्रों के सरकारी प्रतिनिधियों के बीच होने वाली सन्धि वार्ता की प्रक्रिया को इंगित करती है।”²

मैकलेला तथा अन्य के कथानुसार राजनय की मूलभूत परिभाषा के अनुसार यह राष्ट्रों के मध्य स्थित सम्पर्क का एक रूप है जो प्रत्येक अन्य राज्य की राजधानी में प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधिरव घर आधारित है।³ मैक्सवेल एनसाइक्लोपीडिया में विलियम वारटन मैटलीकाट ने राजनय विषयक लेख में बताया है कि “नित्य प्रति की भाषा में राजनय मानवीय कार्यों के चातुर्यपूर्ण संचालन को कहते हैं। अपने विशिष्टार्थ में यह अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों का सन्धि वार्ता द्वारा संचालन है।”⁴ वेमार्टी च्यू इंग्लिश डिक्शनरी के अनुसार राजनय का अर्थ है—“राष्ट्रों के मध्य सन्धि वार्ता संचालन का कार्य या कला अथवा ऐसे व्यवहार में वीरल या पटुता का प्रयोग।”⁵ ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी के अनुसार “सन्धि वार्ता द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की व्यवस्था राजनय है। यह वह पद्धति है जिस के द्वारा राजदूत एवं दूत इन सम्बन्धों की व्यवस्था करते हैं। यह राजनयिक कार्य अथवा कौशल है।”⁶ यह परिभाषा सक्षिप्त किन्तु व्यापक है। निकल्सन ने राजनय को विदेश नीति एवं अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण से पृथक् रखा है।

1. *Nicolson II Diplomacy* pp 13-14

2. “To put the definition down completely Diplomacy refers to the process of negotiation carried on between the official governmental representatives of one nation and those of other (or others)” —A F K Organski

3. “The most basic definition of diplomacy is that it is a form of contact between nations based on permanent representation of each state in the capital city of each other states” —McLellan and Others

4. *Chamber's Encyclopaedia (New Edition) Vol IV*

5. *Webster's New English Dictionary (1928)*

6. “Diplomacy is the management of international relations by negotiation the method by which these relations are adjusted and managed by ambassadors and envoys the business or art of the diplomat” —*Oxford English Dictionary*

प्रो. किंसी राइट (Prof Quincy Wright) ने राजनय को दो रूपों में परिभाषित किया है—लोकप्रिय अर्थ में तथा विरोध अर्थ में। लोकप्रिय अर्थ में राजनय का अर्थ है—“क्रिस्ती सन्धि-वार्ता या आदान-प्रदान में चातुरी, धोखेबाजी एवं कौशल का प्रयोग। अपने विरोध अर्थ में यह सन्धि-वार्ता की वह कला है जो युद्ध की सम्पादनपूर्व राजनीतिक व्यवस्था में न्यूनतम लागत से अधिकतम सामूहिक लक्ष्यों की उपलब्धि कर सके।”¹ इस परिभाषा की सल्लेखनीय बात यह है कि लोकप्रिय अर्थ में राजनय को ऐसी सन्धि-वार्ता माना गया है जो दबाव पर नहीं दबाने-बुझाने पर आधारित रहती है। इसके विरोध अर्थ में राजनयज्ञों को राष्ट्रीय हित के प्रति निष्ठावान माना गया है। राजनीतिशास्त्र में राजनय का लोकप्रिय अर्थ लागू नहीं होता।

राबर्टो रेगला (Roberto Regala) के मतानुसार ‘राजनय’ शब्द का पर्याप्त दुरुपयोग हुआ है। असल में राजनय एक ऐसा व्यवसाय है जिसमें अनेक क्रियाएँ शामिल हो जाती हैं। यह दुनिया के ऐसे कुछ व्यवसायों में से एक है जिसकी परिधि में मानवीय क्रिया की प्रत्येक शाखा शामिल हो जाती है। इसका सम्बन्ध शक्ति राजनीति (Power Politics), आर्थिक शक्ति एवं विचारधाराओं के सघर्ष से है।² राजनय की मानक परिभाषा सर अर्नेस्ट सेटो द्वारा दी गई है। उनके मतानुसार “राजनय स्वतन्त्र राज्यों की सरकारों के बीच अधिकारी सम्बन्धों के संचालन में बुद्धि और चातुर्य का प्रयोग है।”³

इस सम्बन्ध में पामर तथा परकिंस ने यह जिज्ञासा प्रकट की है कि यदि राज्यों के आपसी सम्बन्धों में बुद्धि और चातुर्य का अभाव है तो क्या राजनय असम्भव होगा।⁴

स्पष्ट है कि राजनय दो अथवा दो से अधिक स्वतन्त्र राज्यों के मध्य स्थित सम्बन्ध है, तदनुसार प्रत्येक राज्य बुद्धि, कौशल एवं चातुर्य का प्रयोग करता है। इसके द्वारा राज्य अपने राष्ट्रीय हितों की अधिकतम अनिवृद्धि करने का प्रयत्न करता है। के एन. पन्डित के शब्दों में “अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रयुक्त राजनय अपने हितों को दूसरे देशों से आगे रखने की एक कला है।”⁵ पैटिलकोर्ड तथा लिक्न के शब्दों में, “राजनय को प्रतिनिधित्व एवं सन्धि-वार्ता की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके द्वारा राज्य शान्तिकाल में परस्पर सम्पर्क रखते हैं।”⁶ जॉर्ज एच. केनन का कहना है कि एक-दूसरे की अर्थ में राजनय की व्यवस्था सरकारों के बीच सम्पर्क के रूप में की जा सकती है।

राजनय की उपर्युक्त सभी परिभाषाएँ पूर्णतः उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि समय और परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ राजनय का अर्थ भी बदलता रहता है। अनेक

1 “Diplomacy in the popular sense means the employment of tact, schemedness and skill in any negotiation or transaction. In the more special sense used in international relations it is the art of negotiation in order to achieve the maximum of group objectives with a minimum of costs.” —Quincy Wright

2 Roberto Regala: *The Trend in Modern Diplomatic Practice*, 1959, p. 24

3 “Diplomacy is the application of intelligence and tact to the conduct of official relations between the Government of independent States.”

—Sir Ernest Satow: *Guide to Diplomatic Practice*, ¶ 1

4 Palmer and Perkins: *International Relations* p. 97

5 “Diplomacy, used in relation to international politics, is the art of forwarding one’s interest in relation to other countries.” —K. H. Pandit

6 “Diplomacy can be defined as the process of representation and negotiation by which states customarily deal with one another in time of peace.” —Padelford and Lincoln

लेखकों ने राजनय को केवल एक व्यवसाय (Profession) ही नहीं बरन् एक कला (Art) भी माना है। अधिकांश सरकारें अपने हितों की प्राप्ति एवं अभिवृद्धि के लिए इसे अपनाते लगी हैं। यह धीरे धीरे शान्ति का एक प्रभावशाली साधन बनता जा रहा है।

राजनय को कुछ लोग एक रहस्यपूर्ण व्यवसाय मानते हैं यह सही नहीं है। एक राजनयज्ञ के ही शब्दों में—“असल में राजनय एक श्रमसाध्य व्यवसाय है। यह जादू अथवा रहस्य से परे है। इसे किसी भी अन्य सरकारी कार्य की भाँति एक गम्भीर व्यवसाय के रूप में देखा जा सकता है।”¹ प्रो. चामर तथा परकिंस ने राजनय की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है।

(क) राजनय एक मशीन की भाँति अपने आप में नैतिक अथवा अनैतिक नहीं है। इसका मूल्य इसे प्रयोग करने वाले अभिप्रायों व योग्यताओं पर निर्भर करता है।

(ख) राजनय का संचालन विदेशी कार्यालयों, दूतावासों, दूतकर्मों, वाणिज्य दूतों एवं विश्वव्यापी विशेष मिशनों के माध्यम से किया जाता है।

(ग) राजनय मूल रूप से द्विपक्षीय होता है। यह राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों का नियमन करता है।

(घ) आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, क्षेत्रीय प्रबन्धों एवं सांभूतिक सुरक्षा प्रयासों के बढ़ जाने के कारण राजनय के बहुपक्षीय रूप का महत्व बढ़ गया है।

(ङ) राजनय राष्ट्रों के बीच साधारण मामलों से लेकर शान्ति और युद्ध जैसे बड़े बड़े सभी मामलों पर विचार करता है। जब यह सम्बन्ध टूट जाता है तो युद्ध या कम से कम एक बड़े सकट का खतरा पैदा हो जाता है।

क्या राजनय का अर्थ धोखा है ?

राजनय में गोपनीयता निहित ॥ तथापि यह धारणा भ्रामक है कि राजनय का अर्थ धोखा है। इस सम्बन्ध में रोयक उदाहरणों के साथ डॉ. एम. पी. राय ने स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है²—

सत्रहवीं शताब्दी के ब्रिटिश राजदूत ड्यूक ऑफ बर्किंगहम सर हेनरी वाटन ने आग्सबर्ग (जर्मनी) में क्रिस्टोफर पलेकमोर द्वारा प्रार्थना करने पर मजाक में लिखे गए इन शब्दों में राजदूत का अर्थ बताया था कि “राजदूत एक सत्यवादी मनुष्य है जिसे देश के हित के लिए विदेश में असत्य बोलने को भेजा जाता है।”³ हालाँकि इसी व्यक्ति (सर हेनरी वाटन) ने बाद में इटन के अध्यक्ष के रूप में अपने एक मित्र राजदूत को वार्ता की सफलता के लिए परामर्श देते हुए कहा था कि अपनी सुरक्षा तथा अपने देश की सेवा के लिए “हर समय और हर परिस्थिति में सत्य बोलना चाहिए।”⁴ राजदूत असत्य भाषण अपने देश के हित के लिए करता है। रिसले हर्ज़ लेस्टन ने सर हेनरी वाटन की परिभाषा को दोहराते हुए यह कहा था कि सत्रहवीं शताब्दी में राजदूत अपने देश के हित के लिए झूठ बोलता था परन्तु आधुनिक अमेरिकी राजदूत दूसरे देशों के हित में झूठ बोलता है।⁵ जेम्स प्रथम ने

1. Hugh Gibson: The Road to Foreign Policy 1944 ॥ 31

2. डॉ. एम. पी. राय: राजनय के सिद्धान्त एवं व्यवहार पृष्ठ 6

3-4. D.P. Heathy: Diplomacy and the Study of International Relations ॥ 8

5. Sisley Huddleston: Popular Diplomacy and War p. 29

जिसमें हास्य की मदना का अनाव था दाटन के मजाक में कहे शब्दों का दुरा मना और उसे तुरन्त ही त्यागपत्र देने को बाध्य कर दिया। इसके पश्चात् दाटन को फिर राजदूत नियुक्त नहीं किया गया। जेम्स की मान्यता थी कि किसी नज़ुक स्थिति में एक झूठ बोलने वाले राजदूत का कोई सरकार कैसे विश्वास करेगी। क्या ऐसी झूठ बोलने की स्थिति में एक राजदूत सकलतापूर्वक कार्य कर सकेगा? मेकियावेली ने राजनय में झूठ और धोखे के प्रयोग का समर्थन किया था। उसका मत था कि "राज्य हित नैतिकता से ऊपर है।" (Rashn d'Etat is above morality)। इसने अपने दूत को निर्देश दिए थे कि "यदि वे झूठ बोलते हैं तो तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम उससे अधिक झूठ बोलो।" स्टातिन्, मेकियावेली का योग्य शिष्य था। वह भी राजदूत द्वारा झूठ और छल कपट के प्रयोग को स्वीकार करता था।²

वैलीपर्स का मत इसके विपरीत है। वह इस बात को स्वीकार करने को तैयार नहीं है कि राजनय का अर्थ धोखा है। वैलीपर्स के शब्दों में "राजनय में धोखे-धकी का उपयोग वास्तव में सैनिकी रूप से ही सम्भव है क्योंकि प्रकाश में आने झूठ के मन्त्रन कोई भी अनिश्चित अधिक आत्म-गलनिकारक नहीं है। धर्म को इससे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है क्योंकि धर्म वास्तविक रूप से इससे सकलता मले ही मिल जाए, किन्तु अन्ततोगत्वा इससे सन्देह का वातावरण बन जाता है जो नदी सकलता को असम्भव बना देता है।" यह एक कटु सत्य है कि जो सम्बन्ध अधिवास से परिपूर्ण होते हैं, वे अपना मूल्य खो देते हैं। एक योग्य सकल एवं आदर्श राजदूत का सर्वोच्च गुण ईमानदारी और सच्चाई है। राजनय का आधार सत् उद्देश्य की प्रति के लिए प्रामाणिक ही होने चाहिए।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि राजनय राज्यों के मध्य सम्बन्धों को बनाए रखने की एक कला है। इसी के माध्यम से राज्य अपने अपनी सरकारी कार्यों की पूर्ति तथा शान्तिपूर्ण संधियों का उपयोग कर अपने मतभेदों को दूर करते हैं। इन सब कार्यों के लिए राज्य वार्ता, सम्मेलन, मध्यस्थता मेल-मिलान आदि का उपयोग करते हैं। राजनय स्वयं में एक परिपक्व तकनीक तथा एक ऐसा सधन है जिसकी सहायता से दूसरी तकनीकियों को काम में लिया जाता है। एक राज्य राजनयिक युक्तियों (Diplomatic maneuvering) के माध्यम से दूसरे राज्य की राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, यहाँ तक कि सैनिक कार्रवाहियों में सहायक भूमिका निरेयी हो सकता है। इस प्रकार राजनय वह अस्त्र है जिसकी सहायता से न केवल अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का शान्तिपूर्ण समाधान निकाला जाता है वरन् राष्ट्रीय शक्ति की अनिवृद्धि भी की जाती है।⁴

राजनय और विदेश नीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Diplomacy & Foreign Policy & International Law)

राजनय का स्वरूप समझने के लिए यह भी आवश्यक है कि हम विदेश नीति, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, विज्ञान आदि से उसके सम्बन्ध तथा अन्तर का अध्ययन करें। राजनय

1. Harold Nicholson: The Evaluation of Diplomatic Method, p. 29

2. Norman D. Palmer & Howard C. Perkins: International Relations: The World Community in Transition, p. 8

3. Nicholson: Op. cit., p. 62-63

4. डॉ. एन. पी. रॉय: राजनय, पृ. 8.

और विदेश नीति पर अध्याय 13 और राजनय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर अध्याय 7 में पृथक से विचार किया गया है अतः यहाँ सांकेतिक विवेचना पर्याप्त होगी।

अनेक विचारक और लेखक मनमाने रूप से 'राजनय' शब्द का प्रयोग विदेश नीति बनाने और क्रियान्वित करने के लिए करते हैं जो अनुचित है। विदेश नीति और राजनय राष्ट्र की बाह्य व्यवस्थाओं से सम्बन्धित नीति के वे पहिये हैं जिनकी सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति चलती है लेकिन दोनों एक दूसरे के पर्याय नहीं हैं। राजनय किसी भी देश की विदेश नीति को कार्यान्वित करने की प्रक्रिया और विदेश नीति के लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन मात्र है। सर विक्टर वेलेजली (Sir Victor Wellesley) के कथनानुसार "राजनय नीति नहीं है वरन् इसे क्रियान्वित करने वाला अधिकरण है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं क्योंकि एक के बिना दूसरा कार्य नहीं कर सकता। राजनय का विदेश नीति से पृथक कोई अस्तित्व नहीं है वरन् ये दोनों मिलकर कार्यपालिका की नीति निर्धारित करते हैं। विदेश नीति द्वारा रणनीति तय की जाती है और कूटनीति द्वारा तकनीक तय की जाती है।"¹ विदेश नीति वैदेशिक सम्बन्धों की आत्मा है और राजनय वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा विदेश नीति को संचालित किया जाता है। राजनयज्ञों द्वारा अपनी सरकारों की विदेश नीति के सिद्धान्त निर्धारित नहीं किए जाते किन्तु वे अपने प्रतिवेदनों द्वारा इस नीति की रचना में महत्वपूर्ण योगदान करते हैं। विदेश नीति तय करते समय राजनयज्ञों के प्रतिवेदनों को सदैव ही मूल्यवान् कष्पा माल समझा जाता है।² पामर तथा परकिन्स के कथनानुसार "राजनय वह सेवा वर्ग और यन्त्र प्रस्तुत करता है जिसके द्वारा विदेश नीति को क्रियान्वित किया जाता है। इनमें एक मूल तत्व है और दूसरा प्रणाली है।"³

हेरल्ड निकल्सन ने वियना कॉंग्रेस सम्बन्धी अपनी रचना विदेश नीति एवं राजनय के मध्य स्थित सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है। उनके मतानुसार दोनों का सम्बन्ध राष्ट्रीय हितों का अन्तर्राष्ट्रीय हितों के साथ समायोजन से है। विदेश नीति राष्ट्रीय आवश्यकताओं की एक सामान्य धारणा पर निर्भर है। दूसरी ओर राजनय एक लक्ष्य नहीं है वरन् साधन है उद्देश्य नहीं है वरन् एक तरीका है। यह बुद्धि समझौता बार्ता एवं हितों के आदान प्रदान द्वारा सम्प्रभु राज्यों के बीच सघर्ष होने से रोकता है। यह एक ऐसा अधिकरण है जिसके माध्यम से विदेश नीति युद्ध के अलावा अन्य साधनों से अपना लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करती है। राजनय शान्ति का साधन है। जब समझौता करना असम्भव बन जाता है तो राजनय निष्क्रिय बन जाती है और अकेली विदेश नीति कार्यरत रहती है।⁴ उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विदेश नीति और राजनय को समानार्थी रूप में समझना गलत है। इन दोनों में आधारभूत अन्तर है। जहाँ विदेशनीति साध्य है राजनय उसका साधन है। लेकिन दोनों में आपस में विरोध की स्थिति नहीं है अपितु एक दूसरे के पूरक हैं।

1 Sir Victor Wellesley Diplomacy in Letters p 30

2 J Rives Childs American Foreign Service p 9

3 Palmer and Perkins International Relations p. 97

4 Harold Nicolson The Congress of Vienna A Study in Allied Unity 1812-22 p 164

राजनय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Diplomacy and International Law)

राजनय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बीच महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। राजनय का सम्बन्ध उन तरीकों एवं कला कौशल से है जो एक राज्य द्वारा अपनी विदेश नीति को क्रियान्वित करने तथा अपने अन्य राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति के लिए अपनाए जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों के आपसी सम्बन्धों को नियन्त्रित करता है। सिद्धान्तिक रूप से ये दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं। राजनय दिगुद्ध रूप से एक राज्य के राष्ट्रीय हितों की अनिवार्यता का सघन है। इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय हित से परे अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी व्यवस्था को महत्व देता है। यदि सनी राज्य अपने राष्ट्रीय हितों की उपलब्धि के लिए पूर्णतः राजनय का प्रयोग करें तो अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी तथा सदैव युद्ध की आशंका बनी रहेगी। युद्ध का प्रारम्भ राजनय की असफलता की घोषणा है। इस अर्थ में राजनय अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कुछ सम्मान देता है ताकि अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में व्यवस्था बनी रहे और राजनय क्रियशील रह सके। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ मौलिक नियमों का पालन करने पर ऐसी परिस्थिति बनती है जिसमें राजनय कार्य कर सके। इस प्रकार व्यवहार में राजनय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा राज्यों के बीच जब पारस्परिक विश्वास पैदा किया जाता है तभी राजनय का आचरण सम्भव बनता है। राष्ट्रों के बीच आपसी विश्वासघात विश्वास के अभाव में युद्ध, शीत युद्ध अथवा तनाव की स्थिति बनी रहती है।

राजनयिक अधिकारियों के विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय हैं। अग्रत्व को व्यवस्था (Order of Precedence) तथा राजनयिक अधिकारियों की श्रेणियाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा तय की जाती हैं। राजनय द्वारा राज्यों के आपसी सम्बन्धों को सुधारने के तरीकों एवं सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है। समुक्त राष्ट्रसंघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय हैं किन्तु समुक्त राष्ट्र संघ में सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि जिस तरह से आचरण करते हैं वह राजनय का विषय है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून राजनय के सघन के रूप में भी उपयोगी है। यह राजनयिक दल्यों की उपलब्धि के लिए सघन प्रस्तुत करता है। राजन्यज्ञों (Diplomats) के लिए सामान्य भाषा प्रक्रिया सम्बन्धी सुविधा समझाने बुझाने के तरीके विवाद तय करने तथा समझौता करने के मपदण्डों आदि की आवश्यकता रहती है जो उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा उपलब्ध कराए जाते हैं। इनके होने से सन्धि दार्ता सुगम बन जाती है। सन्धि दार्ता की प्रक्रिया और रूप भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा तय किए जाते हैं। राजनय के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर आधारित तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं।

जब राजनय अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को तय करने का प्रयास करती है तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून अनेक प्रकार से उसका सहायक सिद्ध होता है। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को तय करने के सही तरीकों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का अनुगमन किया जाता है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून राजनय का एक अत्यन्त उपयोगी सघन है। यह एक दृष्टि से राजनय का परिणाम भी है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अधिकांश भाग विवादों पर आधारित है। यह राजनय द्वारा की गई सन्धि दार्ताओं एवं समझौता दार्ताओं (Conference Diplomacy) के निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सामान्यतः स्वीकृत नियम

बन जाते हैं। राजनयिक पत्र व्यवहारों एवं औपचारिक घोषणाओं द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास किया जाता है। स्पष्ट है कि ये दोनों एक-दूसरे के सहायक हैं।¹

राजनयिक रणनीति (Diplomatic Strategy)

प्रत्येक देश का राजनीतिक नेतृत्व अपनी सरकार की विदेश-नीति की सामान्य रूपरेखा का निर्धारण करना है। इस नीति का नियोजन करते समय इसके द्वारा राजनयिक रणनीति भी तैयार की जाती है ताकि विदेश नीति को अधिक प्रभावशाली बनाया जा सके। इस प्रकार एक देश की विदेश-नीति एवं राजनयिक रणनीति दो मित्र तथ्य हैं। ये दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं। दोनों के मध्य अन्तर को स्पष्ट करते हुए डॉ ए कीसिंगर (Dr A Kissinger) लिखते हैं—“शान्ति को सीपे रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह कुछ परिस्थितियों एवं शक्ति-सम्बन्धों की अभिव्यक्ति है। अतः राजनय को शान्ति की अपेक्षा शक्ति-सम्बन्धों की ओर ही प्रेरित होना चाहिए।”² राजनय के स्वरूप का सही ज्ञान करने के लिए विदेश-नीति अन्तर्राष्ट्रीय कानून और राजनयिक रणनीति से उसके सम्बन्ध की उक्त जानकारी अत्यन्त उपयोगी है। राजनय एक गत्यात्मक तत्त्व है। समय की परिस्थितियों में परिवर्तन एवं नवीन विकासों के साथ-साथ इसका स्वरूप भी बदलता रहता है। यह एक विकासशील धारणा है। विदेश नीति की सफलता में राजनयिक रणनीति की अहम भूमिका होती है।

राजनय और विज्ञान (Diplomacy and Science)

विज्ञान और तकनीकी ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और राज्यशिल्प को गहराई तक प्रभावित किया है और राजनय के स्वरूप पर भी इतना प्रभाव डाला है कि उसका परम्परागत स्वरूप लगभग समाप्त हो गया है। विज्ञान और तकनीकी के कारण समय और दूरी समाप्त हो गए हैं। संचार व्यवस्था में उन्नति के फलस्वरूप राजनय पर प्रजातन्त्रीय प्रभाव बढ़ा है और बहुपक्षीय राजनय अधिक प्रबल रूप से मुखर हुआ है। विज्ञान और तकनीकी ने राजनय को जिस रूप में प्रभावित किया है और बदलते हुए परिप्रेक्ष्य में राजनय और विज्ञान का जो निकट सम्पर्क आवश्यक है उसे इंगित करते हुए डॉ एम पी राय ने लिखा है³—

“यह निर्विवाद सत्य है कि संचार के क्रान्तिकारी विकास ने राजनय की तकनीकी में अद्भुत परिवर्तन ला दिए हैं। राजनय की ये परिष्कृत तकनीकें विज्ञान व प्राविधिकी के समानुपात में उत्तरोत्तर परिमार्जित हो रही हैं। राजदूतों के आवागमन तथा उनके पत्राचारों में पहले महीने और साल लगते थे, परन्तु आज ये क्षणिक बन गए हैं।⁴ संचार व्यवस्था के क्रान्तिकारी परिवर्तन—जेट युग तथा दूर संचार व्यवस्था के कारण निर्णय प्रक्रिया भी प्रभावित होकर केन्द्रित हो गई है। अधिकांश महत्वपूर्ण निर्णय राष्ट्राध्यक्ष विदेश मंत्री आदि

1 For detailed study of relationship between diplomacy and international law, see Quincy Wright 'International Law and the United Nations' 1960, p 362

2 Dr A Kissinger 'Reflections on American Diplomacy', Foreign Affairs Oct, 1956

3 डॉ एम पी राय वही, पृ 24

4 Merchant Johnson 'Dimensions' 121

लेते हैं प्रतिवेदनों को शीघ्र प्राप्त कर सकते हैं और दिग्दृष्टि घटनाओं की तुरन्त सूचना प्राप्त कर देश की विदेश नीति के निर्माण में सही मार्गदर्शन दे सकते हैं। विज्ञान ने आधुनिक हथियारों का विकास किया है जो विश्व शान्ति के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में विश्व शान्ति को कायम रखने में राजनयिकों की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण बन गई है।

राजनय का जन्म या उदय (Origin of Diplomacy)

दो मानव समूहों के सम्बन्धों के व्यवस्थित आचरण के रूप में 'राजनय का इतिहास' इतिहास से भी पुराना है। इसकी परम्परा प्रागैतिहासिक काल के उस अन्धकारपूर्ण युग से प्रारम्भ होती है जिसका ज्ञान केवल कल्पना और अनुमान पर निर्भर है। 16वीं शताब्दी के सिद्धान्तवादी यह मानते थे कि देवदूत (Angels) ही प्रथम राजनयन थे क्योंकि वे देवलोक और भूलोक के बीच सदेशवाहकों का कार्य करते थे। नवतीय पौराणिक ग्रन्थों में उल्लिखित नरद को राजनयियों का पूर्वज माना जा सकता है। इन कल्पनाओं के पीछे कोई ऐतिहासिक तथ्य न होने के कारण ये निराधार हैं और इसलिए मान्य नहीं हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से अनुमान है कि राजनय का जन्म तब हुआ जब मनुष्य ने अकेले भटकना छोड़कर समूहों अथवा गिरोहों में मिलकर रहना प्रारम्भ किया होगा।¹ इन आदि मानव समूहों के सदस्यों को एक समय यह समझ आ गई कि यदि वे अपने शिकार की सीमाओं के सम्बन्ध में पड़ोसी समूह से समझौता कर लें तो लाभप्रद रहेगा। तत्कालीन गिरोहों के बीच आपसी विवाद और शत्रुतापूर्ण व्यवहार भी रहती होगी। इनके निराकरण के लिए वे यदाकदा सन्धि बर्ता या दोनों पक्षों की हितवर्ता करते होंगे। इसके लिए दूसरे समूहों की सीमा में दूत भेजने का प्रयत्न हुआ होगा। शीघ्र ही ये आदि मानव समझ गए होंगे कि यदि विरोधी पक्ष के दूत को अपनी सीमा में आते ही मार दिया गया तो सन्धि बर्त सत्संजनक रूप से हो ही नहीं सकती अतः यह निश्चय किया होगा कि एक दूसरे के दूतों को कोई क्षति न पहुँचाई जाए और सन्धि बर्ता तक उनकी पूर्ण रक्षा की जाए। इस प्रकार राजनयिक उन्मुक्तियों के सिद्धान्त का जन्म हुआ। अस्ट्रेलिया के आदिवासियों के मनु के उपदेश में तथा होमर की कविताओं में हमें इन उन्मुक्तियों का परिचय मिलता है। चन्द्रगुप्त ने रावा ने जब राजदूत हनुमान पर क्रोधित होकर अपने अनुचरों को उनके प्राण लेने का आदेश दिया तो विनीषा ने इसे नीति विरोधी बतते हुए कहा—

नह सीस करि दिनय बहूला ।
नीति विरोध न करिय दूता ॥
अन दाढ कछु करिअ गैसई ।
सबही कहा मत्र मत नई ॥

(रामचरित मानस, सुन्दर काण्ड 23)

1 "From the earliest days of the existence of organised states there must have been diplomacy and diplomats for states can hardly exist without relations with each other."

समय के साथ-साथ दौत्य पद के विभिन्न अधिकार बढ़ते गए। दूतों एवं सन्धिकर्ताओं को अनतिक्रम्य माना जाने लगा।

आदिकालीन समाजों में सभी विदेशियों को खतरनाक तथा दूषित माना जाता था अतः अन्य समाज की सीमा में प्रवेश पाने से पूर्व उसका विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा शुद्धिकरण कर दिया जाता था। ये प्रक्रियाएँ अत्यन्त विभिन्न और कष्टदायक हुआ करती थीं जैसे अग्नि की लपटों में होकर निकलना या नाथना जादू टोने से शुद्धि करना आदि। इस परम्परा के अवशेष कुछ समय पूर्व तक प्राप्त होते हैं। 15वीं शताब्दी में वेनिस गणराज्य ने उन स्वदेशवासियों को मृत्यु की धमकी दी जो विदेशी दूतावासों के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क रखते थे। शुद्धिक्रिया की झड़टों तथा कष्टों से बचाने के लिए यूनान में दूतों का देवता हरमेश (Hermes) के सरक्षण में माना जाने लगा और इस प्रकार दौत्यकर्म को धर्म का योग्य पहना दिया गया। धार्मिक भावना के प्रभाव से दूत का व्यक्तित्व रक्षणीय एवं अनतिक्रम्य बन गया। प्रो ओपेनहैम के कथनानुसार "पुरातन काल में भी जबकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि जैसी किसी विधि का पता नहीं था राजदूतों की विशेष रक्षा की जाती थी तथा उन्हें विशेषाधिकार प्राप्त थे। ये उन्हें किसी विधि के कारण नहीं बरन् धर्म के कारण प्राप्त थे और राजदूतों को अनतिक्रम्य माना जाता था।"¹ दौत्यकर्म की प्रतिष्ठा के लिए दूतों को हरमेश देवता का सरक्षण दुर्भाग्यशाली सिद्ध हुआ।² दूत को छलपूर्ण समझा जाने लगा क्योंकि हरमेश अपनी चालाकी तथा छलछद्म के लिए प्रसिद्ध था। ऐतिहासिक काल में राजनय का जन्म यूरोप में आपुनिक राज्यों के जन्म से सम्बन्ध है।³ 16वीं शताब्दी से लेकर 18वीं शताब्दी के बीच आपुनिक राष्ट्रीय-राज्यों का विकास हुआ इनके साथ-साथ राजनय भी आपुनिक अर्थ में विकसित हुआ।⁴ तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक व्यवसाय के रूप में राजनय का प्रारम्भ तथा स्थायी राजदूतों एवं मन्त्रियों की नियुक्ति पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में होने लगी थी। 1815 की वियना काँफ्रेंस में राजनय को दूसरे व्यवसायों की भाँति एक पृथक व्यवसाय की मान्यता दे दी गई। आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तो राजनय से परिपूर्ण है और विश्व स्तर पर सभी छोटे-बड़े राज्यों द्वारा विभिन्न दूतावासों मिशनों कान्सूलेटों आदि की स्थापना की जाती है। ये संस्थाएँ कुछ निश्चित नियमों रूढ़ियों और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों द्वारा नियन्त्रित और नियमित होती हैं।

राजनय का विकास (Development of Diplomacy)

राजनय के दो अंग हैं—राजनयिक अधिार (Diplomatic Practice) तथा राजनयिक सिद्धान्त (Diplomatic Theory)। दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। नए राजनयिक

1 L. Oppenheim International Law, p 687

2 "The choice of this duty had an unfortunate effect upon the subsequent reput of the diplomatic service"
—Harold Nicolson

3 "From the earliest days of the existence of organised states there must have been diplomacy and diplomats for states can hardly exist without relation with each other"
—K M Panikkar

4 "Diplomacy and its origin in the period in which modern states emerged in Europe that is the period from the 16th to the 18th century"
—Roberto Regala

आधारों से राजनयिक सिद्धान्तों का कलेसर बढ़ता है और नए राजनयिक सिद्धान्त राजनयज्ञों के आधार को प्रेरणा एवं मार्गदर्शन देते हैं। यहाँ हम राजनयिक सिद्धान्त के क्रमिक विकास का विवेचन करेंगे। इसके आधार का अध्ययन हमारे आगे के अध्याय का विषय है।

राजनयिक सिद्धान्त का उत्पत्ति अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार तथा सन्धि दार्ता के सिद्धान्तों एवं तरीकों के स्वीकृत विचार से है। राजनयिक सिद्धान्त के अतीतकालीन इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उसके विकास की गति हमेशा प्रगति की ओर नहीं रही है। अनेक बार इसका विकास अवरुद्ध हो जाता है तथा वह अवनति की ओर भी अग्रसर होने लगती है। प्रो. मोरेट ने यूरोपीय राजनयिक सिद्धान्त के विकास को तीन कालों में वर्गीकृत किया है—

(क) 476 से 1475 ई. तक का काल : इस काल में राजनय ^{राजनय} सम्पूर्ण असंगठित था।

(ख) 1476 से 1914 ई. तक का काल : इस काल में राजनयिक सिद्धान्त ने यूरोपीय राज्य व्यवस्था (State System) की नींव का अनुसरण किया। इस समय का राजनय यूरोप तक ही सीमित रहा।

(ग) 1914 से वर्तमान तक का काल : राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन ने अपनी घोषणा में कहा था कि सत्ता में प्रजातन्त्र का उदय हो गया है। फलतः इस युग में विकसित राजनय को प्रजातन्त्रात्मक राजनय कहा गया।

हेरल्ड निकल्सन आदि कुछ विचारक राजनयिक सिद्धान्त के विकास को इस प्रकार कालखण्डों में विभाजित करने से सहमत नहीं हैं। वे इसके विकास को निरन्तरतापूर्ण मानते हैं। राजनयिक सिद्धान्त का विकास अन्तर्राष्ट्रीय कानून से काफी प्रभावित रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जन्मदाता हॉलेक निदासी ह्यूगो ग्रेयियस (Hugo Grotius) था। उसने 1625 ई. में प्रकाशित अपने ग्रन्थ 'The Law of War and Peace' में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा में उन सभी आधारों को सम्मिलित किया जिनका चलन सम्यक् राष्ट्र पारस्परिक व्यवहार में करते हैं। इस प्रकार राजनय भी इसका अंग बन जाता है।

प्रागैतिहासिक काल में राजनयिक सिद्धान्त के विकास के सम्बन्ध में अनुमान है कि प्रारम्भ में व्यक्ति उन्निगत एवं गिरोहगत मन्थना से प्रभावित था। वह अपनी जाति अथवा गिरोह के हितों की सिद्धि के लिए दूसरी जाति या गिरोह के हितों का किंचित मात्र भी ध्यान नहीं रखता था। क्रमशः परिस्थितियों बदलने पर उसके सर्वांगीण दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। अब वह अन्तर्राष्ट्रीय एवं अन्तर्देशी अधिकारों तथा हितों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहने लगा। जातियों एवं गिरोहों में पारस्परिक सुरक्षा की मन्थना बढ़ में विदेश-नीति को प्रभावित करने लगी। इसी के फलस्वरूप राजनय के सिद्धान्तों का भी स्फुरण हुआ। हेरल्ड निकल्सन के कथनानुसार "राजनयिक सिद्धान्तों की प्रगति अन्त्य उन्निगत या वर्गगत अधिकारों की सहस्रित मन्थना में अन्तर्निष्ठ सामान्य हितों की व्यपक विचारधारा की ओर

हुई है।¹ राजनयिक सिद्धान्त के विकास का अध्ययन निम्नलिखित कालों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(1) यूनानी काल (The Greek Period) राजनयिक सिद्धान्त के विकास में यूनान का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आजकल प्रचलित सम्मेलनों का श्रीगणेश यूनानियों द्वारा किया गया। यूनानी नगर राज्य अपनी पारस्परिक समस्याओं के समाधान के लिए सम्मेलन किया करते थे। बीसवीं शताब्दी के राष्ट्रसंघ तथा संयुक्तराष्ट्र संघ की भाँति वे पारस्परिक सम्मेलन किया करते थे। इनको एम्फिक्लोटोनिक (Amphiclytonic) अर्थात् क्षेत्रीय परिषद् या सम्मेलन कहा जाता था।

यूनान के इन क्षेत्रीय सम्मेलनों का स्वरूप उल्लेखनीय था। उनका एक स्थायी सचिवालय होता था। इसका कार्य था पवित्र स्थाओं एवं कोषों की रक्षा करना, तीर्थयात्रियों के आवागमन की सुविधाजनक व्यवस्था करना तथा विभिन्न नगर राज्यों के राजनीतिक मामलों पर विचार विमर्श एवं आवश्यक कार्यवाही करना। निकलन के कथनानुसार इनसे राजनय के क्षेत्र में एक नई पद्धति का श्रीगणेश हुआ।² इन सम्मेलनों को कुछ विशेषाधिकार प्रदान किए जाते थे जिनको वर्तमान भाषा में राज्य क्षेत्रातीत अधिकार अथवा राजनयिक विशेषाधिकार कहा जा सकता है। सम्मेलन के सदस्य राज्य इस बात पर सहमत होते थे कि शान्ति अथवा युद्धकाल में कोई सदस्य राज्य दूसरे सदस्य राज्य को नष्ट नहीं करेगा तथा उसके जनपूरक साधनों में किसी प्रकार की रुकावट नहीं डालेगा। इस समझौते के विरुद्ध कार्य करने वाला राज्य शेष सदस्य राज्यों का शत्रु बन जाता था और वे सभी इसे दण्डित करने के लिए युद्ध की घोषणा कर देते थे। यूनानी इतिहास में क्षेत्रीय परिषदों की दण्डात्मक कार्यवाही के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इन क्षेत्रीय परिषदों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय हितों की धारणा को विकसित किया। अब राजनयिक सिद्धान्त क्रमशः उभरने लगा था।

यूनानी क्षेत्रीय परिषदे अन्त में असफल होकर समाप्त हो गई। इनकी असफलता के दो कारण थे (क) ये परिषदे सर्वव्यापी नहीं थीं। अनेक महत्वपूर्ण राज्य इनके सदस्य नहीं थे। (ख) उनकी संयुक्त शक्ति इतनी नहीं थी कि वे शक्तिशाली राज्यों को अपने निर्णयों का पालन करने के लिए बाध्य कर पातीं। इन परिषदों की असफलता से राष्ट्रसंघ (League of Nations) के कर्णधारों ने प्रेरणा नहीं ली अन्यथा इतिहास शायद स्वयं को न दोहराता।

यूनानीकाल में राजनय की दृष्टि से एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य पक्षनिर्णय (Arbitration) की व्यवस्था थी। वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को तय करने के लिए इस शान्तिपूर्ण साधन को अपनाते थे। राजा आर्थिडेमस ने स्पार्टा की सभा में दिए गए अपने एक लम्बे और गंभीर भाषण में पक्ष निर्णय की पद्धति अपनाने पर जोर दिया था। उसके मतानुसार जो देश पक्ष निर्णय के लिए तैयार हो उसे दोषी कहना विधि के विरुद्ध है।

1 "The progress of diplomatic theory has been from the narrow conception of exclusive tribal rights to the wider conception of inclusive common interests — Nicolson

2 "They also dealt with the political matters of common Hellenic interest and as such had an important diplomatic function and introduced an important diplomatic innovation — Harold Nicolson

इस प्रकार सिद्धान्त और आदर्श के रूप में यूनानियों की कल्पना ने राजनय के विकास को आगे बढ़ाया किन्तु तदनुसार व्यवहार न करने के कारण यह विकास अवरुद्ध हो गया। शान्तिपूर्ण सहयोग की भावनाएँ समाप्त हो गईं। उसके ऊपर आक्रामक एवं भावनाओं का प्रभुत्व स्थापित हो गया। मैसीडोनिया के महत्वाकाँक्षी सिक्न्दर महान् ने नगर-राज्यों को इतिहास की गाथा दना दिया। "सहयोग का स्थान पराधीनता ने ले लिया और स्वतन्त्रता समाप्त हो गई।"

(2) रोमन काल (The Roman Period) : हेरल्ड निकल्सन के कथनानुसार राजनयिक सिद्धान्त के क्षेत्र में रोमन लोगों का योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। उन्होंने छल और बलपूर्वक का स्थान आज्ञापालन एवं सगठन को दिया तथा अराजकता की जगह शान्ति का पाठ पढ़ाया।¹ लेकिन अन्य विचारक इस मत से सहमत नहीं हैं। सैद्धान्तिक क्षेत्र में रोमन लोगों की देन का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय विधि से है राजनयिक सिद्धान्त से नहीं। रोमन साम्राज्य ने सैनिक शक्ति के आधार पर व्यवस्था अनुशासन आज्ञापालन शान्ति और सगठन की भावना स्थापित की थी। इससे राजनयिक सिद्धान्त के लिए कोई स्थायी लाभ प्राप्त नहीं हो सका। इसके विपरीत साम्राज्यवादी मनोवृत्ति ने उस समय स्वस्थ राजनयिक सिद्धान्त की प्रगति पर रोक लगा दी तथा उसे आगे नहीं बढ़ने दिया। हेरल्ड निकल्सन ने रोमन-काल को राजनयिक सिद्धान्त के विकास में सहायक इसलिए माना है क्योंकि वे पीछे हटने को भी विकास मानते हैं।² सच तो यह है कि रोमन लोगों ने स्वतन्त्रता और समानता के आधार पर विकसित होने वाले राष्ट्रीय राज्यों का दमन किया तथा उन्हें अपनी विस्तारवादी नीति में आत्मसात् कर दिया। रोमन साम्राज्य पूर्ण रूप से शक्ति पर आधारित था अतः पड़ोसी राज्य इसकी शक्ति से निरन्तर भयभीत रहते थे। इस प्रकार रोमनकाल में राजनयिक सिद्धान्त का अधिक विकास नहीं हो सका। इस काल की मुख्य देन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में है।

(3) बाइजेंटाइन साम्राज्य काल (The Byzantine Empire Period) : इस साम्राज्य के चारों ओर असन्ध तथा बर्बर जातियाँ रहती थीं अतः यह केवल सैन्य शक्ति पर भरोसा करके नहीं रह सकता था। अपनी सुरक्षा के लिए उसने कई तरीके अपनाए। वह बर्बर जातियों को आपस में लड़ाता था कुछ को प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लेता था और ईसाई धर्म का प्रचार करके विरोध के आधार को मिटा देता था। ये सब तरीके अनैतिक थे। इस प्रकार जैसा कि हेरल्ड निकल्सन लिखते हैं कि राजनय की नैतिकता एवं सहयोग की भावनाओं का अन्त हो गया तथा इसके स्थान पर अनैतिकता, छल-कपट और विध्यसात्मक भावनाओं का प्रभाव बढ़ा। राज्यों के आपसी सम्बन्धों की ईमानदारी और पवित्रता समाप्त हो गई तथा कूटनीतिक व्यवहार का विकास हुआ। लालच फूट दुराग्रह धोखेबाजी आदि दुर्गुण राजनयिक सम्बन्धों के आधार बन गए।³

1 Harold Nicolson Diplomacy, p 42.

2 "The word evolution is not intended to suggest a continuous progression from the rudimentary to efficient. On the contrary, I hope to show that international intercourse has always been subject to strange retrogressions" — Harold Nicolson

3 "Diplomacy became the stimulant rather than antidote to the greed and folly of mankind. Instead of co-operation, you had disintegration, instead of unity disruption. Instead of reason you had astuteness in the place of moral principles you had ingenuity" — Harold Nicolson

(4) मध्य युग (The Middle Ages) मध्यकालीन यूरोप में सामन्तवादी व्यवस्था का बोलबाला था। इस सामन्तवादी व्यवस्था में निरन्तर युद्ध होते रहते थे। निरन्तर युद्ध के स्थिति में रहने के कारण यूरोप के राज्य अब शक्ति के लिए तरसने लगे थे। इसके अतिरिक्त राष्ट्रों के बीच बढ़ते हुए वाणिज्य व्यापार के कारण शान्तिपूर्ण सम्बन्धों का कायम रहना अनिवार्य हो गया था।

मध्ययुग में राजनय के सम्बन्ध में चौथे सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए

(i) सभी राष्ट्र एक परिवार के सदस्य हैं। (ii) यह परिवार एक कानून या नियम द्वारा संचालित होता है जो सभी सदस्यों पर पारस्परिकता के कारण लागू होता है ऊपर से थोपा नहीं जाता। (iii) व्यवहार में इस विधि को वास्तव में क्रियान्वित किया जाता है। (iv) सदस्यों के आपसी मनमुटाव यथासंभव शान्ति पूर्वक सुलझाये जाते हैं। यदि सन्धि शान्तिपूर्ण प्रयास असफल हो जाएँ तो युद्ध की सम्भावना बढ़ जाती है। (v) राजनय प्रकट स्पष्ट तथा प्रजातन्त्रात्मक होना चाहिए।

मध्यकालीन राजनय अनैतिकता और छलकपट से परिपूर्ण था क्योंकि यूरोप ने इसे इटली के नगर राज्यों के माध्यम से बाइजेंटाइन साम्राज्य से प्राप्त किया था। निम्नलिखित कारणों ने इसमें योगदान दिया

(क) इस समय के राजनयज्ञ व्यापक रूप से निम्नस्तरीय एवं अनैतिक कूटनीति का प्रयोग करते थे। दूसरे देशों में विद्रोह की आग भड़काना वहाँ के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना विदेशी शमासदों को रिवत देकर अपनी ओर मिला देना आदि राजनयिक व्यवहार सामान्य थे। उस समय राजदूत को सम्माननीय गुप्तचर बहा जाता था। जेम्स प्रथम के शासनकाल के ब्रिटिश राजदूत सर हेनरी वाटन ने लिखा है कि "राजदूत ऐसा ईमानदार व्यक्ति है जो अपने देश की भलाई के लिए दूसरे देश में झूठ बोलने के लिए भेजा जाता है।" इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि उस समय राजनयज्ञों के कार्य तथा उपयोगिता के सम्बन्ध में क्या धारणा थी। तत्कालीन राजनय दोषपूर्ण तथा अनैतिक बन गया।

(ख) इटली के कौटिल्य निकोलो मैकियावेली के ग्रन्थ दी प्रिन्स (The Prince 1513) ने राजनय को दूषित करने में योगदान किया। रोचक शैली में यह ग्रन्थ राजकुमारों को कुछ उपदेश निर्देश देता था जो शीघ्र ही यूरोप भर में लोकप्रिय हो गए। राजनयिक आधारों एवं सिद्धान्तों का तादात्म्य धीरे धीरे मैकियावेली के उपदेश के साथ बढ़ाया जाने लगा। इस ग्रन्थ के कुछ उद्धरणों का संक्षिप्त भावार्थ निम्नलिखित प्रकार से है

"जब किसी राष्ट्र की सुरक्षा खतरे में हो तो वहीं न्याय अथवा अन्याय उदार या विधुर गौरवपूर्ण या लज्जस्पद क्या है इसका विचार नहीं होना चाहिए इसके विपरीत स्वतन्त्रता कायम रखने और जीवन रक्षा के साधन के अतिरिक्त प्रत्येक चीज की अवहेलना की जानी चाहिए।"

"किसी दूरदर्शी शासक को ऐसे वचनों की पालना नहीं करना चाहिए जिन्हें निभाने से उसके हितों को हानि होती हो विशेषकर उस समय जबकि धन बढ़ता के कारण समाप्त हो चुके हों। यदि सब व्यक्ति अच्छे हों तो यह शिक्षा उपयुक्त नहीं थी किन्तु क्योंकि वे बुरे हैं और विश्वास का निर्वाह करने को तैयार नहीं हैं इसलिए तुम भी विश्वास पालन के लिये बाध्य नहीं हो।"

1. "An ambassador is an honest man who is sent to live abroad for the good of his country

— Sir Henry Watton

मैकियावेली के उपदेश तत्कालीन परिस्थितियों में व्यावहारिक रूप से उपयोगी थे। उस समय की दिकट राजनीतिक परिस्थितियों में राज्य असुरक्षित थे। इटली की राजनीतिक अस्थिरता निरन्तर सघर्ष, फूट और अराजकतापूर्ण के लिए शक्ति महत्वपूर्ण थी। मैकियावेली के विचार उपयोगी थे किन्तु उनके प्रभाव से राजनय दूषित हो गया। नैतिक आचरण को अनावश्यक हानिकारक दिखाया एवं कमजोरी का प्रतीक माना जाने लगा। छल, कपट, धोखेबाजी झूठ एवं विश्वासघात को व्यावहारिक आवश्यकता समझा जाने लगा।

(5) वर्तमान काल (The Modern Period) मध्यकाल के अन्तिम दिनों में राष्ट्रीय राज्यों का उदय हुआ तथा यूरोप के राज्य अपनी आर्थिक सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के नए नए प्रदेशों की खोज करके वहाँ बसने लगे। इस काल में वाणिज्य व्यापार का प्रसार हुआ और तदनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अनेक प्रकार से विकास हुआ। राष्ट्रों के परस्परिक व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का अधिकधिक प्रयोग होने लगा। यह राजनय के नए युग का सूत्रपात था। इस युग में राजनयिक सिद्धान्त के सम्बन्ध में निम्नलिखित दो विचारधाराएँ उभर कर सामने आईं

(क) नैतिक विचारधारा (Moral Theory) इस विचारधारा के समर्थकों का विचार है कि जिस प्रकार सामाजिक व्यक्ति को नैतिकता का पालन करना पड़ता है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी नैतिकता का पर्याप्त महत्व है। हैरल्ड निकल्सन के मतानुसार नैतिक राजनय अन्ततः अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है। अनैतिक राजनय स्वयं के ही उद्देश्यों को परास्त कर देता है।¹ के एम पत्रिकर के मतानुसार छलकपटपूर्ण राजनय एक देश को लक्ष्य प्राप्त करने में कदाचित् ही सहायता करता है।²

नैतिकता को राजनय में महत्व देने वाले विचारक निम्नलिखित साधनों का समर्थन करते हैं— दुष्टीकरण (Appeasement), मेल मिलाप (Conciliation), समझौता (Compromise) तथा साख (Credit)। इसके समर्थकों का मूल उद्देश्य राष्ट्रीय कल्याण तथा व्यापार-वृद्धि होता है। इनकी मान्यता के अनुसार लड़ाई-झगड़े में दो पक्ष एक-दूसरे को नष्ट करते में लगे रहें अच्छा यह है कि वे समझौते द्वारा आपसी मनमुटावों को दूर कर लें। इस नैतिक विचारधारा को दुकानदार की विचारधारा (Shopkeeper Theory) भी कहा जाता है।

(ख) राष्ट्रवादी विचारधारा (Nationalistic Theory) : यूरोप महाद्वीप में इस विचारधारा को व्यपक समर्थन प्राप्त हुआ है। इसके समर्थकों का विचार है कि सामाजिक या व्यक्तिगत जीवन में जिस नैतिकता का महत्व है वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सर्वथा अनुपयुक्त है। प्रत्येक राज्य को अपनी स्वयं-सिद्धि में लगे रहना चाहिए, उसे नैतिकता का ध्यान रखे बिना प्रत्येक सचन अपनाया चाहिए। इस विचारधारा को योद्धक विचारधारा (Warrior Theory) का नाम भी दिया जाता है। इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि इससे जनता में उत्कृष्ट देश-प्रेम की भावना विकसित होती है। इस विचारधारा के समर्थक शक्ति-राजनीति (Power Politics) को महत्व देते हैं। वे राष्ट्रीय-गौरव प्रतिष्ठा अग्रत्व,

1 "Moral diplomacy is ultimately the most effective and the immoral diplomacy defeats its own purpose"

2 K M Panikkar Op.cit., 35

यथारिथति एव स्वमिमान से प्रभावित होकर व्यवहार करते हैं। उनसे मतानुसार सन्धि वार्ता सैनिक अभियान का ही एव अंग मात्र है। इसी कारण इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए वे युद्ध जैसी घृष्ट रचना करते हैं। सन्धि वार्ता में उका एकमात्र लक्ष्य दूसरे पक्ष पर विजय प्राप्त करना होता है।¹ समझौते की नीति प्रायः कमजोर पक्ष द्वारा अपनाई जाती है अतः यह दुर्बलता का प्रतीक है। सन्धि वार्ता में दूसरे पक्ष पर पूर्ण विजय प्राप्त करने के लिए वे प्रत्येक छत फरेब की नीति को अपनाने से नहीं झुकते। उनके मतानुसार राजनय एव युद्धोत्तर है अतः उसमें युद्ध की सभी तकनीकें निःसवोद्य रूप से अपनाई जा सकती हैं जैसे आक्रमण करना छतपूर्वक पीछे हट जाना दबाव डालना धुंढवी देना बले प्रयोग करना निर्दया दिखाना आदि। इस प्रकार राष्ट्रवादी अथवा सैद्धिक विचारधारा उग्र राष्ट्रवाद की भावना पर आधारित है। इसका मूल उद्देश्य राष्ट्र हित अथवा प्रगति की भावना है। इसके लिए कोई भी साधन अपनाया जा सकता है। यह विचारधारा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की विरोधी है जबकि नैतिक विचारधारा में हमको अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की झलक मिलती है। दोनों के बीच विश्व राज्य और राष्ट्र राज्य का समर्थ है।

वैज्ञानिक आविष्कारों एव तकनीकी प्रगति के इस युग में नैतिक विचारधारा अधिक महत्वपूर्ण है। वर्तमान में जो राज्य अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के नियमों की अवहेलना करता है वह विश्व जगत् की कटु आलोचना का पात्र बन जाता है। निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि राजनय का इतिहास व्यक्तिगत स्वार्थ की संतुष्टि सीमाओं में होता हुआ क्रमशः राष्ट्रीयता एव अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर हुआ है। वर्तमान में राजनय का स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश धारण कर चुका है।

राजनय का क्षेत्र (Scope of Diplomacy)

बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक प्रगति ने राजनय के क्षेत्र की व्यापकता को बहुत अधिक बढ़ा दिया है। आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का कोई भी पक्ष—सांस्कृतिक सामाजिक आर्थिक राजनीतिक सीमा इत्यादि—ऐसा नहीं है जिसमें राजदूत की प्रत्यक्ष भूमिका की गुंजाइश न हो। वास्तविकता तो यह है कि 'राजनय सत्तार के उन थोड़े से व्यवसायों में से एक है जिसके घेरे में मानवीय क्रिया कलाओं की प्रत्येक शाखा आ जाती है।'² अन्तर्राष्ट्रीयता के इस युग में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं संयुक्त राष्ट्र राष्ट्रमण्डल क्षेत्रीय संस्थाओं (गैटो सीटो और गल्फ कौंसिल) ने राजनय को बहुपक्षीय बना दिया है। सामूहिक सुरक्षा संधियाँ सहाय्य राजनय शिखर वार्ताएँ खुला राजनय सहायता का राजनय तैल का राजनय निःशस्त्रीकरण का राजनय सांस्कृतिक क्षेत्र का विकास प्रतिरक्षा और सुरक्षा का बढ़ता प्रभाव तथा परमाणु हथियारों के प्रचलन आदि ने राजनय के कार्य उसकी विधियों तथा उसके क्षेत्र को विस्तारपूर्ण बना दिया है। इसका क्षेत्र निरिक्त ही विस्तृत बन गया है। यह वार्ताओं को सम्भव करता है। राष्ट्रीय हितों का संवर्द्धन करता है। मैत्री सम्बन्धों

1 "Fundamental to such a conception of diplomacy is the belief that the purpose of negotiation is victory and that the denial of complete victory means defeat
—The old Nicolson

को बढ़ाता है तथा आर्थिक व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों को प्रोत्साहित करता है। यह राजनय ही है जिसके माध्यम से राज्यों के मध्य दार्तायें समझौते सन्धियों आदि राज्यों को एक-दूसरे के नित्र अथवा शत्रु बना देते हैं। इसी के माध्यम से राज्यों के आर्थिक व्यापारिक दानिज्जिक सांस्कृतिक सामाजिक वैज्ञानिक और तकनीकी सम्बन्ध घनिष्ठ होते हैं। आन्तरिक हथियारों के विकास ने विश्व शान्ति को सकट में डाल दिया है अतः शान्ति व्यवस्था को बनाये रखने के लिए राजनय का सहारा लिया जाना आवश्यक है। यह राजनय के प्रयत्नों का ही परिणाम है कि विश्व तृतीय महायुद्ध की दिनीपिका से बचा हुआ है। एक योग्य राजदूत दक्षिणगटन, मास्को कीजिंग अथवा नई दिल्ली में बैठा अन्तराष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित कर विश्व व्यवस्था को बनाये रखने में सहायक सिद्ध हो सकता है। नये राजनयिक तरीके समय और परिस्थिति के साथ विकसित हुए हैं। नये राजनीतिक संगठनों सत्थाओं, सम्मेलनों, विरोधों और प्रचार ने राजनय के क्षेत्र को निरिषत ही विस्तृत किया है। राजदूत के कार्यों, उनकी दिन प्रतिदिन की गतिविधियों नये सचनों के उपदेग अदि ने राजनय के क्षेत्र को अत्यधिक विकसित कर दिया है। राजनय अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में अनुनय, मध्यमार्ग नय अदि का प्रयोग करते हैं। ये सचन स्वयं में गम्भीर एव विस्तृत हैं। आज राजनय के क्षेत्र की सीमा निर्यरण यदि असम्भव नहीं तो जटिल अदश्य है। आज राजनय 'सम्पूर्ण राजनय' (Total Diplomacy) हो गया है।

राजनय के लक्ष्य

(The Objectives of Diplomacy)

युद्ध और शान्ति दोनों ही कालों में राजनय राष्ट्रीय हित की अनिवृद्धि का मुख्य सधन है। राष्ट्रीय हित के अन्तर्गत देश की सुरक्षा, जन कल्याण तथा अन्य लाभ सम्मिलित किये जा सकते हैं और राजनय का अन्तिम लक्ष्य इनकी सुरक्षा और अनिवृद्धि है। सरदार के एम. एनिङ्गर के शब्दों में "समस्त राजनयिक सम्बन्धों का मूलनूत उद्देश्य अपने देश के हितों की रक्षा करना होता है और हर राज्य का मूलनूत हित स्वयं अपनी सुरक्षा करना होता है। परन्तु इस सर्वान्वी लक्ष्य के अतिरिक्त आर्थिक हित, व्यापार, देशवासियों की रक्षा अदि भी ऐसे महत्वपूर्ण विषय हैं जिनका ध्यान रखना राजनय का उद्देश्य है।"

राजनय मूल रूप में एक शान्तिकालीन सधन है। यदि राजनय का अन्त युद्ध में होता है तो इसे राजनय की असफलता का द्योतक माना जाता है। किन्तु युद्धकालीन स्थिति में भी राजनय विशेष रूप से सक्रिय रहता है क्योंकि युद्ध और शान्ति जैसी गम्भीर समस्याओं को सैन्यविधियों पर पूरी तरह नहीं छोड़ा जा सकता है। शान्तिकाल में राजनय (Diplomacy) प्रत्यक्ष योगदान करता है जबकि शक्ति (Power) पृष्ठभूमि में रहती है। किन्तु युद्ध काल में शक्ति आगे रहती है और राजनयिक दौध-देघ पृष्ठभूमि में खेले जाते हैं। फिर भी युद्ध के सन्दर्भ में राजनय के कार्य बड़े व्यापक हो जाते हैं। द्वितीय महायुद्धकाल में राजनय सम्मेलनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही थी और युद्ध सम्बन्धी नीति-निर्णय इन सम्मेलनों में लिए जाते थे। पानर एव पर्सिन्स के अनुसार—“विदेश-नीति की भाँति राजनय का उद्देश्य, सम्मदर शान्तिपूर्ण सधनों द्वारा, लेकिन युद्ध न चले जा सकने की दिसा में सैनिक गतिविधियों की

सहायता द्वारा राष्ट्रीय सुरक्षा प्राप्त करना है। राजनय जैसाकि निकल्सन ने कहा है युद्धकाल में समाप्त नहीं हो जाता अपितु युद्धकाल में उसे पृथक् भूमिका निभानी पड़ती है तथा विदेश-मंत्रियों की तरह राजनयज्ञों (Diplomats) का कार्यक्षेत्र अधिक व्यापक हो जाता है। इस शताब्दी के दो महायुद्ध इस धारणा की पुष्टि करते हैं।¹ के एम पनिकर लिखते हैं “एक राजनयज्ञ का मुख्य कार्य अपने देश का नाम ऊँचा रखना उसके लिए आदरभाव उत्पन्न करना तथा उसके प्रति सद्भावना पैदा करना है।”¹ राजनयज्ञ अपने कार्यों द्वारा राष्ट्रीय हितों की उपलब्धि का प्रयास करता है।

विभिन्न विचारकों ने राजनय के जिन विभिन्न लक्ष्यों का उल्लेख किया है उन्हें हम इस प्रकार वर्गीकृत कर सकते हैं

1. राष्ट्रीय हितों की रक्षा (To Safeguard the National Interests) राजनय का मुख्य लक्ष्य अपने राज्य के हितों की रक्षा करना है। प्रत्येक राज्य का मूलभूत हित अपनी सीमाओं की रक्षा होता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक हित व्यापार राष्ट्रों की रक्षा आदि भी महत्वपूर्ण विषय हैं तथा राजनय इनकी सुरक्षा का प्रयास करता है। अन्य राज्यों के साथ सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना भी राजनय का मुख्य लक्ष्य होता है।

2. राज्य की प्रादेशिक, राजनीतिक एवं आर्थिक अखण्डता की रक्षा (To Safeguard the Territorial, Political and Economic Integrity of the State) राजनय का यह महत्वपूर्ण कार्य है कि वह अपने देश की प्रादेशिक अखण्डता के साथ-साथ राजनीतिक एवं आर्थिक हितों की भी रक्षा करे। आजकल केवल सैनिक आक्रमण से ही राज्य की सुरक्षा खतरे में नहीं पड़ती वरन् रणनीति के महत्व के क्षेत्रों पर नियन्त्रण करके आर्थिक दबाव एवं देश में राजनीतिक प्रभाव बढ़ा कर भी उसकी सुरक्षा को खतरे में डाला जा सकता है। अतः राजनय को हमेशा सजग रहना चाहिए तथा देश की रक्षा के विरुद्ध दूसरे राज्यों की नीतियाँ और गतिविधियाँ पर रोक लगानी चाहिए।

3. मित्रों से सम्बन्ध बढ़ाना तथा शत्रुओं को तटस्थ बनाना (Strengthening relationships with friendly countries and the neutralisation of forces hostile to itself) - राजनय अपने राष्ट्रीय हितों की उपलब्धि के लिए मित्र देशों के साथ अपने मैत्री सम्बन्धों को दृढ़ बनाता है। वह सन्धि वार्ता द्वारा अपने समर्थकों और मित्रों की सख्ती में वृद्धि करता है। सामान्य हितों वाले राज्यों के साथ उसके मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध दृढ़ हो जाते हैं। जिन राज्यों के राष्ट्रीय हित परस्पर मित्र अथवा विरोधी होते हैं उनके बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की कम सम्भावना रहती है। यहाँ राजनय का लक्ष्य ऐसी शक्तियों को तटस्थ बनाना होता है ताकि वे उसके राष्ट्रीय हितों को हानि न पहुँचा सकें।

4. विरोधी शक्तियों के गठबन्धन को रोकना (To prevent other States from combining against her) - राजनय का एक मुख्य लक्ष्य यह भी है कि अन्य राज्यों को अपने राज्य के विरुद्ध समूहित होने से रोके। इसके लिए उसे कुछ राज्यों के साथ समझौता करना होगा कुछ को समर्थन देना होगा तथा ऐसे कुछ राज्यों से समर्थन एवं सहायता रोकनी होगी जो इसका प्रयोग स्वयं दाता राज्य के राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध करते हों। यदि ये सारे तरीके असफल हो जाएँ और शक्ति का प्रयोग करना अनिवार्य बन जाए तो वह

सर्वाधिक लाभप्रद परिस्थितियों में ही किया जाना चाहिए और इस रूप में किया जाना चाहिए ताकि दुनिया के दूसरे राज्य यह जान जाएँ कि यह राज्य न्याय के पक्ष में है तथा केवल अपने अधिकारों की रक्षा के लिए ही लड़ रहा है। यदि विश्व यह मान ले कि राज्य न्याय के लिए लड़ रहा है तो यह राजनय की विजय होगी।

5 युद्ध का संचालन (The Conduct of War) युद्ध बुरा होते हुए भी अपरिहार्य है। यदि युद्ध छेड़ना आवश्यक बन जाए तथा सन्धि-वार्ता के सभी साधन असफल हो जाएँ तो राजनय के दायित्व का रूप बदल जाता है। युद्धकाल में भी प्रभावशाली राजनय का महत्व है। के. एम. पनिकर के मतानुसार “प्रभावशाली राजनय के बिना न तो युद्ध लड़े जा सकते हैं और न जीते जा सकते हैं। युद्ध से पूर्व गलत राजनयिक तैयारियाँ एवं युद्धकाल में प्रभावहीन राजनय एक शक्ति सम्पन्न राष्ट्र की हार एवं उसके विनाश का कारण बन जाता है।” अतः युद्धकाल में राजनय का महत्व और भी बढ़ जाता है।

■ आर्थिक एवं व्यावसायिक लक्ष्य (Economic and Commercial Objectives) राजनय के उपर्युक्त लक्ष्य राजनीतिक थे। आजकल गैर-राजनीतिक लक्ष्यों का महत्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है। इसमें आर्थिक एवं व्यावसायिक लक्ष्य विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रत्येक राज्य दूसरे देशों में अपने उत्पादनों के लिए बाजार तलाश करता है। स्पर्धा को घटाता है। आर्थिक सतर्कता रखता है तथा अपने हितों की रक्षा के लिए अन्य उचित कदम उठाता है। पनिकर के शब्दों में “पिछले तीस वर्षों में व्यावसायिक राजनय (Commercial Diplomacy) अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का एक सर्वाधिक सक्रिय पहलू बन गया है।” फलस्वरूप नियंत्रण (Quota) अनुज्ञापितियाँ (Licenses), मुद्रा-नियन्त्रण (Currency Control) तथा व्यावसायिक सम्पर्क की अन्य तकनीकों को राजनय में साधन के रूप में अपनाया जाने लगा है।

प्रत्येक राज्य अपने राजनयिक मिशन के साथ व्यापार-आयुक्त एवं वाणिज्य सहकारी (Commercial Attachés) अदरम भेजता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक राजनयिक मिशन में आर्थिक विशेषज्ञ अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं।

7 खाद्यान्न की सहायता (Food Assistance) : द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सत्सार के विभिन्न भागों में खाद्यान्न की कमी होने के कारण खाद्यान्न से सम्पन्न देशों ने इसे अपने राजनय का साधन बनाया है। आज अन्न उत्पादन देश अपनी शक्तों पर ही माल बेघते हैं। खाद्यान्न प्राप्त करने के लिए राज्य को एक सीमा तक अन्य राज्यों का हस्तक्षेप भी स्वीकार करना पड़ता है। इससे सम्बन्धित सन्धि वार्ताएँ केवल व्यावसायिक न रह कर राजनीतिक बन जाती हैं। इससे खाद्यान्न आयात करने वाले देशों की विदेशनीति प्रभावित होती है।

8 राज्य के स्थायी हितों की पूर्ति (Serving of the Permanent Interests) : राजनय का मुख्य लक्ष्य राज्य के स्थायी हितों की पूर्ति करना होता है। इन स्थायी हितों की अदहेलना केवल मर्यादक सकट के समय ही हो सकती है। कभी-कभी अस्थायी लाभों के लिए भी सौदेबाजी की जाती है। जनता के आग्रह एवं दबाव के कारण सरकार को कुछ समय के लिए स्थायी हितों को छोड़कर अन्य हितों की प्राप्ति का प्रयास करना पड़ता है।

भावनाओं पर आधारित जन प्रतिक्रिया के दबाव में राज्य को यदि अपनी विदेश नीति या राजनय को बदलना पड़े तो वह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण और खतरनाक सिद्ध हो सकती है।

9 पारस्परिक आदान प्रदान (Mutual Give and Take) राजनय अपने प्रमुख लक्ष्य राज्य की सुरक्षा तथा अपने अधिकारों की रक्षा करने के लिए पारस्परिक आदान प्रदान की नीति का अनुसरण करता है। कोई राजनय यदि अन्तिम सत्त्यों (Ultimate Truths) की धारणा पर आधारित है तो वह निश्चित ही असफल होगा अतः एक सफल राजनय को व्यावहारिक होना चाहिए। उसी दूसरे राज्यों पर नैतिक निर्णय देने अथवा उनके अधिकार निर्धारित करने का प्रयास नहीं करना चाहिए क्योंकि प्रत्येक राज्य का अपना जीवन दर्शन होता है। इस राजनीतिक यथार्थ को स्वीकार कर के ही अन्य देशों के साथ राजनयिक व्यवहार स्थापित करना चाहिए।

10 सद्भावना की स्थापना (To Establish Goodwill) राष्ट्रीय हित की उपलब्धि के लिए राजनय को अपने सभी उपलब्ध साधनों द्वारा दूसरे देश के साथ सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए। राज्य के आपसी समझौते एवं सन्धियों में आपसी सद्भाव एवं रुचि पर निर्भर होने चाहिए। सम्भावित शत्रु देश के साथ भी सद्भावना की स्थापना का प्रयास करना चाहिए। यदि उस देश की सरकारी नीति को नहीं भी बदला जा सका तो कम से कम उस देश में मित्रों एवं समर्थकों का एक वर्ग अवश्य तैयार किया जा सकेगा।

के एम पनिकर ने राज्यों के कूटनीतिक व्यवहार के निम्नलिखित प्रमुख लक्ष्यों का उल्लेख किया है

1 मित्र राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों को मजबूत बनाना और जिन देशों के साथ मतभेद हों उनसे यथासम्भव तटस्थ रहना।

2 अपने राष्ट्रीय हित की विरोधी शक्तियों को तटस्थ बनाए रखना।

3 अपने विरुद्ध दूसरे राष्ट्रों का एक गुट बनने से रोकना।

4 यदि दूसरे राष्ट्रों के विरुद्ध अपने हितों की रक्षा करते समय सामंजस्य और भेद-बे-चीनी ही नीतियाँ असफल हो जाएँ तो युद्ध का सहारा लिया जाए। किन्तु कूटनीति का कार्य है कि युद्ध ऐसी परिस्थिति में तथा ऐसे रूप में अपनाया जाए कि दूसरे देश यह समझ जाएँ कि तुम्हारा पक्ष न्यायपूर्ण है तथा तुम अपने अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ रहे हो और आक्रमणकारी तुम नहीं बरन् दूसरा पक्ष है।

5 घाणक्ष्य का मत था कि यदि युद्ध और शान्ति दोनों के समान परिणाम प्राप्त होते हों तो शान्ति को अपनाओ तथा युद्ध और निष्पक्षता का समान लाभ मिल रहा हो तो निष्पक्षता को अपनाओ। युद्ध को तो केवल तभी अपनाना चाहिए जब अन्य सभी साधन असफल हो जाएँ।

6 युद्ध कूटनीति की असफलता का चोटक है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि युद्ध के समय कूटनीति ही समाप्त हो जाती है बरन् सच तो यह है कि बिना कूटनीति के न तो युद्ध किए जा सकते हैं और न ही जीते जा सकते हैं। युद्ध से पूर्व गलत कूटनीतिक तैयारियों तथा युद्ध के समय की प्रभावहीन कूटनीति द्वारा को निश्चित बनाकर शक्तिशाली राष्ट्रों का भी विघ्न कर देती है।

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कूटनीति निम्नलिखित तीन साधनों को काम में ला सकती है—(i) समझौता (Persuasion) (ii) समझौता करना (Compromise) एवं (iii) शक्ति प्रयोग की धमकी देना (Threat of Force)। सकल कूटनीति के लिए अपेक्षित है कि जहाँ तक सम्भव हो सके वह प्रथम दो साधनों के मध्यम से ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयास करे। कूटनीति की कला इस बात में है कि वह समय व परिस्थिति के अनुसार ही तीनों में से किसी एक का प्रयोग करे।

राजनय के कार्य (The Functions of Diplomacy)

राजनय का अन्तिम लक्ष्य राष्ट्रीय हित का सर्वोत्तम तथा निर्धारित नीति के उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयत्न है। स्टालिन ने राजनय को एक प्रकार की कला मानते हुए कहा था कि कूटनीतिक के शब्दों का उसके कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए, यदि ऐसा है तो वह राजनय ही कैसा? कथनी एक चीज है और करनी दूसरी। अच्छे शब्द बुरे कार्यों को छिपाने में ढाल का काम करते हैं। एक निष्कपट राजनय उसी तरह असम्भव है जिस तरह कि 'सूखा पानी' या 'नरम लोहा'।¹

राष्ट्रीय हित सर्वोत्तम की दृष्टि से राजनय के मूलभूत कार्यों को विभिन्न विधायकों राजदूतों और राजनीतिज्ञों ने निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है

(क) हिन्दू नीति शास्त्रों का मत

हिन्दू नीति शास्त्रों में चार प्रकार के राजनयिक साधन और उपाय बताए गए हैं—साम, दाम, दण्ड और भेद। 'साम' के अनुसार एक देश मित्रतापूर्ण व्यवहार सुझाव एवं वैदिक तर्कों द्वारा अपने राष्ट्रीय हित साधन का प्रयास करता है। 'दाम' के अनुसार एक देश अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए धन व्यय करता है। ऐसे समझौते करता है जिसमें स्वयं के धन से दूसरे पक्ष का लाभ हो। कुछ महत्वपूर्ण लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कुछ देना कुछ व्यय करना आवश्यक बन जाता है। यह समझौते का एक तरीका है। यहाँ साम और दाम से काम बनता न देखता हो वहाँ 'भेद' का सहारा लेना होता है अर्थात् शत्रु के शत्रु से मैल कर लेना और शत्रु के मित्रों में आपस में फूट डाल देना। राजनय का सबसे अन्तिम हथियार शक्ति है। जब सभी अन्य साधन असफल हो जाएँ तब राजनय को युद्ध का मार्ग अपनाना पड़ता है।

प्रसिद्ध विचारक कौटिल्य ने अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्र' में राजनय के निम्नलिखित कार्य गिनए हैं

(क) प्रेषक राज्य एवं स्वगतकर्तृ राज्य की सरकारों के दृष्टिकोणों का आदान प्रदान होना (ख) सन्धिदा करना (ग) अपने राज्य के दावों को स्वीकार करने के लिए विभिन्न तरीके अपनाना। राजनय अपने राज्य की स्वयं सिद्धि के लिए युद्ध की धमकी देता है अपने मित्र तथा सन्धियों की सख्ता बढ़ता है गुप्त संगठनों की रचना करता है विदेशी राज्य में कलह के बीज बोता है सरकारी अधिकारियों को अपनी ओर निला लेता है (घ) राजनयन को मुख्यतः उन सरकारी अधिकारियों से निभाना बढानी चाहिए जिनके

अधिकार में जगतात सीमावर्ती क्षेत्र आदि विषय आते हैं (इ) राजनयज्ञ को स्वागतकर्ता राज्य की किलेबन्दी का पूरा ज्ञान होना चाहिए। उसे यह जानकारी भी प्राप्त करनी चाहिए कि मूल्यवान चीजों के खजाने किधर हैं।

कौटिल्य का मत है कि अपने कार्यों के सम्पादन के लिए राजनयज्ञ को अवसरानुकूल घातुर्य कुरातला और कुटिलता का मार्ग अपनाना होता है। इस तरह से घाणक्ष्य ने अपने साध्य की प्राप्ति के लिए राजनयज्ञ को सभी सम्य साधन अपनाने की छूट दी है।

(ख) शरदार पत्रिकार का मत

विख्यात भारतीय राजनयिक के एम पत्रिकार के अनुसार घूर्तता कपट आदि से पूर्ण कूटनीति अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में बहुत कम सहायक हो सकती है। कारण यह है कि कूटनीति अपने देश के प्रति दूसरे देशों की शुभकामना प्राप्त करने की दृष्टि से प्रेरित होती है और कपट आदि इस उद्देश्य के मार्ग में खतरनाक साधन हैं। दूसरे देशों की शुभ कामना प्राप्ति के लक्ष्य की पूर्ति चार प्रकार से अधिक अच्छी तरह हो सकती है—दूसरे देश उस देश की नीतियों को ठीक प्रकार से समझे एवं उसके प्रति सम्मान की भावना रखें, वह देश दूसरे देशों की जनता के न्यायोचित हितों को समझे एवं सर्वोपरि व ईमानदारी से व्यवहार करे। आप बहुत से लोगों को सदा के लिए धोखे में नहीं रख सकते और इस दृष्टि से घातुर्य कपट आदि से पूर्ण कूटनीति के पर्दे में जब छिद्र हो जाएंगे और देश की नीति की असलियत जाहिर हो जाएगी तो विश्व-समाज में उस देश के स्तर को बड़ा पड़ा पहुँचेगा। अतः उनका मत है कि व्यक्तिगत जीवन की नीति अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में भी ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है।

(ग) पामर एवं परकिन्स का मत

पामर एवं परकिन्स ने राजनयज्ञ को दूसरे देशों में अपनी सरकार की आँख और कान (Eyes and ears of his Government) कहा है जिसके मुख्य कार्य हैं—अपने देश की नीतियों को क्रियान्वित करना, अपने देश के हितों और देशवासियों (जो विदेश में हों) की रक्षा करना तथा अपनी सरकार को शेष विश्व में होने वाली मुख्य घटनाओं के बारे में सूचित रखना।¹ राजनयज्ञों के कार्यों को आगे चलकर और भी स्पष्ट करते हुए पामर एवं परकिन्स ने इन्हें निम्नलिखित चार आधारभूत वर्गों में विभाजित किया है—(1) प्रतिनिधित्व (Representation), (2) समझौता-वार्ता (Negotiation), (3) प्रतिवेदन (Reporting), एवं (4) विदेशों में अपने राष्ट्र और अपने देश के नागरिकों के हितों की सुरक्षा (The protection of the interest of the Nation and its citizens in foreign land)।² एक अन्य स्थल पर लेखकद्वय ने लिखा है कि विदेश-नीति की नीति ही राजनय का यह लक्ष्य है कि उपायसम्पन्न आतिपूर्ण साधनों से देश की रक्षा करे। लेकिन यदि युद्ध अपरिहार्य हो जाए तो रीतिक तैयारी कर युद्ध करे। युद्ध के समय 'शान्ति-कालीन राजनय' (Peace time Diplomacy) का रूप बदलकर युद्ध की अवस्थाओं के अनुरूप हो जाता है।

(घ) क्विन्सी राइट, ओपेनहीम तथा चाइल्ड्स का मत

क्विन्सी राइट के अनुसार राजनय युद्ध से नित्र इसलिए है क्योंकि यह नैतिक शास्त्रों के स्थान पर शब्दों का प्रयोग करता है। शक्ति-प्रदर्शन और युद्ध की धमकी राजनय के सधन है पर जब युद्ध छिड़ जाता है तो दोनों पक्षों के बीच प्रायः राजनयिक सम्बन्ध विच्छेद हो जाते हैं। ओपेनहीम ने राजनयज्ञों के कार्यों को तीन भागों में विभाजित किया है—(क) समझौता (Negotiation), (ख) पर्यवेक्षण (Observation) एवं (ग) सुरक्षा (Protection)। चाइल्ड्स ने भी फामर एवं परकिन्स की भाँति ही राजनयज्ञों के कार्यों को इन चार भागों में बाँटा है।

(1) प्रतिनिधित्व करना (2) समझौता करना, (3) प्रतिवेदन करना एवं (4) विदेशी भूमि में अपने देश के नागरिकों तथा देश के हितों की रक्षा करना।

(ङ) हैस.जे. मॉर्गेन्थो का मत

हैस.जे. मॉर्गेन्थो के अनुसार राजनयज्ञ के निम्नलिखित चार प्रमुख कार्य हैं—प्रथम, राज्य की शक्ति को ध्यान में रखकर अपने लक्ष्यों को नियंत्रित करना द्वितीय, अपने उद्देश्यों और राज्य शक्ति के सच-सच दूसरे राज्य की शक्ति का अनुचित मूल्यांकन, तृतीय, यह पता लगाना कि विभिन्न राज्यों के लक्ष्य एक दूसरे से कहाँ तक मेल खाते हैं और यदि इन लक्ष्यों के मध्य साम्य न हो तो उनके बीच सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करना एवं चतुर्थ, अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समझौता समझाना-बुझाना बल प्रयोग की धमकी आदि उपायों का आश्रय लेना।

(घ) लियो बी. पौलाद का मत

एक भूतपूर्व अमेरिकी राजदूत लियो बी. पौलाद (Leou B. Poullada) ने अपने एक लेख में राजनय के पाँच कार्यों का उल्लेख किया है¹—

- (1) संघर्ष का प्रबन्धन (The Management of Conflict)
- (2) समस्या समाधान (Problem solving)
- (3) परा साँस्कृतिक कार्य (Trans-Cultural Functions)
- (4) समझौता दला और सौदेबाजी (Negotiations and Bargaining)
- (5) कार्यक्रम व्यवस्था (Programme Management)

राजनयज्ञ का एक प्रमुख कार्य संघर्ष का प्रबन्धन (Management of Conflict) है अर्थात् जहाँ कहीं हितों का मरी कटाव (Intersection of Interests) हो वहाँ एक राजनयज्ञ को समझाने-बुझाने, सौदेबाजी करने, सुलह करने आदि विभिन्न उपायों द्वारा संघर्षपूर्ण स्थितियों के समाधान में प्रवृत्त होना चाहिए। घरेलू क्षेत्र में घरेलू राजनीतिज्ञ जिस प्रकार इन कार्यों का निर्वहन करते हैं उसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय जगत में राजनयज्ञ इन कार्यों का निर्वहन विभिन्न संस्कृतियों और मूल-व्यवस्थाओं के सम्पर्क में करते हैं और इस दृष्टिकोण से वे मुख्यतया एक 'परा साँस्कृतिक संघर्ष दलाल' (Trans-Cultural Conflict Broker) की भूमिका का निर्वहन करते हैं।

1. Leou B. Poullada's article in "The Theory and Practice of International Relations", 1974, pp. 106-109 by David Middleton W. C. O'Son and Fred A. Sondermann.

मूलभूत राजनयिक गतिविधि का दूसरा क्षेत्र समस्या समाधान (Problem Solving) है। विदेश सम्बन्धों के साधन में अनेक समस्याएँ और कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं तथा कई बार सीमान्त पसन्दगियों (Marginal Choices) के घेरा करने की स्थिति उत्पन्न होती है। अतः राजनयज्ञ का प्रतिवेदन सम्बन्धी काम सुगम नहीं होता। देखने में प्रतिवेदन तथ्यों के सग्रह का सीधा साधा काम लगता है लेकिन यह आवश्यक रूप से समस्या समाधान का एक अम्यास क्रम है। राजनयज्ञ को चाहिए कि वह सर्वप्रथम विभिन्न सम्भव व्याख्याओं में से चुनाव करे, सूचना सग्रह से विभिन्न सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों या पक्षपातों की छँटना कर दे और उपलब्ध सूचना को प्रयोग में लाने का बहुत ही रचनात्मक तरीका चुने ताकि नीति निर्माण और नीति क्रियान्वयन दोनों को प्रभावित किया जा सके।

मूलभूत राजनयिक गतिविधि का तीसरा क्षेत्र बौद्धिक व्यवसाय के परा सांस्कृतिक कार्यों (Trans Cultural Functions) पर केन्द्रित है। राजनयज्ञ का मुख्य योगदान उसकी इन निपुणता में प्रकट होता है कि वह विभिन्न सांस्कृतिकों के मध्य किस प्रकार अपनी व्याख्याओं पर पहुँचाता है। विभिन्न सांस्कृतिकों के मध्य कार्य करते हुए भी राजनयज्ञ को अपने राष्ट्रीय हित के सम्बर्द्धन में लगा रहना चाहिए।

राजनय का चौथा मूलभूत कार्य समझौता वार्ता और सौदेबाजी (Negotiations and Bargaining) है। समझौता वार्ता केवल अन्तराष्ट्रीय सम्मेलनों में ही नहीं होती बल्कि राजनयज्ञ अपने दैनिक कार्यों में विभिन्न तरीकों से विचार विमर्श, सौदेबाजी और समझौते सम्बन्धी कार्यों में लगा रहता है।

राजनय का पाँचवाँ कार्य कार्यक्रम व्यवस्था (Programme Management) है। विदेशों में अपने देश के किसी कार्यक्रम के प्रबन्ध की कुशलता का काफी प्रभाव पड़ता है। उसके माध्यम से विदेशों में देश की प्रतिष्ठा बढ़ाई जाती है। आज के युग में इस प्रकार के कार्यक्रमों का महत्व द्वि राष्ट्रीय और बहु राष्ट्रीय सभ्यों के विकास में बहुत अधिक बढ़ता जा रहा है।

राजनयिकों के प्रमुख कार्य (Important Functions of Diplomats)

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह उचित होगा कि अलग अलग विद्वानों द्वारा प्रतिपादित कार्यों की अलग अलग व्याख्या न करके सामूहिक दृष्टि से प्रमुख कार्यों की व्याख्या की जाए जिसे निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है।

1. सुरक्षण शब्धी कार्य (The Protection) राजनय का प्रमुख कार्य यह है कि अपने देश के अधिकारों एवं हितों की रक्षा तथा वृद्धि करे। हितों की रक्षा करना राजनय का कार्य है। प्रो ओपनहीम के कथनानुसार "राजनयिक दूतों का यह मुख्य कार्य है कि वे अपने देशवासियों की सम्पत्ति, जीवन एवं हितों की रक्षा करें जो स्वागतकर्ता राज्य की सीमा में बसते हैं। स्वदेश के सम्मान एवं हितों के प्रति राजनयिक कोई सौदेबाजी नहीं कर सकता। यदि विदेश में रहने वाले इन राष्ट्रजनों के अधिकार छीन लिए गए हैं सम्पत्ति जबा की गई है किसी उपद्रव में वे हताहत हुए हैं अथवा उन्हें कानून का पूर्ण सरक्षण नहीं मिल रहा है तो वे अपने राजनयिक मिशन से उचित सहायता की माँग कर सकते हैं। राजनय

को चाहिए कि वह अपने राष्ट्रियों के कष्ट निवारणार्थ पूरा सहयोग दे। यदि स्वागतकर्ता राज्य में राजनीतिक अस्थिरता के कारण शान्ति-व्यवस्था खतरे में पड़ जाती है तो उन राष्ट्रियों को दूतावास में शरण दी जाती है। गृहयुद्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध की स्थिति में राजनयिक मिशन अपने राष्ट्रियों को स्वदेश लौटने अथवा सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाने में सहायता देते हैं। सन् 1991 के खाड़ी युद्ध के समय खाड़ी देशों में स्थित भारतीय राजनयिक मिशनों ने वहाँ फसे भारतीयों को सुरक्षित रूप से भारत पहुँचाने में महती भूमिका का निर्वाह किया था। युद्धरत राज्यों के बीच राजनयिक सम्बन्ध टूट जाने पर तटस्थ राज्यों के राजनयिकों को राष्ट्रियों की रक्षा का दायित्व सौंपा जाता है। प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्धों के समय स्विट्जरलैण्ड तथा स्वीडन द्वारा यह कार्य किया गया था। वर्तमान में भी स्विट्जरलैण्ड और आस्ट्रिया द्वारा इस कार्य का सम्पादन किया जाता है।

2. प्रतिनिधित्व (Representation) : प्रत्येक राजनयिक दूसरे देशों में अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में अपने देश का प्रतिनिधित्व करता है। एक प्रतिनिधि के रूप में राजनयिक अपने राज्य तथा सरकार का प्रतीक होता है तथा उनके विचारों की अनिवार्यता करता है। राजनयिक को उसके देश का मुँह और कान कहा गया है। वह अपने देश के दृष्टिकोण को बढ़ी धतुरता, स्पष्टता एवं सख्तिता के साथ प्रस्तुत करता है। किसी प्रश्न के बारे में उसके व्यक्तिगत विचार घड़े कुछ भी हों, किन्तु दूसरे देशवासियों को वह उन्हीं विचारों को बताएगा जो उसके देश की सरकार के हैं। अपनी सरकार के प्रतीक तथा प्रवक्ता के रूप में कार्य करते हुए राजनयिक विदेशों में अपने देश के लिए मित्रता में दृढ़ करता है और इसके लिए वह वहाँ के व्यापारी, समाजसेवी शिक्षाशास्त्री, राजनीतिज्ञ एवं सरकारी नेताओं से सम्पर्क स्थापित करता है। वह अपने देश की नीतियों पर प्रकाश डालता है।

वरिष्ठ राजनयिक एवं राजनयिक मिशन के अध्यक्ष महत्वपूर्ण अवसरों (जैसे शदी, मृत्यु संस्कार, राज तिलक आदि) पर अपने देश का प्रतिनिधित्व करते हैं। दूसरे देशों की सद्भावना यात्रा द्वारा वहाँ की स्थिति की जानकारी प्राप्त करते हैं। वे अन्य राजदूतों के सम्मान में भोज देते हैं तथा दूसरों द्वारा दिए गए भोजों में शामिल होते हैं। हैरोल्ड सीनर (Harold Seymour) के कथनानुसार एक अच्छा भोज राजनय की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हो सकता है। अधिकांश देश अपने राजनयिकों को व्यय के लिए पर्याप्त धन देते हैं ताकि वे दूसरे राज्य की सद्भावना प्राप्त कर सकें। संयुक्त राज्य अमेरिका में पहले राजनयिक पद सम्पन्न लोगों को सौंपे जाते थे ताकि वे धन व्यय करने में सक्षम न करें।

3. पर्यवेक्षण एवं प्रतिवेदन (Observation and Reporting) : राजनयिकों की सहायता से एक देश की सरकार अपने विदेशी मामलों का कूटनीति सत्रों के विकास में सहायक बन सकती है, समझन कर पाती है। प्रत्येक राजनयिक मिशन अपने देश को सामयिक प्रतिवेदन भेजता रहता है। इन प्रतिवेदनों में स्वागतकर्ता देश की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा सैनिक परिस्थितियों और विद्यमान व्यवस्थापन, नवीन उत्पादन एवं उद्योग, तकनीकी उपलब्धियों तथा शिक्षा में होने वाले परिवर्तन आदि का विवरण होता है। इस जानकारी को प्राप्त करने के लिए उनको सूचना के सभी स्रोतों एवं सौंप्रदायिक आँकड़ों का निरन्तर अध्ययन करते रहना चाहिए। सभी सूचनाओं को एकत्रित

कर उनका मूल्योंकन करने के लिए विशेषज्ञों की सहायता ली जाती है। औपचारिक राजनयिक प्रतिनिधियों से यह आशा नहीं की जाती कि वे दूसरे देश में जाकर गुप्तधर का कार्य करें किन्तु वास्तविक व्यवहार में ऐसा होता है। दूसरे देश के गुप्त मेटों को जानने के लिए तथा अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए अनेक राजनयिक जासूसी कार्यवाही करते हैं। शीतयुद्ध के समय पारंपार्य और साम्यवादी देश एक दूसरे पर राजनीतिक जासूसी करने का आरोप लगाते थे।

4 सन्धि वार्ताएँ (Negotiations) राजनय का यह कार्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। जॉर्ज एफ. केनन ने इसे मुख्य राजनयिक कार्य कहा है। राजनयिक व्यक्तिगत रूप से किसी राज्य के साथ समझौता वार्ता करता है अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में अनेक राज्यों के साथ वार्ता करता है। दोनों ही अवसरों पर वह अपने राष्ट्रीय हित में यह कार्य करता है। राजनयिक दो देशों के बीच उत्पन्न विवादों को दूर करने का प्रयास करता है किन्तु साथ ही अर्थ में वह मध्यस्थ नहीं होता है। वह तो अपने देश के पक्ष में सौदेबाजी करता है। सन्धि वार्ता के कई स्तर होते हैं। राज्याध्यक्षों के बीच सन्धि वार्ताएँ, विदेश सचिवों द्वारा पत्र व्यवहार के माध्यम से सन्धि वार्ताएँ तथा विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन। सभी प्रकार की सन्धि वार्ताओं को सफल बनाने में राजनयिक प्रतिनिधियों की अहम भूमिका होती है।

5 प्रशासन (Administration) राजनयिक मिशन की दैनिक प्रतिदिन की प्रशासनिक गतिविधियों का संचालन करने का दायित्व भी राजदूत का ही है। वह अपने दूतावास की प्रशासनिक गतिविधियों का नेतृत्व और नियंत्रण करता है।

राजनय के प्रयोग की विधियाँ (Procedure for Implement of Diplomacy)

राजनय की विभिन्न विधियों का उद्देश्य राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि करना तथा विश्व जनमत को अपने पक्ष में करना होता है। सयुक्त राष्ट्र के सिद्धान्त मानव अधिकार विश्व जनमत और अन्तर्राष्ट्रीय कानून आदि की दुहाई देकर अधिकांश राज्य अपने इन लक्ष्यों की प्राप्ति करने का प्रयत्न करते हैं। इस हेतु राज्य आदर्शवादी नारों जैसे स्वतन्त्रता समानता मानव अधिकार विश्व शान्ति आदि का प्रयोग करते हैं। पारंपार्य गुट यदि स्वतन्त्रता और मानव अधिकार की दुहाई देता है तो साम्यवादी जगत समानता और विश्व शान्ति के नारों को दोहराता रहा। राज्य अपने व्यापारिक वाणिज्यिक तथा अन्य लाभों के लिए व्यापारिक प्रतिरोध (Trade Embargos) का दबाव के साधन के रूप में प्रयोग करते हैं। राजनय के प्रयोग की परिधि अत्यन्त व्यापक है। इसमें सयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय संस्थाओं के अर्द्ध ससदीय तरीकों से लेकर युद्ध की घमकी स्मृतिपत्रों (Memories) और सयुक्त विज्ञप्ति से लेकर सम्मेलनों तथा शिखर वार्ताओं तक सभी सम्मिलित हैं।¹

प्राचीन काल से राजनय का जो भी स्वरूप रहा हो आज यह सरस्रागत बन गया है। आधुनिक युग में राजनय का प्रयोग वार्ता सद्भाव अनुनय मेल विलाप मध्यस्थता जींच आयोग समझौता आदि के माध्यम से होता है। साथ ही यह भी सही है कि बड़ी शक्तियाँ

छोटे राज्यों पर दबाव के राजनय का प्रयोग भी करती हैं। सहायता की कूटनीति में यह दबाव की राजनीति परिलक्षित होती है। समय और परिस्थिति के अनुसार राजनय की किसी भी विधि या सभी विधियों या एकाधिक विधियों को प्रयोग में लाकर राष्ट्रीय हित-समर्थन किया जाता है। राजनय की कार्यविधि को स्पष्ट और रोचकता के साथ समझाते हुए विन्सी राइट (Quincy Wright) ने लिखा है "राजनय समझौते से चलता है जिसमें विरोधी को कम से कम देना पड़े सौदेबाजी द्वारा एक क्षेत्र से देकर दूसरे क्षेत्र में लिया जा सके प्राप्त होने वाले लाभों का पुरस्कार दिया जाये मीठे शब्दों के साथ बल प्रदर्शन की तैयारी हो मखमल के दस्ताने में छिपा हुआ धूँसा हो युद्ध की घमकियों आर्थिक प्रतिबन्ध व्यापारिक भेद-भाव आणों की अस्वीकृति तथा दूसरे प्रतिबन्धक उपाय हों तृतीय पक्ष का समर्थन या तटस्थता प्राप्ति की जाये महत्वपूर्ण व्यक्तियों को रिश्तत देकर या प्रचार के माध्यम से या आरवासनों द्वारा विरोधी वर्गों को विभाजित करके जनमत को पक्ष में किया जाये। ये उपाय विरोधता तब प्रयुक्त होते हैं जबकि विरोधी पक्ष लगभग तुल्य बल वाले हों अधिकारवालों में परस्पर विरोधी हों, तथा जब वार्ता द्विपक्षीय हो। राजनय खतरनाक तृतीय पक्ष के विरुद्ध सामान्य मोर्चा बनाने के आधार पर भी कार्य करता है। कानून, नैतिकता, मानवता एवं सत्यता की पुर्गाई दी जाती है तथा सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सहयोग से होने वाले लाभों पर बल दिया जाता है।"¹

राजनय का महत्व (Significance of Diplomacy)

अथवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राजनय का स्थान (Place of Diplomacy in International Politics)

मानवीय प्रयत्नों में राजनय वास्तव में शान्ति स्थापना और राष्ट्रीय शक्ति की उत्तरोत्तर वृद्धि का सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावकारी साधन है। इसके माध्यम से राज्य अपने प्राथमिक उद्देश्यों और राष्ट्रीय हितों की पूर्ति करता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राजनय का महत्व बढ़ता ही जा रहा है। मैटरनिक टेलरों अथवा डॉ. हेनरी कीसिजर राजनय की सहायता से ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला पाये। यह वह साधन है जिसकी सहायता से जटिल से जटिल समस्याओं का हल किया जा सकता है। राजनय के माध्यम से की गई समस्या के हल के लिए किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन अथवा बैठक का व्यय एक छोटे से छोटे युद्ध के व्यय से कहीं कम होता है। सन् 1991 में अरब-इजरायल समस्या के समाधान के लिए मैड्रिड में आयोजित शिखर सम्मेलन पर किया गया व्यय किसी भी अरब-इजरायल युद्ध पर किये गये व्यय की तुलना में बहुत कम था। राजनय, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रों के मध्य शक्ति साधनों में शक्ति के प्रयोग तथा प्रभावोत्पादन का सबसे सरल सुलभ और सस्ता साधन है जिसका मार निर्यन राष्ट्र भी उठा सकता है। युद्ध द्वारा स्थापित प्रभाव धन, समय और सर्वशक्ति का काफ़ी है जबकि राजनय के माध्यम से स्थापित प्रभाव समृद्धि शक्ति व विकास का जन्म दाता है।²

1 Quincy Wright International Relations p 159

2 डॉ. एन पी राय - वॉल्यूम 3

हैं जो मॉर्गेंथो के अनुसार राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण में जो भी तत्व योग देते हैं उनमें सबसे महत्वपूर्ण तत्व राजनय या कूटनीति की उत्तमता है। मते ही यह तत्व कितना ही अस्थायी क्यों न हो। राष्ट्रीय शक्ति को निश्चित करने वाले अन्य सभी तत्व तो वास्तव में वह कच्चा माल है जिसके द्वारा किसी राष्ट्र की शक्ति गढ़ी जाती है। यह राष्ट्र के राजनय की उत्तमता ही है जो इन तत्वों को एक लड़ी में गूँथती है उन्हें दिशा और गुरुता प्रदान करती है तथा उनकी सुप्त सम्भावनाओं को वास्तविक शक्ति की साँसें प्रदान कर जाग्रत करती है। किसी राष्ट्र के विदेशी मामलों का उनके कूटनीतिज्ञों द्वारा सञ्चालन करना राष्ट्रीय शक्ति के लिए शान्ति के समय भी उतना ही महत्वपूर्ण होता है जितना कि युद्ध के समय राष्ट्रीय शक्ति के लिए सैनिक नेतृत्व द्वारा व्यवस्था और दाव पैघों का सञ्चालन। यह वह कला है जिसके द्वारा राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों को अन्तराष्ट्रीय परिस्थितियों में राष्ट्रीय हितों से स्पष्ट रूप से सम्बन्धित मामलों में अधिकाधिक प्रभावी रूप से प्रयोग में लाया जा सकता है।¹

मॉर्गेंथो का मत है कि राष्ट्रों को अपने राजनय पर विभिन्न तत्वों के उत्प्रेरक के रूप में अवलम्बित रहना चाहिए जो कि राष्ट्र की शक्ति के अंग होते हैं।

अन्तराष्ट्रीय राजनीति में कूटनीति का महत्व अतीत में भी रहा है और आधुनिक युग में तो यह अत्यधिक बढ़ गया है। एक भूतपूर्व अमेरिकी राजदूत लियो बी पौलाद (Leou B. Poullada) के अनुसार अन्तराष्ट्रीय राजनीति में कूटनीति का स्थान इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि कूटनीति का अधिक अच्छा ज्ञान (1) शक्ति और प्रभाव के अध्ययन को (Studies of Power & Influence) (2) महत्वपूर्ण अन्तःक्रियाओं के अध्ययन को (Studies of Strategic Interactions) (3) सौदेबाजी और समझौता वार्ता सम्बन्धी अध्ययनों को (Studies of Bargaining and Negotiations) एवं (4) निर्णय करने सम्बन्धी अध्ययनों को (Studies of Decision making) सुधारता है।²

राजनय शान्ति स्रक्षण युद्धों को रोकने और मैत्री स्थापित करने का एक मात्र सफल साधन है। सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में की गई समझौता वार्ता एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने में सहायक होती है। इस प्रकार की वार्ताओं से मित्रता प्रगाढ़ होती है तथा भावी गलतफहमियों को दूर कर भावी सहयोग के लिए मार्ग प्रशस्त होता है। यह निर्विवाद सत्य है कि राजनय मानव के लिए शान्ति स्थापना का सर्वोच्च प्रभावकारी उपकरण है।

1 Morgenthau Politics Among Nations 135-37

2 David S. Mclellan, William C. Olson, Fred A. Sandermann, The Theory and Practice of International Relations 1974 (Article by Leou B. Poullada) p. 199

राजनय राष्ट्रीय शक्ति के हथियार और साधन के रूप में

(Diplomacy as a Weapon and
Tool of National Power)

राजनय राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों को गतिशीलता एवं एकरूपता प्रदान करता है। राष्ट्रीय हितों की प्रगति के लिए शक्ति के जो विभिन्न तत्व हैं उन्हें राजनय के माध्यम से ही वास्तविक रूप में प्रभावी बनाया जा सकता है।

राजनय राष्ट्रीय हित में अनिदृष्टि का सबसे महत्वपूर्ण साधन है। विदेश नीति को चाहे जितनी अच्छी तरह योजनाबद्ध किया जाए, उसकी सफलता अन्तर्गतता उत्तम और कुशल राजनय पर निर्भर करती है। एक सही, सुनियोजित, विवेकपूर्ण और सक्रिय कूटनीति राष्ट्रीय हित की अनिदृष्टि में जितना महत्वपूर्ण योग दे सकती है उतना अन्य कोई साधन नहीं।

हंस जे मोंटेन्थो के अनुसार “उत्तम श्रेणी की कूटनीति विदेश-नीति के लक्ष्य तथा साधन की राष्ट्रीय शक्ति के साधनों से साजसज्ज स्थानित कर देगी। वह राष्ट्रीय शक्ति के गुप्त खेदों की खोज कर लेगी और उन्हें पूर्ण स्थायी रूप से राजनैतिक व्यर्थता में परिणत कर देगी। राष्ट्रीय प्रयत्नों को दिशा प्रदान कर वह अन्य तत्वों जैसे—औद्योगिक सम्प्रादन, सैनिक तैयारी, राष्ट्रीय धरित्र तथा राष्ट्रीय मनोबल का प्रभाव बढ़ा देगी।” इस प्रकार से उत्तम और कुशल राजनय से राष्ट्रीय शक्ति में निरन्तर अनिदृष्टि होती रहती है।

राजनयिक सम्बन्धों की स्थापना और मान्यता द्वारा राष्ट्रीय हितों की अनिदृष्टि

(Promotion of National Interest through Recognition
and the Establishment of Diplomatic Relations)

जब कोई भी नया राज्य स्वतन्त्रता प्राप्त करके अस्तित्व में आता है तो अन्य देशों की सरकारें सन्मान्यता उसे मन्दता प्रदान करती हैं। इसी प्रकार जब कोई नई सरकार दैनिक और व्यस्तित प्रक्रिया से सत्तारूढ़ होती है अथवा जब राज्य में उसका निर्दिष्ट प्रभुत्व स्थापित होता है तो अन्य सरकारें सन्मान्यता उसे अपनी मन्दता प्रदान कर देती हैं। इस प्रकार की मन्दता देने के कूटनीतिक या राजनयिक कदम के पीछे राज्य के अपने हित

निहित होते हैं। मान्यता देने वाली सरकार समझती है कि अमुक राज्य या अमुक सरकार को मान्यता देने अथवा दूसरे राज्यों और सरकारों से राजनयिक सम्बन्धों की स्थापना करने से उसके हितों का सबर्द्धन होगा। आज के विश्व में प्रत्येक राज्य की सुरक्षा और कल्याण औशिक रूप से इस बात पर निर्भर है कि अन्य राज्यों के साथ उसके सम्बन्ध कहीं तक सन्तोषजनक है।¹ राजनयिक सम्बन्धों के माध्यम से एक सरकार अन्य राष्ट्र की नीतियों को प्रभावित करने में समर्थ हो सकती है वह अपने लिए एक सम्मानजनक वातावरण का निर्माण कर सकती है और अपनी नीतियों के लिए दूसरे राज्यों का क्रियात्मक समर्थन प्राप्त कर सकती है। राजनयिक सम्बन्धों की स्थापना द्वारा सामकरी वाणिज्यिक और सांस्कृतिक आदान प्रदान को प्रोत्साहन दिया जा सकता है। जो नागरिक विदेशों की यात्रा करते हैं और वहाँ अपने व्यापार का विस्तार करते हैं उनके हितों की भी सुरक्षा हो जाती है।

कभी कभी सरकारें अपनी मान्यता सर्रास देती हैं अर्थात् मान्यता प्रदान करने के बदले में किसी समर्थन की माँग करती है या कोई परिवर्तन चाहती है। जब कभी ऐसा होता है तो प्रायः दूसरी सरकारें जिनकी नीतियों से अमुक समर्थन या परिवर्तन टकराता है अपनी आपत्ति प्रकट करती है। फ्रांस ने 1778 ई. में समुक्तराज्य अमेरिका को मान्यता दी जिसका एक उद्देश्य ब्रिटेन को कमजोर बनाना था। इस मान्यता के साथ एक सन्धि की गई थी जिसका अर्थ था युद्ध में सहभागिता। प्रथम महायुद्ध काल में मित्रराष्ट्रों ने पेकोस्लोवाकिया के नए राज्य की सरकार को उस समय ही मान्यता दे दी जबकि उसका राज्य के किसी भी क्षेत्र पर वास्तविक नियन्त्रण था ही नहीं। स्पेन के गृहयुद्ध के प्रारम्भ में ही इटली और जर्मनी दोनों ने फ्राँको के क्रान्तिकारी गुट को मान्यता देते हुए अनेक ऐसे कदम उठाए जिनसे फ्राँको-गुट की विजय सुनिश्चित हो जाए।

कभी कभी सरकार मान्यता रोक भी देती है—विशेषकर तब जबकि वह किसी परिवर्तन का विरोध करती है या कोई परिवर्तन न चाहकर यथास्थिति की समर्थक होती है। समुक्तराज्य अमेरिका का यह रवैया रहा है कि उसने प्रायः क्रान्तिकारी सरकारों को मान्यता देने में सकोष प्रदर्शित किया है या लम्बे समय तक उन्हें मान्यता नहीं दी। बहुत से लेटिन अमेरिकी राज्यों को अमेरिका ने तत्काल मान्यता देने से इन्कार किया क्योंकि सत्ता परिवर्तन असौविधानिक तरीकों से हुआ था। पर इसका यह मतलब नहीं है कि अमेरिका सौविधानिक परिवर्तन का हिमायती था बल्कि बात यह थी कि अमेरिका पिछली सरकार का पतन नहीं चाहता था अर्थात् नई क्रान्तिकारी सरकार को सत्तारुढ़ नहीं देखना चाहता था साम्यवादी चीन के लिए अमेरिकी मान्यता वर्षों तक अघर में लटकी रही। सन् 1971 ई. में समुक्त राज्य अमेरिका द्वारा साम्यवादी चीन को मान्यता दी गई जबकि वह 1 अक्टूबर 1949 ई. को ही विश्व मानचित्र पर अस्तित्व में आ गया था। जनवरी 1992 को भारत ने इजरायल को मान्यता दे दी है।

राष्ट्रीय शक्ति के हथियार और साधन के रूप में राजनय पर मॉर्गेंथौ के विचार (Morgenthau on Diplomacy as a Weapon and Tool of National Power)

राजनय को राष्ट्रीय शक्ति से निन्न करके नहीं देखा जा सकता। राजनय राष्ट्रीय शक्ति का एक अत्यन्त प्रभावशाली हथियार और साधन है। राष्ट्रीय हितों की रक्षा का विशेष उत्तरदायित्व राजनयज्ञों पर है। सकल राजनयज्ञ दही है जो राष्ट्रीय स्तरों को परार्थपरक या उससे अविरोधी के रूप में दिखाये। किसी भी देश की विदेश-नीति निर्माण का प्रेरक तत्व राष्ट्रीय हित हुआ करता है। किसी भी राजनय का मूलमूल एवं सर्वोच्च उद्देश्य अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा तथा उनकी अनिवृद्धि होता है। मॉर्गेंथौ ने तो राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण में योग देने वाले सभी तत्वों में सबसे महत्वपूर्ण तत्व राजनय को माना है। पिछले अध्याय में एक स्थल पर उद्धृत किये गये मॉर्गेंथौ के इन शब्दों को हम पुनः दोहराना चाहेंगे—“राष्ट्रीय शक्ति को निश्चित करने वाले अन्य सभी तत्व तो वास्तव में वह कच्चा माल है जिसके द्वारा किसी राष्ट्र की शक्ति गढ़ी जाती है। यह राष्ट्र के राजनय की उत्तमता ही है जो इन तत्वों को एक लड़ी में गूँथता है। उन्हें दिशा और गुरुता प्रदान करता है तथा उनकी सुप्त सम्भावनाओं को वास्तविक शक्ति की सीसों प्रदान कर जाग्रत करता है। किसी राष्ट्र के विदेशी मामलों का उसके कूटनीतिज्ञों द्वारा संचालन करना राष्ट्रीय शक्ति के लिए शान्ति के समय भी उतना ही महत्वपूर्ण होता है जितना कि युद्ध के समय। राष्ट्रीय शक्ति के लिए सैनिक नेट्वे द्वारा ब्यूह-रचना और दाव पैशों का-संचालन। यह वह कला है जिसके द्वारा राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों को अन्तराष्ट्रीय परिस्थितियों में राष्ट्रीय हितों से स्पष्ट रूप से सम्बन्धित मामलों में अधिकाधिक प्रभावी रूप में प्रयोग में लाया जा सकता है।”

मॉर्गेंथौ ने राजनय को राष्ट्रीय शक्ति का मस्तिष्क (Brain of National Power) माना है और राष्ट्रीय मनोबल या हीसले को उसकी आत्मा (National morale is its soul) की सजा दी है। यदि राजनय का दृष्टिकोण दूषित है इसके निर्णय गलत हैं तो अन्य तत्व अन्तर्गतता एक राष्ट्र के लिए कम योगदान दे पाएँगे। राजनय में पिछड़ जाने पर एक देश अन्तर्गतता अपने अन्य तत्वों के लानों को भी खो बैठेगा और अपने अन्तराष्ट्रीय लक्ष्यों की पूर्ति में असफल रहेगा या बहुत दुर्बल सिद्ध होगा। मॉर्गेंथौ का स्पष्ट मत है कि अन्त में ऐसे राष्ट्र को उस राष्ट्र के सम्मुख झुकना ही पड़ेगा जिसकी कूटनीति अपने अन्य राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों का सम्पूर्ण प्रयोग करती है और इस तरह अन्य क्षेत्रों की कमी की पूर्ति अपनी स्वयं की श्रेष्ठता से करने में सफल हो जाती है। अपने राष्ट्र की शक्ति-सम्भावनाओं का पूर्ण लाभकारी प्रयोग कर एक योग्य कूटनीति अपने राष्ट्र की शक्ति को उस सीमा से कहीं अधिक बढ़ा सकती है जितनी कि अन्य तत्वों के समन्वय के उपरान्त कोई आशा कर सकता है। उन्हीं के शब्दों में “इतिहास में प्रायः बुद्धि तथा आत्मा से रहित ‘मेलिटमस’ ‘डेविड’ द्वारा मरा गया है जिसके पास मस्तिष्क और आत्मा दोनों ही थे। उत्तम श्रेणी का राजनय विदेश-नीति के लक्ष्य तथा साधनों का राष्ट्रीय शक्ति से प्राप्त साधनों से सामञ्जस्य स्थापित कर देगा। यह राष्ट्रीय शक्ति गुप्त स्त्रियों की खोज कर लेगा और उन्हें स्थायी

रूप से राजनीतिक सत्यताओं में परिणत कर देगा। राष्ट्रीय प्रयत्न को दिशा प्रदान कर वह अन्य तत्वों जैसे औद्योगिक सम्भावनाओं सैनिक तैयारी राष्ट्रीय चरित्र तथा राष्ट्रीय हँसले का प्रभाव बढ़ा देगा। यदि नीति के लक्ष्य तथा साधन स्पष्ट रूप से विदित हों तो राष्ट्रीय शक्ति अपनी तमाम सम्भावनाओं का पूरा सदुपयोग कर सामान्यतया किन्तु युद्ध के समय विशेष रूप से उच्चतम शिखर पर पहुँच सकती है।

मॉर्गन्थो ने अपने विवरण में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति जगत के उदाहरणों को प्रचुर मात्रा में गिनाते हुए यह बताया है कि राज्याय किस प्रकार राष्ट्रीय शक्ति का मरिचक है तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का अत्यन्त शक्तिशाली तत्व है। दो महायुद्धों के बीच समुक्तराज्य अमेरिका ने उस राष्ट्र का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत किया जो शक्तिशाली होने के बावजूद विश्व मामलों में हल्की भूमिका अदा करता है। समुक्तराज्य अमेरिका की विदेश नीति इतनी शिथिल रही कि वह अपनी शक्ति के पूर्ण प्रभाव को अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर केन्द्रित नहीं कर सका। अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर समुक्तराज्य की शक्ति का असर विराशाजनक प्रतीत हुआ क्योंकि अमेरिकी कूटनीति इस तरह संचालित हुई मानी अमेरिका की भौगोलिक स्थिति के लाभ उसके प्राकृतिक साधनों उसकी औद्योगिक सम्भावनाओं जनसंख्या गुण आदि तत्वों का अस्तित्व ही न हो। सन् 1898 से 1914 ई के मध्य का प्रॉस एक ऐसे राष्ट्र का उदाहरण है जो अन्य पक्षों में बुरी तरह पिछड़ गया हो लेकिन वैदल शानदार राजनय (Brilliant Diplomacy) के बल पर शक्ति के उच्च शिखर पर पहुँच गया हो। सन् 1871 ई में जर्मनी के हाथों बुरी तरह पराजित होने के बाद प्रॉस एक द्वितीय श्रेणी की शक्ति रह गया और बिस्मार्क की जादुई कूटनीति ने उसे यूरोप के राष्ट्रों से अलग अलग कर बराबर द्वितीय श्रेणी की शक्ति ही बनी रहने दिया लेकिन 1898 ई में बिस्मार्क के पतन के बाद जर्मनी की विदेश नीति रूस से दूर होने लगी वह ग्रेट ब्रिटेन की शकाओं के समाधान के लिए इच्छुक नहीं रही और जर्मनी विदेश नीति की इन बुटियों का प्रॉसीसी राजनय ने पूरा लाभ उठाया। 1894 में प्रॉस ने रूस से किए गए 1891 के राजनीतिक समझौते में सैनिक सन्धि को जोड़ दिया और 1904 तथा 1912 में उसने ग्रेट ब्रिटेन से औपचारिक समझौते किए। 1914 में जहाँ प्रॉस ने एक समृद्ध मित्रराष्ट्र को अपना मददगार पाया वहाँ जर्मनी के एक मित्र इटली ने अपने मित्र को ही घोखा दे दिया और जर्मनी के अन्य मित्रों आस्ट्रिया हंगरी बल्गेरिया तथा टर्की आदि की कमजोरियाँ भी जर्मनी पर भार बन गईं। मॉर्गन्थो के अनुसार यह कार्य प्रॉस के प्रतिभावान कूटनीतिज्ञो माइल बैरे (इटली में प्रॉस का राजदूत) जल्सर्केबोन (जर्मनी में प्रॉस का राजदूत) पील केबोन (ब्रिटेन में प्रॉस का राजदूत) मोरिस पोलियो लोथ (रूस में प्रॉस का राजदूत) आदि का था।

पुनरप दोनो विश्व महायुद्धों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में रोमानिया ने अपने साधनों की तुलना से कहीं अधिक महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी उसका मुख्य श्रेय एक व्यक्ति अर्थात् विदेश मंत्री हिटुलेस्वयु को था। इसी प्रकार इतने छोटे तथा अनिश्चित स्थिति में होने के बावजूद उन्नीसवीं शताब्दी में बेल्जियम ने जो शक्ति प्राप्त कर ली थी वह उसके

तीक्ष्ण बुद्धि वाले तथा युस्त राजा लियोपोल्ड प्रथम व लियोपोल्ड द्वितीय के व्यक्तित्व के कारण थी। सत्रहवीं शताब्दी में स्पेन की कूटनीति ने तथा उन्नीसवीं शताब्दी में तुर्किस्तान की कूटनीति ने उनके राष्ट्रीय हथ की खाई को कुछ समय के लिए पाटे रखा था। ब्रिटिश शक्ति के उतार-चढ़ाव ब्रिटिश कूटनीति की उत्तमता के परिदर्तनों से जुड़े रहे हैं। कार्डिनल बूल्ट्रे कसलरे तथा कनिंग ब्रिटिश कूटनीति के उच्चतम शिखर का प्रदर्शन करते हैं जबकि लॉर्ड नार्थ तथा नेदाइल चैम्बरलेन दोनों हास के द्योतक हैं। रिचर्ड मज्जरिन अध्यादा तेलेरी की कूटनीति के दिना फ्रांस की शक्ति क्या होती? दिना बिस्मार्क के जर्मनी की शक्ति क्या होती? दिना कैदूर के इटली की शक्ति क्या होती? इसी तरह नवीन अमेरिकी गणतन्त्र अपनी शक्ति के लिए क्या फ्रैंकलिन, जेकरसन, मेडीसन एडम्स के प्रति ऋणी नहीं है जो उसके राजदूत व राज्य-सचिव थे? और भी उदाहरण लें तो सन् 1890 में बिस्मार्क के राजनीतिक मय से हट जाने के उपरान्त जर्मनी कूटनीति के गुणों में गम्भीर तथा स्थायी गिरावट आ गई। फलस्वरूप जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की दृष्टि का अन्त उस सैनिक परिस्थिति में हुआ जिसका सामना उसे प्रथम विश्व महायुद्ध में करना पड़ा। सन् 1933 से 1940 तक की जर्मनी कूटनीति की विजय एक व्यक्ति हिटलर के भस्तिष्क की विजय का परिणाम थी और उस भस्तिष्क के क्षय के कारण ही नाज़ी शासन के अन्तिम वर्षों में उसे विघ्नसक्तरी दुर्घटनाओं को सहन करना पड़ा था।

मॉर्गेन्थो का मत है कि राष्ट्रों को अपने राजनय पर उन विभिन्न तत्वों के उल्लेख के रूप में अवलम्बित रहना चाहिए जो कि राष्ट्र की शक्ति के अंग होते हैं दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार भी ये विभिन्न तत्व कूटनीति द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर हावी कराए जाते हैं, वही उस क्षेत्र में राष्ट्रीय शक्ति का रूप होता है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वैदेशिक राजनय संगठन सदा उत्तर अवस्था में रहे।

राष्ट्रीय शक्ति के शक्तिशाली सधन के रूप में राजनय को प्रतिष्ठित करते हुए लिखा है: “अनेक लोगों को राजनय का कार्य नैतिक दृष्टि से बड़े जितना भी अनाकर्षक प्रतीत हो, राजनय उन सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सभ्य राष्ट्रों में शक्ति के लिए सधन का लक्षण है, जो आपस में सुव्यवस्थित एवं शान्तिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित रखना चाहते हैं। यदि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र से शक्ति के लिए सधन को रोकने का कोई उपाय होता, तब राजनय स्वयं ही लुप्त हो जाती। यदि विश्व के राष्ट्रों का व्यवस्था ऐसे अराजकता, शान्ति एवं युद्ध से कोई सम्बन्ध नहीं होता, तब वे राजनय का त्याग कर युद्ध की तैयारी कर सकते थे तथा सर्वात्म्य परिणामों की आशा कर सकते थे। यदि राष्ट्र, जो सम्पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न हैं, जो अपने क्षेत्रों में सर्वोच्च हैं तथा जिनके ऊपर कोई उच्चधिकारी नहीं है पारस्परिक सम्बन्धों से शान्ति एवं व्यवस्था का सहन चाहते हैं तब उन्हें अनुनय, समझौते तथा एक-दूसरे पर दबाव डालने का अदभ्य प्रयत्न करना होगा। इसका अर्थ यह कि उन्हें राजनयिक प्रक्रियाओं व अदभ्य प्रयोग एवं विकास करना होगा तथा उन पर निर्भर करना होगा।”¹ उपर्युक्त

विरलेक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजनय राष्ट्रीय-शक्ति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपकरण या साधन है।

राष्ट्रीय शक्ति के साधन के रूप में राजनय की सफलता के लिए नौ नियम (The Nine Rules* for the Success of Diplomacy as a Tool of National Power)

मॉर्गेन्थो का विचार है कि आधुनिक युग में कुछ ऐसे विकास हुए हैं जिनके परिणामस्वरूप 'राजनय' की प्रभावशीलता को आपात पहुँचा है तथापि यदि राजनय उन तरीकों का पुनः प्रयोग करे जिनके द्वारा सूदूर अतीत से राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध नियन्त्रित हुए हैं तो इसकी उपयोगिता का पुनः प्रवर्तन हो सकता है। मॉर्गेन्थो ने राजनय के 'नौ नियमों' का उल्लेख किया है जिनके माध्यम से यह 'समायोजन' द्वारा शान्ति (Peace Through Accommodation) स्थापित कर सकता है और राष्ट्रीय शक्ति तथा राष्ट्रीय हित सवर्द्धन के एक शक्तिशाली साधन के रूप में पुनः प्रतिष्ठित हो सकता है।

1 राजनय को धर्मयुद्धीय भावना से अवश्य रहित होना होगा (Diplomacy must be divested of the crusading spirit) यह उन नियमों में से पहला नियम है जिसकी अवहेलना राजनय युद्ध का संकट लेकर ही कर सकता है। कोई भी धर्म अथवा मत पूर्ण सत्य नहीं होता अतः अपने धर्म को ही सत्य मानकर उसे शेष सत्तार पर आरोपित करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। ऐसा कोई भी प्रयत्न शान्ति के लिए घातक होगा। विदेश नीति के ध्येयों की परिभाषा एक विश्वव्यापी राजनीतिक धर्म के रूप में नहीं की जानी चाहिए। धर्मयुद्धीय भावना से रहित होकर ही राजनय को उन वास्तविक समस्याओं का सामना करने का अवसर प्राप्त होगा जिनके लिए शान्तिपूर्ण समाधान आवश्यक है। राष्ट्रवादी विश्ववाद की धर्मयुद्धीय भ्रष्टाचारों के परित्याग पर ही राजनय राष्ट्रीय शक्ति और राष्ट्रीय हित-संवर्द्धन का एक सफल साधन सिद्ध हो सकता है।

2 विदेश नीति के ध्येयों की परिभाषा राष्ट्रीय हित के अर्थ में अवश्य करनी होगी तथा इसका यथेष्ट शक्ति द्वारा अवश्य पोषण करना होगा (The objectives of Foreign Policy must be defined in terms of the national interest and must be supported with adequate power) शान्ति संरक्षण राजनय का यह दूसरा नियम है। एक शान्ति-प्रिय राष्ट्र के राष्ट्रीय हित की परिभाषा केवल राष्ट्रीय सुरक्षा के अर्थ में हो सकती है, तथा राष्ट्रीय सुरक्षा की परिभाषा राष्ट्रीय क्षेत्र एवं इसकी समस्याओं की अखण्डता के रूप में अवश्य होनी चाहिए। तब राष्ट्रीय सुरक्षा वह न्यूनतम वस्तु है जिसकी राजनय को यथेष्ट शक्ति द्वारा बिना समझौते के रक्षा करनी होगी।

3. राजनय को राजनीतिक क्षेत्र पर दूसरे राष्ट्रों के दृष्टिकोण से अवश्य देखना होगा (Diplomacy must look at political scene from the point of view of other nations) राजनय को यदि उसे राष्ट्रीय हित-संवर्द्धन की दृष्टि से सफल होना है

दूसरे राष्ट्रों के दृष्टिकोण और राष्ट्रीय हित को भी ध्यान में रखना चाहिए। “आत्म-पूजन की अतिशयता एवं अन्य लोग स्वनामक तथा आशा अथवा किस से भय करते हैं, इस दिग्दर्शक के पूर्णतः अभाव के समान किसी राष्ट्र के लिए और कुछ भी घातक नहीं है।”

4. राष्ट्रों को उन सभी प्रश्नों पर, जो उनके लिए महत्वपूर्ण नहीं हैं, समझौता करने के लिए अवश्य इच्छुक रहना होगा (Nations must be willing to compromise on all issues that are not vital to them) यही राजनय का कार्य सबसे अधिक कठिन है। प्रत्येक राष्ट्र के स्थायी और अस्थायी दो प्रकार के हित हैं। अस्थायी हित अधिक महत्वपूर्ण नहीं होते, अतः ऐसे राष्ट्रीय हितों पर समझौता करने की भावना रखनी चाहिए।

5. यथार्थ लाभ की वास्तविकता हेतु निरर्थक अधिकारों की प्रतिष्ठाया का परित्याग कर दीजिए (Give up the shadow of worthless rights for the substance of real advantage)। समझौता करते समय राजनयज्ञ को अमूर्त बातों की अपेक्षा दृश्यमान वस्तुओं को ध्यान में रखकर दिग्दर्शक करना चाहिए। राजनयज्ञ के सम्मेलन दायता एवं अदैयता के बीच नहीं, बल्कि राजनीतिक विवेक एवं राजनीतिक मूर्खता के बीच विकल्प होता है।

6 अपने आपको कभी ऐसी स्थिति में न रखिए जहाँ से आप बिना प्रतिष्ठा गंवार पीछे नहीं हट सकते तथा जहाँ से आप बिना गम्भीर संकटों के आगे नहीं बढ़ सकते (Never put yourself in a position from which you cannot advance without grave risks) : राजनीतिक परिणामों से असावधान रहकर एक राष्ट्र किसी ऐसी स्थिति के साथ अनजाना स्थापित कर सकता है, जिसे अपनाने का उसे अधिकार हो भी सकता है और नहीं भी, और तब फिर समझौता होना कठिन हो जाता है। अपनी प्रतिष्ठा में गम्भीर हानि के बिना एक राष्ट्र उस स्थिति से पीछे नहीं हट सकता। राजनीतिक संकटों और सम्बन्ध दुष्ट के संकट के प्रति अपने को प्रस्तुत किए बिना यह उस स्थिति से आगे भी नहीं बढ़ सकता। अस्वस्थ स्थितियों में असावधान होकर गतिशीलतापूर्वक जाना और विशेषकर उचित समय में उनसे अपने को मुक्त करने से हठपूर्वक अस्वीकार करना अयोग्य राजनय का लक्षण है। सन् 1870 ई. के फ्रेञ्च-प्रुशियन युद्ध के ठीक पहले मैनेन्सियन दृष्टि की नीति तथा प्रुशियन महायुद्ध के ठीक पहले ऑस्ट्रिया एवं जर्मनी की नीतियाँ इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं। ये उदाहरण यह भी प्रदर्शित करते हैं कि युद्ध के संकट और इस नियम के उत्पन्न होने में कितनी घनिष्ठता है।

7. एक निर्बल सशस्त्र राष्ट्र को अपने लिए कभी निर्णय नहीं करने दीजिए (Never allow a weak armed nation to decide for itself) : राजनय की दृष्टि से एक शक्तिशाली राष्ट्र को इस बात से सावधान रहना चाहिए कि उसके लिए कोई निर्बल राज्य निर्णय न ले। अपने शक्तिशाली मित्र की सहायता द्वारा सुरक्षित होकर निर्बल सशस्त्र राष्ट्र अपनी विदेश नीति के धर्मों एवं तरीकों को अपनी आवश्यकतानुसार चुन सकता है। तब शक्तिशाली राष्ट्र अपने को इन स्थिति में पला है कि उसे ऐसे हितों को अदालत देना होगा, जो उसके अपने नहीं हैं तथा वह उन प्रश्नों पर समझौता करने के लिए असमर्थ है जो उसके लिए नहीं, बल्कि उसके सशस्त्र-राष्ट्र के लिए महत्वपूर्ण हैं।

1853 के क्रीमिया युद्ध के ठीक पहले टर्की ने जिस प्रकार ग्रेट-ब्रिटेन एवं फ्रांस को बाध्य किया उसमें इस नियम के उल्लंघन का श्रेष्ठ उदाहरण मिलता है। यूरोपीय-संधि (The Concert of Europe) रूस तथा टर्की के बीच के सघर्ष के निपटारे के लिए एक समझौते को प्रायः स्वीकार कर चुका था। उसी समय टर्की ने यह जानते हुए कि रूस के साथ युद्ध होने पर पारश्वर्य शक्तियाँ इसकी सहायता करेंगी उस युद्ध के आरम्भ के लिए पूरा प्रयत्न किया। फलतः ग्रेट-ब्रिटेन एवं फ्रांस को अपनी इच्छा के विरुद्ध युद्ध में अन्तर्प्ररत होना पड़ा। इस प्रकार टर्की ने अपने राष्ट्रीय हितों के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन एवं फ्रांस के लिए युद्ध और शान्ति के प्रश्न का बहुत अंश में निर्णय किया। यद्यपि ग्रेट-ब्रिटेन एवं फ्रांस के राष्ट्रीय हितों के लिए रूस के साथ आवश्यक नहीं था और वे इसके आरम्भ को रोकने में प्रायः सफल हो गए थे तथापि उन्हें वह निर्णय स्वीकार करना पड़ा। उन्होंने कार्य की अपनी स्वतन्त्रता को एक ऐसे निर्बल राश्रित-राष्ट्र को समर्पित कर दिया था जिसने उनकी नीतियों पर अपने नियन्त्रण का अपने हितों के लिए प्रयोग किया।

8 **राशस्त्र सेनाएँ विदेश नीति की यन्त्र हैं, इसकी स्वामी नहीं** (The Armed Forces are the instruments of foreign policy, not its master) - इस नियम के पालन के बिना कोई सफल एवं शान्तिपूर्ण विदेश-नीति सम्भव नहीं है। यदि सेना विदेश नीति के साधनों एवं साधनों को निर्धारित करे तो कोई भी राष्ट्र समझौते की नीति का अनुसरण नहीं कर सकता। राशस्त्र सेनाएँ युद्ध के यन्त्र हैं विदेश नीति शान्ति का एक यन्त्र है। युद्ध का लक्ष्य सरल एवं शर्तारहित है अर्थात् शत्रु की इच्छा को भंग करना। इसके ढंग भी समान रूप से सरल एवं शर्तारहित हैं अर्थात् शत्रु के कवच के सबसे अधिक भेद्य स्थान पर अधिक से अधिक हिंसा का प्रयोग करना। फलतः रीतिक सेना अवश्य ही दुराग्रही ढंग से विचार करेगा। विदेश-नीति का उद्देश्य सापेक्ष एवं शर्तारहित है। अपने महत्वपूर्ण हितों की रक्षा के लिए दूसरे पक्ष के महत्वपूर्ण हितों को हानि पहुँचाएँ बिना जितना आवश्यक हो उतना दूसरे पक्ष की इच्छा को तोड़ना नहीं करना। विदेश-नीति के ढंग सापेक्ष एवं शर्तारहित हैं अपने मार्ग की बाधाओं को समाप्त कर आगे बढ़ना नहीं करना उनके समक्ष पीछे हटना उन पर विजय पाना उनके समीप घाले घटना, तथा अनुनय वार्ता एवं दबाव की सहायता द्वारा उन्हें धीरे-धीरे मन्द एवं विषटित करना। परिणाम यह है कि राजनयज्ञ का मस्तिष्क जटिल एवं सूक्ष्म होता है। अपने समस्त प्रश्न को वह इतिहास में एक क्षण के रूप में देखता है, तथा कल की विजय के पक्षे वह भविष्य की असीम सम्भावनाओं की प्रत्याशा करता है।

9 **सरकार जनमत की नेता है, इसकी दास नहीं** (The Government is the leader of public opinion, not its slave) - यदि विदेश नीति के संचालन के लिए उत्तरदायी व्यक्ति इस नियम का अविच्छिन्न रूप से ध्यान नहीं रखते तो वे राजनय के पूर्वगामी नियमों का भी अनुपालन नहीं कर सकेंगे। जनमत की अभिरुचियाँ युक्तिसंगत होने की अपेक्षा भावनापूर्ण होती हैं। यदि राजनयज्ञ लोक भावावेग से प्रभावित होकर विदेश नीति सम्बन्धी निर्णय लेगा तो वह राजनयज्ञ के रूप में अपना अनिष्ट और साथ ही अपनी विदेश-नीति का अनिष्ट आम्नित्रित करेगा। एक राजनयज्ञ को लोक-भावावेग के समक्ष न

तो आत्मसमर्पण करना चाहिए और न ही उसे इसकी अवहेलना करनी चाहिए। उसे ऐसा माग अपनाता चाहिए कि वह दोनों स्थितियों के अनुकूल रह सके। एक शब्द में, उसे नेटुअ उदरय करना होगा।

मॉर्गन्थो ने यह प्रतिपादित किया है कि “यदि कोई राष्ट्र राजनय को प्रयोग में नहीं लाना चाहता अथवा उसके पास राजनय या कूटनीति को कार्यन्वित करने की क्षमता नहीं है तो वह अपने राष्ट्रीय हित-सम्पर्द्धन के लिए युद्ध के अतिरिक्त अन्य किसी विकल्प का सहारा नहीं ले सकता। यदि वह युद्ध का सहारा भी नहीं लेना चाहता या नहीं ले सकता तो उसे अपने राष्ट्रीय हितों का ही परित्याग करना होगा।” इस तरह से राजनय शक्ति के सरक्षण का सबसे उत्तम साधन है।

राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के लिए राजनय के मूलभूत कार्य (*Substantive Functions of Diplomacy for the Promotion of National Interest*)

राजनय का अन्तिम लक्ष्य राष्ट्रीय हित का सम्पर्द्धन तथा निर्धारित नीति के उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयत्न है। राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के लिए राजनय के जो मूलभूत कार्य हैं उन्हें विभिन्न विचारकों, राजदूतों और राजनीतिज्ञों ने विभिन्न प्रकार से स्पष्ट किया है। इस सम्बन्ध में हम हिन्दू नीति शस्त्रियों के मत, विख्यात राजनयज्ञ सरकार पत्रिकर पान्तर एव पर्किन्स, किदन्ती राइट ओगेनहीन, ब्राइल्हस तथा पैडलकोर्ड एव लिंकन के मत, लियो ई. जैलास के मत आदि का विस्तार से उल्लेख प्रथम अध्याय में ‘राजनय के कार्य’ (Functions of Diplomacy) नामक शीर्षक के अन्तर्गत कर चुके हैं।

राजनय के साधन एवं तरीके, राजनयिक व्यवहार का विकास-राजनय के यूनानी, इटालियन, फ्रॉसीसी और भारतीय मत

(Means and Methods of Diplomacy, Evolution of
Diplomatic Practice—Greek, Italian, French and Indian
School of Diplomacy)

राजनय एक कला है जिसे अपनाकर विश्व के विभिन्न राज्य अपने पारस्परिक सम्बन्धों में वृद्धि कर के अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति करते हैं। यदि राजनय के साधन तथा लक्ष्यों के बीच असंगति हो तो देश कमजोर होता है बर्दनाम होता है तथा उसकी अन्तराष्ट्रीय प्रतिष्ठा गिर जाती है। इस दृष्टि से प्रत्येक राज्य को ऐसे साधन अपनाने चाहिए जो दूसरे राज्यों में उसके प्रति सद्भावना और विश्वास पैदा कर सकें। इसके लिए यह आवश्यक है कि राज्य अपनी नीतियों को स्पष्ट रूप से समझाएँ दूसरे राज्यों के व्यापकित दावों को मान्यता दें तथा ईमानदारी का व्यवहार करें। बेइमानी तथा घालबाजी से काम करने वाले राजनयज्ञ अल्पकालीन लक्ष्यों में सफलता प्राप्त कर लेते हैं किन्तु कुल मिलाकर वे राष्ट्र का अहित ही करते हैं। अतः उत्तम राजनय का महत्व निर्विवाद है।

राजनय के साधनों का निर्णय करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि इसका मुख्य उद्देश्य राज्य के प्रमुख हितों की रक्षा करना है। ठीक यही उद्देश्य अन्य राज्यों के राजनय का भी है। अतः प्रत्येक राज्य को पारस्परिक आदान प्रदान की नीति अपनानी चाहिए। प्रत्येक राज्य के राजनयज्ञों को कम से कम त्याग द्वारा अधिक से अधिक प्राप्त करने का प्रशिक्षण दिया जाता है। इसके लिए विरोधी हितों के बीच समझौता करना जरूरी होता है। समझौता तथा सौदेबाजी का यह नियम है कि कुछ भी प्राप्त करने के लिए कुछ न कुछ त्याग करना पड़ता है। राष्ट्रों के बीच यह आदान प्रदान की प्रक्रिया राजनय का व्यावहारिक सत्य है। इतिहास में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जबकि शक्तिशाली बड़े राज्य ने दूसरे कमजोर राज्य को अपनी मनमानी शर्तों मानने के लिए बाध्य किया तथा समझौतेपूर्ण आदान प्रदान की प्रक्रिया न अपनाकर एक पक्षीय बाध्यता का मार्ग अपनाया। इस प्रकार लादी गई शर्तों का पालन सम्बन्धित राज्य केवल तभी तक करता है जब तक कि यह ऐसा करने के लिए मजबूर होता है और अवसर पाते ही वह उनसे मुक्त हो जाता है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी को सैनिक आर्थिक व्यापारिक एवं प्रादेशिक दृष्टि

से दुरी तरह दबाया। उस समय जर्मनी एक पराजित और दबा हुआ राज्य था। अतः उसने यह शोषण मजदूरी में अस्वीकार कर लिया किन्तु कुछ समय बाद हिटलर के नेतृत्व में जब यह सन्धि बना तो उसने इन सभी शर्तों को अमान्य घोषित कर दिया तथा विश्व को द्वितीय विश्वयुद्ध की दिग्गहिका को सहन करना पड़ा। अतः यह स्पष्ट है कि पारस्परिक आदान प्रदान ही स्थायी राजनय का आधार बन सकता है। बाध्यता, वैश्यानी, धूर्तता, छल कपट एवं केवल शक्ति पर आधारित सम्बन्ध अल्पकालीन होते हैं तथा दूसरे पक्ष पर विरोधी प्रभाव डालते हैं जिसके फलस्वरूप उनके भावी सम्बन्धों में कटुता आ जाती है।

राजनय के सधनों और तरीकों का विकास राज्यों के आन्तरी सम्बन्धों के लम्बे इतिहास से जुड़ा हुआ है। इन पर देश काल की परिस्थितियों ने भी प्रभाव डाला है और राजनयिक व्यवहार भी तदनुसार बदलता रहा है। विश्व के विभिन्न देशों के इतिहास का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनयिक आधार का तरीका प्रत्येक देश का अपना विशिष्ट रहा है। यहाँ हम यूनान, इटली, फ्रांस तथा भारत में अपनाए गये राजनयिक आधार के तरीकों का अध्ययन करेंगे।

यूनानी राजनयिक व्यवहार (The Greek Diplomatic Practice)

राजनय का इतिहास यूनानी नगर राज्यों से प्रारम्भ होता है। यूनानी सभ्यता के प्रारम्भिक धर्म में नगर राज्यों के राजदूतों को अग्रदूत (Heralds) कहा जाता था। इनका कार्य केवल सन्धि दाला करने तक ही सीमित नहीं था बल्कि ये राजकीय गृहस्थी के संचालन समझौते एवं परिषदों में व्यवस्था की स्थापना तथा धार्मिक अनुष्ठानों के सम्पन्न आदि का कार्य भी करते थे। यूनानी सभ्यता के विकास के साथ साथ नगर राज्यों के सम्बन्ध जटिल एवं स्पष्टपूर्ण बन गए। अब सन्धि दालों के लिए ऐसे लोगों की आवश्यकता पड़ी जो ओग्रेस्टी तथा प्रामादशाली बाना हों, जिनकी तीव्र स्मरण शक्ति एवं बुलन्द आवाज हो ताकि वे दूसरे नगर राज्यों की लोकसभाओं के सम्मुख अपने नगर का दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सकें और उसकी ज़रूरत प्रकट कर सकें। राजनयिक पदों पर ऐसे व्यक्ति को नियुक्त किया जाने लगा जो पुनःतत्पक्ष एक कुशल दत्ता राजनीतिक सम्बन्धों का विद्वान् तथा मनोवैज्ञानिक थे। प्रसिद्ध इतिहासकार थ्यूसीडैडस (Th. idides) के विवरणों को पढ़ने से पता चलता है कि उस समय के राजनयिकों की दायित्व पर्याप्त औग्रेस्टी तथा बड़ी दिलचस्पी होती थी।

यूनानी राजनयिक (Diplomat) के कार्य सम्पन्न करते थे स्वयत्कर्ता राज्य से सम्बन्धित सूचना एकत्रित करना, लोकप्रिय नगर राज्य के सम्मुख आने वाले राज्य के हितों के समर्थन में सभी तरीकों से अपना दिदेशी राज्य के सम्बन्ध में समर्थक प्रतिनिधित्व तैयार करना, दिदेशी राज्य ने आने वाले राज्य के नागरिकों के हितों की रक्षा करना आदि। उस समय थ्यूसीडैडस द्वारा राजनयिक के रूप में सम्पन्न किये गए कार्य आज भी अध्ययन की दृष्टि से बड़े उपयोगी हैं। उसने विवादों को शान्तिपूर्ण हल करने के लिए सन्धि दालों और सम्मेलनमत्क राजनय के तरीके अपनाए। नगर राज्यों में स्पष्ट तथा स्पष्ट प्रदीपनम थे। यहाँ अन्य राज्यों के साथ सम्बन्धों की अच्छी परम्परा विकसित हुई। स्पष्ट सगठन और मर्यादा की दृष्टि से प्रामादशाली था। यह व्यापक एवं समुद्रमार्ग सम्पर्क की

दृष्टि से निवासियों को तीन भागों में वर्गीकृत किया गया—दास विदेशी और एथेंस के नागरिक। अन्य राज्यों के साथ उसके सम्पर्क का रूप प्रजातन्त्रात्मक था। यहाँ का राजनय व्यापार वाणिज्य और सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं से प्रभावित था। यूनान के इन नगर राज्यों द्वारा राजनयिकों को अनेक उन्मुक्तियों एवं विशेषाधिकार प्रदान किए जाते थे। प्रारम्भ से ही वैदेशिक सम्बन्धों की रचना में इन राजनयिकों का योगदान न केवल महत्वपूर्ण बरन् व्यापक भी था।

यूनानी नगर राज्यों के आपसी सम्बन्धों ने अनेक रीति रिवाजों एवं सिद्धान्तों को जन्म दिया। उस समय अन्तर्राष्ट्रीय कानून अपनी शैशवावस्था में था। एथेंस स्पार्टा एवं थेब्स आदि नगर राज्यों ने आपसी सम्बन्धों का विकास अपनी आन्तरिक नीति सुविधा और सुरक्षा सम्बन्धी रणनीति को ध्यान में रखकर किया था। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों के बीज तत्कालीन धार्मिक राजनीतिक संधियों में देखे जा सकते हैं। उस काल में राजनयज्ञों की अनतिक्रम्यता शरणदान का अधिकार भृतकों के दाह सस्कार के लिए युद्ध विराम तथा धार्मिक मेलों के समय तनाव को रोक देना आदि परम्पराएँ अपनाई जाती थीं। नगर राज्यों की लोकसभाओं में विदेशों से स्वदेश के राजदूतों द्वारा भेजे गए प्रतिवेदनों पर आलोचनात्मक विचार किया जाता था। उनके सुझावों द्वारा प्रस्तुत समस्याओं पर विचार कर आवश्यक निर्देश दिए जाते थे। राज्यों के बीच विवाद उत्पन्न होने पर पंच फैसले द्वारा उसके समाधान की परम्पराएँ प्रचलित थीं। अन्तर्राष्ट्रीय जीवन को नियमित करने की दृष्टि से यूनानियों द्वारा विकसित दो प्रक्रियाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं—(क) ये शक्ति के आधार पर शान्ति की स्थापना करते थे। बाद में रोमन सम्राटों ने भी इस व्यवहार को अपनाया। (ख) ये न्यायाधिकरण द्वारा विवादों को सुलझाने के लिए शान्ति सन्धियाँ करते थे और उनके द्वारा स्वतन्त्र राज्यों की शक्ति को नियन्त्रित कर शक्ति सतुलन की स्थापना करते थे।

यूनानी नगर राज्यों के राजनयिक व्यवहार को संक्षेप में निम्नलिखित रूप से विरलेखित किया जा सकता है

(i) यूनानी काल में राजनयिक सन्धि वार्ताएँ मौखिक रूप से हुआ करती थीं। सैद्धान्तिक रूप में इन वार्ताओं का पूरा प्रचार किया जाता था।

(ii) सन्धियाँ खुले में की जाती थीं तथा उनके अनुसमर्थन के लिए दोनों पक्ष सार्वजनिक रूप से शपथों का आदान प्रदान करते थे। गुप्त सन्धियाँ अपवाद स्वरूप थीं। उनको उचित नहीं समझा जाता था।

(iii) यूनानी नगर राज्य तटस्थता और पंच फैसले से पूर्ण रूप से परिचित थे। तटस्थता का अर्थ था घुप बैठ जाना। वे विवादों को तय करने के लिए पंच फैसले की प्रक्रिया अपनाते थे। 300 से लेकर 100 वर्ष ईसा पूर्व तक के काल में पंच फैसले के 46 मामलों का उल्लेख मिलता है।

(iv) यूनानी नगर राज्यों द्वारा विकसित सर्वाधिक उपयोगी सस्था वाणिज्य दूतों (Consuls or Proxenos) की थी। ये वाणिज्य दूत उसी नगर के मूल निवासी होते थे जहाँ इनको रखा जाता था। ये अपने राज्य में नियुक्तकर्ता राज्य के हितों की देखभाल करते थे। उनका पद धर्मात्त सम्मानजनक समझा जाता था और अनेक प्रतिभाशाली लोगों ने प्रसन्नतापूर्वक इस पद पर कार्य किया। यह पद प्रायः वंश परम्परागत बन जाता था।

इन पदाधिकारियों का कार्य न केवल सम्बन्धित देश के व्यक्तियों के हितों की देखभाल करना होता था वरन् ये राजनयिक सम्बन्धनों की पहल भी करते थे।

(i) चौदवीं शताब्दी ई. तक यूनानियों ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क का उच्च स्तर प्राप्त कर लिया था। वे आसानी सहयोग एवं संगठन के महत्त्व से परिचित थे। उन्होंने युद्ध की घोरता शान्ति स्थापना, संधियों का अनुसमर्थन, पत्र-व्यवस्था, दूतस्थल, राजदूतों का आदान-प्रदान, दानिज्य दूतों के कार्य, युद्ध के कुछ नियम आदि में सम्बन्धित सान्त्वनात्मक सिद्धान्तों का विकास कर लिया था। वे विदेशियों की स्थिति, नागरिकता, शरणदान, प्रत्यर्पण एवं समुद्र-व्यापार आदि से सम्बन्धित विषयों को परिनिषित कर चुके थे। स्पष्ट है कि यूनानियों ने राजनयिक आधार के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति करती थी।¹ इस प्रकार से यूनानियों ने राजनय के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

यूनानी काल के राजनय की आलोचना करते समय यह दर्क दिया जाता है कि यूनानी लोग अन्तर्राष्ट्रीय नीतिका की धारणा से अविदित थे जिसके बिना श्रेष्ठ राजनयिक यत्न भी निष्क्रिय हो जाता है। सामान्य यूनानी की अपने नगर राज्य के प्रति स्वस्मिन्निष्ठ इतनी गहरी होती थी कि वह अन्य नगर-राज्यवासियों को अपना सम्बन्धित शत्रु और रोष अस्मियों को स्वाभाविक दस्त मानता था। राजनयिक सम्बन्धों की विभिन्न उत्प्रेक्षणीय धारणा के होते हुए भी यूनानियों का राजनयिक आधार कई दृष्टियों से दोषपूर्ण था—

(i) वे परस्पर इतने ईर्ष्यालु थे कि इससे उनकी अन्तराष्ट्र की आवश्यकता को भी हानि पहुँचती थी।

(ii) यूनानी लोग स्तब्ध से अच्छे राजनयज्ञ नहीं थे। अत्यन्त घनुर एवं घालक होने के कारण वे अत्यधिक संदेहशील थे। फलतः उनके अविश्वास के कारण कोई सन्धि कार्य सम्पन्न नहीं हो पाती थी।

(iii) यूनानी नगर-राज्यों में कार्यपालिका और व्यवस्थानिका के दायित्वों का सही विवरण न होने के कारण राजनयिक कार्यों में कठिनाइयाँ एवं झगड़ा पैदा हो जाते थे। यूनानी यह नहीं छोड़ पाए कि प्रजातन्त्रात्मक राजनय की स्वेच्छावादी राजनय की नीति कैसे कार्यकुशल बनाया जा सकता है? यही गलती उनके विनाश का कारण बन गई। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था होने के कारण उनके निर्णय न तो गुप्त रहते थे और न ही रीति लिए जाते थे। उनके राजदूत सर्वशक्ति सम्पन्न नहीं होते थे अतः छोटे-छोटे निर्णयों में भी दिलम्ब हो जाता था। उस काल की जनसन्तान अनुसरवादी थी। स्वयं के निर्दोशानुसार कार्य करने वाले राजदूत के कार्यों को भी रद्द कर देती थी।

रोमन राजनयिक व्यवहार (The Roman Diplomatic Practice)

रोमन लोग यूनानियों की तुलना में अधिक बर्बर थे, अतः वे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विकास नहीं कर सके। यूनानियों ने सन्धि दस्तावेजों को दिव्य मान लिया था और राजनयिक प्रक्रिया के अध्ययन से विदेशियों से सम्पर्क स्थापित करने में दिशान्त व्यक्त किया था, किन्तु रोमन लोगों ने नैतिक शक्ति पर अधिक दिशान्त दिया। वे राजनयज्ञ की वजह

1. ".....the general diplomatic practice of our states was unexpectedly advanced"

विजेता अधिक थे। रोमन लोगों ने राजनयिक तौर तरीकों के स्थान पर सीधी कार्यवाही (Direct Action) पर अधिक विश्वास किया। उन्होंने अपनी सर्वोच्चता बनाए रखने के लिए यह तरीका अपनाया कि दो या अधिक राष्ट्रों के बीच संघर्ष के समय वे कमजोर का पक्ष लेते क्योंकि उनका विश्वास था कि इस नीति से दोनों ही पक्ष रोम के राजनीतिक अनुग्रह के आबोही बने रहेंगे। कमजोर का पक्ष लेने से बट तो रोम के प्रभाव को मागेगा किन्तु कमजोर का पक्ष लेकर जब शक्तिशाली को उखाड़ फेंका जाएगा तो वह शक्तिशाली पक्ष भी रोम का प्रभाव मानने को मजबूर हो जाएगा। रोमन लोगों ने राजनय के क्षेत्र में युद्ध की वैधानिकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार उावी दृष्टि में वही युद्ध वैधानिक होता था जिसकी औपचारिक घोषणा की गई हो और जिसके लिए एक विशेष धर्म गुरु द्वारा धार्मिक समारोह का आयोजन करा गया हो।

रोमन लोग युद्ध और शान्ति दोनों ही कार्यों में विदेशी राजनीतिज्ञों का स्वागत करते रहे। ये राजदूत को सामान्यतया *Legatus* कहते थे और कभी कभी *Procurator* भी कह देते थे। यह शब्द अधिकशत युद्ध अथवा शान्ति के लिए वार्ताकार के साथ लगाया जाता था। रोमन सीनेट नियमित रूप से विदेशों में अपने देश के राजदूत भेजती थी। रोमन कानून राजदूतों की अनतिव्रम्यता (Inviolability) को मायता देता था। विद्यमान राजनीतिक विचारों सितारों ने जो रोम में राजदूत बनकर आया था इस सम्बन्ध में लिखा है— 'राजदूतों की अनतिक्रम्यता दैवीय तथा मानवीय दोनों ही कानूनों से है। वे पवित्र और आदरणीय हैं ताकि वे अनतिक्रम्य बने रहें। यह केवल मित्रराष्ट्र में ही नहीं है अपितु शत्रु की सेना में घिरे होने पर भी है। रोमन कानून के अन्तर्गत राजदूतों के शायोभी भी अनतिक्रम्य थे। राजदूतों के धन व्यवहार और उनके लिए अनिवार्य वस्तुओं को अनतिक्रम्य समझा जाता था। राजदूत जब किसी तीसरे राज्य में से गुजरता तो भी उसे आतिथ्य का विशेषाधिकार प्राप्त था। राजदूत पर किया गया कोई भी हमला रोमन अन्तर्जातीय कानून (Jus Gentium) का उल्लंघन माना जाता था। राजदूत पर क्षेत्रीय बाह्यता का सिद्धान्त भी लागू होता था अर्थात् कोई समझौता तोड़े जावे पर राजदूत राज्य के न्यायालय में मुकदमा नहीं चलाया जाता था वह स्थानीय कानूनों से उन्मुक्त था। रोमन सीनेट राजदूतों को राजकीय अतिथियों जैसा सम्मान देती थी।

रोमन लोगों ने राजनय के क्षेत्र में एक प्रशिक्षित पुरालेखपाल (Archivist) की पद्धति प्रदान की। पुरालेखपाल राजनयिक दृष्टांतों और प्रक्रियाओं में प्रवीण व्यक्ति होते थे। आज भी राजनय की एक महत्वपूर्ण शाखा पुराने लेखों, सन्धियों, अगिलेखों आदि की रक्षा करना और उन्हें व्यवस्थित रखना है। रोमन लोगों ने पुरालेखालाये अथवा लेखों से सम्बन्धित कार्य को राजनयिक व्यवहार (res diplomatica or Diplomatic Business) की रक्षा दी है। इस प्रकार के लेखों को व्यवस्थित रखने की पद्धति रोमन लोगों की एक महत्वपूर्ण देन है।

रोमन लोगों ने राज्यों की समानता के सिद्धान्त का कभी आदर नहीं किया। इसका कारण यह था कि रोमन लोगों को अपनी 'सर्वश्रेष्ठता' में विश्वास था वे अन्य किसी राज्य को अपने समकक्ष नहीं समझते थे। यही कारण है कि रोमन काल में समानता के आधार पर राजनयिक सम्बन्धों की स्थापना करने और सन्धि वार्ता करने के क्षेत्र में कोई विकास

नहीं हो सका। रोमन लोगों ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना तो की लेकिन राजनयिक भाईचारे के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को विकसित नहीं किया। यूनानी सम्यता के मूल तत्वों से रोमन लोग लगभग अप्रभावित थे।

रोमन राजनय पर डॉ एस पी दुबे का अध्ययन

डॉ शुक्रदेव प्रसाद दुबे ने राजनय अथवा कूटनीति के इतिहास में अपने अध्ययन में प्राचीन रोमन राजनयिक आधार पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

‘रोमन विजयों ने जिस विश्व राज्य का निर्माण किया उसमें पारथियन हिन्दू और धीर्न सम्यताएँ ही ऐसी थीं जो उसकी सीमा परिधि के बाहर थीं। अतः इस राजनीतिक वातावरण में रोम को किसी विशेष कूटनीतिक दिधान की आवश्यकता नहीं थी। उसका काम केवल अपनी राज्य सीमा को बढ़ते आक्रमणों से सुरक्षित रखना था फिर भी रोमन साम्राज्य के वैदेशिक मामले काफी दिलचस्प थे। प्राचीनकाल से ही रोम के युद्ध और शान्ति की परिस्थितियों पर जो भी कूटनीतिक वार्ता आवश्यक होती थी वह एक विशिष्ट कूटनीतिक सन्स्था (Collegium Fœdialium) अर्थात् कॉलेज ऑफ फेटियल्स को सौंपी जाती थी। रोमन धारणा के अनुसार सभी युद्ध उचित थे यदि वे औपचारिक रीति से तब घोषित किये गए जब सभी शान्तिपूर्ण प्रयास विफल हो चले थे। युद्ध के पूर्व फेटियल्स कॉलेज का मुखिया जिसे पेटरस कहते थे सीनेट को सूचित करता था कि उसका शान्तिपूर्ण हल निकालने की सारी कूटनीतिक वार्ता निष्फल सिद्ध हो गई। युद्ध प्रारम्भ करने के निर्णय के उपरान्त वह एक खूनी भाला शत्रु के स्थल पर फेंकता था। यह अनुष्ठान जुपीटर आदि देवताओं के आह्वान के साथ शपथ लेकर किया जाता था। जब रोम के विस्तार के साथ ही फेटियल्स का प्रतिनिधित्व राजदूत करने लगे तो भाला फेंकने की औपचारिक प्रणाली ने एक प्रतीकात्मक स्वरूप ले लिया और शत्रु के स्थल के स्थान पर भाला मीटिंग्स प्रांगण अथवा बेलूना के मन्दिर के सामने फेंका जाने लगा। फेटियल्स को सन्धि स्थापना का भी कार्य दिया जाता था। विदेशी राजदूतों को सीनेट से फरवरी के महीने में कैपिटल के निकट प्रेकास्टियेसस के अवसर पर प्रत्यक्ष वार्ता करने का भी अवसर मिलता था। साम्राज्यवादी युग आने के साथ यह कार्य सम्राट ने स्वयं अपने हाथों में लिया। रोम द्वारा की गई सभी सन्धियाँ असमान थीं क्योंकि वे विजित प्रदेशों के शासकों पर सदैव के लिए थोप दी जाती थीं। रोम का जसलेन्टियम अर्थात् वह दिधान जिसके अन्तर्गत उन कानूनी सिद्धान्तों का विकास हुआ था जो रोमन नागरिकों की विदेशी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाये गए थे सही अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय दिधान नहीं था यद्यपि यह उन सम्बन्धों का भी मार्गदर्शन करता था जो रोमन साम्राज्य अपने पड़ोसियों से स्थापित करता था।

ग्रीक संस्कृति के प्रति पूर्ण सम्मान और निष्ठा रखते हुए भी रोमन साम्राज्यवादियों ने ग्रीक अन्तर्राष्ट्रीय संहिता का अनुकरण नहीं किया। इसका कारण स्पष्ट ही था। जहाँ ग्रीक अन्तर्राष्ट्रीय दिधान उस संस्कृति के स्वतन्त्र राज्यों के धारणात्मक सम्बन्धों से उत्पन्न आवश्यकता की देन था वहीं रोमन साम्राज्य दूसरे देशों के प्रति एक विस्तारवादी दृष्टिकोण अपना चुका था और शीघ्रतिरिघ विजित कर उनका दिल अपने साम्राज्य में करना चाहता

था अर्थात् उनका विश्व साम्राज्य ग्रीक राज्य व्यवस्था के विघटन पर ही सम्भव था। रोमन साम्राज्य ओक जातियों एवं राष्ट्रीयताओं का संकलन था और जहाँ केन्द्रीय सत्ता ने स्थानीय राष्ट्रीयताओं को कुछ भी स्थापना अधिकार देना उचित नहीं समझा था। अतः ग्रीक राज्यों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली रोमन कूटनीतिक परिस्थितियों के सर्वथा प्रतिकूल थी। 195 ई. में रोमन साम्राज्य का पतन हो गया।

राजनयिक आधार का इटालियन तरीका (Italian Method of Diplomatic Practice)

इटली ने आधुनिक संगठित एवं व्यावसायिक राजनय का जनक माना जाता है। यह माना जाता है कि प्रथम दूतावास की स्थापना मिलां (Milan) के ड्यूक प्रिंसेस्को स्फोरजा ने सन् 1495 ई. में जेनोवा में की थी। सन् 1496 ई. में वेनिस सरकार ने दो व्यापारियों को उस राजदूत बाजार सन्धान भेजा। कुछ समयोपरान्त इटली के अन्य राज्यों ने भी सन्धान वेनिस तथा अन्य यूरोपीय राजधानियों में अपने दूतावास स्थापित किए। 16वीं शताब्दी के अन्त तक स्थायी दूतावास अथवा प्राणिप्यावास नियुक्त करने की परम्परा को अधिकांश यूरोपीय राज्यों ने भी अपना लिया।

मध्ययुग के अन्त तक इटली में वेनिस तथा फ्लोरेंस जैसे नगर बसा लिये गए थे। अब गैर धार्मिक मामलों में पैसे की सर्वाधिकता नहीं रही थी। सामन्तवादी ठिकानों तथा स्वतन्त्र नगरों में आपस में मिलकर बड़े नगरों की स्थापना की। इन नगरों को महत्वाकांक्षी पड़ोसियों तथा प्राचीन शाही परिवारों से हमेशा राजगृह रहना पड़ता था। ये अपनी विलुप्त शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए कोई भी तरीका अपना सकते थे। फ्रांस स्पेन तथा जर्मनी आदि का बाहरी शक्तियों से आपसी मनमुटाव और संघर्ष सतत रूप से चलता रहता था। इन परिस्थितियों में राजनय का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया। कमजोर राज्य अपनी स्वतन्त्रता एवं आत्म रक्षा के लिए राजनयिक तरीकों से शक्तिशाली राज्य से मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लेते थे। राजनय के क्षेत्र में इटली के योगदान का अध्ययन करने से पूर्व निम्नलिखित पहलुओं पर विचार करना उपयुक्त रहेगा

वेनिस का राजनय (The Venetian Diplomacy)

मध्ययुग में राजनयिक कला में सर्वाधिक पारंगत राज्य वेनिस गणराज्य था। 16वीं शताब्दी में उसके राजदूत वियना, वेनिस, मेड्रिड तथा रोम में कार्यरत थे। वेनिस वालों का पूर्व के साथ दीर्घकालीन घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था अतः उन पर हाइजेंटाइन की राजनयिक विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। दोहराव तथा सदेह के दोष यहाँ के राजनय में भी दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ राजदूतों का ध्यान उनकी योग्यता के आधार पर सावधानी से किया जाता था। राजनय का संगठित व्यवहार सर्वप्रथम यहाँ पर अपनाया गया। यहाँ के राजदूतों को सर्वाधिक व्यवहार कुशल एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति से परिचित माना जाता था। वेनिस के राजनयिक व्यवहार की निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

1. राज्याभिलेखागणों को व्यवस्थित रूप में रखने का श्रीगणेश करने का श्रेय वेनिसवासियों को है। उनके नौ शताब्दियों (873 से 1797 तक) के राजनयिक अभिलेख

उपलब्ध होते हैं। इन अनिलेखों में राजदूतों को दिये गए निर्देश राजदूतों के अन्तिम प्रतिवेदन समाचार पत्र आदि शामिल हैं। वेनिसवासी यह जानते थे कि विदेश में रहने के कारण राजदूत अपने देश की गतिविधियों से अपरिचित हो जाता है अतः उसे सम्यक् सूचना मेजी जनी चाहिए। इन समाचार पत्रों को अव्विसी (Avvisi) कहते थे।

2. वेनिस वालों ने राजदूतों की नियुक्ति एवं आवरण के सम्बन्ध में कुछ नियमों की रचना की थी। वेनिस का राजदूत केवल तीन या चार महीनों के लिए नियुक्त किया जाता था। 15वीं शताब्दी में इसके कार्यकाल की सम्पत्ति सीमा 2 वर्ष कर दी गई। राजदूत जिस देश को मेजा जाता था वहाँ वह कोई सम्पत्ति नहीं रख सकता था। यदि वहाँ उसे कोई मेंट या लेहफा प्राप्त होता था तो स्वदेश लौटने पर वह उसे राज्य को सौंप देता था। कार्यकाल में उसे कोई अवकाश नहीं दिया जाता था। लौटने पर 15 दिन के भीतर वह अपने कार्यों का अन्तिम प्रतिवेदन प्रस्तुत करता था।

3. राजदूत अपने साथ पत्नी नहीं ले जाता था क्योंकि यह आशंका थी कि गर्भ मारने में समय खराब करके वह उसके कार्यों में बाधक बन जाएगी। राजदूत के साथ स्वयं का रसोइया होता था ताकि विदेशी रसोइए द्वारा विष दिए जाने की आशंका न रहे।

4. वेनिसवासियों की यह धारणा थी कि सनी विदेशी विशेष रूप से देशी राजदूत जासूसी करने के लिए आते हैं अतः उनके व्यवहार को नियमित करने के लिए विशेष नियम बनाये गए। सन् 1481 ई. में निर्मित एक नियम के अनुसार वेनिस के राजदूत किसी गैर सरकारी विदेशी के साथ राजनैतिक विचार विमर्श नहीं कर सकते थे। जो नागरिक विदेशी राजनयिकों के सार्वजनिक विषयों पर विचार विमर्श करते थे उनके दण्ड देने की व्यवस्था थी।

अन्य राज्यों की स्थिति (The Position of other States)

वेनिस के अतिरिक्त इटली के अन्य राज्यों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। वे सामान्यतः कमजोर थे। उनके पास राष्ट्रीय सेना नहीं थी। अपनी सुरक्षा के लिए वे भाड़े के सैनिकों की सहायता लेते थे। उनमें आन्तरिक फूट व्याप्त थी। जब उन पर विदेशी आक्रमण हुए तो बिना विरोध किए ही उनका पतन हो गया। उनकी आपसी फूट के कारण शान्ति व्यवस्था का रहना असम्भव था। सैनिक कमजोरी के कारण वे आत्मरक्षा के लिए राजनय की ओर मुड़े। उस समय उनका राजनय किसी आदेश विचार अथवा दीर्घकालीन तत्त्व से सबद्ध नहीं था बरन् वे तत्कालीन हितों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहते थे। उस समय के उत्तेजनपूर्ण तथा निर्दयपूर्ण वातावरण में राजनयिक समझौतों में घालाकी घूर्तता छल कपट एवं झूठ को अपनाया जाता था। इटली के इन राज्यों की राजनैतिक अस्थिरता के कारण यहाँ का जन जीवन नी अस्त व्यस्त और अशान्त था।

मैकियावेली का योगदान

(The Contribution of Machiavelli)

मैकियावेली एक महान् राष्ट्रवादी था जो इटली की एकता का स्वप्न देखता था। उसका मत था कि आपसी फूट और कमजोरी इटली की स्वतन्त्रता को नष्ट कर देगी तथा उस हनेश के लिए विदेशियों का दास बना देगी। अतः उसने धर्म और नैतिकता से ऊपर

एक दृढ़ शक्तिशाली और तुरन्त निर्णय लेने वाले राजा का समर्थन किया जो अपने कुशल एवं धातुर्यपूर्ण राजनय द्वारा इटली को एक करके उसे फ्राँस, स्पेन तथा जर्मनी की दासता से मुक्ति दिला सके। उसने राजा के पथ प्रदर्शन के लिए एक महान् कृति दी प्रिन्स (The Prince) की रचना की। इसे राजनय की एक युग प्रवर्तक कृति माना जाता है। इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों ने राजनय के इतिहास पर उल्लेखनीय प्रभाव डाला है। इसमें व्यावहारिक राजनीति पर प्रकाश डाला गया है।

प्रिन्स में मैकियावेली ने राजा को जो शिक्षण दी या उसके जिह्वा कर्तव्यों को सिखाया है उनसे हमें मैकियावेली राजनय (Machiavellian Diplomacy) के दर्शन होते हैं। मैकियावेली ने लिखा है—“राजा को तो राज्य की सुरक्षा की चिन्ता रखनी चाहिए। साधना तो हमेशा आदरणीय ही माने जाएँगे और सामान्यतः उनकी प्रशंसा ही की जाएगी। राजा का काम आम खाना है गुठलियाँ गिनना नहीं। इसलिए उसका उद्देश्य यही होना चाहिए कि अपने काम में अपने नैतिक या अनैतिक साधन का प्रयोग करके सफलता प्राप्त कर ली जाए।” मैकियावेली द्वारा धिक्कृत आदर्श शासक का यही दृष्टिकोण है कि न कोई धीज अच्छी है और न कोई बुरी। जरूरत पर जो काम दे और फल दे वही धीज सबसे अच्छी है। राजसत्ता को बनाए रखने के लिए शासक सत्य दाम दण्ड और फेद बेईमानी हत्या प्रवचना आडम्बर आदि किसी भी उपाय का इतल-पूर्वक प्रयोग कर सकता है। सच्चा राजा वही है जो शक्ति, धोखा और फलपात लेकर घले शेर की तरह शक्तिशाली हो और लोमड़ी की तरह चालाक हो। उसकी इसी नीति को ‘व्याघ्र लोमड़ी नीति’ (Lion and Fox Theory) कहा गया है। मैकियावेली के अनुसार साध्य की प्राप्ति हेतु साधनों की नैतिकता के धक्कर में पड़ना मूर्खता है।

मैकियावेली ने अपने ग्रन्थ डिस्कोरॉज के अध्याय 59 में स्पष्ट लिखा है कि “मैं यह विश्वास करता हूँ कि जब राज्य का जीवन संकट में हो तो राजाओं और गणराज्यों की रक्षा के लिए विश्वासघात तथा कृतघ्नता का प्रदर्शन करना चाहिए।” उसका स्पष्ट मत था कि सौत्तारिक सफलता सबसे बड़ा साध्य है जिसे पाने के लिए औचित्य साधनों को अपनाना आवश्यक है। साध्य की सफलता साधनों को पवित्र बना देती है। इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना भ्रामक होगा कि मैकियावेली नैतिकता नाम की किसी बात से परिचित नहीं था। उसने तो नैतिक मान्यताओं एवं सिद्धान्तों को राजनीति के क्षेत्र से दूर रखा है। उसने नैतिक गुणों की विशेषताओं को अस्वीकार नहीं किया है परन्तु राजनीतिक गुणों के लिए उन्हें आवश्यक नहीं माना है।

मैकियावेली के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शासक की नीति शक्ति सन्तुलन बनाए रखने की होनी चाहिए। राजा को हमेशा यह ध्यान रखना चाहिए कि वह उन पड़ोसी राज्यों को आपरा में सन्धि में न बंधने दे जिनकी संयुक्त शक्ति उसके स्वयं के राज्य से अधिक हो जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति का सर्वोत्तम उपाय यही है कि शासक पड़ोसी राज्यों के आन्तरिक मामलों में निरन्तर हस्तक्षेप की नीति अपनाए। अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाए रखने के लिए वह पड़ोसी राज्यों को प्रलोभन अथवा शक्ति द्वारा अपना मित्र बनाले। जिन राज्यों को वह

युद्ध में जीत ले उन्हें अपना उपनिवेश बनाकर वहाँ एक शक्तिशाली सेना रख दे। मैकियावेली ने शासक को युद्ध सम्बन्धी परामर्श भी दिया है कि उसे यथासम्भव घेरा डालने की अपेक्षा खुले मैदान में युद्ध नीति अपनानी चाहिए। सफलता प्राप्ति के लिए शासक को तुरन्त निर्णय लेने की आदत डालनी चाहिए। तुरन्त और दृढ़ निर्णय तथा उसकी शीघ्र कार्यान्विति द्वारा गम्भीर समस्याओं का समाधान सरल हो जाता है।

मैकियावेली का विश्वास था कि यदि कोई राज्य दुनिया के मानचित्र पर रहना चाहता है तो उसे अपना प्रसार करना होगा अन्यथा वह नष्ट हो जाएगा। विजय और प्रसार का निर्देश देने वाला उसका दर्शन शान्तिवादी नहीं था वरन् निरन्तर संघर्ष करते रहने का संदेश था। उसने अनुभव और निरीक्षण के आधार पर अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किए। मैकियावेली के विचार-दर्शन की कटु आलोचना की जाती है। उसे आलोचकों द्वारा युद्ध लोलुप नीतिहीन, धर्महीन, नीच व्यदहार का समर्थक घोषित किया जाता है। वह अमानवीय कहा गया है। इस सम्बन्ध में हेरोल्ड निकोलसन (Harold Nicolson) का मत है कि मैकियावेली को उसके समय की परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही देखा जाना चाहिए। वह अपने युग का शिशु था। उसने सत्कालीन इटली के दोषों का निराकरण करने के लिए अपने विचार प्रस्तुत किए। वह किसी स्थाई सिद्धान्त का विकास नहीं कर रहा था। उसने उसी प्रभावशाली सत्य का प्रतिपादन किया जिसका अनुभव उसने अपने जीवनकाल में किया था। राजनय के सबंध में उसके विचार बहुत महत्व रखते हैं।

इटालियन राजनय की देन

(Contribution of Italian Diplomacy)

इटली के राज्यों ने पारस्परिक समझौते की जिस कला का विकास किया वह धीरे-धीरे अन्य राज्यों द्वारा अपना ली गई। 15वीं तथा 16वीं शताब्दियों में समझौते की इस प्रणाली का अध्ययन हेरोल्ड निकोलसन ने निम्नलिखित तीन शीर्षकों के अन्तर्गत किया है—

1. सन्धियों के लिए समझौते (The Negotiations of Treaties) : 15वीं शताब्दी में इटली में समन्तवादी परम्पराएँ व्याप्त थीं और पोप की सर्वोच्चता के विचार का प्रभाव था। इसके फलस्वरूप सन्धियों के लिए की जाने वाली समझौता दार्ताएँ अल्पकालीन बन गईं। कोई बड़ा राज्य ही यह दावा कर सकता था कि अल्पकालीन राज्य उसका अधिराज्य (Vassal) है और इसीलिए बिना उसकी स्वीकृति के वह दूसरे राज्यों के साथ सन्धि करने का अधिकार नहीं रखता। पोप भी कभी-कभी हस्तक्षेप करने का दावा करता था।

सत्त कठिनाइयों होते हुए भी इटालियन राज्यों के बीच समझौता दार्ताएँ प्रायः सफल होती थीं तथा स्पष्ट रूप से सन्धियों सम्पादित की जाती थीं। कुछ ऐसे प्रोटोकॉल करने का भी रिवाज था जिनमें स्वीकृत बातों की सूची रहती थी किन्तु उन पर सन्धिकर्ता पक्ष हस्ताक्षर नहीं करते थे। पोप द्वारा स्वीकार की गई सन्धियाँ बाध्यकारी होती थीं। केवल पोप ही राज्यों को शपथ के मार से मुक्त कर सकता था।

सन्धि के अनुमोदन के लिए सम्मरोह किया जाता था। यह माना जाता था कि यदि सर्वराज्यसम्पन्न राजदूत कोई सन्धि करे तो उसे सम्प्रभु स्वीकार कर लेगा। ऐसा न करने

के परिणाम अत्यन्त मयकर हो सकते थे। ऐसी स्थिति में राज्यों के बीच सभी सन्धिवाताहं असम्भव हो जाती थी। इटालियन राज्य राजनीतिक सन्धियों के अतिरिक्त व्यापारिक सन्धियों भी करते थे जिसमें आपसी व्यापार के प्रश्नों पर समझौता किया जाता था। सन् 1490 ई में इंग्लैण्ड तथा फ्लोरेस के बीच व्यापारिक सन्धि की गई। इसके अन्तर्गत इंग्लैण्ड ने फ्लोरेस को इटली में ऊन के व्यापार का एकाधिकार प्रदान किया और बदले में फ्लोरेस ने अंग्रेज व्यापारियों को पीसा (Pisa) में निगम स्थापित करने की अनुमति दी।

2 सम्मेलनीय राजनय (The Diplomacy by Conference) 15वीं शताब्दी में सम्मेलन द्वारा राजनय का अधिक प्रचलन नहीं था। उस समय इसे अत्यन्त सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था। उस समय का सम्मेलन राजनय सम्प्रमुखी अर्थात् राजाओं के व्यक्तिगत साक्षात्कार के रूप में होता था। उसमें यह खतरा निहित रहता था कि कहीं एक राजा दूसरे राजा का अपहरण न करले। इसी कारण यह साक्षात्कार सामान्यतः एक पुल के बीच में हुआ करते थे। सन् 1807 ई में नेपोलियन ने इस असामान्य तरीके को बदला। इन व्यक्तिगत साक्षात्कारों में कुछ निम्नलिखित दोष भी थे— 9.3663

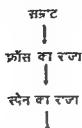
(क) यह तरीका पर्याप्त खर्चीला था क्योंकि प्रत्येक पक्ष पैसे को पानी की तरह बहा कर यह प्रदर्शित करना चाहता था कि वह अधिक संपन्न है। (ख) सम्मेलन से पूर्व दोनों पक्ष अपनी जनता की महत्पाकीक्षाओं को बढ़ा देते थे। दूसरी ओर विदेशों में उनके इरादों के प्रति सन्देह किया जाता था। इसके फलस्वरूप अनेक विरोधी अफवाहें फैल जाती थीं। (ग) इन साक्षात्कारों में होने वाले समझौते लिखित न होकर मौखिक होते थे। अतः गलतफहमी के अवसर बढ़ जाते थे। (घ) इन साक्षात्कारों के कर्त्ता दो सम्प्रमु होते थे जो अपने बराबर वालों से बात करना नहीं जानते थे। एक-दूसरे की भाषा न जानने के कारण भी कठिनाइयों उपस्थित होती थीं। फलतः साक्षात्कार का परिणाम कोई मैत्रीपूर्ण समझौता न होकर पारस्परिक विद्वेष के रूप में प्रकट होता था। इस सम्बन्ध में 15वीं शताब्दी के प्रसिद्ध राजनय फिलिप डी कोमिंस (Philippe de Comines) का यह कथन उल्लेखनीय है कि “यदि दो महान् राजा परस्पर अच्छे सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं तो उनको आमने-सामने कभी नहीं आना चाहिए बरन् अच्छे और बुद्धिमान राजदूतों के माध्यम से वार्तालाप करनी चाहिए।”¹

पुनर्जागरण काल में राजनयिक व्यवहार का एक महत्वपूर्ण दोष यह था कि समारोह सम्बन्धी प्रश्नों को अनावश्यक महत्व दिया जाता था। नए राजदूत के आने पर कई सप्ताह उसके स्वागत समारोहों एवं परिषद-पत्रों की देख भाल में ही व्यतीत किए जाते थे। इस काल में राजदूत एवं स्वागतकर्त्ता सम्प्रमु को अनेक ऐसे कार्य करने होते थे जो आज हमें अनावश्यक तथा अर्थहीन प्रतीत होते हैं।

3. अप्रत्यक्ष की समस्या (The Problem of Precedence) : इटालियन राजनय में अप्रत्यक्ष की समस्या अत्यन्त गम्भीर थी। सिद्धान्ततः राजदूत का स्तर उसके राज्य के स्तर

1 “Two great princes who wish to establish good personal relations should never meet each other face to face but ought to communicate through good and wise ambassadors”
— Philippe de Comines

के अनुरूप होता था। सन् 1501 ई. में पोप जूलियस द्वितीय ने अग्रत्व की एक तालिका बनाई जो निम्न प्रकार थी—



अन्य ड्यूक राजकुमार इत्यादि।

इस सूची में पुर्तगल छठवें और इंग्लैंड सत्रहवें नम्बर पर था। जब पोप की शक्ति का पतन हुआ और नये राष्ट्रीय राजतन्त्रों का उदय हुआ तो उक्त सूची का क्रम टूट गया। स्पेनवासियों ने यह मानने से इनकार कर दिया कि उनका स्थान फ्रांस के बाद है। इस आन्तरिक विरोध के फलस्वरूप राजदरबारों की स्थिति सम्झौता बर्तानों एवं सन्धियों पर होने वाले हस्ताक्षरों में परिवर्तन आया। राज्यों के अग्रत्व को निर्धारित करने का कोई निश्चित तरीका न होने के कारण अनेक बार सघर्ष पैदा हो जाते थे। यहाँ तक कि राजदूतों को मल्लयुद्ध के लिए भी तैयार होना पड़ता था। सन् 1661 ई. में लन्दन में ऐसी ही घटना घटी। वहाँ जब स्पेनिस राजदूत की गद्दी को फ्रांसीसी राजदूत की गद्दी से आगे रखा गया तो सघर्ष प्रारम्भ ही गया तथा कई लोग हल्लाहत हुए, स्पेन तथा फ्रांस के बीच राजनयिक सम्बन्ध तनावपूर्ण हो गए और दशहस्तिक युद्ध का म्य हो गया। इसी प्रकार सन् 1768 ई. में लन्दन दरबार में हुआ। वहाँ जब फ्रांसीसी राजदूत ने यह देखा कि रूसी राजदूत अस्ट्रिया राजदूत के बाद दली आगे की सीट पर बैठ गया है तो वह पीछे की सीटों पर घबरा हुआ आगे बढ़ा और उन दोनों के बीच जा बैठा। इसके परिणामस्वरूप मल्लयुद्ध छिड़ गया। इसमें रूसी राजदूत बुरी तरह घायल हो गया।

अग्रत्व की व्यवस्था से सन्धियों पर हस्ताक्षर करते समय भी कठिनाई पैदा होती थी। प्रत्येक राज्य का प्रतिनिधि सन्धि पर पहले हस्ताक्षर करना चाहता था क्योंकि यदि उसने दूसरे राज्य के प्रतिनिधि से नीचे हस्ताक्षर किए तो यह उसके राज्य के सम्मान के विरुद्ध होगा। इस समस्या के निदान के लिए सम्मन्तर में हस्ताक्षर करने की परम्परा अपनाई गई। इस तरीके में असुविधा होने पर एक अन्य व्यवस्था चलू की गई जिसके अन्तर्गत सन्धि की अनेक प्रतिलिपियाँ तैयार की जाती थीं और प्रत्येक पक्ष अपनी प्रतिलिपि पर पहले स्वयं हस्ताक्षर करता था बाद में रेब भगीदारों के हस्ताक्षर करए जाते थे। इसके लिए अनन्तर एक व्यय एवं समय की बढ़ती को अग्रत्व के नाम पर सहन किया जाता रहा। सन् 1815 की विदना कांग्रेस तक यही स्थिति बनी रही। विदना कांग्रेस में यूरोपीय राजनीतिज्ञों ने यह अनुभव किया कि मध्य युग की अग्रत्व की परम्परा असह्य है तथा इसे बदला जाना चाहिए। अब राजनयिक प्रतिनिधियों को घर गम् में बैठा गया। सर्वधिक समय तक इस पद पर कार्य करने वाले वरिष्ठ राजदूत को राजनयिक निकष का हीन अथवा डपन ब्रह्म

गया। तीन वर्ष बाद एश ला चेपल की सन्धि में यह निर्णय लिया गया कि सन्धियों पर सन्धिकर्ता राज्यों को वर्णमाला के क्रम से हस्ताक्षर करने चाहिए।

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि इटली की पुनर्जागृति ने राजनय की जो प्रणाली विकसित की वह भ्रमपूर्ण तथा पर्याप्त स्पष्टापूर्ण थी। तत्कालीन राज्यों का राजनय सिद्धान्त एवं व्यवहार दोनों दृष्टियों से उथला था। उस समय यह माना जाता था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा न्याय हमेशा राष्ट्रीय हितों से गौण है। घोखेबाजी अवसरवादिता एवं स्वार्थमय प्रवृत्तियों जैसी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देकर इटली ने राजनय की कला को निन्दनीय बना दिया। जटिल परिस्थितियों में तात्कालिक परिणाम प्राप्त करने की दृष्टि से अच्छी समझौता बार्ता की क्रमिकता को मुला दिया गया। फलतः सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के राजनीतिज्ञों का यह दायित्व हो गया कि एक अधिक बुद्धिमान तथा अधिक विरवसनीय प्रणाली की खोज करें।

बीसवीं शताब्दी में इटली के राजनय का मूल उद्देश्य स्वार्थ सिद्धि रहा। जिसकी पूर्ति के लिए वह घूर्णतापूर्ण एवं अदससरवादी तरीके अपनाये गये। सन्धि-वार्ता की कला में इटली के राजनयज्ञ विशेष रूप से दक्ष रहे। किसी देश से स्वार्थ सिद्धि के लिए वे पहले उस देश से अपने सम्बन्ध बिगाड़ लेते हैं और तब छुन सम्बन्धों को सुधारने का निमन्त्रण देते हैं। सम्बन्ध सुधारने के आश्वासन के बदले में वे अपनी आकांक्षा पूर्ण कर लेते हैं। इटालियन राजनयज्ञ द्वारा की जाने वाली सन्धि वार्ताएँ प्रायः तीन प्रकार की होती हैं—(क) इटालियन राष्ट्र में इतर पक्ष के विरुद्ध कल्पनात्मक विद्रोह और शत्रुत्व की भावना जाग्रत करना। (ख) जिस देश से सन्धि वार्ता करनी है उसके विरुद्ध कुछ न कुछ उत्पन्न मचाए रहना। (ग) अन्य पक्ष में ऐसी सुविधा या वस्तु माँगना जिसे लेने की वास्तविक इच्छा तो नहीं है किन्तु जिसे छोड़ देने पर अन्य पक्ष से अनीष्ट प्रतिफल सहज ही प्राप्त हो जाएगा। जब ऐसा होने की आशा नहीं रहती तो इतर पक्ष के विरोधी पक्ष से सन्धि-वार्ता प्रारम्भ का संकेत भी कर दिया जाता है।¹

4 इटेलियन राजनय की एक अन्य विशिष्ट विशेषता स्थायी और सगठित राजनयिक सेवा का विकास करना था।

5 राजनय को नैतिकता की जकड़न से मुक्त कर के इसे वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया गया।

राजनयिक आधार का फ्रेंसीसी तरीका (The French Method of Diplomatic Practice)

फ्रेंसीसी राजनय को दो विचारकों ने बहुत अधिक प्रभावित किया थे—ग्रोशियस तथा रिचलू। इनमें से एक तो अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ता था और दूसरा राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ था। दोनों के राजनय सम्बन्धी विचारों के आधार पर ही फ्रेंसीसी राजनय के आधार का रूप निर्धारित हुआ।

ग्रोशियस के विचार (Hugo Grotius on Diplomacy) : ग्रोशियस ने राजनय के सम्बन्ध में अप्रलिखित चार महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया—

1. अपने समय के धार्मिक सघर्ष की दृष्टि से ग्रेशियस ने कहा कि प्रोटेस्टेंट एवं कैथोलिक मतानुयायियों का एक दूसरे पर अपने विचारों को आरोपित करना अर्थहीन है। यदि ये विरोध और सघर्ष के स्थान पर प्रेम तथा सहयोग से सौंधे तो मानदता अनेक कष्टों से मुक्त हो सकती है।

2. प्राकृतिक कानून (Natural Law) राज्यों, संस्थाओं एवं सरकारों से स्वतन्त्र था इनने अधिक प्राचीन और स्थायी होता है। यह व्यक्ति की बुद्धिमत्ता पर निर्भर है। जब तक मानदता इस प्राकृतिक कानून को स्वीकृति एवं मान्यता नहीं देगी तब तक अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का सम्बन्ध नहीं हो सकता।

3. प्राकृतिक कानून का सामान्य रूप से पालन किए बिना शक्ति सम्बलन का सिद्धान्त खतरनाक साबित होगा। जब तक दुनिया के शक्ति यह न सोचें कि उनके कर्तव्य एवं नीतियों को प्रभावित करने वाली उनकी राष्ट्रीय सुविधा ही नहीं है बल्कि कुछ निरिष्वक्त सिद्धान्त हैं तब तक न्यायपूर्ण सम्बलन स्थापित नहीं की जा सकती।

4. प्राकृतिक कानून को प्रभावित एवं लागू करने वाली कोई संस्था होने चाहिए। ग्रेशियस का मत था कि ईसाई राज्यों को एक ऐसे निष्पक्ष की रचना करनी चाहिए जहाँ प्रत्येक राज्य के विवादों को निस्पर्ध्व पक्षों द्वारा सुलझाया जा सके। बुद्धिपूर्ण शक्तों को लागू करने के लिए कुछ सघर्ष भी होने चाहिए।

ग्रेशियस द्वारा **हस्त बाह्यता (External Territoriality)** के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। उसने राजनयिक प्रतिनिधियों के विशेषधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं का विस्तार से उल्लेख किया है। उसका स्पष्ट मत था कि राजनयिकों को स्वतन्त्रता देश के क्षेत्रधिकार से बाहर रखा जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों के सम्बन्ध में ग्रेशियस का कहना था कि ये न केवल कक्षा पर ही बल्कि उसके उत्तर-धिकारी पर भी लागू होती हैं। उसने यह प्रतिपादित किया कि परिस्थितियों बदलने पर सन्धियों को अस्वीकार किया जा सकता है। जो सन्धियाँ जिन परिस्थितियों में की जाएं वे उन्हीं परिस्थितियों में लागू रहनी चाहिए।

रिचलू के विचार (Richelieu on Diplomacy) ग्रेशियस एक आदर्शवादी विचारक था। इसके विपरीत रिचलू एक व्यवहारवादी विचारक था। यही कारण है कि ग्रेशियस के विचारों को उसके समय में दुर्कृत्य मन्त्र किन्तु रिचलू के विचारों ने तत्कालीन व्यवहार को प्रभावित किया। उसने राजनय के सिद्धान्त और व्यवहार में कुछ सुधार प्रस्तावित किए। उसकी उल्लेखनीय देन निम्नलिखित है—

1. रिचलू ने बताया कि सन्धि दस्तावेज (Treaty) की कला एक स्थाई प्रक्रिया है यह जल्दबाजी में लिया जाने वाला कार्य नहीं है। उक्त राजनय का उद्देश्य अवसरवादी प्रभाव बनाना नहीं है बल्कि मजबूत और स्थाई सम्बन्ध स्थापित करना है। असफल सन्धियाँ दस्तावेजों में निरर्थक नहीं होती क्योंकि उससे अनुभव और ज्ञान बढ़ता है। राजनय कोई तदर्थ प्राकृतिक का कार्य नहीं है बल्कि यह एक निरन्तरतापूर्ण प्रक्रिया है।

2. रिचलू के मतानुसार राज्य का हित प्राथमिक एवं आन्तरिक होता है। यह मन्दन विचारधारा का नैतिक दुराग्रहों से परे है। यदि राष्ट्रीय हितों विरोधी विचारधारा वाले राज्य से सन्धि करने की सलाह मिलती है तो निस्संशय ही जानी चाहिए। संकट के समय

ओं का चुनाव उनकी ईमानदारी या लगाव के आधार पर ही बरतनी चाहिए एवं भौगोलिक स्थानों के आधार पर किया जाना चाहिए।

3 रिचलू का कहना था कि कोई नीति तभी सफल हो सकती है जब उसे राष्ट्रीय या जनमत का समर्थन प्राप्त हो। इसके लिए उसने प्रभावपूर्ण प्रचार व्यवस्था का समर्थन किया और अपनी नीतियों के समर्थन में जनमत प्राप्त करने के लिए छोटे पत्रों पर पत्रिकाएँ छापने का सुझाव दिया।

4 रिचलू ने सन्धियों को पवित्र दस्तावेज मानकर उनके अनुशीलन का समर्थन किया। का कहना था कि सन्धि एक महत्वपूर्ण साधन है अतः इसे करने से पूर्व पूरी सावधानी बतानी चाहिए। एक बार जब सन्धि पर समझौता हस्ताक्षर एवं अनुसमर्थन हो जाए तो का पालन अनिवार्य रूप से किया जाना चाहिए। राजदूतों अथवा सन्धिकर्ताओं को ने निर्देशों से इतर कुछ नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर सम्प्रभु का विश्वास टूटने लगे। सन्धि की पवित्रता नैतिक आधार पर नहीं बरतनी बल्कि व्यावहारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण

5 रिचलू का विचार था कि एक सही राज्य में निरियतता रहनी चाहिए यदि किसी घातके बाद समझौता न हो सके तो विनाश की बात नहीं है किन्तु यदि समझौता पट्ट तथा अनिरियत भाव में हो तो विन्तनीय हो जाएगा। इससे समझौता भंग करने से पहले गलत समझने की सम्भावना बढ़ जाती है। निरियतता के अभाव में सन्धि के पक्षों बीच आदान प्रदान के सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकते तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन केवल राजन और प्रचार के साधन मात्र रह जाते हैं।

6 रिचलू का कहना था कि विदेश नीति का निर्देशन तथा राजदूत का नियन्त्रण एक मन्त्रालय में केन्द्रित होना चाहिए अन्यथा समझौता बर्ताएँ प्रभावहीन सिद्ध होंगी। यदि रदायित्व को विभाजित किया गया तो राजदूत एवं उससे सन्धि बर्ता करने वाला दूसरा भ्रम में पड़ जाएगा।

उक्त दोनों विचारकों की मान्यताओं ने फ्रांसीसी राजनय के आधार को प्रभावित किया। 17वीं और 18वीं शताब्दियों में राजनयिक आधार की दृष्टि से फ्रांस द्वारा स्थापित राजनयिक प्रणाली का यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा अनुसरण किया गया। फ्रांसीसी राजनयिक आधार का प्रथम निम्नलिखित शीर्षकों में किया जा सकता है—

1. लुई 15वें का योगदान फ्रांस के राजा लुई चौदहवें (Louis XIV) के मन्त्रिमण्डल विदेश मन्त्री एक स्थायी सदस्य होता था। इसकी नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी तथा का के प्रासादपर्यन्त ही वह अपने पद पर कार्य करता था। सिद्धान्त रूप से विदेश मन्त्री स में विदेशी राजदूतों का स्वागत करता था तथा विदेशों में फ्रांसीसी राजदूतों को निर्देश देता था। कभी कभी यह कार्य स्वयं राजा ही सम्पन्न कर लेता था तथा विदेशमन्त्री को भी नहीं लगने देता था। पर्याप्त स्वेच्छाकारी होते हुए भी लुई चौदहवें अपने नियुक्त त्रयों के प्रति अनुदार नहीं था। यह धैर्यपूर्वक उनके मतों को सुनता था यहाँ तक कि की आलोचनाओं का भी आदर करता था। विदेशी राजदूतों को सुनने से पहले वह

हनेशा विदेश मन्त्रालय से परामर्श करता था कि उनकी किन बातों को छोड़ना है और किनको मानना है। कभी कभी राजा उत्तरदायी मन्त्री के नाम पर गुप्त समझौता दाताएँ भी कर लेता था।

2. विदेश कार्यालय - विदेशमन्त्री के अधीन एक छोटा विदेश कार्यालय होता था जिसमें कुछ लिपिक कुछ अनुवादक तथा कुछ अन्य अधिकारी होते थे। इनकी नियुक्ति वह व्यक्तिगत रूप से स्वयं करता था और पदविमुक्ति स्वर्गवास या अरुचि के बाद वे पद से हट जाते थे। दियने के सम्मरणों से ज्ञात होता है कि सन् 1961 में फ्राँसीसी विदेश कार्यालय में पौँच अधिकारी थे।

फ्राँस की विदेश सेवा अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक व्यापक थी। सन् 1685 ई. तक फ्राँस ने रोमन बेनिस कान्स्टेनटिनोपाल वियना हेग, लन्दन, मेड्रिड लिस्बन म्यूनिख कोपनहेगन तथा बेरने आदि में अपने स्थायी दूतावास स्थापित कर लिए थे। उसने कुछ राज्यों को अपने विशेष निशान भेजे तथा कहीं-कहीं आवास मन्त्री (Ministers Residents) रखे। तत्कालीन राजनयिकों को इन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है असाधारण राजदूत (Ambassadors Extra-ordinary), साधारण राजदूत (Ambassadors Ordinary), दूत (Envoys) तथा आवासी (Residents)। बाद में साधारण राजदूत होना निन्दनीय समझा जाने लगा और इसलिए सन्नी राजदूतों के साथ असाधारण शब्द जोड़ा जाने लगा। यदि राजदूत अयोग्य अथवा अतिरिक्तीय नहीं होता था तो वह कम से कम तीन या चार वर्ष तक कार्य करता था। यदि राजदूत का प्रेषक अथवा स्वागतकर्ता सन्नमु मर जाता था तो उसे पुनः प्रमाण-पत्र प्राप्त करना होता था। यदि राजदूत अपने पद पर विदेश में होता था और युद्ध घोषित हो जाता था तो वह बड़ी परेशानी में पड़ जाता था। उसके घर वापस लौटने से पूर्व ही उसे लूट लिया जाता था।

3. राजनयिक निर्देश : जब राजदूत अपना पद सम्भालने जाता था तो उसे लिखित निर्देश दिए जाते थे। इन दस्तावेजों को बड़ी सावधानी से तैयार किया जाता था। इसमें न केवल राजदूत द्वारा अपनाई जाने वाली नीति का उल्लेख होता था वरन् स्वागतकर्ता राज्य की राजनीतिक स्थिति का भी पूरा विवरण होता था। इसमें सम्बन्धित राजनीतिज्ञों एवं राजनयिक सामियों की प्रकृति पृष्ठभूमि एवं व्यवसाय की सूचना होती थी। इन निर्देशों को तैयार करने में सम्बन्धित मन्त्री को अधिक परिश्रम करना होता था। समय के साथ-साथ इन निर्देशों के स्वरूप जटिलतर होता गया। सन् 1774 में सिडर बेरन डी ब्रेटाली (Sieur Baron de Breteuil) को असाधारण राजदूत के रूप में दिया जाने वाले समय निर्देशों का जो स्वरूप दिया गया था वह पाँच अलग-अलग अध्यायों में विभाजित है। इसमें पूरी यूरोपीय स्थिति का तथा न केवल आस्ट्रिया के प्रति वरन् प्रत्येक देश के प्रति अपनाई जाने वाली नीति का वर्णन है। इन निर्देशों में उच्च धार्मिक और नैतिक भावनाओं को व्यक्त किया गया है तथा राजदूत को सच्चाई का रास्ता अपनाने को कहा गया था।

4 राजनयिक तौर-तरीके : फ्राँसीसी राजनय में हनेशा उचित तौर-तरीकों पर जोर दिया गया। यहाँ की भाषा ने सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में राजनय की भाषा का रूप ले लिया। राजदूत की नियुक्ति के समय दिए जाने वाले निर्देशों में उसके रहन-सहन के तरीके अग्रत्व एवं रस्म-रिवाजों पर विशेष जोर दिया जाता था। उसमें यह भी बताया

जाता था कि राजदूत को जिस से सम्बन्ध बढ़ाने चाहिए तथा जिससे नहीं। सन् 1772 में जब फ्राँसीसी राजदूत को लन्दन भेजा गया तो उसे यह निर्देश दिया गया कि ब्रिटिश सविधान के अनुसार राजदूतों का विरोधी दल से सम्बन्ध स्थापित करना गलत नहीं माना जाता अतः उसे विरोधी दल वालों से कट कर रहने की आवश्यकता नहीं है।

5 दूतावास के कर्मचारी फ्राँसीसी दूतावास के सभी कर्मचारी राजदूत द्वारा नियुक्त किए जाते थे और वही उनको वेतन देता था। राजदूत के सचिव तथा सहायरी उसके परिवार जनों एवं मित्रों से ही लिए जाते थे तथा वे प्रायः अपने काम में पूर्ण कुशल नहीं होते थे। इससे पर भी राष्ट्रीय सम्मान की दृष्टि से उन पर पर्याप्त धन खर्च किया जाता था। राजदूत के साथ अनेक सहयोगी सेवक सचिव संगीतकार आदि जाते थे। वह अपने साथ फर्नीचर सस्वीरें स्टेट पर्दे आदि सामान भी ले जाता था और वह स्वागतकर्ता राज्य में अपने खर्च से मकान बिराए पर लेता था। आवागमन के उपयुक्त साधन सही न होने के कारण दूर देश में राजदूत की नियुक्ति अधिक सम्मानजनक नहीं मानी जाती थी। इसी टालने के लिए राजा पर अनेक दबाव डाले जाते थे।

6 आर्थिक हितों की अभिवृद्धि फ्राँस के राजदूत का यह एक महत्वपूर्ण कर्तव्य माना जाता था कि अपने देश के व्यापार की वृद्धि के लिए वह अपनी क्षमता के अनुसार प्रत्येक सम्भव प्रयास करे। कुछ चीजों का व्यापार इतना महत्वपूर्ण समझा जाता था कि उनसे सम्बन्धित प्रदेशों को भेजे जाने वाले राजदूतों की नियुक्ति विदेश मन्त्री द्वारा न होकर वित्त एवं व्यापार मन्त्री द्वारा होती थी। फ्राँस छोड़ने से पहले राजदूत चैम्बर ऑफ कॉमर्स से मेंट करते थे तथा उनकी भाँगी और सिफारिशों के प्रति पूरी रुचि प्रदर्शित करते थे। ये राजदूत अपने कार्यों का प्रतिवेदन विदेश मन्त्रालय को 7 भेजकर फ्राँसीसी व्यापार नियन्त्रक को भेजते थे।

7 राजदूतों का स्वागत सत्रहवीं शताब्दी में यह परम्परा प्रचलित नहीं थी कि राजदूत भेजते समय विदेशी राजा या सरकार की पूर्ण स्वीकृति ली जाए। प्रायः किसी को भी अमानक राजदूत बनाकर भेज दिया जाता था। इस प्रकार जब सन् 1685 में सर विलियम ट्रम्बल (Sir William Trumbull) को ब्रिटिश राजदूत बनाकर पेरिस भेजा गया तो लुई 14वें को अच्छा नहीं लगा। इस सम्राट की राजदूत एवं विदेशी साराकों के सम्बन्ध में अपनी पसन्द और नापसन्द थी और तदनुसार ही उनका स्वागत समारोह किया जाता था। स्वागत समारोह का कार्यक्रम पर्याप्त विस्तृत रखा जाता था। कुछ समय तक राजदूत तथा उसके स्टाफ के राजदूतों के लिए निर्मित होटल में ठहराया जाता था तथा सरकारी दीरों के लिए भुगतान किया जाता था। वरसाय (Versailles) में होने वाले दिन प्रतिदिन के समारोहों में विदेशी राजदूत शामिल नहीं होते थे। राजा से उनकी भेंट भी कदाचित् ही हो पाती थी। राजदरबार में भी उनको विशेष सीट नहीं दी जाती थी।

8 गोपनीय विचार विमर्श लुई चौदहवीं सम्मेलनीय राजनय के पक्ष में नहीं था। उसके मतानुसार यह समझौता वार्ता का एक धीमा व्यवसाय जटिल तरीका था। इसके स्थान पर वह विशेषज्ञों के बीच होने वाली गुप्त वार्ता को प्राथमिकता देता था। उसका कहना था कि खुली सम्झौता वार्ताओं में वार्ताकार अपने सम्मान का ध्यान रखते थे तथा अपना गौरव कायम रखना चाहते थे। वे अपने सम्प्रभु के हितों एवं तर्कों का ही ध्यान रखने

क कारण सम्बन्धित सम्बन्ध एव सम्बन्धित नहीं दे पाते थे। लुई चौदहवें का विचार था कि निजी विचार विमर्श के लिये लुई राजा को नहीं दे पाते हैं वे अन्तर्गत ही की सम्बन्धित में नहीं दी जा सकती। यदि अन्तर्गत सम्बन्धों का सम्बन्ध कुछ व्यवहारिक विवेचना के हवा में नहीं दिया जाये तो अनेक अन्तर्गत सम्बन्धों में ही सम्बन्धित नहीं। राजा न परिस की समझ तथा सम्बन्धित सम्बन्धों को स्वयं द्वारा समझ सम्बन्धों प्रकटित एव प्रकटित करने का अधिकार दिया। किन्तु यह अधिकार केवल सम्बन्धित का था। मूल सिद्धान्त यह था कि सम्बन्धित दलों सम्बन्धित गुप्त रहनी चाहिए। सम्बन्धित विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि फ्रांसीसी राजनय के सिद्धान्त में लुई 15^{थे} का सम्बन्धित सम्बन्धित रहा।

9 फ्रांसीसी कैलियर्स (Francois de Callieres) के विचार : कैलियर्स का जन्म मई 1645 में हुआ था। यह लुई 15^{थे} का पुत्र था। इसने राजनयिक गहन के विभिन्न प्रदों पर कार्य कर व्यवहारिक अनुभव प्राप्त किया तथा सम्बन्धितों की क्षमता के सम्बन्ध में अपने सम्बन्धी विचार प्रकट किए। उसके प्रमुख विचार निम्नलिखित थे।

(क) कैलियर्स का मत था कि राजनय का रोचक होता है। इसके सिद्धान्त एक सही राजनय विवेचना पर सम्बन्धित होता है। एक सही दार्शनिक अपने कार्य की मर्यादा के लिए मर्यादित विवेचना का अभाव पूरा नहीं करने वाले दार्शनिकों का सहारा नहीं लेता। कठोरता सम्बन्धित प्रमुखता के मन की सहानुभूति प्रकट करते हैं। इनसे यह सिद्ध होता है कि उस व्यक्ति के पास सम्बन्धित एव विवेचना सम्बन्धों से अपने लक्ष्य प्राप्त करने योग्य बुद्धि नहीं है। सम्बन्धित करने वाले को हमेशा सम्बन्धित और सम्बन्धित का व्यवहार करना चाहिए अर्थात् यह दूसरे पर में विवेचना पैदा नहीं कर सकेगा।

(ख) सम्बन्धित करते समय दूसरे को धमकी नहीं दी जानी चाहिए। एक सही सम्बन्धित यह होती है जिसमें सम्बन्धित पर के सम्बन्धित सिद्धों के बीच सम्बन्धित सम्बन्धित किया जाये। सम्बन्धित सम्बन्धित के लिए सम्बन्धित है क्योंकि वे सदैव सम्बन्धित को सम्बन्धित करते हैं। सम्बन्धित से सम्बन्धित प्राप्त करने का प्रयत्न स्वयं को योग्य देना है।

(ग) कैलियर्स ने राजनय के गुणों का वर्णन किया है। उसके अनुसार एक अच्छे राजनय में सही निर्णय लेने की क्षमता होती चाहिए। यह सम्बन्धित-सम्बन्धित एक अच्छा सम्बन्धित सम्बन्धित कार्य करने वाला तथा सम्बन्धित होने योग्य हो। उसने पर्याप्त सम्बन्धित-निष्कर्षित होने चाहिए। उसे नीलाभा की ओर ध्यान दे देना चाहिए लेकिन किसी को दिल नहीं देना चाहिए। यह सहनी तथा धर्मदत्त होता चाहिए। उसे पुरुष, दारु, सही अर्थ में नहीं योग्य चाहिए उसे कुछ प्रमुख सम्बन्धितों का ज्ञान होना चाहिए तथा सम्बन्धित, विवेचना, निर्णय और कानून का ज्ञान होना चाहिए।

(घ) कैलियर्स ने राजनयियों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। राजनय, दूर सम्बन्धित एव सम्बन्धित।

(ङ) कैलियर्स के अनुसार सम्बन्धित को व्यवहारिक सम्बन्धित क्षेत्र के लिए नहीं एव सम्बन्धित की व्यवस्था करनी चाहिए। दूर सम्बन्धितों को सही सम्बन्धित सम्बन्धितों के सम्बन्धित पर नहीं दान सम्बन्धित के सम्बन्धित पर निर्भर किया जाना चाहिए। सम्बन्धित सम्बन्धितों

को राजनयज्ञ नहीं बनाया चाहिए। सैनिकों को भी राजनयिक सेवा में नहीं लिया जाना चाहिए, क्योंकि उनसे शान्तिप्रिय होने की आशा नहीं की जा सकती। विधि वेत्ता भी राजनयज्ञ के दायित्वों का निर्वाह करने योग्य नहीं होता।

(घ) कैलियर्स ने राजदूत के कार्यों एवं दायित्वों का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। राजदूत को अपने देश की सरकार का पूरा विश्वास प्राप्त होना चाहिए तभी उसका परामर्श मान्य हो सकता है। दूसरे उसे स्वागतकर्ता देश का विश्वास एवं सहानुभूति प्राप्त होनी चाहिए। राजदूत को केवल उस देश के अधिकारियों का सहयोग ही नहीं वरन् वहाँ के सम्पूर्ण सजाज में आदरपूर्ण स्थान प्राप्त होना चाहिए। तीसरे राजदूत को चाहिए कि वह अपने स्वागतकर्ता देश की स्थानीय परिस्थितियों की आलोचना न कर सराहना करे ताकि वहाँ के लोगों में अस्वीयता की भावना का विकास हो। चौथे राजदूत को किसी बड़यन्त्र या गुप्त कार्यवाही में भाग नहीं लेना चाहिए। उसे विरोधी दल के सदस्यों से विशेष सम्पर्क नहीं बनाने चाहिए। पाँचवें उसे स्वागतकर्ता राज्य में स्थित अन्य राज्यों के राजदूतों से सम्पर्क बनाए रखना चाहिए क्योंकि वे भी अपने अपने देश के लिए प्रायः उसके जैसे लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयास करते हैं।

(ङ) कैलियर्स का कहना था कि सामान्यतः एक राजदूत को अपने राज्य की सरकार के सभी निर्देशों और आदेशों का तो पालन करना चाहिए किन्तु उसे ईश्वर अथवा न्याय के नियमों के विरुद्ध किसी आदेश का पालन नहीं करना चाहिए। तदनुसार वह स्वागतकर्ता राज्य के सन्त्रमु की हत्या करने अथवा क्रान्तिकारियों की रसार्थ अपनी उन्मुक्तियों का प्रयोग करने से मना कर सकता है। कैलियर्स के विचारों का राजनय के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। उसकी अनेक मान्यताएँ आज भी महत्व रखती हैं। इन मान्यताओं की महत्वपूर्ण कमी अथवा भूल यह थी कि इनमें शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त अथवा व्यवहार को कोई मान्यता नहीं दी गई थी।

स्पष्ट है कि प्रौसीसी राजनय के पीछे एक लम्बी परम्परा है इस राजनय की मुख्य प्रवृत्तियों में नैतिकता की प्रधानता, राजनय में सगठन और परम्पराओं को स्थान देना राजदूतों की उन्मुक्तियाँ और विशेषाधिकार तथा सधि सम्पादित करने के गुणों का समावेश पाया जाता है।

राजनयिक आधार का भारतीय तरीका (Indian Method of Diplomatic Practice)

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में राजनय की प्रकृति सन्ध सगठन सीमा व्यवहार आदि के सम्बन्ध में बिखरे हुए किन्तु उन्नत विचार उपलब्ध होते हैं। मनुस्मृति में कहा गया है कि नीति कुराल राजा को उन सब तरीकों का प्रयोग करना चाहिए जिनसे शत्रु मित्र एवं उदासीन राज्य अधिक बलवान न होने पाएँ। कौटिल्य के अर्थशास्त्र महामारत के शान्तिपर्व एवं अन्य दूसरे ग्रन्थों में इन कूटनीति साधनों का उल्लेख है। वैसे तो इस बात पर जोर दिया गया था कि मित्रो उदासीन एवं मध्यम राज्यों को अपने पक्ष में बनाए रखने के लिए हर सम्भव प्रयास किया जाए किन्तु कूटनीतिक व्यवहार मुख्य रूप से शत्रुओं के साथ प्रयुक्त करने के लिए ही था। कूटनीति उपायों के वर्णन का अपना महत्व था। धार्मिक नियमों की

जो मर्यादाएँ राज्यों के पारस्परिक व्यवहार पर लगाई गई थीं उनका पालन केवल धर्ममीरु राजाओं द्वारा ही किया जाता था। दुष्ट प्रकृति का अधार्मिक राजा तो किसी प्रकार का रतिबन्ध मानता ही नहीं था। ऐसी स्थिति में धार्मिक नियन्त्रण धर्मशील राजाओं को हानि की स्थिति में रख देते थे। अतः यह कहा गया कि ऐसे राजा से सघर्ष करते समय किसी हार का धार्मिक नियन्त्रण न माना जाए।

धार्मिक राजा को भी कूटनीतिक उपायों का प्रयोग इस प्रकार करने के लिए कहा गया कि अधर्मी राजा को नियन्त्रण में लाया जा सके। यह सिद्धान्त आचार्यों के व्यावहारिक दृष्टिकोण का प्रतीक है। शत्रु विजय की लालसा एवं चक्रवर्ती सम्राट बनने की महत्वाकांक्षा के पीछे किसे यह होश रहता है कि वह धार्मिक नियमों का पालन करे। इतने पर भी यह कहा गया कि कूटनीतिक उपायों का प्रयोग परिस्थिति के अनुसार किया जाए। इनको केवल राजाओं के साथ ही प्रयुक्त किया जाए प्रजा के प्रति नहीं। प्रजा के साथ तो सदैव ही धर्मपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। बताए गए कूटनीति साधन दिखने में तो अधार्मिक एवं अनैतिक लगते थे किन्तु अपने उद्देश्य के आधार पर वे उचित ठहराए जा सकते थे। महामारत में भीष्म के अनुसार धर्म केवल वही नहीं है जो श्रुतियों या स्मृतियों में कहा गया है वरन् सज्जन लोगों की बुद्धि भी अनेक बार धर्म का निर्णय करती है। विजयामिलापी राजा को भी समय की आवश्यकता एवं परिस्थितियों की मजबूरी को देखते हुए निर्णय लेना चाहिए। राजा का जन्म दूसरों का हित साधन करने के लिए हुआ है, इसलिए उसको भीषण कार्य करने होते हैं क्योंकि अवध्य का वध करने में दोष है किन्तु वध्य का वध न करने में भी दोष होता है।

प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति की यह एक मुख्य मान्यता थी कि आक्रमण करने के लिए यथासाध्य युद्ध का सहारा नहीं लेना चाहिए। जब साम, दाम दण्ड आदि नीति के सभी रूप असफल हो जाएँ तो अन्तिम उपाय के रूप में विदेश होकर युद्ध को अपनाना चाहिए।

वार्ता दबाव समझौता एवं युद्ध की घमकी कूटनीति के मुख्य तत्व थे। कूटनीति व्यवहार में कुशल राजा को पृथ्वी का विजेता माना गया था। विजिगीषु कूटनीतिक व्यवहार का केन्द्र था। यह पुरोहित द्वारा अनुशासित किया जाता था। उसमें छ गुणों का होना अनिवार्य माना गया था। ये थे—भाषण की कुशलता, साधनों का तत्काल प्रबन्ध करना बुद्धिमत्ता स्मरण शक्ति राजनीतिक एवं नैतिक आधरण का ज्ञान। विजिगीषु अपने शत्रु को समाप्त करने के लिए साठ साधन अपनाता था जैसे—जादू, दबाव, भेंट आदि।

आचार्यों ने जिस मण्डल-व्यवस्था की स्थापना की थी उसका केन्द्र-दिन्दु भी स्वयं विजिगीषु ही था। वह अविराज्य मध्यम राज्य एवं उदासीन राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का रूप निश्चित करता था। वह अपनी मत्र शक्ति उत्साह शक्ति एवं प्रभु-शक्ति के माध्यम से बुद्धि कोष और साहस का सहारा लेकर रत्यात्मक क्रिया सम्पन्न करता था। विजिगीषु की यह प्रमुख समस्या थी कि मण्डल के सदस्यों को कैसे अपने अधिक से अधिक हित में किया जाए। साम दाम दण्ड और भेद की नीति अपनाकर विजिगीषु मण्डल के सभी सदस्यों को अपने प्रभाव में कर लेता था। सामान्य रूप से विजय सम्भव न होने के कारण स्वामी को सन्धि करनी पड़ती थी अथवा तटस्थता की नीति अपनानी होती थी। वह

बाह्यगुण्य को अपना कर व्यवहार सम्मिलित करता था। ये तत्कालीन कूटनीति का एक महत्वपूर्ण अंग थे। कौटिल्य ने युद्ध को एक बुराई मानते हुए स्वामी को प्रत्येक ऐसी नीति अपनाने को कहा जो मण्डल की एकता एवं समरूपता को बढ़ावा दे सके। सन्धि एवं आश्रम की नीति केवल अच्छे राजाओं के साथ अपनानी चाहिए और उसे यथासम्भव बनाए रखा जाना चाहिए। शान्ति वार्ता बराबर वार्ता से या अपने से उच्च से करनी चाहिए।

कौटिल्य ने कूटनीति एवं रणकौशल पर विचार करने वाले के रूप में सशस्त्र सघर्ष की अपेक्षा कूटनीतिक सम्राज्य को अधिक महत्व दिया। युद्ध घोषित हो जाने के बाद भी खुले सघर्ष की अपेक्षा कूटनीतिक प्रयासों से ही यदि विजय प्राप्त हो जाए तो अच्छा है। कौटिल्य की आसन्न या तटस्थता की मान्यता विश्व राजनीति के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण देन है। उदासीन राज्य तो स्थायी रूप से तटस्थ रहते थे। इतने पर भी मण्डल में उनका स्थान एवं महत्व था। उपेक्षासन्न की मान्यता द्वारा यह बताया गया कि एक राज्य बिना किसी का मित्र अथवा शत्रु बने ही मध्यम सम्बन्ध विकसित कर सकता था।

कौटिल्य की कूटनीति में उपायों के माध्यम में बाह्यगुण्य की क्रियान्विति भी अपना महत्व रखती है। उपायों में माया तथा इन्द्रजाल को कूटनीतिक व्यवहार का निम्न तत्व माना गया है तथा उसे अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता एवं कूटनीति के सिद्धान्तों में स्थान नहीं दिया गया है। कूटनीतिक व्यवहार में उपेक्षा का प्रयोग आधुनिक काल में भी अपना महत्व रखता है। कौटिल्य ने बताया है कि कमजोर राष्ट्र जो शक्ति राज्य के साथ खुला युद्ध नहीं कर सकते अपने पड़ोसियों के प्रति पूर्ण उदासीनता का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। यह आत्मरक्षा के लिए आवश्यक है। उसी प्रकार यह बराबर की अथवा उच्चतर शक्तियों के बीच शत्रुता के दाताकरण को कम करने में भी सहयोगी है।

प्राचीन भारत में कूटनीतिक सम्बन्धों का रूप अत्यन्त जटिल था। उस समय समझौता वार्ताएँ बहुत अधिक हुआ करती थीं। यही कारण है कि कूटनीतिक प्रतिनिधियों सदेशवाहकों तथा गुप्तघरों को पर्याप्त महत्व दिया गया। वे कूटनीतिक व्यवहार के अविभाज्य एवं नियमित अंग बन गए। कूटनीतिक अधिकारी को अपने स्वामी के हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए दूसरे राजा के दरबार में नियुक्त किया जाता था। वह प्रकाश दूत होता था और इस प्रकार और गुप्त दूतों से मित्र होता था जो कि गुप्त एजेण्ट होते थे। प्रकाश दूत का कार्य था युद्ध घोषणा को प्रसारित करना मित्र बनाना तथा राज्य के अधिकारियों एवं प्रजा के बीच मैद झालना। राजदूत तीन प्रकार के होते थे निःसुस्तार्थ परमितार्थ और शासनहर।

गुप्तघर कूटनीतिक अधिकारी के नियन्त्रण में रहते थे और अपनी गतिविधियों के लिए उसी के प्रति उत्तरदायी थे। गुप्त पुरुष का मुख्य कार्य शत्रु प्रदेश से महत्वपूर्ण सूचना एकत्रित करना तथा उसे अपने देश की सरकार के पास भेजना था। दूत को हथ की तरह तीव्र और सूर्य की तरह शक्तिशाली होना था। कौटिल्य ने गुप्तघरों के जो 9 भेद किए हैं उनसे यह स्पष्ट होता है कि उस काल में कूटनीति का क्या प्रभाव था। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में इनका महत्वपूर्ण स्थान था यहाँ तक कि थल सेना एवं जल सेना भी इनकी जीघ से बाहर नहीं रहती थी। सेना के विभिन्न विभागों एवं अधिकारियों के प्रत्येक कार्य पर सूक्ष्म दृष्टि रखी जाती थी। मण्डल को शुद्ध रखने के लिए यह सब किया जाना आवश्यक था।

विरोधी तथा शत्रु पक्ष के गुप्तचरों द्वारा मण्डल को अशुद्ध बनाया जा सकता था। राजनीति का सारा खेल आस पास के राज्यों के बीच शक्ति सन्तुलन की स्थापना करने के लिए था। इसके लिए आन्तरिक जागरूकता आवश्यक थी। एक ऐसे राज्य से भी आक्रमण की आशा की जा सकती थी जो कि कल्पना के बाहर था। कामन्दक ने मण्डल की तुलना एक चक्र से की है जिसकी घुरी विजीगीषु होता है। अन्य राज्य इसके बाहर का पहिया तथा उसे मिलाने वाली ताड़ियाँ होते हैं। यदि घुरी मजबूत है तो वह गति के समय ताड़ियाँ एवं पहिए को यथास्थान रख सकेगी। घुरी में किसी प्रकार की कमजोरी पूरे चक्र के लिए खतरनाक हो सकती है। विजीगीषु का यह कर्त्तव्य था कि वह अपने मण्डल के चक्र को युद्ध एवं विनाश से अछुता रखे। इसके लिए उसे लालच, अविवेक एवं अनौचित्य से दूर रहने को कहा गया है।

भारतीय राजनय के साधन (The Means of Indian Diplomacy)

भारत के प्राचीन ग्रन्थों में राजनय के साधनों का विवेचन किया गया है। वे इनको उपाय की सज्ञा देते हैं। इन उपायों के उचित प्रयोग से राजा को सिद्धि प्राप्त होती है। मनु के कथनानुसार विजय के अमिताषी राजा को अपने पड़ोसियों को साम आदि उपायों द्वारा बरा में करना चाहिए। भारतीय आचार्यों ने इन उपायों के महत्व का साहित्यिक भाषा में उल्लेख किया है। शुक्र ने लिखा है कि "लोहा अति कठोर होता है किन्तु उपाय से वह भी पिघल जाता है। लोक में प्रसिद्ध है कि पानी अग्नि को बुझा देता है किन्तु यदि उपाय से काम लिया जाए तो अग्नि समस्त जल को सुखा देती है। मदन्यत हाथियों के सिर पर भी उपाय द्वारा पैर रखा जा सकता है।"¹

अधिकारों विचारकों ने इन उपायों की संख्या चार मानी है। ये हैं—साम, दाम, दण्ड और भेद। कामन्दक ने इनके अतिरिक्त तीन अन्य उपायों (माया, उपेक्षा और इन्द्रजाल) का भी उल्लेख किया है। राजनय के इन उपायों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित रूप से है—

1 साम : शत्रु अथवा मित्र के हुए मित्र को समझा-बुझा कर बरा में करना साम उपाय कहलाता है। कामन्दक ने साम उपाय के पाँच भेद बताए हैं—

(i) पारस्परिक उपकारों का वर्णन (ii) पारस्परिक गुण-कर्म की प्रशंसा (iii) पारस्परिक सम्बन्ध का आख्यान (iv) भविष्य के कार्यों पर प्रकाश तथा (v) मनोहर, मीठी तथा हितकारी वाणी में यह कहते हुए कि "मैं तुम्हारा हूँ", आत्मसमर्पण। साम उपाय को अपनाने वाले राज्य द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली भाषा के सम्बन्ध में कामन्दक ने लिखा है कि "जिस वाणी से दूसरे को उद्द्वेग न हो वह सामवाणी कहलाती है। यह सरल, सत्य एवं प्रिय होती है।" राजाओं को क्यासम्भव इस उपाय का अनुसरण करना चाहिए। कौटिल्य के मतानुसार दुर्बल राजाओं को समझा-बुझा कर प्रसन्न रखना चाहिए।

2. दाम : इसे दान भी कहा जाता है। शत्रु अथवा मित्र के हुए मित्र को शान्त करने के लिए आश्वासनपूर्ण वचन भूमि धन धान्य आदि के दान का आश्रय लिया जाना दाम उपाय कहलाता है। राजनय का मूलमूल नियम आदान प्रदान है। यदि एक राज्य अन्य

राज्य से कुछ पाना चाहता है तो उसे स्वयं भी कुछ देने के लिए तैयार रहना चाहिए। यही समझौते का आधार है। कामन्दक ने इस उपाय के पाँच भेदों का उल्लेख किया है—(i) शत्रु अथवा नाराज मित्र का जो धन धान्य या द्रव्य देय (Duc) है उसे ज्यों का त्यों लौटा देना, (ii) अपना जो धन धान्य अथवा भूमि आदि शत्रु के अधिकार में पहुँच गई है उसे उसी के पास छोड़ देना (iii) स्वयं द्वारा स्वेच्छा से अन्य राज्य को भूमि आदि दान करना (iv) शत्रु राज्य से स्वयं धन-धान्य भूमि आदि प्राप्त करना तथा (v) शत्रु से लूट में प्राप्त हुए प्रदेश या सम्पत्ति को छोड़ देना। दाम उपाय के इन भेदों को कौटिल्य ने भी स्वीकार किया है।

3 भेद जिस समय द्वारा शत्रु अथवा मित्र राजा में भेद या फूट उत्पन्न हो जाए उसे भेद उपाय कहते हैं। इसके द्वारा एक राज्य अपने विरोधियों में फूट डाल कर उनकी शक्ति को कमजोर बनाता है। कामन्दक के मतानुसार भेद उपाय तीन प्रकार का है—(i) शत्रु के स्नेहियों एवं समर्थकों में फूट उत्पन्न करना (ii) शत्रु के मन्त्री सेनाध्यक्ष समर्थक एवं अन्य उच्च पदाधिकारियों में परस्पर घृष्टतापूर्ण व्यवहार को प्रोत्साहन देना ताकि उनके बीच भेद पैदा हो जाए (iii) घमकियाँ देकर शत्रु एवं उसके सहायकों के दिलों में भय उत्पन्न करना।

भेद नीति जिन व्यक्तियों पर अपनाई जानी चाहिए उनके लक्षणों को भी कामन्दक ने प्रस्तुत किया है। उसके मतानुसार चार प्रकार के पुरुष भेद योग्य होते हैं—वे जिनको उनकी दी गई वस्तु का मूल्य नहीं मिला है वे जो लौनी मानी तथा तिरस्कृत हैं, वे जो किसी कारणवश नाराज या क्रोधी हैं तथा वे जो यह कहते हैं कि तुम्हारे कारण मेरा काम बिगड़ गया। ऐसे पुरुषों पर भेद का प्रयोग शत्रु को अपन कर देता है।

राज्य के उक्त तीनों साधनों का आवश्यकता एवं परिस्थिति के अनुसार प्रयोग किया जाना चाहिए। भारतीय आचार्यों ने चौथे उपाय दण्ड को मजबूती में अपनाने के लिए कहा है। मनु के कथनानुसार यदि शत्रु प्रथम तीन उपायों द्वारा वश में न आए तो दण्ड द्वारा उसका दमन करना चाहिए। इस प्रकार दण्ड का प्रयोग विवशता का परिणाम है।

4 दण्ड शत्रु द्वारा किये गए अपकार के हेतु उसे दण्डित करने के साधनों को अपनाना दण्डोपाय है। कामन्दक ने दण्ड के तीन भेद बताए हैं—शत्रु का वध कर देना उसका धन हर लेना तथा शारीरिक कष्ट देना। कौटिल्य ने माना है कि जो राजा दुर्बल है उनको समझा-बुझा कर और कुछ देकर अपने अनुकूल बना लेना चाहिए तथा जो राजा सबल हो उनको दण्ड उपायों से वश में करना चाहिए। मनु के कथनानुसार “जिस प्रकार कृषक धान्यों की रक्षा हेतु निराई करता है उसी प्रकार राजा को धर्म-विरुद्ध आचरण करने वालों का दण्ड द्वारा दमन करना चाहिए।”¹

दण्ड का प्रयोग प्रकट एवं अप्रकट दो रूपों में किया जा सकता है। कामन्दक के मतानुसार प्रजाद्वेषी एवं शत्रुओं पर प्रकट रूप से दण्ड का प्रयोग करना चाहिए किन्तु जिनको दण्डित करने से प्रजा के उत्तेजित होने की आशंका हो या जो दण्डनीय व्यक्ति राजा के निकटवर्ती हों उनको अप्रकट दण्ड दिया जाना चाहिए। इस प्रकार के दण्ड में विष तथा विशेष प्रकार के लेपन आदि का प्रयोग किया जाता था।

5. माया - राजनय का एक अन्य सधन माया है। इसके अनुसार इच्छानुसार रूप धारण करने शस्त्रास्त्र अथवा जल की वर्षा करने अन्यकार में लीन होने की नीति अपनाई जाती है। इनको कामन्दक ने मानुषी माया के नाम से सम्बोधित किया है। वे इसे उपयुक्त अवसर पर शत्रु के नाश के लिए उचित मानते हैं।

6. उपेक्षा - दूसरे राज्य द्वारा अपकार किए जाने पर भी विशेष परिस्थिति में उसकी ओर से अँख बन्द कर लेना तथा मौन रहना कामन्दक के अनुसार उपेक्षा का उपाय करना है। उसके मतानुसार उपेक्षा की तीन भेद होते हैं—(i) अन्याय की उपेक्षा करना (ii) व्यसन की उपेक्षा तथा (iii) युद्ध में प्रवृत्त होने वाले का निवारण न करना।

7. इन्द्रजाल : शत्रु को भयभीत करने के लिए जिन उपायों को अपनाया जाता है उन्हें भारतीय आचार्यों ने इन्द्रजाल कहा है। उदाहरण के लिए मेघ, अन्यकार, दृष्टि, अग्नि, पर्वत तथा अद्भुत दर्शन एवं ध्वजा पताका से युक्त दूरस्थ सेना का दर्शन आदि कार्य। इन सभी उपायों के आत्मस्मरण द्वारा शत्रु आतंकित होता है और भयभीत होकर सम्बन्धित राज्य की शर्तों के आगे झुक जाता है।

भारतीय आचार्यों ने राजनय के उपयुक्त साधनों को शत्रु की सेना अथवा विद्रोहियों में आवश्यकतानुसार प्रयोग करने का परामर्श दिया है। इन उपायों का आश्रय लिए बिना युद्ध का मार्ग अपनाने की चेष्टा अन्य पुरुष के कार्य जैसी मानी गई है।

भारतीय राजनय का प्रभाव (The Effect of Indian Diplomacy)

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के अदलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि सज्जनय की प्रक्रिया एवं व्यवहार के अनेक सिद्धान्त भारतीय मनीषियों द्वारा प्रतिपादित किये गए हैं। राजनयिक दूतों का उल्लेख प्राचीनतम धर्मशास्त्र मनुस्मृति में मिलता है। तदनुसार “राजदूत की निपुणता राजा द्वारा की जाए, सेना का नियन्त्रण सेनापति करे तथा प्रजा का नियन्त्रण सेना करे। राज्य की सरकार पर राजा का नियन्त्रण रहे तथा युद्ध एवं शान्ति का निर्णय राजदूत के द्वारा किया जाए।”¹ रामायण में राजनयिक दूतों की निपुणता के दो उदाहरण मिलते हैं—

(क) श्री हनुमानजी सीताजी की खोज करने के लिए राजदूत बनकर रावण के दरबार में उपस्थित हुए।² उन्होंने अशोक दण्डिका के दूतों को लोढ़-फोड़ कर सार्दजनिक सम्पत्ति को हानि पहुँचाई थी अतः रावण उनका दण्ड करना चाहता था, किन्तु विनीषण ने उसे यह सुझाव दिया कि अपराधी होने पर भी दूत को नहीं मारना चाहिए। (ख) एक अन्य अवसर पर अगस्त्य को दूत बनकर रावण के दरबार में भेजा गया था। राक्षस रावण के विरुद्ध अशुभ रूप से युद्ध की घोषणा करने से पूर्व शान्ति-समझौते की सम्पादन का पता लगाया जा सके। महानगर में युद्ध प्रारम्भ होने से पहले पाण्डवों की ओर से श्रीकृष्ण दुर्योधन के दरबार में दूत बनकर गए थे। उनका लक्ष्य शान्तिपूर्ण समझौते के लिए दावत करना था। वहीं जब कृष्ण पर अघात करने की योजना बनाई गई तो विदुर ने कहा कि दूत अनित्यव्रम्य

1. मनुस्मृति, VII, 65

2. “राजदूत बहुलित बलवन्तः, ब्रज्यैश्च पवन सुदृक्काः” — श्री हनुमत्सुत

होता है। धर्मग्रन्थों के ये उदाहरण चाहे ऐतिहासिक सत्यता न रखते हों किन्तु यह तो सिद्ध करते हैं कि प्राचीन भारत में तदर्थ राजनयिक दूत भेजने की परम्परा थी।

मौर्यकाल में राजनय के सिद्धांत और व्यवहार की प्रगति अपने घरम स्तर पर पहुँच गई थी। तीसरी शताब्दी ईसवी में सीरिया के सैल्यूकस निकेटर ने मैगस्थनीज को दूत बनाकर चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में भेजा था। चन्द्रगुप्त के शासनकाल में कौटिल्य (माणक्य) ने राजनय के अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ अर्थशास्त्र की रचना की। इसके प्रथम भाग के सोलहवें अध्याय में कौटिल्य ने राजनयिक दूतों की संस्था पर विचार किया है। अर्थशास्त्र के अनुसार राजनयिक दूतों का चार भागों में वर्गीकरण किया जा सकता है—दूत निसृष्टार्थ परिमितार्थ एवं शासनदर। इन सभी प्रकार के दूतों के स्वभाव, कर्म, अधिकार एवं योग्यताओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। कौटिल्य ने दूतों को राजा का मुख कहा है क्योंकि वह इनके माध्यम से अपनी बात अन्य राजाओं तक पहुँचा सकता है और उनकी बात सुन सकता है।

अग्नि पुराण (धीमी शताब्दी) एवं वाक्यामृत (दसवीं शताब्दी) में राजनयिक प्रतिनिधियों का उल्लेख किया गया है। यहाँ इनको केवल बाद वाले तीन भागों में ही विभाजित किया गया है। भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि बौद्ध काल में राजनयिक प्रतिनिधि भेजे जाते थे। सम्राट् अशोक के समय भारत के लंका सीरिया मिश्र आदि देशों के साथ राजनयिक सम्बन्ध थे। सातवीं शताब्दी के पुलकेशिन द्वितीय तथा पर्सिया के शाह के बीच राजनयिक सम्बन्ध थे। धानेश्वर के राजा हर्षवर्धन और चीन के शाही दरबार के बीच राजनयिक सम्पर्क था। उस काल के भारतीय राजनयिक दूसरे राज्यों के सन्धि-वार्ता एवं पत्र-व्यवहार करते समय गूढ़ लेख अथवा गुप्त भाषा का प्रयोग करते थे।

भारत के ऐतिहासिक एवं धार्मिक ग्रन्थों से यह प्रमाणित होता है कि उस काल में राजनयिक प्रतिनिधियों को कुछ उन्मुक्तियाँ एवं विशेष अधिकार प्राप्त थे। उन्हें अतिक्रम्य माना जाता था। इनका प्रत्येक उल्लंघन गम्भीर परिणामों एवं मनमुटाव का कारण बन जाता था। रामायण में अपराधी दूत को भी अवध्य कहा गया है। महामारत में उल्लेख है कि “राजा को किसी भी परिस्थिति में राजनयज्ञ को नहीं मारना चाहिए। जो राजा राजनयज्ञ का वध करता है वह अपने मन्त्रियों सहित नरक का भागी होता है।” नीति-वाक्यामृत तथा नीति-प्रकाश में यह उल्लेख है कि दूत को गम्भीर अपराध करने पर भी मारा नहीं जाना चाहिए। कौटिल्य ने भी ब्राह्मण दूत को अवध्य माना है। इस प्रकार दूतों की अवध्यता प्राचीन भारत में मान्य थी। इनके दूसरे विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ कालान्तर में विकसित हुए।

राजदूत की योग्यताओं के सम्बन्ध में मनु का कथन था कि राजदूत स्वामिमत ईमानदार, चतुर अच्छी स्मृति वाला सुन्दर निष्ठ तथा समय और स्थान का महत्व जानने वाला होना चाहिए। महामारत के भीष्म ने राजनयिक दूत की सात योग्यताओं का उल्लेख किया है यथा—उध्व-कुल अच्छा परिवार श्रेष्ठ व्याख्याता, चतुर निष्ठ-भाषी स्वामिमत एवं अच्छी स्मृति वाला।

राज्यों के मध्य होने वाली संधियों के बारे में मनु का कहना था कि केवल दूत ही संधियों करने और तोड़ने का अधिकार रखता है। कौटिल्य का कहना था कि यदि राजा अपनी राजधानी को सुरक्षित रखना चाहता है तो उसे गुप्तधर जासूस एवं बह्यन्त्रकारी रखने चाहिए। विवादों को सुलझाने के लिए युद्ध के अतिरिक्त शान्तिपूर्ण उपाय भी अपनाने चाहते थे। कौटिल्य ने राजदूतों में छ प्रकार की नीतियों का उल्लेख किया है यथा—सन्धि विग्रह आसन, दान, सस्त्रय और एक के साथ शान्ति तथा दूसरे के साथ युद्ध। कौटिल्य ने 'सन्धि' को राजाओं के मध्य पारस्परिक विश्वास के लिए उपयुक्त माना है। सन्धि में पवित्रता होती है। सन्धि की शर्तें मनने की बाध्यता के लिए सम्बन्धित पक्षों को शपथ दिलाई जाती है। स्पष्ट है कि भारतीय प्रशासकों एवं विचारकों ने राजनय के कलेक्टर को बढाने में महत्वपूर्ण योगदान किया है। उस काल में आधुनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन हो चुका था।

भारतीय राजनय का व्यावहारिक रूप (The Practical Form of Indian Diplomacy)

भारत में राजनयिक विचार केवल सैद्धांतिक साहित्य में परिमित रह कर ही पाटकों का मनोरंजन नहीं करते रहे बल्कि उनका व्यावहारिक राजनीति पर प्रभाव रहा। कौटिल्य ने राजनय द्वारा ही चन्द्रगुप्त को भारत का चक्रवर्ती सम्राट बनाया। महाकवि विशाखदत्त का नाटक 'मुद्रा राक्षस' इसी कथानक पर आधारित है। इसमें राजनयिक कूटनीतिक एवं राजनीतिक दृष्टि पर सन्निहित प्रकाश डाला गया है। कल्हा द्वारा रचित 'राजतरंगिणी' इस तथ्य का प्रमाण है कि प्राचीन भारत के शासक निम्नलिखित रूप में तथा विभिन्न अवसरों पर विदेशों में दूतों की नियुक्ति किया करते थे।

मुगल शासनकाल में राजनयिक आधार को तब अपनाया जाता था जब देश में सामान्य शक्ति वाले दूसरे राज्य भी होते थे। देशाध्यक्षी पक्षधर राज्य स्थापित हो जाने पर राजनयिक आधार की आवश्यकता नहीं रहती थी। इस काल में दूसरे राज्यों से दूतों के आने जाने के कुछ सदाहरण मिलते हैं।

मुगल शासन के पतन के समय भारत छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त हो गया तथा यहाँ अंग्रेज, फ्रांसीसी और पुर्तगाली आदि अपने-पैर-जमाने लगे। इस काल के भारत में भी हमें राजनयिक व्यवहार के प्रमाण प्राप्त होते हैं। तब भारत भूमि पर मराठा, सिक्ख, मुगल सम्राट नदब दलौर, अदय दक्षिण की मुसलमान सल्तनतें, अंग्रेज फ्रांसीसी आदि ने राजनयिक शतरंज की चलें चलने में अपने बुद्धि वस्तुओं का उपयोग किया था। कुछ राजनयिक प्रतिनिधियों में बलोजीराम, मन्ना फडनवीस, हैदरअली टीपू सुल्तान, रानीलक्ष्मीबाई आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

सिक्खों की राजनीति में कूटनीति के दर्शन तो होते हैं किन्तु राजनय के नहीं होते। बार-बार मैत्री, सन्धियाँ, सम्झौतें करते करते उनके देशों, या उनके दिग्गज व्यक्तियों पर हमला हुआ, लूटने की आदत बन चुकी थी। ईश्वर को सही मानकर ही कई संधियों को भी हल्के ढंग की तरह तोड़ दिया जाता था। सिक्ख इतिहास में सन्धि दस्तावेजों के लिए राजनयिक प्रतिनिधि (या दक्खील) भेजने तथा बुलाने के अनेक सदाहरण मिलते हैं।¹ सन् 1783 ई

मे सिक्खों ने दिल्ली पर आक्रमण किया तथा सम्राट से तीन लाख रुपए ऐंठ लिए और अपने हितों की रक्षा के लिए अपने वकील लखपतराय को छोड़ गए ।

मराठा इतिहास मे उच्च रणकौशल के साथ-साथ राजनयिक पटुता के भी दर्शन होते हैं । छत्रपति वीर शिवाजी स्वयं राजनय के पण्डित थे तथा अपने जीवन के अनेक प्रसंगों मे उन्होंने अपनी इस योग्यता का परिचय दिया । देश के प्राय सभी शासकों के यहाँ मराठा शासकों के प्रतिनिधियों का आदान प्रदान होता था । सन् 1730 में सम्राट के प्रतिनिधि जयसिंह ने जब मराठों से शान्ति सन्धि का प्रयास किया तो छत्रपति शाहू ने दादा भीमरोन को अपना राजनयिक दूत बनाकर भेजा । ब्राह्मण राजनयज्ञ रामदास पत का नाम मराठा इतिहास में विशेष स्थान रखता है । इस काल में 1759, 1767 तथा 1772 में अंग्रेजों ने पूना मे अपने राजदूत भेजे ।

महादजी सिन्धिया एक कुशल राजनयज्ञ था । उसे मुगल सम्राट ने पेशवा के प्रतिनिधि की हैसियत से वकील-ए मुतलक अथवा पूर्ण अधिकार प्राप्त अम्बस्य नियुक्त किया । महादजी ने बड़ी कुशलता एवं शान्तिपूर्ण कार्य किया । उसके सहयोगी दूतों में हगले मल्हार तथा अम्बाजी के नाम उल्लेखनीय हैं । इस प्रकार भारतीय इतिहास में कुशल राजनयज्ञों की कमी नहीं रही किन्तु उनको पारस्परिक वैमनस्य भूट देशद्रोह व्यक्तिगत स्वार्थ एवं विलासिता के कारण चौंछनीय सफलता प्राप्त नहीं हो सकी ।

राजनय के रूप

प्रजातन्त्रात्मक राजनय, संसदीय राजनय, शिखर राजनय, सम्मेलनीय राजनय, व्यक्तिगत राजनय तथा सहमिलन राजनय, आधुनिक विश्व में उनका प्रभाव और सीमाएँ—पुराना राजनय—पुराने का नए की ओर परिवर्तन, नया राजनय, नई तकनीकें तथा राजनय में आधुनिक विकास (Types of Diplomacy—Democratic Diplomacy, Parliamentary Diplomacy, Summit Diplomacy, Conference Diplomacy, Personal Diplomacy and Coalition Diplomacy, Their Potentialities and Limits in the Modern World—Old Diplomacy, Transition from Old to the New, New Diplomacy, New Techniques and Recent Developments in Diplomacy)

राजनय का प्रयोग किसके द्वारा किया जा रहा है, किस दिधि से किया जा रहा है उसका लक्ष्य क्या है उसका क्या स्वरूप है तथा उसके परिणाम क्या हो सकते हैं, आदि महत्वपूर्ण बातों के अन्तर के कारण राजनय को अनेक रूपों में विभजित किया जाता है कुछ प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं—

1. पुराना राजनय (Old Diplomacy)
2. नया राजनय (New Diplomacy)
3. प्रजातन्त्रात्मक राजनय (Democratic Diplomacy)
4. संसदीय राजनय (Parliamentary Diplomacy)
5. शिखर राजनय (Summit Diplomacy)
6. सम्मेलनीय राजनय (Conference Diplomacy)
7. व्यक्तिगत राजनय (Personal Diplomacy)
8. सर्वधिकारवादी राजनय (Totalitarian Diplomacy)
9. खुला राजनय बनाम गुप्त राजनय (Open Diplomacy v/s Secret Diplomacy)
10. दूकानदार जैसा राजनय बनाम वैदिक राजनय (Shopkeeper Diplomacy v/s Warrior Diplomacy)
11. प्रचार द्वारा राजनय (Diplomacy by Propaganda)
12. सहमिलन राजनय (Coalition Diplomacy)
13. कुछ अन्य रूप (Some other forms) जैसे—सांस्कृतिक राजनय (Cultural Diplomacy), युद्धपोत राजनय (Gunboat Diplomacy), सहायता का राजनय (Aid Diplomacy) ।

राजनय के विभिन्न रूपों में परस्पर कोई सम्बन्ध न हो ऐसी बात नहीं है। यद्यपि इनमें से कुछ तो एक-दूसरे की विरोधी प्रवृत्ति के हैं फिर भी यह सम्भव है कि देश के राजनय में इनमें से कुछ रूप एक साथ प्राप्त हो सकें। उदाहरण के लिए एक राजनय प्रजातन्त्रात्मक होने के साथ साथ प्रचार का खुले सम्मेलनों का एवं दूकानदार जैसा भी हो सकता है। इस दृष्टि में यदि राजनय के उपर्युक्त विभिन्न अन्तारों को अन्तर की सझा न देकर केवल राजनय की विशेषताएँ वहाँ तो भी अनुचित न होगा।

प्रजातन्त्रात्मक राजनय (Democratic Diplomacy)

अर्थ एवं विकास (Meaning and Evolution)

प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा के विकास के साथ साथ राजनय के स्वरूप एवं प्रक्रिया में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित हुए। प्रजातान्त्रिक राज्यों में प्रभुसत्ता जनता में निवास करती है और सम्पूर्ण राजनीतिक एवं प्रशासनिक शक्ति का प्रयोग करने वाले पदाधिकारी अन्तिम रूप से जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। तदनुसार प्रजातन्त्रात्मक देशों के राजदूत अन्य राज्यों में अपने मन्त्रिमण्डल का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन पर प्रत्यक्षत विदेश मन्त्री का नियन्त्रण रहता है। विदेश मन्त्री ससद के प्रति उत्तरदायी होता है और ससद जनता की प्रतिनिधि होने के कारण जन इच्छा के प्रति उत्तरदायी होती है। इस प्रकार अन्तिम रूप से राजनयिक प्रतिनिधि जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। प्रो निकल्सन ने प्रजातन्त्रात्मक राजनय में उत्तरदायित्व के इस क्रम का बड़े सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है।¹ उनके कथनानुसार 'राजनयिक सेवा' नागरिक सेवा की एक शाखा होती है इसलिए इसे राजनीति से दूर ही रखा जाता है। राजनयिक प्रतिनिधि सरकार के आदेशों का अक्षरशः पालन करते हैं। अपने अनुभव जनित ज्ञान के आधार पर वे अनेक बार सरकार को परामर्श देते हैं तथा उसे कठिनाइयों से अवगत कराते हैं किन्तु यदि उनका मत स्वीकार न किया जाए तो भी उनका कर्तव्य है कि वे मन्त्रियों के आदेशों का निर्विरोध पालन करें।

इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रजातन्त्रात्मक राजनय शब्द लोकप्रिय बना। अब अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में निर्णायक शक्ति जनता बन गई।

प्रजातन्त्रात्मक राजनय का सही विकास प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हुआ यद्यपि इससे पूर्व भी कुछ यूरोपीय देशों में इसका प्रचलन था किन्तु ये देश अनेक महत्वपूर्ण गुप्त सन्धियाँ करते थे जिनके द्वारा अनजाने में किसी देश की जनता को अन्य देश के विरुद्ध लड़ने के लिए घमनबद्ध कर दिया जाता था। उदाहरण के लिए जर्मनी ऑस्ट्रिया तथा इटली के बीच त्रिपक्षीय सन्धि (Triple Alliance) इसी प्रकार की थी। ब्रिटिश विदेश मन्त्री ग्रे ने जो सन्धि सम्बन्ध स्थापित किए उनसे न केवल ससद को अनजान रखा गया वरन् मन्त्रिमण्डल के अनेक मन्त्रियों को भी जानकारी नहीं दी गई। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद सभी यह मानने लगे कि गुप्त सन्धियाँ विश्व शान्ति के लिए खतरनाक हैं तथा अप्रजातान्त्रिक

1 "The diplomatist being a civil servant is subject to the foreign secretary being a member of Cabinet is subject to the majority in parliament being but a representative assembly is subject to the will of the sovereign people

है। इत. न्दिय ने दैद्युद्ध को रोकने के लिए गुरु सन्धियों के स्थान पर युद्ध के सन्धियों का समर्थन किया जाने लगा।

विशेषताएँ (Characteristics)

। प्रजातन्त्रत्मक राजनय में राजनयज्ञ को न केवल अपने देश के हितों की रक्षित ही ध्यान रखना पड़ता है बल्कि उन्हें जनता की रक्षित एवं जनहित का भी ध्यान रखना होता है।

2 राजनैतिक स्तर पर भी अपने दलीलें सही समझें एवं समझौतों से सामना करना ही परिचित रहा जहाँ है और उनका समय समय पर उनको बने में अपनी राय प्रकट करती है।

3 अनेक जन सन्तुष्ट हो एव समस्त द्वारा विदेश से ली गई सन्धियों एव सन्झौटों के निष्पत्ति सन्धान में आया प्रश्न, आन्दोलन एव जुलूसों का आयोजन किया जाता है।

4 प्रजातन्त्रत्मक राजनय पर अनेक दलों का प्रभाव पड़ता है, जैसे स्वतन्त्र प्रेस, मजदूरों की संघटनाएँ, जनमत का प्रभाव, विभिन्न सत्ताधारी एवं सार्वजनिक का नष्ट दिखी दलों की वृद्धि, प्रधान मंत्री का करिष्मा और विदेशमंत्री की वृद्धि आदि। यह सबकुछ देश के सामान्य हित की दृष्टि से ही का प्रयत्न करता है।

5 प्रजातन्त्रत्मक राजनय में गुप्त सन्धियों का विरोध तथा खुली सन्धियों का समर्थन किया जाता है। अमेरिकी राष्ट्रपति दुइतो विल्सन के अनुसार शक्ति सम्बन्धी सन्धियाँ तथा उनकी प्रक्रिया भी खुले रूप में होने चाहिए (Open covenants of peace openly arrived at)। इस सूत्र के अन्तर पर सभी गुप्त एवं शक्ति विरोधी राजनयिक कार्यों पर रोक लगाने की माँग की गई। राष्ट्रपति विल्सन के इस योगदान का राजनय के इतिहास में स्पष्टीकरण है। 18 जनवरी 1918 को अमेरिकी कांग्रेस के सम्मुख इन्होंने खुले राजनय का अर्थ स्पष्ट किया।¹ खुले राजनय का अर्थ यह नहीं होता कि गुप्त सन्धियों पर निजी विचार निर्णय दिया ही न जाए। इसका अर्थ केवल यह है कि कोई गुप्त सन्धि नहीं किया जाए चाहिए। सभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का निर्माण स्पष्ट रूप से सभी के समक्ष किया जाना चाहिए। वर्तमान में प्रजातन्त्रत्मक राजनय में अब मौननीय कार्रवाहियों की सम्बन्ध नहीं रह गई है।

राष्ट्रसंघ एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ का योगदान

(The Contribution of League of Nations and U.N.O.)

सन् 1919 की दलदली सन्धि द्वारा राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई। इसके द्वारा गुट सन्धिमें लगे सम्मिलित करने तथा विदेश-नीति पर जनता का नियन्त्रण स्थापित करने के लिए कुछ कदम उठाए गए। राष्ट्रसंघ की धारा 18 के अन्तर्गत यह प्रस्ताव था कि मध्य में राष्ट्रसंघ के सदस्यों द्वारा जो भी सन्धि की जाए, उसे राष्ट्र-द्वितीय सन्धि के समित्य में लिखित रूप में उल्लेख किया जाए तथा यह घोषणा की जाए कि वह राष्ट्र-द्वितीय प्रकृतित हो जाए। इस प्रक्रिया के बिना प्रत्येक सन्धि का सन्धि बनाने से। व्यवहार में राष्ट्रसंघ

1 "Open coverings of peace, openly arrived at after which there shall be no private international understandings of any kind but diplomacy shall proceed always frankly and in the public view."

की यह धारा अधिक सार्थक सिद्ध नहीं हो सकी क्योंकि अनेक राज्य पहले ही संधि के सदस्य नहीं थे और कुछ बाद में अलग हो गए। अतः गुप्त सन्धियों का कार्यक्रम धलता रहा।

राष्ट्रसंधि ने इस परम्परा को प्रोत्साहित किया कि अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का अनुसमर्थन सम्प्रभु शक्ति द्वारा किया जाना चाहिए। यह व्यवस्था गुप्त सन्धियों के निराकरण तथा राजनय को प्रजातन्त्रात्मक बनाने के अनुरूप थी। लेकिन वर्तमान में संसद प्रेसीडियम या सीनेट कार्यपालिका द्वारा सन्धि को अस्वीकार भी कर सकते हैं और करते भी हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंधि के चार्टर में भी सन्धियों के पजीकरण की व्यवस्था की गई है। धारा 1(12) के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंधि के प्रत्येक सदस्य द्वारा की गई सन्धि को पजीकृत किया जाना चाहिए। जिस सन्धि को पजीकृत किया जाता है केवल उसी के उत्प्लवन या क्रियान्वयन सम्बन्धी विषय को संधि के किसी अंग के सम्मुख लाया जा सकता है। सन्धि का संधि में पजीकरण न होने का अर्थ यह नहीं है कि उसे अवैध माना जाएगा। संधि का संधिवालय समय समय पर सन्धियों की शृंखला प्रकाशित करता रहता है। सन्धिकर्ता-राज्य इसका लाभ उठाते हैं।

प्रजातान्त्रिक राजनय के गुण

(Virtues of Democratic Diplomacy)

प्रजातान्त्रिक राजनय में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका पर जनता का पूर्ण वर्चस्व होता है। जनता सन्धियों से पूर्ण परिचित रहती है।

संक्षेप में जनतान्त्रिक राजनय के निम्नलिखित लाभ हैं—

1 इनमें सन्धियाँ चुले रूप में होती हैं। प्रजातन्त्र के विकास से पूर्व विभिन्न शासक आपस में ऐसी गुप्त सन्धियाँ कर लेते थे जो उनकी जनता एवं पड़ोसी राज्यों के लिए संकटपूर्ण बन जाती थीं। विश्व राजनीति के इतिहास में महाशक्तियों ने इसी प्रकार गुप्त सन्धियाँ करके छोटे राज्यों पर वर्चस्व स्थापित किया था। प्रजातान्त्रिक राजनय में ऐसी सन्धियों की सम्भावना नहीं रहती है।

2 सुविदित जनता प्रजातान्त्रिक राजनय में जनता को विदेश नीति का पूरा ज्ञान रहता है। फलतः सन्धियों की कार्यान्विति सही रूप में हो पाती है। सन्धियों पर जब संसद की स्वीकृति प्राप्त की जाती है तो संसद उनमें आवश्यकतानुसार सुधार एवं संशोधन का सुझाव देती है। जनमत द्वारा समर्थित होने के कारण सन्धि की क्रियान्विति अधिक सफलता से हो पाती है। उदाहरण के लिए भारत सोवियत मैत्री सन्धि (अप्रैल 1971) के सम्बन्ध में देश के सभी प्रमुख राजनीतिक दलों की सहमति थी। जनता भी सारी स्थिति से अवगत है।

3 प्रेस की भूमिका प्रेस की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यह सशक्त जनमत का निर्माण करता है, साथ ही अनुत्तरदायी राजनेताओं पर नियंत्रण रखता है।

4 विदेश सेवा का संचालन कूटनीतिक सेवाओं में योग्यता के आधार पर भर्ती किये जाने के कारण विदेश सेवा का कुशलतापूर्वक संचालन किया जा सकता है।

5 विश्व शान्ति को सुदृढ़ करना - प्रजातान्त्रिक राजनय से विश्व शान्ति सुरक्षित रहती है क्योंकि इसमें गुप्त षडयंत्रों तथा घात प्रतिघात के लिए कोई स्थान नहीं होता है।

6 समुक्त राष्ट्रसंघ के महत्व में वृद्धि - प्रजातान्त्रिक राजनय ने समुक्त राष्ट्रसंघ के महत्व को बढ़ाया है। महासभा का महत्व उत्तरोत्तर रूप से बढ़ता ही जा रहा है।

प्रजातान्त्रिक राजनय के दोष

(Demerits of Democratic Diplomacy)

प्रजातान्त्रिक राजनय की व्यापक आलोचना भी हुई है। हडलेस्टन (Huddleston) के मतानुसार प्रथम विश्वयुद्ध के बाद का राजनय व्यवस्था में राजनय ही नहीं था (Negotiation of Real Diplomacy)। उनका परामर्श है कि हमको अधिक स्पष्ट एवं स्पष्ट व्यावहारिक राजनय की ओर ही लौट जाना चाहिए।¹ हेरोल्ड निकल्सन तथा अन्य विचारकों द्वारा वर्णित प्रजातन्त्रात्मक राजनय के कुछ खतरे एवं दोष निम्नलिखित हैं—

1 अनुत्तरदायित्व (Irresponsibility) : प्रजातान्त्रिक राजनय का अनुभव कुल मिलाकर निराशाजनक रहा है। इसमें विदेश-नीति को नियन्त्रित करने की शक्ति अल्प रूप से जनता को सौंपी जाती है किन्तु जनता इस शक्ति के उत्तरदायित्वों से अनभिज्ञ रहती है। प्रो. निकल्सन ने सम्प्रति जनता के अनुत्तरदायित्व को प्रजातन्त्रात्मक राजनय का सर्वाधिक सख्त खतरा माना है।² सामान्य जनता अपनी सम्प्रतिता के सम्बन्ध में अज्ञेय रहती है। संसद के बहुमत द्वारा स्वीकृत सन्धि को भी सामान्य जनता अपने ही प्रतिनिधियों द्वारा स्वीकृत न मानकर आलोचना करती है। ऐसी हालत में सरकार की स्थिति शोचनीय बन जाती है। वह इन सन्धियों तथा समझौतों को सही रूप में लागू नहीं कर पाती है।

2 जनता की अज्ञानता (Ignorance of the People) : जनतन्त्र में जनता को विदेश नीति की पूरी जानकारी नहीं रहती। वह वैदेशिक सम्बन्धों के बारे में आलसपूर्ण तथा उदासीनता नीति अपनाती है तथा विस्मृति के कारण अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों से अपरिचित रह जाती है। विदेशी मामलों पर आलोचना या विचार करते समय उन्हें घरेलू मामलों के बराबर महत्व नहीं दिया जाता। इसके अतिरिक्त शासन तथा विरोध भी मतदाताओं को वैदेशिक मामलों की पूर्ण जानकारी प्रदान नहीं करते।

प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का यह दुःखद तथ्य है कि जो व्यक्ति विश्व के राज्यों का नाम तक नहीं प्रकार नहीं जानता वह भी विदेश नीति के प्रत्येक महत्वपूर्ण प्रश्न पर निर्णय लेने का दावा करता है।

3 विलम्ब (Delay) : विदेश-नीति के अनेक प्रश्नों पर शीघ्र निर्णय लेना आवश्यक होता है किन्तु जनतन्त्र में यह सम्भव नहीं हो सता। यहाँ प्रत्येक निर्णय पर संसद की स्वीकृति आवश्यक होती है। संसद अपनी स्वीकृति प्रदान करने से पहले इस सम्बन्ध में जनता की राय जानने का प्रयत्न करती है। इस प्रक्रिया में पर्याप्त समय लग जाता है जिसका दुष्परिणाम समूचे देश को नुगटना पड़ता है। प्रो. निकल्सन के कथनानुसार,

1 *Suzley Huddleston* Popular Diplomacy and War, pp. 256-63

2 "The sovereign people are not conscious of their sovereignty and are therefore unaware that it is they themselves who have caused these treaties to be signed" —Harold Nicolson

“एक शक्तिशाली राजा या तानाशाह को किसी नीति के निर्माण और क्रियान्वित करने में केवल कुछ घण्टे लगेंगे, किन्तु एक प्रजातान्त्रिक सरकार को उस समय तक प्रतीक्षा करनी होती है जब तक कि उसका जनमत अपने निष्कर्षों को पचा न ले।¹ यद्यपि यह प्रक्रिया अनसोये निर्णयों के खतरों से तो रक्षा करती है किन्तु इससे प्रभावशाली राजनय को हानि पहुँचती है। देश के नेता समय पर निर्णय नहीं ले पाते।

4 अनिश्चितता (Imprecision) : प्रजातान्त्रिक राजनय में अस्पष्टता एवं परिवर्तनशीलता रहती है। इसमें राजनयज्ञ ऐसी नीतियाँ अपनाते हैं जिनका वे आवश्यकतानुसार उल्टा सीधा कुछ भी अर्थ लगा सकते हैं। प्रजातान्त्रिक सरकारों को जनमत का समर्थन प्राप्त करने के लिए कुछ कहना पड़ता है। राष्ट्रीय हित की रक्षा के लिए कुछ और तथा अन्य राज्यों को मैत्री प्राप्त करने के लिए पूर्णतः भिन्न बात कहनी होती है। इन सब भिन्नताओं को मिटाने के लिए वे समय समय पर नीति की विरोधी व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं। इसके फलस्वरूप राज्यों के बीच अविश्वास की भावना पनपती है। राजनयज्ञों की भाषा अनिश्चित अस्पष्ट निरर्थक और अविश्वसनीय बन जाती है। उनके द्वारा ऊँचे ऊँचे आदर्शों की बातें की जाती हैं जिनका व्यवहार में कोई महत्व नहीं होता है।

5. प्रकाशन का दुरुपयोग (Misuse of Publicity) : प्रजातान्त्रिक राज्यों में प्रचार और प्रकाशन का लक्ष्य केवल जनता को समझाना व सूचित करना ही न होकर उसका मानसिक शुद्धिकरण करना होता है। सरकार दो प्रकार से प्रकाशन कार्य पर नियन्त्रण रखती है—(i) विज्ञापनों एवं प्रमुख समाचारों में प्राथमिकता के माध्यम से यह मुख्य पत्र और पत्रिकाओं पर नियन्त्रण रखती है। (ii) विदेश मन्त्रालय या समग्र प्रशासन द्वारा सूचना एवं प्रसारण के लिए स्वयं का संगठन गठित किया जाता है। यह स्वयं सरकारी नीतियों का प्रकाशन करता है। कभी कभी समाचार पत्र अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर सरकारी नीति की ऐसी आलोचना करते हैं जिसका जनता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

6 राजनीतिज्ञों की विदेश यात्राएँ (Foreign Tours of Politicians) : प्रजातन्त्र में विदेशमन्त्री प्रधान मन्त्री या अन्य राजनीतिज्ञ सन्धि वार्ताओं के लिए विदेश यात्राएँ करते रहते हैं। उनकी ये यात्राएँ अधिकौरा मामलों में अनुपयुक्त एवं अनावश्यक होती हैं। विदेशों में अपने स्वागत की धूम धाम तथा आदर सत्कार के कारण उनके विचार निष्कल नहीं रह पाते। उनकी भावनाएँ बुद्धि पर छा जाती हैं और वे व्यक्तिगत प्रभाव से जो निर्णय लेते हैं वह कभी कभी राष्ट्रीय हित से भिन्न होते हैं।

अतः प्रो. निकल्सॉन ने सुझाया है कि साधारण स्थिति में विदेश के प्रधान मन्त्री विदेश मन्त्री या विदेश सचिव से मिलने का कार्य व्यावसायिक राजनयज्ञों पर छोड़ देना चाहिए। इससे उन सभी दोषों का निराकरण हो जाएगा जो राजनीतिज्ञों की विदेश यात्राओं से उत्पन्न होते हैं। राजनय बातचीत करने की कला नहीं है बल्कि एक निश्चित एवं स्वीकृत रूप में वार्तालाप द्वारा समझौता करने की कला है।² अतः सन्धि वार्ता का कार्य राजनयज्ञों को ही करने देना चाहिए।

1 Harold Wilson: Diplomacy

2 "Diplomacy is not the art of conversion: it is the art of negotiating agreements in precise and satisfactory form
—Harold Wilson

7 खर्चीली व्यवस्था प्रजातन्त्रिक राजनय में प्रचार और प्रसार पर अत्यधिक व्यय किया जाता है। सन्धियों के सम्पादन के समय भी काफी व्यय किया जाता है।

प्रजातन्त्रात्मक और परम्परागत राजनय में अन्तर

(Distinction Between Democratic and Traditional Diplomacy)

प्रजातन्त्रात्मक राजनय को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए अब उपप्लुत होगा कि इसका परम्परागत राजनय से अन्तर क्या जाए इस अन्तर को निम्नलिखित रूप से दिखलेखित किया जा सकता है—

1 प्रजातन्त्रात्मक राजनय इस बात में विश्वास करता है कि राष्ट्रों की पारस्परिक अथवा विश्व समस्याओं का समधान विचार विमर्श द्वारा और आदान प्रदान की मदद से किया जाए। प्रजातन्त्रात्मक राजनय शान्तिपूर्ण राजनयिक तरीकों में विश्वास करता है और हिंसा को टालते हुए अनुकूल वातावरण बनाकर समस्या का समधान प्रस्तुत करता है। इसके विपरीत परम्परागत राजनय शक्ति की भाषा राजनय के कुटिल तरीकों और स्वेच्छाचरिता में विश्वास करता है। परम्परागत राजनय विश्व जनमत की परवाह नहीं करता।

2 प्रजातन्त्रात्मक राजनय का उद्देश्य जन हित और जन इच्छा की अनिवृद्धि करना है जबकि परम्परागत राजनय शासक वर्ग के हितों की अनिवृद्धि का पक्षपाती है। प्रजातन्त्रात्मक राजनयज्ञ अपने को जनता का सेवक मानकर चलते हैं और उन्हें दूसरे देश में स्वदेश की जन इच्छा की अनिव्यक्ति का अध्ययन माना जाता है। वे शासक वर्ग को निर्णय होकर सलाह देते हैं कि अनुकूल राजनयिक व्यवहार या अनुकूल नीति के पालन से जन हित की अनिवृद्धि होगी और अनुकूल नीति जन हित की दृष्टि से अनुकूल नहीं होगी। परम्परागत राजनय इस प्रकार के आदेशों में विश्वास नहीं करता। उसका उद्देश्य राज्य की सीमाओं का विस्तार और व्यक्तिगत हितों को पूर्ण करना होता है। प्राचीन काल में राजनयज्ञ जन सेवक नहीं बरन् शासक के व्यक्तिगत प्रतिनिधि समझे जाते थे।

3 प्रजातन्त्रात्मक राजनय 'लोकतन्त्रीय उत्तरदायित्व' में विश्वास करता है। प्रजातन्त्रात्मक राजनयज्ञ उस सरकार के प्रति उत्तरदायी होते हैं जो निवर्तित व्यदस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। इस प्रकार प्रजातन्त्रात्मक राजनयज्ञों की गलतियों पर सत्सद में बहस हो सकती है। जन प्रतिनिधि सरकार से उनके कार्यों के बारे में प्रश्न पूछ सकते हैं अर्थात् उनके कार्यों का मूल्यांकन सत्सद द्वारा किया जा सकता है। इसके विपरीत परम्परागत राजनय जनता की नहीं बरन् देवल शासक या शासक-वर्ग की हित सधन को प्रधानता देता है। प्राचीनकाल में राजनयज्ञ स्वयं को केवल राजा के प्रति ही उत्तरदायी मानते थे राजा ही उनके नियुक्त करने या और हटाए भी था।

4 परम्परागत राजनय में मुख्यतः उन्हीं व्यक्तियों को राजनयिक सेवा में लिया जाता था जो कुलीन वर्ग या शासक वर्ग से संबंधित होते थे। सामान्य जनता को राजनयिक सेवा में कोई प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं था किसी अवसर पर कोई अपवाद हो यह अलग बात है। इसके विपरीत प्रजातन्त्रात्मक राजनय दार्ढ्य राजनय न होकर जन राजनय है जिसमें राजनयज्ञों की भर्ती योग्यता के आधार पर प्रतिदेगी परीक्षा के माध्यम से की जाती है। नियुक्ति के बाद भी राजनयिक अधिकारी अरजर्नतिक बने रहते हैं और उनका कार्य मृद

सरकार की नीतियों के अनुसार देश के हितों की रक्षा करना होता है। ये राजनय सन्धिधान के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

5 परम्परागत राजनयज्ञ जनता के सम्पर्क से दूर रहते थे उनका कार्य क्षेत्र राज घरानों तक ही सीमित था। इसके विपरीत प्रजातन्त्रात्मक राजनयज्ञ जनता के सेवक हैं जो अपने देश की जनता से अलग नहीं रहते हैं।

6 प्राचीन काल में राजनयज्ञ जो समझौते एवं सन्धियाँ करते थे उन्हें अपनी सरकार के पास स्वीकृति के लिए प्रायः नहीं भेजते थे। राजदूत का पद इस दृष्टि से पूर्ण अधिकार सम्पन्न माना जाता था और उसके द्वारा किए गए समझौते बन्धनकारी होते थे। राजदूत राजा या सम्राट् का प्रतिनिधि होता था। प्रजातन्त्रात्मक राजनय में अन्तिम शक्ति जन प्रतिनिधि व्यवस्थाधिका समारों के पास होती है। अपनी सरकार की स्वीकृति के अभाव में राजदूत कोई समझौता सम्पन्न नहीं कर सकता। स्विट्जरलैण्ड जैसे देश में तो सन्धियों पर अनिवार्य जनमत संग्रह की व्यवस्था है। वर्तमान में सन्धियों का अनुमोदन लगभग सभी देशों में आवश्यक हो गया है।

आज का युग प्रजातन्त्रात्मक है अतः प्रजातन्त्रात्मक राजनय ही लगभग सर्वत्र प्रचलित है। सर्वाधिकारवादी अथवा अधिनायकवादी राज्य भी अपने राजनय को प्रजातन्त्र का बाना पहनाते हैं। परम्परागत राजनय को आज कोई स्थान प्राप्त नहीं है तथापि कुछ ऐसे राष्ट्र भी हैं जो कुछ अवसरों पर परम्परागत राजनय का सहारा लेने से नहीं घुंकते क्योंकि उनकी मनेवृत्ति विस्तारवादी है। प्रजातन्त्रीय राजनय वह शान्ति दूत है जो शान्ति और सहअस्तित्व की शक्तियों को प्रोत्साहन देकर विश्व बन्धुत्व की भावना का प्रसार करता है। प्रजातान्त्रिक राजनय अमी विकास के दौर में है इसने अभी तक कोई एकदम स्पष्ट दिशा ग्रहण नहीं की है। हेरोल्ड निकल्सन ने लिखा है "प्रजातन्त्रात्मक राजनय की उलझनपूर्ण (Confused) स्थिति में भी अन्य किसी भी राजनयिक व्यवस्था से मैं इसे निश्चित रूप से बेहतर समझता हूँ। फिर भी मेरी यह मान्यता है कि प्रजातन्त्रात्मक राजनय अभी तक अपना स्वयं का सूत्र (its own formula) नहीं खोज पाया है।"¹

संसदीय राजनय (Parliamentary Diplomacy)

अपने आधुनिक रूप में संसदीय राजनय बीसवीं सदी की देन है। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में विश्व व्यापकता के प्रवेश के साथ साथ राजनय भी बहुपक्षीय बन गया और विश्व समस्याओं पर विचार विमर्श तथा उनके समाधान के लिए बहुपक्षीय वार्ता पद्धति अधिकाधिक प्रचलित होती गई। विभिन्न स्थाई एवं अस्थायी अन्तर्राष्ट्रीय मंचों का निर्माण किया गया जिनमें राष्ट्रसंघ के उत्तराधिकारी के रूप में वर्तमान संयुक्त राष्ट्रसंघ सबसे प्रमुख है। वास्तव में सर्वप्रथम राष्ट्रसंघ और तत्पश्चात् संयुक्त राष्ट्रसंघ ने वार्ता के स्वरूप को जो नया आयाम दिया उसे ही संसदीय राजनय कहा जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के भूतपूर्व विदेश मन्त्री डीन रस्क को संसदीय राजनय शब्द के प्रथम उपयोग का श्रेय है। इसके पूर्व भी राजनय के इस स्वरूप को हेन 1899 तथा 1907 के शान्ति सम्मेलनों में प्रयोग में लाया जा चुका है।

संसदीय राजनय से हमारा सम्बन्ध बहुसंघीय राजनय की उन खुली दारवाज़ों व दिवार दिवारा से है जो अन्तराष्ट्रीय सम्स्थाओं से निगटने के लिए समुक्त राष्ट्र व अन्य क्षेत्रीय सम्स्थाओं में चलती रहती हैं तथा जिनके गुप्ते व दोषों पर खुला दिवार होना है और जिनके नियंत्रण मन्त्रालय द्वारा लिया जाता है।¹ महासंघ के युनव संसदा दक्षिण प्रतियोगिता सम्बन्ध प्रस्ताव उन पर दद दिवद, दिन्नि अधिकारियों के युनव अदि ठीक दैत है हैं जैसे प्रायः राज्यों की संसदा में दैत जते हैं। इस 166 सदस्यीय अन्तराष्ट्रीय संस्था में विरद सम्स्थाओं पर कुछ राष्ट्रों के छोट कर सनी राष्ट्र दद दिवद करते हैं और महासंघ में बहुमत के अन्तर पर अनेक नियम लिए जते हैं। समुक्त राष्ट्र सघ की महासभा का स्वतन्त्र बहुम कुप्र राष्ट्रीय संसद से मिलता जुलता है—उसे हम एक प्रकार से विरद संसद की संज्ञा दे सकते हैं। महासभा की कार्यदही और राष्ट्रीय संसदों की कार्यदही में अनेक दृष्टियों से समानता है। महासभा के विरद हल में विरद क लगभग 166 राष्ट्रों के प्रतिनिधि बैठते हैं और दिन्नि संस्थाओं पर दिवार दिवश करत हैं। जिस प्रकार राष्ट्रीय संसद ने एक व्यक्ति एक वोट के सिद्धान्त को मन्जूर दी है उसी प्रकार महासभा में एक राज्य एक वोट के सिद्धान्त को मन्जूर देकर छोटे बड़े राष्ट्रों का नैद निद दिया गया है।

महासभा एक संसदीय निकाय की भाँति है क्योंकि जिस प्रकार संसदीय व्यवस्था में राजनैतिक दल क्षेत्रीय गुट एवं विरोध हित समूह राज्य की रीति रीति को प्रभावित करते हैं उसी प्रकार अन्तराष्ट्रीय स्तर पर भी क्षेत्रीय तथा राजनैतिक गुट समुक्त राष्ट्र सघ की प्रक्रिया एवं उसके परिणामों को प्रभावित करते हैं।

महासभा में राज्यों के समूह (Group) सहमिलन व मन्त्रालय (Coalitions) गुट (Blocks) अदि निरन्तर सक्रिय रहते हैं। अल्पसंख्यकों के अनुसार सहमिलन समूहों और ब्लॉकों की रीतिरिवाजों के फलस्वरूप महासभा द्वारा किये गये निर्णय पर पहुँचने की सम्भावना घट जाती है। महासभा के राजनैतिक निकाय (A Political Body) होने के कारण ही ऐसा होता है।

संसदीय राजनय में यह निश्चित किया जाता है कि किसी विवाद को सबसे सम्मेलने से तथा उस पर दद दिवद करने एवं प्रस्ताव पारित करने मात्र ने उसे सुलझा जा सकता है। यह मन्जूर गलत है। वास्तविक व्यवस्था में इन प्रयासों से मनुष्यता तथा राष्ट्रीय मन्त्रालय समझती है। मन्त्रालय से पहले प्रत्येक प्रसंग पर प्रत्येक राज्य दृष्टि दिवार नहीं कर पाता। मन्त्रालय के समय अनेक सदस्य राज्य अनुत्पन्न भी रहते हैं। सघ की कार्यदही में बैठने का अन्तर गुटबन्दी बन जाता है जो अनेक बार विरद रीति के लिए खतरा संचित होता है। संसदीय राजनय की समझौता यह है कि इसके फलस्वरूप विरद पन्थ संशोधित होगा है। इसके मध्य से अनेक राज्यों के सहयोगी सम्बन्धों को प्रोत्साहन मिलता है तथा वे सांठिन कार्यदही कर पाते हैं।

समुक्त राष्ट्र सघ में दिन्नि प्रकार के सहयोगी समूहों और सांठों का विकास होता है। इनमें दक्षिण सहमिलन (The Adhoc Coalition) होता है जिसका कम व अधिक

समय के लिए समस्या विशेष पर विचार विमर्श के लिए निर्माण होता है और तब वह समस्या समाप्त हो जाती है अथवा उसका स्वरूप बदल जाता है तो वह तदर्थ सहमिलन (Adhoc Coalition) समाप्त हो जाता है। महासभा में राज्यों के एक दूसरे प्रकार के संगठन या गठबन्धन (Coalition) का उदय तब होता है जब कुछ राज्य नियमित या अनियमित रूप से 'कावस' (Caucus) में मिलते हैं ताकि वे सामान्य हित के मामलों पर आपस में विचार विमर्श कर सकें बिना इस बात पर बंधनबद्ध हुए कि वे एक होकर कार्य करेंगे।

महासभा की उपरोक्त सभी गतिविधियों को अमेरिकी विदेश मंत्री डीन ररक ने सारसदीय राजनय (Parliamentary Democracy) की संज्ञा दी थी।

सारसदीय राजनय की प्रकृति

संयुक्त राष्ट्र महासभा में सारसदीय राजनय के स्वरूप के प्रकाश में हम इस राजनय की प्रकृति को निम्नलिखित बिन्दुओं में स्पष्ट कर सकते हैं—

(1) सारसदीय राजनय बहुपक्षीय होता है। वे विषय जिनकी प्रकृति सामान्य है अथवा जिनका सम्बन्ध विश्व क्षेत्र विशेष के विभिन्न देशों से है सारसदीय राजनय के विचारणीय विषय हो सकते हैं। सारसदीय राजनय ऐसी समस्याओं को नहीं लेता जिन्हें द्वि पक्षीय वार्ता द्वारा हल किया जाय हो।

(2) सारसदीय राजनय में 'गोपनीयता' के स्थान पर 'खुलापन' होता है अर्थात् यह अपनी प्रकृति में 'खुला राजनय' (Open Diplomacy) है। विषय के प्रत्येक पहलू पर आम बहस होती है और पक्ष विपक्ष के विचारों का विश्व भर में प्रकाशित होता है। विश्व के विभिन्न राष्ट्रों द्वारा अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की जाती हैं और विभिन्न सरकारें संयुक्त राष्ट्र में अपने प्रतिनिधियों को निर्देश भेजती हैं कि किस नीति का अनुपालन किया जाए। इस प्रकार सारसदीय राजनयिक प्रक्रिया वास्तव में 'खुली राजनयिक' क्रिया है। पर इसका यह अन्निग्रह नहीं है कि इसमें 'गोपनीयता' का स्थान नहीं होता। व्यवहार में वास्तविक निर्णय और वार्ताएँ तो अनौपचारिक बैठकों और मुलाकातों में गुप्त रूप से होती हैं। दबाव की राजनीति (Pressure Politics) अपना कार्य करती रहती है। पक्ष के पीछे जिन निर्णयों पर पहुँचा जाता है बाद में प्रायः वे ही निर्णय प्रकाश में आते हैं। अतः यह कहना उचित होगा कि सारसदीय राजनय में औपचारिक रूप से खुला राजनय (Formally Open Diplomacy) होते हुए भी पूर्णतः खुला राजनय (Absolute Open Diplomacy) नहीं है।

(3) सारसदीय राजनय में निर्णय सदैव बहुमत से लिए जाते हैं। संयुक्त राष्ट्र महासभा में महत्वपूर्ण प्रश्नों के निर्णय के लिए उपस्थित सदस्यों का दो तिहाई बहुमत और साधारण प्रश्नों के निर्णय के लिए साधारण बहुमत पर्याप्त होता है। सुरक्षा परिषद में भी निर्णय बहुमत से लिए जाते हैं लेकिन स्थायी सदस्यों को जो विशेषाधिकार (Veto Power) है वह सारसदीय राजनय के सर्वाधिकार के विपरीत है वह तो एक प्रकार से 'निरंकुश' राजनय जैसी व्यवस्था है।

(4) सारसदीय राजनय के विकास के फलस्वरूप छोटे और अल्पविकसित देशों का महत्व बढ़ गया है क्योंकि संयुक्त राष्ट्रसंघ के मध्य पर महाशक्तियाँ उनके समर्थन के लिए लालायित रहती हैं।

(5) ससदीय राजनय अपने स्वरूप में बहुत कुछ अराजनीतिक है क्योंकि यह राजनय बहुपक्षीय होने के साथ साथ सभ्रमु राज्यों के लिए बन्धनकारी निर्णय नहीं कर सकता । महासभा अपने किसी भी सदस्य को इस बात के लिए बाध्य नहीं कर सकती कि वह अनिवार्य रूप से उसके निर्णय को माने । दूसरे शब्दों में महासभा के निर्णय मुख्यतः सिफारिशों जैसा प्रभाव रखते हैं । ससदीय राजनय विश्व जनमत को जाग्रत कर अनौपचारिक दबाव प्रक्रिया लागू करता है ।

ससदीय राजनय के गुण एवं दोष

सयुक्त राष्ट्र सभ का राजनय ससदीय राजनय का सदातम उदाहरण है । इस राजनय के मुख्य गुण अथवा लाभ निम्नलिखित हैं—

(1) ससदीय राजनय विश्व जनमत को प्रभावित करता है । सयुक्त राष्ट्र महासभा ने शान्ति और सहअस्तित्व के पक्ष में तथा समस्याओं को वार्ता द्वारा सुलझाने के पक्ष में एक अन्तर्राष्ट्रीय जनमत का निर्माण किया है जिससे समूचे विश्व में शान्ति और समृद्धि के प्रति एक हृद तक विश्वास व्याप्त हुआ है । ससदीय राजनय द्वारा उत्पन्न विश्व जनमत महाशक्तियों को नियन्त्रित रखता है ।

(2) ससदीय राजनय से बहुपक्षीय प्रयत्नों को प्रोत्साहन मिलता है जिससे समस्याओं में शीघ्र निर्णय में सहायता पहुँचती है । अब इजरायल संघर्ष को शान्त करने में ससदीय राजनय ने जो महत्वपूर्ण भूमिका निभायी वह सर्वविदित है । जिन समस्याओं का हल आपसी वार्ता से नहीं निकल पाता उनके लिए बहुपक्षीय राजनय ही सर्वोत्तम उपाय है ।

(3) ससदीय राजनय ने ही विभिन्न प्रकार की राजनयिक पद्धतियों को जन्म दिया है । इस राजनय के विकास के कारण समान विचारधारा और समान हितों के आर्कक्षी देशों में आपसी सम्पर्क बढ़ा है । समय समय पर उनके सम्मेलन होते रहते हैं । उदाहरण के लिए, गुट-निरपेक्षता में विश्वास रखने वाले देशों के गुट-निरपेक्ष सम्मेलन होते रहते हैं । पारघात्य देशों में अनेक ऐसे मंच हैं जहाँ समय-समय पर सदस्य राष्ट्र आपस में विचार-विमर्श करते रहते हैं । इस प्रकार के राजनय को हम परामर्शात्मक राजनय (Consultative Diplomacy) कह सकते हैं । ससदीय राजनय ने यात्रा राजनय (Travel Diplomacy) को बढ़ावा दिया है ।

(4) ससदीय राजनय ने सयुक्त राष्ट्र महासभा को एक प्रकार की विश्व ससद् बना दिया है । सन् 1979 में स्थापित यूरोपीय ससद् भी ससदीय राजनय की बढ़ती लोकप्रियता का प्रमाण है ।

ससदीय राजनय के अनेक दोष भी हैं यथा—

(1) ससदीय राजनय पर्दे के पीछे जो दाव पेंच खेलता है उससे राष्ट्रों के आपसी विश्वास को घटका पहुँचता है और एक-दूसरे के प्रति सन्देह का वातावरण विकसित होता है । शीत-युद्ध को बढ़ाने में ससदीय राजनय का बड़ा योगदान रहा था ।

(2) ससदीय राजनय ने सयुक्त राष्ट्र महासभा को राजनीतिक अछाड़े का मंच बना दिया है जहाँ प्रत्येक राष्ट्र अपनी वैचारिक तथा राष्ट्रीय श्रेष्ठता के प्रदर्शन में लगा रहता है ।

(3) सप्तदीय राज्याय खुला राजनय है अतः खुले राजनय के लगभग सभी दोष इस राजनय में आ जाते हैं। ओके अवसरों पर सप्तदीय राज्याय समस्याओं को उत्ते अधिक उत्पन्न देता है जिससे विश्व तनाव में वृद्धि होती है।

(4) सप्तदीय राजनय से गुट राजनीति और क्षेत्रवाद को बढ़ावा मिला है। महासभा की मतदान प्रक्रिया और वहाँ के राजनीतिक दावों पर दृष्टि डालते तो हम यही देखते हैं कि इस विश्व ससद में विभिन्न गुट बने हुए हैं और फलस्वरूप सारे विचार विमर्श गुट प्रतिबद्ध स्थिति में होते हैं।

(5) सप्तदीय राज्याय एक प्रकार से प्रचार राजनय अधिक है क्योंकि प्रत्येक गुट अपने मापणों मतदान आदि के द्वारा अपने विरोधी को नीचा दिखाने और अपने हित का सम्बर्धन करने को प्रयत्नशील रहता है।

(6) महासभा की औपचारिक कार्यवाही में प्रतिनिधियों की उतनी रुचि नहीं रहती जितनी पक्षों के पीछे धलने वाली अनौपचारिक बातों में रहती है। अनौपचारिक बातों में लिए गए निर्णयों को सुन्दर शब्दजाल में महासभा के पटल पर रख दिया जाता है और यही सप्तदीय राजनय बन जाता है।

(7) सप्तदीय राज्याय को छाया मुकेबाजी (Shadow Boxing) की सज्ञा दी गई है। इसे लाउडस्पीकर का राजनय (Diplomacy by Loud Speaker) तथा अपमान का राजनय (Diplomacy by Insult) भी कहा जाता है। सप्तदीय राज्याय एक ऐसा खेल है जिसमें विपक्षी को नीचा दिखाने और अपमानित करने का प्रयास किया जाता है। शीतयुद्ध की घरम स्थिति में समुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत सघ यही करते रहे। सोवियत सघ की समाप्ति के साथ ही शीतयुद्ध समाप्त हो गया।

उपयुक्त दोषों के बावजूद यह स्वीकार करना होगा कि सप्तदीय राजनय ने सशस्त्र युद्धों के अवसरों को घटाया है और विश्व को अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर किया है। इस सप्तदीय राजनय ने उन्नत राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा पर कुछ न कुछ अकुश लगाने में सफलता प्राप्त की है।

शिखर राजनय (The Summit Diplomacy)

जब राजनय में एक देश का राज्याध्यक्ष या सर्वोच्च सरकारी अधिकारी स्वयं भाग लेता है तो उसे शिखर राजनय की सज्ञा दी जाती है। एल्मर प्लिस्क (Elmer Plischke) के कथनानुसार "शिखर राजनय की व्याख्या व्यापक रूप में राज्य के प्रमुख अथवा सरकारी स्तर के अध्यक्ष द्वारा विदेश नीति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण एवं प्रकाशन के रूप में की जाती है।" स्पष्ट है कि शिखर शब्द का अर्थ राज्य के अध्यक्ष या सरकार के अध्यक्ष से है। मन्त्रालय स्तर के विदेश सम्बन्धों को उपशिखर की सज्ञा दी जाती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि राजतन्त्र के समय स्वयं राजा ही देश के आन्तरिक और बाह्य प्रशासन के लिए उत्तरदायी होता था। प्रजातन्त्र का विकास होने

1 "Summit diplomacy may be broadly interpreted as meaning of the determination and publicizing of foreign policy and the management of international affairs at the chief of state or head of government level."
—Elmer Plischke

पर स्थिति बदल गई किन्तु हाल ही में शिखर राजनय के रूप ने पुरानी परम्परा के नए सन्दर्भ में स्वरूप को पुनः प्रतिष्ठित कर लिया है और राजनय का जो स्वरूप आज सार्वदिक प्रचलित है वह शिखर राजनय ही है। जब दो अथवा अधिक देशों के राष्ट्रपक्षों की मुलकात होती है तो उनकी आपसी दलों के उपरान्त प्रायः समुल्लेखित प्रक्रिया की जाती है जिसमें आपसी सम्बन्धों और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विभिन्न मुद्दों के प्रति उन महान्वे के दृष्टिकोणों की बलक होती है और जिन मुख्य मुद्दों पर असहमति होती है। उनके हल की सम्बन्धन आदि की आशा व्यक्त की जाती है उन्हें प्रायः समाप्त नहीं जाता। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद समुल्लेखित राज्य अमेरिका के राष्ट्रपतियों और संविधानसभ के नेतृत्वों के बीच अनेक शिखर सम्मेलन आयोजित होते रहे हैं। इससे विश्व समस्याओं के सम्बन्धन में सहमति मिली। अमेरिकी राष्ट्रपति रीगन तथा जार्ज बुश तथा पूर्व संविधान राष्ट्रपति मिखाइल गेर्बचेव के बीच होने वाले शिखर सम्मेलनों ने विश्व राजनीति की दिशा ही बदल दी। शिखर राजनय के उपरान्त जो समुल्लेखित प्रक्रिया की जाती है उस पर विश्व के देशों की अंर्तर्गत रहती हैं और राजनयिक क्षेत्र उनका महान् अध्ययन करते हैं और अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करते हैं अथवा यह भी सम्भव है कि कोई प्रतिक्रिया ही व्यक्त न की जाए।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'शिखर राजनय बड़े राज्यों के राज्यपक्षों अथवा सरकार के सर्वोच्च अधिकारियों का वह व्यक्तिगत सम्मेलन है जहाँ वे सामान्य राजनयिक मार्ग की उपेक्षा कर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर नियंत्रण लेते हैं।' जब राज्यपक्षों या सर्वोच्च अधिकारियों द्वारा परस्पर पत्र व्यवहार किया जाता है या निजी प्रतिनिधि भेजे जाते हैं तो यह भी शिखर राजनय का स्वरूप ही है। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्धन में शिखर राजनय की उपयोगिता निर्दिष्ट है।

शिखर राजनय पर एक ऐतिहासिक दृष्टि

(A Historical View of Summit Diplomacy)

मिस्र के राजा रमसेस द्वितीय (Ramses II) और हिट्टि के राजा खेतसर (Khetasar the King of Hittites) ने शिखर राजनय के अन्धकार पर ही एक सन्धि की थी। तिस्रह्द महान् पुलिदार सौजर शल्लेख हैनरी अष्टम क्रॉसबी प्रिन्स, चर्ल्स पदम, मित्रिक महान् नेपोलियन, ट्रूनिन केनेडी रीगन जार्ज बुश युरगेन हेइनेद और गेर्बचेव नेत्रल शस्त्री इन्दिरा गान्धी और राजीव गान्धी आदि ने शिखर राजनय के माध्यम से ही विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का सम्बन्धन निकाला था। आधुनिक युग में राष्ट्रपति विल्लिन के दौरे सम्मेलन में भाग लेने से जो पूर्वदाहरण स्पष्टित हुआ वह ऐसा चल कि इसके बाद अल्प दिन राष्ट्रपति प्रधानमंत्री विदेश मंत्रियों के शिखर सम्मेलन होते ही रहते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व शिखर राजनय के सहारे ही ब्रिटेन व प्रधानमंत्री चम्बल्लेन क्रॉस के दलविदार व जर्मनी के कानरह हिल्टर ने म्यूनिख सम्झौते से एक बार तो युद्ध को टल ही दिया था। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान एक और हिटलर व मुसोलिनी के शिखर सम्मेलन हुए तो दूसरी ओर कालेड स्टैलिन व चर्चिल के कैसेब्लान्क सम्झौता देहान् चला आदि

इनके शिखर सम्मेलन ही थे। द्वितीय महायुद्ध के दौरान इन सम्मेलनों ने ही वास्तव में शिखर सम्मेलन द्वारा राजनय को प्रोत्साहित किया। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पर्याप्त शीतयुद्ध की समस्याओं को हल करने के लिए मित्र राज्यों के भी समय समय पर शिखर सम्मेलन होते रहे। जटिलतम समस्याएँ जो वर्षों तक साधारण राजनीतिक अथवा राजनयिक तरीकों से नहीं सुलझ पाती हैं उनको राष्ट्राध्यक्षों के मध्य उच्चतर स्तर पर शिखर सम्मेलनों के माध्यम से सुलझाने का प्रयास किया जाता है। रूजवेल्ट, चर्चिल व स्टालिन के मध्य शिखर वार्ताओं द्वारा एक दूसरे के साथ उच्च सहयोग से युद्ध एवं शान्ति के उद्देश्यों को प्राप्त करने में अद्वितीय सफलता मिली जो शायद किसी भी निम्न स्तर के सम्मेलन अथवा प्रयास से सम्भव नहीं हो पाती। द्वितीय महायुद्ध के मध्य प्रारम्भ शिखर राजनय का यह क्रम अत्यधिक लोकप्रिय बन गया है। यह अनुभव किया गया है कि व्यक्तिगत सम्पर्क के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को अधिक आसानी से सुलझाया जा सकता है। शिखर राजनय का उपयोग उस समय भी किया जाता है जबकि निम्न स्तर के अधिकारियों द्वारा किसी समस्या का समाधान नहीं निकल पा रहा हो अथवा वार्ता निम्न स्तर पर मन्दार गति से चल रही हो और उन्हीं शीघ्र सम्पादित करना हो। शिखर सम्मेलनों का मूल उद्देश्य उच्च स्तरीय राज्याध्यक्षों को एक दूसरे के समीप लाना वार्ताओं को शीघ्र सम्पादित करना तथा समझौता सन्धि करना है।

शिखर राजनय की लोकप्रियता के कारण

शिखर राजनय के प्रचलन के पीछे निम्नलिखित कारणों का योगदान रहा है

- 1 सभ्य व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन एवं अभूतपूर्व विकास विशेषकर हवाई यात्रा की उपलब्धि
- 2 युद्ध के विनाशकारी प्रभाव से मानवता को बचाना
- 3 संयुक्त राज्य अमेरिका व सोवियत रूस का विश्व शक्ति के रूप में महत्व और
- 4 संयुक्त राष्ट्र के सम्मेलनों के माध्यम से व्यक्तिगत सम्पर्क में अभिवृद्धि।

शिखर राजनय की विशेषताएँ

(Aspects of Summit Diplomacy)

शिखर राजनय की विशेषताओं को निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है

- 1 इसमें राज्य या सरकार के प्रमुख द्वारा नीति निर्धारित और व्यक्त की जाती है। विदेश नीति सम्बन्धी मुख्य निर्णय यही लेता है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति के महत्वपूर्ण निर्णय किसी न किसी राष्ट्रपति के नाम के साथ जुड़े हुए हैं। इस प्रकार अनेक नीति सम्बन्धी दस्तावेजों के साथ एक राष्ट्रपति का नाम जुड़ जाता है जैसे मुनरो सिद्धान्त ट्रूमैन सिद्धान्त विल्सन के चौदह सिद्धान्त टाफ्ट का डालर राजनय रूजवेल्ट की अच्छे पड़ोसी की नीति, चार स्वतन्त्रताएँ आइज़नहावर सिद्धान्त तथा ब्रेज़नेव योजना आदि।

- 2 मुख्य कार्यपालिका द्वारा राजनयज्ञों से व्यक्तिगत पत्र व्यवहार किए जाते हैं। यहाँ हमारा सम्बन्ध तार शुभकामना एवं शोक संदेश जैसे औपचारिक पत्र व्यवहारों से नहीं है।

तो है ही किन्तु इनके अतिरिक्त भी मुख्य कार्यपालिका व्यक्तिगत रुचि लेकर पत्र व्यवहार करती है तथा राजनय को प्रभावित करती है। दो राज्यों में सघर्ष होने की स्थिति में तीसरे ज्य की मुख्य कार्यपालिका द्वारा मध्यस्थता का कार्य किया जाता है। उदाहरण के लिए २००५ के रूस-जापान सघर्ष एवं मोरबो सघर्ष के समय अमेरिकी राष्ट्रपति बिल्लोडोर रुजवेल्ट व्यक्तिगत हस्तक्षेप किया था। अन्य उदाहरणों पर भी इसी प्रकार व्यक्तिगत रुचि लेकर राष्ट्रपतियों ने दूसरी सरकारों से पत्र-व्यवहार किए। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय रुजवेल्ट या चर्चिल के बीच १७५० सन्नाधारों का और रुजवेल्ट तथा स्टालिन के बीच लगभग तीन ११ पत्रों का आदान प्रदान हुआ। आज के युग में पत्र-व्यवहारों की संख्या अधिक होने के कारण ही 'पत्राचार-राजनय' (Correspondence Diplomacy) शब्दों का प्रयोग किया जाता है। शिखर स्तर पर ये राजनयिक पत्राचार निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं।

३. व्यक्तिगत राजनयिक प्रतिनिधि : कभी-कभी मुख्य कार्यपालिका द्वारा विदेशों में अपना व्यक्तिगत प्रभाव बढ़ाने तथा दिग्नि सृजनपूर्ण प्राप्त करने के लिए विशेष राजनयिक प्रतिनिधि नियुक्त किए जाते हैं। इस प्रकार के शिखर राजनय की एक महत्वपूर्ण कमजोरी यह है कि इससे विदेश-मन्त्रालय विदेश सेना तथा नियमित राजकीय सेवा का महत्व कम होता है। जब मुख्य कार्यपालिका इन अधिकारियों की अवहेलना कर अपने विशेष दूत नियुक्त कर देती है तो विदेशों में इनका सम्मान कम हो जाता है। कुछ विचारक इन विशेष प्रतिनिधियों की नियुक्ति को ही नियमित राजनयिक सेवा के दोषों का कारण मानते हैं।

४. अन्तर्राष्ट्रीय यात्राएँ : शिखर राजनय के अन्तर्गत राज्य की मुख्य कार्यपालिका विदेशों की अनीपचारिक यात्रा एवं अन्य विशेष यात्राएँ भी करती हैं। ये आज के राजनय का आवश्यक अंग बन गई हैं। इन यात्राओं द्वारा विदेशों से व्यक्तिगत सम्पर्क बढ़ाए जाते हैं तथा जनमत को प्रभावित किया जाता है। जिस रूप में विदेशी मेहमानों का स्वागत एवं प्रादर किया जाता है उससे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध दर्शाए प्रभावित होते हैं। एक देश का जन-जीवन विदेशी आगन्तुक से प्रभावित होता है तथा स्वयं आगन्तुक को भी प्रभावित करता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय यात्राओं से विदेश-सम्बन्धों का रूप निर्धारित होता है।

५. शिखर-सम्मेलन : मुख्य कार्यपालिका के व्यक्तिगत राजनय का एक विकसित रूप शिखर-सम्मेलन है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद से दो या अधिक राज्यों या सरकारों के अध्यक्षों का एकत्रित होना एक सभ्यतावादी बात हो गई है। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्धन तथा विश्व-शांति की स्थापना के लिए अनेक सम्मेलन आयोजित किए जाते हैं जिनमें राज्यों की मुख्य कार्यपालिकाएँ भाग लेती हैं।

शिखर राजनय के लाभ या संपर्धन में तर्क
(Advantages of Summit Diplomacy)

शिखर राजनय के लाभों को निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया जा सकता है—

१. इससे राज्याध्यक्ष, प्रधानमन्त्रियों अथवा सर्वोच्च अधिकारियों के व्यक्तिगत सम्बन्ध घनिष्ठ और नैत्रीपूर्ण बनते हैं, फलस्वरूप दो देशों की सरकारों और जनता के आन्तरी सम्बन्धों में मधुरता आती है।

2. इसी समस्या पर राज्याध्यक्ष सुरेश्वर आषरी विचार विमर्श करके समस्या का समाधान िवाले का प्रयास कर सकते हैं। सुरेश्वर निर्णय लिए जा सकते हैं क्योंकि घोट्टी के नेता उपरिगत रहते हैं जिन्हें हाथ में निर्णायक शक्ति भी होती है।

3. शिखर राज्याय द्वारा सिद्धान्त रूप में समझौता कर लिया जाता है और विस्तार सम्बन्धी कार्य शीघ्रे राज्यायिक स्तर पर छोड़ दिया जाता है।

4. यदि परम्परागत राज्यायिक तरीकों का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है तो उसका समाधान शिखर राज्याय द्वारा शीघ्रतापूर्वक लिया जाता है।

5. शिखर राज्याय की ओर सारे सत्तार का ध्यान आकर्षित रहता है तथा उसकी गतिविधियों एवं उपलब्धियों का विश्व राज्यायिक पर स्वरित प्रभाव पड़ता है।

6. शिखर राज्याय अपने घटिगत सम्बन्धों को पचाधार द्वारा और भी बढ़ा सकते हैं जिससे भविष्य में समस्याएँ पैदा ही न हों अथवा गम्भीर न हों।

शिखर राज्याय के विरोधी शिखरले टेडलेस्टन ने भी यह स्वीकार लिया है कि शिखर राज्याय में अन्ताराष्ट्रीय विवादों के समाधान की लम्बा प्रतीति होती है और उसके द्वारा इस दिशा में आवश्यक ज्ञान सम्बन्ध अर्जित करने का आभास मिलता है। शेषर का मत है कि समस्याओं की जटिलताएँ और बढ़ती हुई बहुपक्षीय समझौते की आवश्यकताएँ शिखर राज्याय द्वारा ही सुलझ सकती हैं।

शिखर राजनय के दोष या विरोध में तर्क (Disadvantages of Summit Diplomacy)

प्रख्यात लेखक हेरल्ड निकल्सन का मत है कि आधुनिक प्रजातन्त्रीय राजनय का वह स्वरूप जिसमें राजन्यायिक व्यक्तिगत रूप में यातायात में भाग ले राजनयिक व्यवस्था का भयंकर अन्धाता है। शिखर राज्याय के जो दोष हैं अथवा उसके विरोध में जो तर्क दिए जाते हैं वे मुख्यतः ये हैं—

1. यदि राज्याध्यक्ष या प्रधानमन्त्री स्वयं ही विदेश मन्त्री या राज्यायिक प्रतिनिधियों का कार्य सम्पन्न करने लगे तो इससे नियमित विदेश सेवाओं का मोरेल गिर जाता है।

2. कभी कभी इसमें निर्णय अत्यधिक जल्दबाजी में ले लिए जाते हैं। शिखर सम्मेलन प्रायः दो अथवा तीन दिनों के लिए होते हैं और कभी कभी तो एक अथवा दो या कुछ घण्टों के लिए ही होते हैं। इतना अल्प समय तो किसी भी सामान्य समस्या के लिए ही कम है। अतः ऐसे सम्मेलनों में लिए जाने वाले निर्णयों में परिपक्वता नहीं होती है यही कारण है कि अधिकोश शिखर सम्मेलन समस्याओं के समाधान में असफल रहते हैं।

3. शिखर सम्मेलनों में राज्याध्यक्षों विदेश मन्त्रियों आदि का जो अतिशय सम्मान होता है इससे उनके अहंकार और घमण्ड में वृद्धि होती है और विवेक कम होता है। उस यातायात में लिए गए निर्णय फलदायक कम सिद्ध होते हैं।

4. जल्दी निर्णय लेने के कारण यह सम्भव है कि मुख्य कार्यपालिका को विधाराधीन विषय पर पूरी सूचना प्राप्त न हो सके।

5 सन्धि वार्ता कर्ता के रूप में मुख्य कार्यपालिका व्यक्तिगत रूप से रेंच जाती है तथा अन्तिम निर्णय उसे मानना ही पड़ता है।

6 इस राजनय में यह जोखिम है कि यदि मुख्य कार्यपालिका अयोग्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि वार्ता के क्षेत्र में अनभिज्ञ है तो गम्भीर राष्ट्रीय अहित हो सकता है।

7 शिखर राजनय धूरी तरह से खुला नाटकीय तथा समाचार पत्रों पर आधारित होता है। फलस्वरूप मुख्य कार्यपालिका के व्यक्तित्व पर कीचड़ उछाले जाने की सम्भावना बनी रहती है। इसके विपरीत यदि इसमें गोपनीयता बरती जाए तो मुख्य कार्यपालिका की नीति स्थिति एवं रियायतों के प्रति सन्देह से देखा जाता है।

8 शिखर राजनय में मुख्य कार्यपालिका के स्तर एवं सम्मान की समस्या भी उत्पन्न हो जाती है। इसके अन्तर्गत बड़े राज्य के अध्यक्ष को एक ऐसे सघर्षन राज्य के ऐसे पदाधिकारी से मिलना पड़ता है जो मुख्य कार्यपालिका होते हुए भी उसकी अपने देश की राजनीतिक व्यवस्था में उतना सम्मान एवं प्रतिष्ठा नहीं होती है।

9 शिखर राजनय का सबसे गम्भीर दोष यह है कि यह गलत आशाओं एवं आकांक्षाओं को उभारता है। जब देश की मुख्य कार्यपालिका राजनय में सक्रिय हो जाती है तो महत्वपूर्ण तथा निर्णायक परिणामों की आशा की जाती है। ऐसा न होने पर जनता की आशाओं और महत्वाकांक्षाओं को गम्भीर अपात पहुँचता है। विरोधी दल इसका राजनीतिक लान चलाते हैं तथा उचित समझौतों के मार्ग में भी बाधक बन जाते हैं।

शिखर राजनय की कुछ अन्य कमियों की ओर डॉ चय ने इस प्रकार संकेत किया है—

10 राष्ट्राध्यक्ष प्रधानमंत्री आदि शिखर राजनय का उपयोग अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने एवं अपना विश्वव्यापी स्थान बनाने के लिए करते हैं न कि सहयोग और समस्याओं के समाधान के लिए। इस राजनय का उपयोग प्रचार के लिए भी किया जाता है। ऐसी स्थिति में शिखर सम्मेलन एक महत्वाकांक्षी नेता के हथियार में दिज्ज प्राप्त करने का साधन बन जाता है न कि न्यायोचित समझौते का आधार। शिखर राजनय का उपयोग मतभेदों को अधिक प्रकट कर देता है। इन्हें बुलाने से जो आशाएँ जाग्रत होती हैं वे शायद ही पूरी हो पाती हैं।

11 कभी कभी एक पक्ष इस ढर से कि कहीं वह शिखर सम्मेलन की असफलता के लिए बदनाम न हो जाए, ऐसी छूट व सुविधाएँ दे देता है जो ठगड़े दिमाग से सोचने पर वह कभी नहीं देता। इसमें समय व धन दोनों का ही अपव्यय होता है। डीन रस्क के मत में “यह शिखर सम्मेलन समय तथा शक्ति को उस सही दिन्धु से हटा देती है जिसे हम बिल्कुल ही नहीं छोड़ सकते।” कभी कभी नेता अपनी प्रतिष्ठा के जाने के भय के कारण अपने रुख में कठोर हो जाते हैं और शिखर राजनय इस कारण असफल रहता है। प्रायः यह देखा गया है कि सम्मेलनों में निर्णय तो ले लिए जाते हैं परन्तु समय की कमी के कारण उनके विस्तृत वर्णन का कार्य अधीनस्थ अधिकारियों पर छोड़ दिया जाता है जो अधिकोशत, एकमत नहीं हो पाते हैं।

12 शिखर अधिकारियों की अनुपस्थिति में राज्य में लिए जाने वाले निर्णयों में देरी होती है। अनुमानतः यह कहा जा सकता है कि अधिक समय तक विदेश मन्त्री की

अनुपस्थिति उराके विभाग को उसके योग्य नेतृत्व से वधित रखेगी, परिणामतः निर्णय प्रक्रिया में देरी लगेगी। सकट के समय तुरन्त निर्णय लेने के स्थान पर विदेश मन्त्री के लौटने का इन्तजार करना पड़ेगा।

13 यह मान्यता कि शिखर राजनय के माध्यम से राज्याध्यक्ष आदि एक दूसरे के मित्र हो जाते हैं, ठीक नहीं है। क्या दो या तीन दिन का सम्मेलन इन्हें एक-दूसरे के इतने निकट ला सकता है कि इनमें मित्रता स्थापित हो जाए? यह तर्क कि इस प्रकार से शिखर सम्मेलनों में जाने से राज्याध्यक्ष आदि उस देश के उसके नागरिकों को जान लेता है। ठीक प्रतीत नहीं होता है।

14 शिखर सम्मेलन के पूर्व उसकी सफलता के लिए कभी-कभी छोटे सम्मेलन आयोजित किए जाते हैं जिनमें निम्न स्तर के अधिकारी भाग लेते हैं। ये महीनों चलते हैं परन्तु फिर भी कोई निर्णय नहीं ले पाते और अन्त में इन्हें बर्खास्त करना पड़ता है। इनकी असफलता मूल सम्मेलन को भी स्थगित कर देती है। निकल्सन व्यक्तिगत स्तर पर वार्ता का विरोधी था। उसने वार्ता की सन्धि वार्ता को निकट से देखा था और वह उस सबसे असन्तुष्ट था। हैटर (Sir William Hayter) भी शिखर सम्मेलन का विरोधी था। उसका मत था कि यदि समस्या के सुलझाने की किसी पक्ष की इच्छा होती तो वार्ता बेकार है, यदि यह इच्छा नहीं है तो वार्ता व्यर्थ है। ईडलेस्टन तो शिखर वार्ता का कट्टर विरोधी था। इसने तो अपनी पुस्तक में एक अध्याय का शीर्षक ही आत्मीय और घनिष्ठ उच्चस्तरीय सम्मेलनों का जोखिम (The Menace of Inimate Top Level Conferences) रखा था। उसका तो निर्णायक मत था कि शिखर सम्मेलन कभी भी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच सकते हैं।

शिखर राजनय की सफलता के लिए चुनौति

शिखर राजनय की आलोचनाओं में वजन है लेकिन इसकी उपयोगिता को भी नकारा नहीं जा सकता। यदि कुछ बातों का विशेष ध्यान रखा जाए और आवश्यक पूर्व तैयारी की जाए तो शिखर राजनय के बहुत ही उपयोगी परिणाम निकल सकते हैं। इतिहास भी इस बात का साक्ष्य है कि अनेक अवसरों पर शिखर राजनय के कारण सकट के बादल छटे हैं। सोवियत रूस और अमेरिका के बीच जो 'हाट लाईन' जुड़ी थी वह शिखर राजनय का ही परिणाम थी और उसके फलस्वरूप किसी भी विश्वव्यापी सकट अथवा युद्ध की सम्भावना के समय दोनों देशों के सर्वोच्च नेता परस्पर अविलम्ब सम्पर्क स्थापित कर आवश्यक निदान ढूँढ सकते हैं या सहमति का क्षेत्र खोज सकते थे। सन् 1991 में सोवियतसंघ के अदसान के बाद स्थिति में मौलिक परिवर्तन आ गया है। वर्तमान में समुक्त राज्या अमेरिका ही विश्व की एकमात्र महाशक्ति रह गई है और शीतयुद्ध समाप्त हो गया है।

शिखर वार्ताओं की सफलता के लिए निम्नलिखित आवश्यक बातों का होना आवश्यक माना जाता है

(1) इसकी सावधानी और सतर्कता के साथ पूर्व तैयारी अपेक्षित है। पूरी तैयारी के बाद संपन्न होने वाली वार्ताओं की असफलता की गुंजायश बहुत कम रहती है।

(2) शिखर वार्ता की सफलता के लिए राष्ट्राध्यक्षों के व्यक्तिगत धैर्य और सहनशीलता की भी अपेक्षा रहती है। अगर राष्ट्राध्यक्षों के स्वभाव में उतावलापन अथवा तुलुकनिजाजी है तो सम्मेलन असफल हो जायेगा। अतः राष्ट्राध्यक्षों में विवेक और परिपक्वता की स्थिति ही किसी शिखर सम्मेलन को सफल बना सकती है।

(3) राष्ट्राध्यक्षों को उन्हीं दिषयों पर शिखर वार्ताएँ सम्पादित करनी चाहिए जिन पर शिखर वार्ता से पूर्व ही व्यापक सहमति हो गई हो अथवा उस पर सहमति होने की संभावना हो। अगर इस मानसिकता के विपरीत कार्य किया गया तो शिखर सम्मेलन असफल हो जायेगा।

(4) शिखर सम्मेलन में पारित किये जाने वाले प्रस्तावों और उसके बाद जारी की जाने वाली संयुक्त विज्ञप्ति पर विरोधज्ञों की राय को महत्व दिया जाना चाहिए।

(5) विरोधज्ञों की राय लेकर तैयार किये गये प्रस्तावों को शिखर सम्मेलन में मांग लेने वाले दूसरे राज्य को भेजे जाने चाहिए ताकि उस दिषय पर पर्याप्त विचार विमर्श हो सके, और उस पर उठने वाली आपत्तियों का निराकरण किया जा सके। इसमें शिखर वार्ता की सफलता की संभावना बढ जाती है।

(6) शिखर सम्मेलन की सफलता के लिए विरोधज्ञ राजनयिकों की सेवा लेना भी अपरिहार्य बन जाता है। ये विरोधज्ञ राजनयिक राष्ट्राध्यक्षों को सही राय दे सकते हैं। अतः शिखर सम्मेलन की सफलता में अनुनवी और विरोधज्ञ राजनयिकों की सेवा का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है।

(7) शिखर सम्मेलन की सफलता के लिए यह भी आवश्यक बन जाता है कि यह बात स्थान और सद्भावनापूर्ण वातावरण में आयोजित किये जाएँ।

(8) राष्ट्राध्यक्षों के शिखर सम्मेलन से पूर्व सचिव और मन्त्री स्तर पर वार्ताएँ आयोजित कर लेनी चाहिए, जिससे कि इसकी सरलता के लिए ठोस आधार तैयार हो जाता है।

(9) शिखर सम्मेलनों का आयोजन करना अत्यन्त जटिलमय होता है। इसकी असफलता पर समस्या और भी जटिल हो जाती है, और राष्ट्रों के आपसी संबंधों में और भी कटुता आ जाती है। अतः अत्यन्त अपवाद वाली परिस्थिति में ही इसका आयोजन किया जाना चाहिए।

सम्मेलनीय राजनय (Conference Diplomacy)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जन ऊनिरुधि के दिवास के साथ ही सम्मेलनीय राजनय का प्रादुर्भाव हुआ। 'सम्मेलनीय राजनय' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 1920 ई. में ब्रिटिश प्रधानमंत्री लार्ड हार्ज के मन्त्रिमण्डल के सदस्य लार्ड हैन्की (Lord Hanksy) द्वारा अपने भाषन में किया गया जिसका शीर्षक ही 'सम्मेलन द्वारा राजनय' (Diplomacy by Conference) था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सम्मेलनों द्वारा राजनयिक व्यवहार का संचालन एक आम बात हो चुकी। वर्तमान में लन्दन, पेरिस, न्यूयार्क और जेनेवा में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के मुख्यालय स्थित हैं।

सम्मेलन राजनय अर्थ एवं महत्व

(Meaning and Importance of Conference Diplomacy)

सम्मेलन राजनय को बहुपक्षीय राजनय (Multilateral Diplomacy) कहा जाता है। वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के संचालन में इस राजनय का महत्व निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। आधुनिक युग 'सम्मेलन द्वारा राजनय' का युग है। यह राजनय की मुख्य प्रक्रिया बन गया है।

सम्मेलनीय राजनय द्विपक्षीय राजनय के परम्परागत तरीकों से स्पष्टतः भिन्न है। राबर्टो रेगला के कथनानुसार 'सम्मेलनीय राजनय राजनयिक सन्धि वार्ताओं की एक तकनीक है तथा राजनय के अन्य सभी पहलुओं की गति प्रक्रिया के असंख्य जटिल नियमों से आबद्ध रहती है।'¹ सम्मेलनीय राजनय की मूलभूत विशेषताएँ यद्यपि इतिहास में पहले से ही प्रचलित रही हैं किन्तु जैसा कि निकल्सन का कहना है प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यह अनुमान किया जाने लगा कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनयिक कार्य प्रवृत्ति गोल मेज सम्मेलनों द्वारा सम्पन्न की जाए।² लॉर्ड हैन्की ने भी इस विचार का समर्थन किया है। उनके मतानुसार प्रथम विश्वयुद्ध के बाद महाराष्ट्रियों के मन्त्रियों के बीच प्रत्यक्ष वार्ता प्रारम्भ हुई जो आज न केवल प्रमुख शक्तियों के बीच है बल्कि छोटे राज्यों के बीच भी उसी प्रकार प्रचलित है।

राजनय का सामान्य मार्ग विदेश विभाग तथा उनके द्वारा नियुक्त राजदूत है। इस सरल सामान्य और सीधे मार्ग को न अपनाकर राज्य इन्हें पीछे छोड़कर सम्मेलनों द्वारा राजनय का मार्ग अपनाते हैं। सामान्यतः राज्यों के मध्य सम्बन्ध नोट्स के आदान प्रदान से चलते हैं जिन्हें राजदूतों के माध्यम से भेजा जाता है। उस समय और उन परिस्थितियों में जब नोट्स के आदान प्रदान में देरी हो जब जटिल समस्याओं के निराकरण के लिए व्यक्तिगत वार्ता आवश्यक हो जहाँ मोल तोल व लेन देन के आधार पर कई प्रश्नों पर विचार विमर्श हो वहीं नोट्स के स्थान पर सम्मेलनों की सहायता ली जाती है।

सम्मेलनीय राजनय से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान किया जा सकता है और अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द्र की वृद्धि हो सकती है। जैसाकि हैन्की के शब्दों में "सम्मेलन द्वारा राजनय के विवेकपूर्ण विकास से युद्ध की रोकथाम की सर्वोत्तम आशा की जा सकती है।" इसके विपरीत समुक्त राज्य अमेरिका के विदेश सचिव डीन एचीसन का मत था कि युद्धोत्तर काल में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बहुत हद तक टकराव को समाप्त करने के साधन के रूप में नहीं रहकर उसे धालू रखने के साधन के रूप में रह गए हैं।

अनेक क्षेत्रीय तथा अन्य प्रकार के समूह जैसे नाटो (NATO) अमेरिकी राज्यों का संगठन (OAS) तथा यूरोपीय एकता आन्दोलन असलग्न राष्ट्रों के आन्दोलन आदि को भी सम्मेलन के राजनय के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जब से जनता रुचि लेने लगी है तब से सम्मेलन का राजनय अधिक लोकप्रिय बन गया है। अब समुक्त राज्य अमेरिका जैसी महाराष्ट्र और अन्य बड़े

¹ "Diplomacy by conference is a technique of diplomatic negotiations and like all aspects of diplomacy is surrounded by numerous and complicated rules of procedure

— Roberto Regala

² "It was felt after the world war of 1914-18 that diplomatic intercourse would hence forward be conducted almost entirely by round table conference

— Harold Nicolson

राष्ट्र की छोटे राज्यों की आरक्षण को महत्व देने लग है और इनके सन्ध्या की आरक्षण को महसूस करने लग है। सम्मेलन का राजनय सद्युक्त निदेशन एवं क्रिया का प्रयोग करके विशेष क्षेत्रों के बीच सहयोग में वृद्धि करता है। उदाहरण के लिए नटो की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इसने शक्तिशाली सैनिक सहयोग का विकास किया है।

सम्मेलन के राजनय का एक दूसरा विकास सन्ध्या की सन्ध्या का विकास है। यह यूरोपीय अर्थिक सन्ध्या तथा इससे सम्बद्ध विकास की रचना द्वारा प्रोत्साहित किया गया है। सम्मेलन के राजनय ने ही ससदीय राजनय को जन्म दिया। जो आज के राजनयिक क्षेत्र की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

सम्मेलन का राजनय हमेशा खुला राजनय होता है। जिस प्रकार खुले सन्ध्या के खुले में ही प्रदर्शित किए जाते हैं। इसमें यह सम्मेलन रहती है कि सम्मेलन दोनों पक्षों के हितों का नुकसान हो और उस सम्मेलन या मगदन का नुकसान हो जिसमें कि दे किए गए हैं। कभी कभी दब जाते और सम्मेलन के जनता की अर्थों से अप्रभावित रहना अच्छा सन्ध्या जाना है क्योंकि इससे सन्ध्या स्पष्ट होती है और दिवद्वारा सन्ध्या पर दिए गए निर्णय अच्छी तरह किया जा सकता है। सम्मेलन के राजनय को कभी कभी प्रसार के लिए प्रयुक्त किया जाता है। यह प्रवृत्ति उत्तराधिकार है क्योंकि इसमें हर देश अपनी शक्ति बढ़ाने और अन्य की शक्ति को कम करने का प्रयत्न करता है।

सम्मेलन के राजनय की अनेक सीमाएँ हैं। राजनय के इस रूप का सम्मेलन इसलिए किया जाता है क्योंकि यह एक ऐसी प्रक्रिया दिखाई देती है जैसी किनी राज्य की व्यवस्थापिका के अधिनियम में रहती है। किन्तु व्यवहार में किनी व्यवस्थापिका के अधिनियम तथा मध्यम राज्यों के सम्मेलनों में पर्याप्त अन्तर रहता है। दूसरे इन राज्यों के प्रतिनिधि स्वतंत्र एजेंट नहीं होते अपितु अपनी सरकारों के निर्देशनों से बांधे रहते हैं और उनका काम होता है कि वे अपने राज्य के हितों को रखा एवं अनिवार्य करें।

सम्मेलनीय राजनय का ऐतिहासिक विकास

(The Historical Development of Conference Diplomacy)

यद्यपि प्रचीन काल से ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को सम्मेलनों की सहयोग से मधुर और मैत्रीपूर्ण बनाया जा रहा है यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के रूप में प्रथम महदुद्ध के बाद से ही इसका प्रयोग सन्ध्या हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वप्रथम बड़ा सम्मेलन तीस दशक युद्ध को समाप्त करने के लिए हुआ था और इसके परिणामस्वरूप 1648 ई. की वेस्टफालिया सन्ध्या सम्पन्न हुई थी। वेस्टफालिया सम्मेलन (The Congress of Westphalia) ने विभिन्न देशों के बीच सन्ध्या सम्मिलित हुए थे जो यूरोप के प्रत्येक राजनयिक हित का प्रतिनिधित्व करते थे। इस सम्मेलन के नियम परस्पर दिए गए निर्णयों के बाद लिए गए। किसी शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा कमजोर राष्ट्रों पर इनको लाया नहीं गया। वेस्टफालिया सम्मेलन ने "स्वतंत्र देशों द्वारा दो महान् बहुपक्षीय सन्धियाँ सम्पन्न की जिन्होंने यूरोपीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की नई व्यवस्था को वैधानिक सम्पन्न की।" 18वीं शताब्दी में सन्धिवाद एवं सन्ध्यावाद के विस्तार के साथ ही विश्व के राज्यों की दृष्टि कम होने लगी तथा उनके बीच इन सम्बन्धों पर नियमन करने के लिए सन्धि सम्मेलन

सम्मेलन आदि का व्यवहार सामान्य बन गया। सम्मेलन व्यवस्था जो वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का सम्भवतः बहुत ही विशिष्ट और लोकप्रिय लक्षण है इस अवधि में पर्याप्त विकसित हुई।

सम्मेलनीय राजनय का वास्तविक प्रारम्भ १८१५ की वियना कोंग्रेस से माना जाता है। वियना कोंग्रेस (The Congress of Vienna) नेपोलियन के पराभव के बाद युद्धों को रोकने और यूरोप की राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए आयोजित की गई थी। यूरोप के शासक पुरातन व्यवस्था को पुनर्स्थापित करने के प्रयत्नों में औशिक और अस्थायी रूप से ही सफल हुए। अपने कार्यों से जाने अनजाने उन्होंने एक ऐसी राजनीतिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की आधारशिला रख दी जो लगभग एक शताब्दी तक विश्व मामलों का मार्ग निर्देशन करती रही। कोंग्रेस ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्बन्ध में भी अनेक सुझाव दिए। अन्तर्राष्ट्रीय विधि में सम्य राज्यों में परस्पर लागू होने वाले नियमों और रीति रिवाजों का सकलन किया गया। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय नदियों में विभिन्न राज्यों के जहाजों के आवागमन समुद्रों के उपयोग राष्ट्रों के बीच पारस्परिक व्यवहार आदि का नियमन करने का प्रयास किया गया। अन्त में कोंग्रेस ने मावी यूरोपीय शान्ति को कायम रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सस्था की स्थापना की जिसे यूरोपीय व्यवस्था कहते हैं। वियना कोंग्रेस द्वारा स्थापित यूरोपीय व्यवस्था (The Concert of Europe) को यथार्थतः प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कहा जा सकता है जिसकी आधारशिला पर ही कालान्तर में राष्ट्रसंघ और समुक्त राष्ट्रसंघ का निर्माण हुआ।

प्रथम महायुद्ध से पहले जो प्रमुख सम्मेलन हुए उनमें १८९९ तथा १९०७ के हेग सम्मेलन विशेष महत्वपूर्ण हैं। प्रथम हेग सम्मेलन (१८९९) के सदस्य राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए पक्ष निर्णय पद्धति पर अधिक बल दिया और उसे सामान्य सहमति का आधार बनाना चाहा। फलस्वरूप हेग में विवाचन के स्थायी न्यायालय की स्थापना हुई। द्वितीय हेग सम्मेलन (१९०७) में युद्ध के नियमों के निर्धारण पर गम्भीर विचार विमर्श किया गया और राज्यों से यह अपेक्षा की गई कि वे युद्ध से बचने के लिए तीसरे पक्ष की मध्यस्थता स्वीकार करें। क्लाडे के अनुसार विभिन्न कमियों के बावजूद हेग व्यवस्था में सर्वव्यापकता की प्रवृत्ति निहित थी। द्वितीय सम्मेलन में ४४ राष्ट्रों के प्रतिनिधि शामिल हुए जिनमें लेटिन अमेरिकी गणराज्यों के प्रतिनिधि भी थे। इस प्रकार १९०७ में विश्व को एक प्रकार से प्रथम महासभा की प्राप्ति हो गई। अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति के प्रसार की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण कदम था। हेग सम्मेलन में छोटे और बड़े सभी राष्ट्र सम्मिलित हुए। यह व्यवस्था इस दृष्टि से शक्तिशाली बनी कि प्रमुख कूटनीतिक समाओं में छोटे राज्यों और बड़ी शक्तियों का समान स्तर पर सम्मिलित होना न केवल आवश्यक वरन् विशेष उपयोगी भी है। हेग सम्मेलनों ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की व्यवस्था में स्थायी सामान्य सुधार के उद्देश्य से सामूहिक कार्य एवं दायित्व (Collective Activity) के विकास की दिशा में उल्लेखनीय योगदान दिया। हेग व्यवस्था यूरोप की समुक्त व्यवस्था से कहीं अधिक मात्रा में परोक्ष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से सम्बन्धित थी। अनेक मतभेदों के बावजूद हेग सम्मेलन ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के महत्वपूर्ण विकास तथा संहिताकरण विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए स्थायी प्रणाली के निर्माण तथा

विद्वद्गण या सधर्म राष्ट्रों द्वारा अपने झगड़ों के शान्तिपूर्ण सम्पन्न के लिए सिद्धान्त के विकास की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया। हेग व्यवस्था ने युद्ध के परिणाम की आधारभूतता की ओर तथा बहुराष्ट्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की सहृदय दराजों के विकास की ओर संकेत किया। हम सम्मेलनों की प्रगति सुषुप्तता की ओर रही। घेदरमैन कमेटीयों, रोलकल आदि का प्रयोगात्मक उपयोग हुआ। सन् 1907 में हेग-सम्मेलन का यह प्रस्ताव नी महत्वपूर्ण था कि एक प्रारम्भिक समिति (Preparation Committee) की स्थापना की जाए जो सभी सम्मेलनों के लिए सूचनाएँ एकत्र करें कार्यक्रम तैयार करने के लिए निम्नित्वा बलों का अध्ययन कर तथा दूसरे हेग सम्मेलन की स्वीकृति के लिए समझौता और प्रणाली की एक व्यवस्था सुझाए।

प्रथम महायुद्ध की शान्ति के बाद सबसे बड़ा और उल्टा प्रान्ति की स्थापना करने का था। युद्ध के बाद शान्ति की व्यवस्था स्थापित करने के प्रान्ति की उल्टा का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि जहाँ युद्ध सत्र बार वर्ष में समाप्त हो गया था, वहाँ विभिन्न देशों के साथ शान्ति-सन्धि करने में पाँच वर्ष का समय लगा। निम्न और सह राष्ट्रों ने 28 जून, 1919 को जर्मनी के साथ सन्धि की सन्धि 10 अक्टूबर, 1919 को अस्ट्रिया के साथ सेंटजर्मेन की सन्धि 27 नवम्बर, 1919 को बल्गेरिया के साथ बुखारेस्ट की सन्धि 4 जून 1920 को हंगरी के साथ ट्रिप्लो की सन्धि 10 अगस्त 1920 को टर्की के साथ सेव्रे की सन्धि तथा 23 जुलाई, 1923 को स्पेन की सन्धि सम्पन्न की। ये सन्धियाँ 8 अगस्त, 1924 को लागू हुई। उनके बाद ही सत्रे सत्र में युद्ध विधिद्वारा शान्ति स्थापित हो सकी। इसी बीच प्रान्त-महासागर में रुचि रखने वाले राष्ट्रों का एक सम्मेलन 1921-22 के शुरुआत में वर्सिलेस में हो चुका था। इस सम्मेलन में सम्मिलित होने वाले राष्ट्रों ने सुदूरपूर्व में शान्ति स्थापित रखने के लिए कुछ सन्धियाँ कीं। 1919 में की गई सन्धि की सन्धि से लेकर बाद में की गई सन्धि तक सभी सन्धियाँ करने सहित सन्धि में शान्ति-सन्धि (Peace Settlement) कहलाती है। सन् 1919 के बाद 20 वर्ष तक अर्थात् प्रथम महायुद्ध की शान्ति से द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ तक एक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में जितनी भी महत्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुई, उनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इन शान्ति सन्धियों के साथ गहरा सम्बन्ध था।

शान्ति सम्मेलन (Peace Conference, 1919) के लिए शान्ति की राजनीति के लिए जो चुना गया स्थान ने युद्ध में काड़ी भूमिका लिये थे और जर्मनी के अन्तर्गत का प्रतिरोध करने में बहुत अधिक शक्ति प्रदर्शित किया था। इस शान्ति-सम्मेलन में केवल निम्न-राष्ट्रों को ही सम्मिलित किया गया। जो राष्ट्र इस युद्ध में पराजित हुए थे, उन्हें नहीं बुलाया गया। उनकी वेदना सही समय आधारभूतता सन्धि गई जब शान्ति-सन्धियों पर हस्तक्षेप करने का अवसर मिला। संक्षिप्त रूप पूर्वसूचने सम्पन्न हो चुका था और युद्ध राष्ट्रों से सन्धि सन्धि नहीं किया था, वह सन्धि प्रतिनिधित्व करने का अवसर नहीं दिया गया। सम्मेलन का पहला पूर्ण अधिवेशन (Plenary Session) 18 जनवरी, 1919 को प्रारम्भ हुआ। इसमें भाग लेने के लिए 32 राष्ट्रों के 70 प्रमुख प्रतिनिधि आए जिनमें विश्व के विभिन्न राजनीतिज्ञों को थे ही, साथ ही स्वयं अमेरिकन राष्ट्रपति, 11 प्रधान मंत्री और 12 विदेश मंत्री भी थे। प्रत्येक देश ने अपने प्रतिनिधि मन्त्र के साथ अनेक सन्धि

सहायक और परामर्शदाता भेजे थे। अनेक प्रतिनिधि मण्डलों के सदस्यों की राख्या रीकडों थी जिनमें विद्वान् वृटनीतिज्ञ सैनिक नौसैनिक नागरिक प्रशासनकर्ता विधि विशेषज्ञ वित्त और अर्थ विशेषज्ञ श्रमिक नेता राज्य मन्त्री ससद सदस्य और समी प्रकार के पत्रकार तथा प्रचारक थे। शान्ति सम्मेलन का कार्य जब प्रारम्भ हुआ तो उसके समस्त समस्याओं का अन्धार लगा था। शान्ति निर्माणकर्ता पेरिस में केवल शान्ति निर्माण के लिए ही एकत्रित नहीं हुए थे बल्कि उनका उद्देश्य शान्ति को स्थिरता प्रदान करना विभिन्न समस्याओं को सुलझाना विश्व को प्रजातन्त्र के लिए सुरक्षित बनाना और सत्तार के परतन्त्र राष्ट्रों को आत्म निर्णय का अधिकार देना था। डॉ. लैंगसम के शब्दों में शान्ति सम्मेलन में उस समय के महान राजनयियों और राजनीतिज्ञों ने भाग लिया। अमेरिका के राष्ट्रपति दूधरो विल्सन ब्रिटिश के प्रधान मन्त्री लॉयड जॉर्ज फ्रांस के प्रधान मन्त्री क्लेमेंटो तथा इटली के प्रधान मन्त्री आरतेन्डों के अतिरिक्त अमेरिका से लेनसिंग तथा कर्नल हाउस इंग्लैण्ड से बालफोर और बोनरला फ्रांस से पिशोन और काम्बो इटली से सात्रियो बेल्जियम से हारमैन्स दक्षिण अफ्रीका से जनरल स्मटस व बोधा तथा पोलेण्ड से दमोवस्की और पादरेफस्की भी शामिल हुए थे।

युद्ध के बाद शान्ति और शान्ति के बाद युद्ध—यह मनुष्य के विकास क्रम का इतिहास रहा है। 1919 के शान्ति सम्मेलन में राष्ट्रसंघ के प्रारूप को स्वीकार किया गया और 10 जनवरी 1920 से इसे क्रियान्वित किया गया और राष्ट्रसंघ अस्तित्व में आया। लगभग 20 वर्षों की शान्ति के बाद द्वितीय महायुद्ध का विस्फोट हुआ। द्वितीय महायुद्ध काल में विभिन्न महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए जिन्होंने केवल युद्धकालीन घटनाओं को अपितु युद्धोत्तर विश्व को भी प्रभावित किया। 25 अप्रैल 1945 से 25 जून 1945 तक सान फ्रांसिस्को सम्मेलन हुआ जो संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना से सम्बन्धित था। इसमें विश्व के 46 राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। ई. पी. वेज ने इस सम्मेलन को सबसे महान् अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन कहा है—जैसा न तो कभी हुआ था और न ही भविष्य में होने की सम्भावना थी। इसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों अथवा सम्मेलनीय राजनय अधिकाधिक लोकप्रिय होता गया और आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्मन्धों का बड़ा भाग राजनय के इस स्वरूप पर ही आधारित है। समय समय पर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान करने के लिए निम्नलिखित महत्वपूर्ण सम्मेलन आयोजित किये गये हैं—

जेनेवा सम्मेलन (1954) पेरिस सम्मेलन (1960) आदिस अबाबा सम्मेलन (1963) कैरेकस सम्मेलन (1974) हेतसिन्की सम्मेलन (1975) कोलम्बो सम्मेलन (1976) हवाना सम्मेलन (1979) नई दिल्ली सम्मेलन (1981) मेलबोर्न सम्मेलन (1981) मैड्रिड सम्मेलन (1991) और काराकस सम्मेलन (1991)।

सम्मेलनों का संगठन अथवा सम्मेलनों का आयोजन और अन्त

राजनयिक सम्मेलनों का आयोजन किस प्रकार होता है इनकी कार्य प्रणाली किस प्रकार तय की जाती है और सम्मेलनों की समाप्ति कैसे होती है तथा विश्व को सम्मेलन के निर्णयों या दृष्टिकोण की जानकारी कैसे हो पाती है इस पर डॉ. राय ने अपना सुगठित अध्ययन अग्रवत् प्रस्तुत किया है—

“राज्यों के मध्य मतभेदों को दूर करने अथवा समस्याओं के समाधान के लिए कोई भी राज्य इन पर विचार हेतु अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुला सकता है। इससे पूर्व कि आयोजक राज्य निमन्त्रण भेजे निमन्त्रित राज्य की प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से उक्त सम्मेलन के लिए सहमति लेना आवश्यक है। साथ ही सम्मेलन में विचार किए जाने वाले विषयों पर भी सहमति ले ली जाती है। निमन्त्रण पत्र राष्ट्राध्यक्ष, विदेश मन्त्री आदि के नाम से भेजा जाता है। इसमें सम्मेलन के बुलाए जाने के कारण, उसके उद्देश्य तथा कार्यक्रम का विवरण होता है। कभी कभी निमन्त्रण पत्र मेजबान राज्य के स्थान पर अन्य राज्य भी भेजते हैं। विषय और उसके महत्व के आधार पर ही राज्य तय करते हैं कि वे सम्मेलन में भाग लें अथवा नहीं। राज्य निमन्त्रण को अस्वीकार कर सम्मेलन में भाग लेने से मना भी कर सकते हैं। सम्मेलन में अनुपस्थित होने के बाद भी राज्य इसके निर्णयों की सन्तुष्टि कर सकते हैं। सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों को अधिकार पत्र अथवा प्रत्यय पत्र सम्मेलन के अधिकारियों के समक्ष प्रस्तुत करने पड़ते हैं। इन्हें वे सभी राजनयिक अधिकार तथा उन्मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं, जो राजदूतों को प्राप्त हैं। सम्मेलन की प्रथम सभा में एक सभापति तथा एक सचिव चुना जाता है। यह प्रायः आयोजक राज्य का ही होता है। यह केवल एक परम्परा है जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार किसी भी प्रकार की अनिवार्यता नहीं है। अग्रत्व आदि की व्यवस्था प्रायः वर्णानुक्रमिक ही होती है। सम्मेलन की कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में पहले से ही तय कर लिया जाता है। यह एक मान्य नियम है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में प्रत्येक राज्य का एक मत होता है भले ही प्रतिनिधि मण्डल में कितने ही सदस्य क्यों न हों। उदाहरणार्थ संयुक्त राष्ट्र की आम सभा में प्रत्येक सदस्य राज्य के पाँच प्रतिनिधि तथा पाँच वैकल्पिक प्रतिनिधि होते हैं किन्तु वे मत एक ही दे सकते हैं। सम्मेलन के स्थान का चयन तीन आधारों पर किया जाता है। प्रथम समस्याग्रस्त स्थान के निकट जैसे मोरक्को सकट के निराकरणार्थ 1906 का अलजीसिरास सम्मेलन। द्वितीय, महाशक्ति के आधार पर जैसे 1908-1909 का लन्दन नाविक सम्मेलन अथवा वार्सिंगटन का 1921-1922 का सम्मेलन। तृतीय एक तटस्थ स्थान पर जैसे जेनेवा में हुए कई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन।”

“सम्मेलन के प्रारम्भिक काल में भाषा प्रायः फ्रेंच ही हुआ करती थी। बीसवीं शताब्दी की भाषा अंग्रेजी बन गई है। सम्मेलन के आयोजन के पूर्व ही यह तय कर लिया जाता है कि सम्मेलन में किस भाषा का प्रयोग होगा। संयुक्त राष्ट्र में पाँच भाषाओं—अंग्रेजी, फ्रांसीसी, रूसी, चीनी व स्पेनिश—को मान्यता दी गई है। किसी भी सदस्य को इन सम्मेलनों में स्वीकृत पाँच भाषाओं में से किसी भी एक भाषा में भाषण देने व सुनने का अधिकार है। जटिल समस्याओं पर विचारार्थ सम्मेलनों के कार्य को सुविधापूर्वक चलाने के लिए तथा समस्याओं पर विचार हेतु सम्मेलनों का कार्य कई समितियों में विभाजित कर दिया जाता है, जो कार्य समाप्ति पर अपना प्रतिवेदन मूल सम्मेलन के सचिव के पास भेज देती हैं।

इन्हीं के प्रतिवेदनों पर मूल सम्मेलन विचार करता है। सम्मेलन में पूर्ण विचार-विमर्श के परभाव विभिन्न प्रस्तावों को बहुमत के आधार पर स्वीकार करके कुछ निर्णय ले लिए जाते हैं। ये निर्णय सम्मेलन के अन्त में अन्तिम प्रपत्र (acte finale) के रूप में प्रकाशित किए जाते हैं। सम्मेलन के पूर्व की पूरी तैयारी आयोजक राज्य के कनिष्ठ अधिकारियों

द्वारा की जाती है। सम्मेलन की सफलता अथवा असफलता इस पूर्व तैयारी पर ही निर्भर करती है। विख्यात ब्रिटिश राजदूत विक्टर वेलेजली का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों को बुलाने के पूर्व उसकी तैयारी अति आवश्यक है। संयुक्त राज्य अमेरिका के राजदूत ह्यूम रिम्पन ने एक बार कहा था कि "यह बौध्दनीय है कि अधिकाधिक तैयारी का कार्य सम्मेलन के बुलाने के पूर्व सीपी तथा निजी वार्ता द्वारा पूरा किया जाए ताकि उसका (सम्मेलन) कार्य सीमित न होकर छोटी मोटी कठिनाइयों में सालमेल बैठाने तथा समझौते की शर्तों का मसौदा तय करने तक ही सीमित रह जाए। सम्मेलन के अन्त में एक विज्ञापित जारी की जाती है जिस पर पहले से ही पूर्ण विचार कर निर्णय ले लिया जाता है तथा जिसमें सम्मेलन के विभिन्न पक्षों के दृष्टिकोणों का समावेश किया जाता है।"¹ उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सम्मेलनीय राजनय को सफल बनाने के लिए अधिक प्रयास करने पड़ते हैं।

सम्मेलनीय राजनय के गुण

(Merits of Conference Diplomacy)

सम्मेलनीय राजनय को युद्ध रोकने का महत्वपूर्ण उपाय माना गया है। लॉर्ड ईकी तथा अन्य ने सम्मेलनीय राजनय के निम्नलिखित गुणों का उल्लेख किया है—

1. इसमें भाग लेने वालों की संख्या कम होने के कारण अनौपचारिकता का निर्वाह किया जाता है। यह भी देखा गया है कि सम्मेलनों में सदस्य राष्ट्रीय स्वाधों को छोड़कर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की ओर उन्मुख होते हैं।

2. सम्मेलनीय राजनय की प्रक्रिया में लचीलापन होता है। विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों को परस्पर विचार विमर्श का अच्छा अवसर मिलता है। गत्यावरोधों को आपने-भामने बैठकर सुलझा लिया जाता है।

3. सभी सम्मेलनों में विदेश मन्त्रियों या राज्याध्यक्षों या प्रधान मन्त्रियों का व्यक्तिगत रूप से भाग लेना सम्भव नहीं हो पाता अतः कभी कभी राजदूत ही अपने देश के प्रतिनिधि के रूप में सम्मेलन में भाग लेते हैं। उच्च स्तरीय अधिकारी के नेतृत्व में विशेषज्ञ भी सम्मेलन में भाग लेते हैं। विभिन्न राज्यों के एक ही विषय के विशेषज्ञों के सामूहिक विचार-विमर्श से विश्वास और आतुरता की भावना पनपती है और सटीक निर्णय लेने की सम्भावनाएँ बढ़ती हैं।

4. सम्मेलन में भाग लेने वाले सदस्य प्रायः एक दूसरे से परिचित रहते हैं। प्रमुख सदस्यों के बीच व्यक्तिगत मित्रता रहती है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान की उचित पृष्ठभूमि बन जाती है। निकल्सन भी इसी विचारधारा का समर्थक था। उसका मत था कि बहुत से राष्ट्राध्यक्ष न केवल एक दूसरे को जान जाते हैं वरन् वे एक दूसरे के मित्र व विश्वासपात्र भी बन जाते हैं। फ्रजवेल्ट और चर्चिल के मध्य विश्वास व मित्रता सम्मेलनों में व्यक्तिगत सम्पर्क का ही परिणाम था। वे जटिल समस्याएँ जो वर्षों साधारण राजनयिक माध्यम से नहीं सुलझ पाती, कभी कभी सम्मेलनों द्वारा सुलझ जाती है।

5. सम्मेलनों की कार्यवाही गोपनीय रहती है तथा इसके परिणामों को ही प्रकाशित किया जाता है।

6 सम्मेलनों में बार बार मिलने से परस्पर स्थायी विश्वास और सहयोग की वृद्धि होती है।

7 सम्मेलनों में विभिन्न दिशे-शी के बीच समञ्जस्य का प्रयास किया जाता है इसलिए अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन मिलता है।

8 सम्मेलनीय राजनय से समय की भी बचत होती है। आज दूतावासों के कार्य इतने अधिक बढ़ गए हैं कि यदि वार्ताओं का कार्य भी इन पर छोड़ दिया जाए तो इन पर कार्य का बोझ और भी बढ़ जाएगा तथा शीघ्र निर्णय लेने के मार्ग में अदरेश आएगा। राष्ट्रपक्षों के बीच होने वाले ये सम्मेलन कम समय के लिए होते हैं अतः इसमें शीघ्र निर्णय लिये जा सकते हैं।

9 'जिन राज्यों के सत्वादधान में ये सम्मेलन होते हैं उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने का मौका मिलता है। सम्मेलनीय राजनय प्रगतन्त्रीय व्यवस्था के अनुरूप है। इसमें छोटे राज्यों को भी बड़े राज्यों की भाँति समानता के स्तर पर विचार प्रकट करने का एक अच्छा अवसर मिलता है। इस प्रकार सम्मेलनीय राजनीति का स्वरूप प्रजातांत्रिक है।

10 सम्मेलनीय राजनय खुले राजनय को सम्मिश्र बनता है अतः खुले राजनय के अनेक गुणों का इसमें समावेश है।

11 वर्तमान परिस्थितियों में सम्मेलनीय राजनय एक वास्तविकता बन गया है।

सम्मेलनीय राजनय के दोष

(Demerits of Conference Diplomacy)

सम्मेलनीय राजनय के दोषों को निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है—

1 सम्मेलनीय राजनय में गैरनीयता का दस्तावेज रहता है। इससे सदस्य राज्यों के मन में अविश्वास की भावना पनपती है तथा सन्धि दस्ता का मार्ग दुर्गम बन जाता है।

2 सम्मेलनीय राजनय में अनेक गुप्त बातें समय से पहले ही खुल जाती हैं जिससे सन्धियों एवं समझौतों की कार्यक्षमता के मार्ग में बाधा आती है।

3 राजनयिक समझौतों में शीघ्र निर्णय ले लिया जाता है। जिस समस्या को राजनयिक समझौता दस्ता के मध्यम से दस वर्ष तक भी नहीं सुलझाया जा सकता उसे राज्यपक्षों के मिलने पर एक ही दिन में सुलझा लिया जाता है फलतः व्यवसायिक राजनयकों का महत्व घट जाता है।

4 सम्मेलनों में बार बार मिलने पर राजनयज्ञों में परस्पर ईर्ष्या और वैमनस्य बढ़ने की सम्भावना अधिक रहती है। छोटी छोटी व्यक्तिगत नाराजगियों अनेक बार राष्ट्रीय हित के लिए घटक बन जाती हैं।

5 सम्मेलनों में जब विभिन्न प्रधानमन्त्रियों एवं विदेश मन्त्रियों के बीच मंत्री एवं सौहार्द की भावनाएँ बढ़ जाती हैं तो वे आपस में ऐसे वादों तथा सन्धियों कर लेते हैं जिनको वे व्यवहार में पुरा नहीं कर पते, फलतः सम्मेलनीय राजनय का महत्व कम हो जाता है।

6 सम्मेलनों में की गई सन्धियों की कार्यक्षमता में अनिश्चयता रहती है क्योंकि वे जनमत की सही परीक्षा किए बिना ही सम्पन्न कर ली जाती हैं। यदि उनको जनता

अस्वीकार कर देती है तो वे निरर्थक बन जाती हैं। वसाय की सन्धि को अमेरिकी राष्ट्रपति युद्धो विल्सन द्वारा स्वीकार किया गया था किन्तु यहाँ की काँग्रेस ने उसे अस्वीकार कर दिया। परिणामस्वरूप सयुक्तराज्य अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बन सका था।

7 सम्मेलनों में दो राज्यों का मनमुटाव या खिंचाव घटने की अपेक्षा अधिक बढ़ जाता है। वे इस अवसर का प्रयोग एक दूसरे पर कीचड़ उछालने में करते हैं। फलतः अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावनापूर्ण वातावरण को हानि पहुँचती है।

8 सम्मेलनों में भाग लेने वाले प्रतिनिधि अपने व्यस्त कार्यक्रम में से थोड़ा ही समय विचार विमर्श के लिए दे पाते हैं तथा सन्धियों की गहराई के बारे में सन्तुलित दृग् से नहीं सोच पाते। प्रो. निकल्सन के मतानुसार शान्तिकाल में विचार विमर्श की शीघ्रता लाभप्रद होने की अपेक्षा हानिप्रद बन जाती है।

9 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गुटबन्दी होने के बाद सम्मेलनीय राजनय का कोई उपयोग नहीं रह गया है। विचारधारा अर्थव्यवस्था एवं राष्ट्रीय हितों का विरोध और अनेक पूर्वाग्रह होने के कारण सम्मेलनों में अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचारों का स्वस्थ आदान प्रदान सम्भव नहीं हो पाता है। प्रत्येक पक्ष सम्मेलन का दुरुपयोग अपने राजनीतिक प्रचार के लिए करने लगता है।¹

सफलता की शर्तें (Conditions for Success)

सम्मेलनीय राजनय की उक्त आलोचनाओं में पर्याप्त सत्यता होते हुए भी अब पुरानी व्यवस्था की ओर लौटना सम्भव नहीं है। अतः आवश्यकता इस बात की है सम्मेलनीय राजनय को सफल बनाने के लिए उचित परिस्थितियाँ अपनाई जाए। इसके सफल संचालन के लिए विचारकों द्वारा निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किए गए हैं—

1 सम्मेलन की सफलता के लिए यह उपयुक्त है कि सभी प्रतिनिधि मूल बातों के सम्बन्ध में पहले से ही सहमत हो जाएँ तथा एक दूसरे के दृष्टिकोण को भली प्रकार समझ लें। इस स्वर्णिम नियम को ध्यान में रखकर किए गए सम्मेलन प्रायः सफल हो जाते हैं।

2 सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों के बीच परस्पर आदर एवं मित्रता की भावना का विकास होना चाहिए। मानवीय सम्बन्ध के पहलू हमेशा महत्वपूर्ण होते हैं।

3 सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों की संख्या अधिक नहीं होनी चाहिए। कम प्रतिनिधि भली प्रकार विचार विमर्श कर सकते हैं तथा अनावश्यक विरोध पैदा होने की सम्भावना नहीं रहती।

4 सन्धि बातोंओं में आवश्यक गोपनीयता का निर्वाह किया जाना चाहिए। समय से पूर्व तथा अनुचित रूप से किसी बात का प्रकाशन होने से यह हानिकारक बन जाती है।

5 सम्मेलन में भाग लेने वालों को स्वयं की भाषा में ही विचार प्रकट करने चाहिए ताकि स्पष्ट रूप से वे प्रत्येक बात को समझ सकें। अच्छे दुभाषियों की व्यवस्था रहनी चाहिए ताकि अन्य भाषा भाषी लोग उसे सही अर्थ में समझ सकें।

1 "It is incorrect to suppose that these meetings are intended to serve the purpose of negotiation; they are exercised in foreign propaganda and do not even purport to be experiments in diplomatic method."

सम्मेलनीय राजनय का प्रचलन और प्रभाव हमेशा एक-सा नहीं रहता है वरन् परिस्थितियों के अनुसार घटता बढ़ता रहता है।

व्यक्तिगत राजनय (Personal Diplomacy)

वर्तमान युग में अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान करने में व्यक्तिगत राजनय का महत्व भी निरन्तर बढ़ता जा रहा है। व्यक्तिगत राजनय उसे कहते हैं जब राजनयिक सन्धि वार्ताओं में एक राज्य के विदेशमन्त्री, प्रधानमन्त्री तथा राज्यध्यक्ष प्रत्यक्ष रूप से भाग लेते हैं। राजनय का यह रूप बहुत समय से प्रचलित है किन्तु आजकल इसका प्रचलन बढ़ गया है। अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर देश के उत्तरदायी नेताओं द्वारा निर्णय लिए जाते हैं। जैसेवा सम्मेलन बान्गुंग सम्मेलन अल्जीयर्स सम्मेलन तथा अन्य अनेक शिखर सम्मेलन व्यक्तिगत राजनय के उदाहरण हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय तथा उसके पश्चात् विभिन्न देशों के विदेशमन्त्री अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार दिनों के लिए मिलते रहते हैं। भारत ने बंगलादेश एवं शरणार्थियों की समस्या के सम्बन्ध में विभिन्न छद्मनिर्वात नेताओं तथा प्रतिनिधि मण्डलों को अन्य राज्यों में भेजा था, जो देश का प्रभावशाली तरीके से पक्ष प्रस्तुत करते हैं। इससे राष्ट्रीय के आपसी संबंध मजबूत बन जाते हैं।

व्यक्तिगत राजनय में आवश्यकतानुसार दूसरे प्रतिनिधियों का भी सहयोग लिया जा सकता है। ऐसा करने से प्रधानमन्त्री और विदेशमन्त्री का कार्य हल्का हो जाता है और समय की बचत होती है। व्यक्तिगत राजनय के समर्थकों का विचार है कि इसके द्वारा देशी समस्याओं का समाधान किया जाता है जो राजनयज्ञों द्वारा सामान्य सचनों से नहीं सुलझाया जा सकती हैं। यह कहा जाता है कि ससंघात्मक प्रजातन्त्र के युग में मध्यस्थों पर निर्भर रहना उचित नहीं है। विश्व से शीतयुद्ध की समाप्ति में अमेरिकी राष्ट्रपति रीनल्ड रीगन और जार्ज बुश तथा सोवियत नेता मिखाइल गेरबाखोव के बीच के व्यक्तिगत राजनय का प्रमुख उदाहरण है।

आलोचकों ने व्यक्तिगत राजनय को बुरा बताया है। इनका कहना है कि प्रधानमन्त्री और विदेश मन्त्री यदि उच्चस्तरीय नेताओं का कार्य नहीं बनाना है, समझौते करना नहीं। यह कार्य राजनयज्ञ विशेषज्ञों द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिए। उच्च नेता प्रायः स्थिति को विषयगत होकर देखते हैं और इसलिए उनके द्वारा की गई सन्धियों राष्ट्रहित को पूरा नहीं कर पातीं। प्रो. निकल्सन ने व्यक्तिगत राजनय का विरोध किया है।

सर्वाधिकारवादी राजनय (Totalitarian Diplomacy)

20वीं शताब्दी में राजनय के इस नए रूप का विकास हुआ। इसमें प्रजातन्त्रिक तरीके के स्थान पर तानाशाही तरीके अपनाए जाते हैं। देश के राजनय का संचालन उच्चस्तर के कुछ गणमान्य व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। ये नेता प्रचार और प्रचार के माध्यम से अपनी महत्वाकांक्षों और दास्यदिक लक्ष्यों को जनता से छिपाए रखते हैं। इस प्रकार के राजनय की कुछ प्रमुख विशेषताएँ उपलब्ध हैं—

(क) इस राजनय में विचारधारा¹ को आधार बनाया जाता है और अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जातीय बढ्ढपन भीतिकवाद एव सैतिकवाद आदि का सहारा लिया जाता है।

(ख) सर्वाधिकारवादी राजनय का लक्ष्य शान्तिपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना करना नहीं होता बरन् अपनी विचारधारा (Ideology) का प्रसार करना होता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए विदेशों में विशेष दलों का निर्माण पोषण एव समर्थन किया जाता है।

(ग) सर्वाधिकारवादी राजनयज्ञ राजनय के सामान्य नियमों का पालन केवल तभी तक करते हैं जब तक कि उनके स्वार्थों की योजना से मेल खाते हों।

(घ) ये खुले रूप में घोषणा करते हैं कि किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि या समझौते को इच्छानुसार तोड़ा या अस्वीकृत किया जा सकता है।

(ङ) इन राजनयज्ञों द्वारा प्रचार किया जाता है कि साम्यवादी राज्यों तथा पूँजीवादी राज्यों के बीच सार्ध सदैव रहने वाला तथा बर्भी न मिटने वाला है।

(च) अन्य देशों के मित्रतापूर्ण व्यवहार को ये देश उाकी कमजोरी मानते हैं और विश्व सन्स्था को अपने प्रचार का केन्द्र बना लेते हैं।

सर्वाधिकारवादी राजनय के पीछे विचारधारा और सोच की शक्ति रहती है। विचारकों का मत है कि एव रूप में इन राज्यों में राजनय का प्रभाव रहता है। इाका कहना है कि राजनय का आधारण केवल तभी सम्भव है जब दो राज्यों के बीच कुछ बातों पर मेल अथवा सहमति हो। शीतयुद्ध के वातावरण में राजनयिक सम्बन्धों का निर्वह नही हो पाना।

खुला राजनय और गुप्त राजनय (Open and Secret Diplomacy)

आधुनिक युग में यद्यपि गुप्त और खुले दोनों ही राजनय का उपयोग होता है तथापि राजनय का इतिहास गुप्त रूप से खुले राजनय की ओर रहा है।

खुला राजनय (Open Diplomacy)

वर्तमान में खुला राजनय की प्रवृत्ति प्रचलित है। आज राष्ट्रों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जो सन्धियाँ और समझौते तथा राजनयिक व्यवहार किया जाता है उसकी जानकारी जनसाधारण को प्राप्त होती है। प्रायः सभी प्रजातान्त्रिक राष्ट्रों द्वारा खुले राजनय का सहारा लिया जाता है। समुक्तराज्य अमेरिका ग्रेट ब्रिटेन फ्रेंस और भारत जैसे लोकतान्त्रिक राष्ट्रों ने अपने प्रजातन्त्रीय सविधान के आधार पर खुले राजनय को अपनाया है।

खुले राजनय से तात्पर्य है राजनय का जन आँखों से प्रभावित और संचालित होना। नैतिक और आदर्शात्मक आधार पर ही इसका समर्थन किया जाता है।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद से ही इस प्रकार के राजनय का समर्थन किया जाने लगा है। अमेरिकी राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन के चौदह सिद्धान्तों में पहला यही था कि सभी शान्तिपूर्ण समझौते खुले रूप में किए जाने चाहिए तथा राजनय का संचालन जनतान्त्रिक

1 जैसे साम्यवादी विचारधारा को बढ्ढार बनाकर सोवियत संघ तथा हाल चीन आदि में राजनय संचालित किया जाता है। सन् 1991 में सोवियत संघ का पतन हो गया।

तरीके से बहुमत की राय के अनुसार किया जाए। श्री विल्सन ने खुली वार्ताओं तथा विदेश सम्बन्धों पर प्रजातन्त्रीय नियन्त्रण पर बल दिया। इस विल्सोनियन राजनय (Wilsonian Diplomacy) का अर्थ था वार्ताओं का खुला स्वरूप और शक्ति सघर्ष के स्थान पर सामूहिक सुरक्षा, जो प्रजातन्त्रीय व्यवस्था से नियन्त्रित हो।¹

रूसी लेखक अनाटोलीव (K. Anatoliev) ने अपनी पुस्तक आधुनिक राजनय (Modern Diplomacy) में यह दावा किया है कि सोवियत सरकार ने शान्ति के आदेश (Decree on Peace) में प्रकट रूप से किए गए प्रकट समझौते के सिद्धान्त को सबसे प्रथम प्रतिपादित किया था। उसी ने ही समस्त वार्ता को खुला और आम जनता के समक्ष रखने का दृढ़ उद्देश्य घोषित किया था। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर जार तथा रूस की अस्थायी सरकार द्वारा की गई सभी सन्धि व समझौते प्रकाशित कर दिए गए थे। सरदार के एम पणिक्कर ने 1956 ई. में प्रकाशित अपनी पुस्तक राजनय का सिद्धान्त और व्यवहार में अनजाने ही अनाटोलीव के इस मत की पुष्टि की है। द्वितीय महायुद्ध के परिणाम से ही वार्ताएँ खुले रूप में होने लगी हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका का विदेश मंत्री जेम्स डायी तो 'मत्स्य कटोरे के राजनय' में विश्वास करता था अर्थात् जिस प्रकार से कमरे के मध्य मेज पर रखे गोल कौंच के बर्तन में तैरती हुई मछली को सभी देखते हैं ठीक इसी प्रकार राजनयिक वार्ताएँ भी सभी को दिखती व मालूम होती रहती हैं। आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में पत्रकारों, रेडियो व टेलीविजन प्रतिनिधियों को आने की छूट है। संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेश सचिव डॉ. हेनरी किंसिंजर ने एक बार कहा था कि वे तथा राष्ट्रपति निक्सन काँग्रेस के साथ सहयोग की नीति अपनाएँगे तथा विदेश सम्बन्ध जहाँ तक सम्भव हो खुले में ही किए जाएँगे।²

खुले राजनय के फल में निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं—

1. आवश्यकता के समय जनता द्वारा धन और जीवन का बलिदान किया जाता है इसलिए सरकार द्वारा उन्हें सभी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों एवं समझौतों से अवगत रखना चाहिए।

2. प्रजातन्त्रात्मक सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। इस उत्तरदायित्व के निर्वाह के लिए जनता को तथ्यों से अवगत रखना अनिवार्य है।

3. यदि राजनयिक कार्यों पर जनता का सरक्षण एवं नियन्त्रण रहेगा तो राजनीतिज्ञ विनाशकारी युद्धों का शातावरण नहीं बना सकेगा तथा जनता को जबरदस्ती युद्ध में नहीं झोंका जा सकेगा।

4. खुले राजनय की व्यवस्था में भी महत्वपूर्ण विषयों पर व्यक्तिगत रूप से विचार-विमर्श किया जा सकता है और समझौता हो जाने के बाद उसे जनता की जानकारी हेतु प्रकाशित किया जा सकता है।

गुप्त राजनय (Secret Diplomacy)

गुप्त राजनय के अन्तर्गत किए जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय समझौते तथा सन्धियाँ गुप्त रखी जाती हैं। उनको सामान्य जनता के सम्मुख प्रकाशित नहीं किया जाता। राजनय का

यह रूप प्रायः तात्काली देशों में अपनाया जाता है किन्तु यह वहीं तक सीमित नहीं है। प्रथम विश्वयुद्ध के समय मित्र राष्ट्रों ने इटली तथा अन्य राज्यों से गुप्त सन्धियों में अनेक बड़े किए ताकि उनको तटस्थ रखा जा सके या अपने पक्ष में कार्यरत किया जा सके। इन गुप्त सन्धियों के कारण बेरिस का शान्ति सम्मेलन सफल न हो सका। मित्रता एवं सहयोग के लिए की जाने वाली अनेक सन्धियों में गुप्त प्रावधानों का समावेश होता है। मई 1939 का इटली जर्मनी का समझौता अगस्त 1939 की रूस जर्मनी की सन्धि गुप्त राजनय के ही परिणाम थे। सन् 1945 के याल्टा समझौते में गुप्त प्रावधानों की जानकारी होने पर अन्तर्राष्ट्रीय असन्तोष का सूत्रपात हुआ।

गुप्त राजनय के पक्ष में प्रायः निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं—

- 1 एक शक्ति राजनय का गुप्त रहना अनिवार्य है।
- 2 गुप्त रूप से किए गए समझौतों में सौदेबाजी अधिक खुलकर की जा सकती है तथा राष्ट्रीय हित की रक्षा के लिए अधिक उपयोगी निर्णय लिए जा सकते हैं। खुले राजनय में जनता की आलोचना के भय से राजनयज्ञ निर्णय लेने में भी हिचकिचाहट दिखाते हैं।
- 3 यदि गुप्त राजनय का आचरण न किया जाए तो राजनयज्ञों को प्रचार में रुचि लेनी होगी तथा वे अपने कर्तव्य मार्ग से हट जाएंगे। उनको जनता के शक्ति दुराग्रहों से भी प्रभावित होता पड़ेगा।
- 4 खुले राजनय की समस्याओं का निर्धारण गुप्त राजनय में ही है। खुले राजनय के अन्तर्गत पत्रकारों, सांसदों व प्रमुख अधिकारियों द्वारा समय समय पर दी जाने वाली सूचनाएँ रहस्योद्घाटन करने वाली होती हैं। ये सूचनाएँ राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों को कटु बना देती हैं जैसा कि पेन्टागोन पेपर्स (पत्रकार जैक हण्डरसन द्वारा प्रकाशित पेन्टागोन पेपर्स) के कारण भारत अमेरिका के अथवा अमेरिकी वाईस एडमिरल के सहाय के कारण जापान अमेरिका के सम्बन्ध बटु हो गए थे। गुप्त राजनय में इस प्रकार का भय नहीं रहता।

गुप्त राजनय बनाम खुला राजनय

(Secret Diplomacy vs Open Diplomacy)

'गुप्त राजनय बनाम खुला राजनय' का विवाद आज भी बना हुआ है। गुप्त राजनय के समर्थकों का मत है कि खुले राजनय में वार्ताकार लचीले नहीं होते। एक बार एक आधार बिन्दु बनाकर वार्ताकार पीछे नहीं हट पाते हैं क्योंकि उनकी प्रत्येक कार्यवाही विश्व नाट्यशाली के रंगमंच की तेज बिजली के प्रकाश में होती है अतः प्रायः वार्ताएँ असफल रहती हैं किन्तु इस मत के विरुद्ध एक प्रश्न यह उठता है कि क्या सभी गुप्त वार्ताएँ सफल होती हैं? साम्यवादी और पश्चिमी देशों की वार्ताओं के गुप्त होते हुए भी उन्हें प्रायः असफलता ही मिली है। यह समय अब नहीं रहा जब गुप्त वार्ताएँ पूर्णतः सफल होती थीं। आज जनता जागरूक है। यह किसी भी ऐसे समझौते को स्वीकार नहीं करती जो उसे मान्य न हो। आज राजदूत कोई ऐसी रियायत नहीं दे सकता जो जनता के विरुद्ध हो क्योंकि वे जानते हैं कि जनता इसका विरोध करेगी। कोई सरकार एक अलोकप्रिय नीति अथवा समझौते को तब तक क्रियान्वित नहीं कर सकती जब तक कि जनता को धीरे धीरे

विशेष में न लिया जाए। विशेष रूप से पश्चात् न लिया जाए तथा दर्शन सम्मानों को यह अनुभव न करने दिया जाए कि वे भी विश्व स्तर में स्थापित हैं। केवल एक सम्झौते पर चल रहे सचदे हैं। आज जगत् स्तरीय रूप में देशों के आन्तरिक दबाव नीति के निर्माण में सहयोग देती है तथा प्रत्येक साक्षर को इनके सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। यद्यपि हमारी सरकारें गुप्त राजनय का उपयोग करती हैं। परन्तु हमारा ही भी जगत् को सत्य सत्य पर विश्वास नहीं की गतिविधियों से नृपति करते रहते हैं तथा विशेष रूप पर सम्पूर्ण समतलवित्त व्यवस्था जगत् को प्रसार के माध्यम से गुप्त रह करते रहते हैं। परन्तु इस सबका अर्थ यह नहीं है कि गुप्त व्यवस्था का काम सम्पन्न हो गया है। आज भी दर्शन गुप्त होती हैं। न केवल राज दत्त हेतु ही द अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धों की आन्तरिक व्यवस्था गुप्त ही रहती है जब तक कि वे एक निश्चित स्तर की न हो उन्हें ज्यदा एक निश्चित विश्व तक न पहुँच जाएं। यह सत्य है कि किसी भी सत्य सम्झौते के पीछे परस्पर में ही गई व्यवस्था ही होती है। गुप्त राजनय दर्शन की गुप्तता को समझ नहीं जाता है। व्यवस्थागत राजनयिक व्यवस्था खुले राजनय के विरुद्ध है। इनका मत है कि खुले राजनय से जो प्रसार होगा, उसकी प्रत्येक चीज में दर्शन के सम्बन्ध हो जाएगी। अतः इनके विचार में हमें गुप्त व खुले राजनय के मध्य का ना—गुप्तता से विरुद्ध गुप्त खुले सम्झौते ('Open Covenants secretly armed') अन्तर्गत देखिए।

सुले राजन्य एव गुरु राजन्य दोनों के एक में विभक्त होने तक दिव है, किन्तु दोनों की ही जगती चीन्नी है। सुले राजन्य के सम्बन्ध में दिव जाने वाले एक कार्त्तिक प्रतीक होते हुए भी एकलक्ष्य होते हैं। एक और अन्य जगती में हैराटेल ने कहा था कि "लक्ष्मी कर्तव्य यह बतला है कि सुले में दर्शन परिलक्ष्य नहीं लक्ष्मी।"

आज भी बहुत से विद्वानों का यह मत मजबूत है कि प्रारम्भिक चरमपंथ का सुना होना न तो आवश्यक है और न ही संभव है। पन्ना तथा पटने के मन्दिरों पर जहाँ का मन्त्र इसमें है कि सम्राटों के मन्त्रों, स्वामी के मन्त्रों के लिए मन्त्रों को समझने के लिये उन्हें पढ़ना न कि इसमें कि सम्राटों ही के मन्त्रों के पदों पर लिखे जायें।

दुकानदार जैसा राजनय बनाम यौद्धिक राजनय
(Shop-keeper Diplomacy v's Warrior Diplomacy)

ग्रेट ब्रिटेन का कानून गुरु राजनय की दुकानदार रैला राजनय कह जाता है। प्रो निकोलसन के अनुसार वर्ष के राजनय में दो सनी रिपोर्टें पढ़ी जाती हैं जो कानून के लिए समझे जाते हैं।¹ ब्रिटिश राजनय रिपोर्टें समझते करने के लिए तैयार रहता है। दूसरे राज्यों के साथ ग्रेन संबंध बढ़ता है तथा उनके प्रकार की समझें हुए एक्ट के प्रस्तावों में योगदान करता है। दुकानदार जैसे राजनय का समर्थन करते हुए यह कहा जाता है कि राजनय के दूसरे जनों की अनेक पर अधिक नैतिक है तथा इसमें सकलता के अन्तर्गत अधिक रहते हैं। दुकानदार जैसे राजनय के अन्तर्गतों का कहना है कि ब्रिटिश राजनय अन्याय, अकारण तथा अकारण होता है। ब्रिटिश राजनय की सकलता का रहस्य यह नहीं है कि यह दुकानदार रैला है बल्कि यह है कि उसके पीछे शक्ति है। सन् 1956

के स्वेज नहर के विवाद में ग्रेट ब्रिटेन को अपनी सेनाएँ पीछे हटाती पड़ी क्योंकि अब वह सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य नहीं था। उसे संयुक्तराज्य की बात मानने के लिए बाध्य होना पड़ा। संयुक्तराज्य की आवाज का प्रभाव केवल इसलिए होता है क्योंकि वह शक्तिशाली है। सन् 1991 में संयुक्तराज्य अमेरिका के नेतृत्व में 28 देशों की बहुराष्ट्रीय सेनाओं ने इराक को निर्णायक रूप से पराजित किया था। संयुक्तराज्य अमेरिका अपनी सर्वोच्च सैनिक शक्ति से ही इस खाड़ी युद्ध में विजयी हुआ था।

राजनय का अन्य रूप यौद्धिक (Warrior) है। यह समझीते में विश्वास नहीं करता तथा युद्ध के वातावरण को अधिकाधिक उत्तेजित करने के लिए सदैव प्रतारणा रहता है। कुछ विचारकों ने ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इस प्रकार के राजनय का समर्थक राज्य अन्त में स्वयं नष्ट हो जाता है। उसे कोई सन्तोषजनक सफलता प्राप्त नहीं हो पाती है।

दुकानदार जैसे तथा यौद्धिक राजनय के बीच अनेक मिश्रताएँ हैं एवं परस्पर विरोधी विशेषताएँ हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि शक्तिशाली देश यथास्थिति के समर्थक होते हैं और दुकानदार जैसे राजनय को अपनाते हैं किन्तु कम-शक्ति-सम्पन्न राज्य यथास्थिति व्यवस्था को चुनौती देते हैं तथा उसे बदलने का प्रयास करते हैं। वे यौद्धिक राजनय का समर्थन करते हैं। यह नियम पूरी कजोरता के साथ लागू नहीं होता क्योंकि अनेक शक्तिशाली राज्य यौद्धिक राजनय का आचरण करते हैं तथा अनेक कमजोर राज्य दुकानदार जैसा राजनय अपनाते हैं।

राजनय के इन दोनों रूपों का आधार तत्कालीन परिस्थितियाँ राज्य का स्वरूप एवं उसकी विचारधारा होती है। दोनों रूपों की सफलता किसी राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तथा उसकी शक्ति पर निर्भर होती है। राजनय के इन दोनों रूपों में मुख्य अन्तर निम्नलिखित हैं—

(क) दुकानदार जैसा राजनय बुद्धिपूर्ण समझीते करता है जबकि यौद्धिक राजनय का समझीते में विश्वास नहीं होता क्योंकि इससे यथास्थिति को बदला नहीं जा सकता।

(ख) प्रभुत्वपूर्ण राज्य यथास्थित व्यवस्था से सन्तुष्ट रहने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में शक्ति-प्रयोग को पसन्द नहीं करते। वे दुकानदार की तरह प्रत्येक विवाद को बतापीत द्वारा सुलझाना चाहते हैं। इसके विपरीत यौद्धिक पराजय के समर्थकों के मतानुसार शक्ति-प्रयोग के बिना उनके लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हो सकती।

(ग) दुकानदार जैसे राजनय में अस्पष्टता माई जाती है। उसके समझीतों का कोई स्पष्ट उद्देश्य नहीं होता। युद्धप्रिय राज्य प्रत्येक बात को प्रायः स्पष्ट रूप से कहते हैं।

(घ) दुकानदार जैसे राजनय के समर्थक राज्य यथास्थित विरथ व्यवस्था से सन्तुष्ट रहते हैं। वे स्पष्ट यह नहीं जान पाते कि उनकी आवश्यकताएँ क्या हैं। दूसरी ओर यौद्धिक राजनय के समर्थकों के कुछ निश्चित लक्ष्य होते हैं। वे वर्तमान व्यवस्था को बदल कर अपने अनुकूल बनाना चाहते हैं ताकि अपने हितों को प्राप्त कर सकें।

(ङ) यौद्धिक राजनय अपनाते वाले देश प्रायः गरीब शक्तिहीन एवं असन्तुष्ट होते हैं। शक्ति के अभाव में उनको राजनयिक सफलताएँ कम प्राप्त हो पाती हैं। विश्व-समाज में उसका स्तर अधिक ऊँचा नहीं रहता। यही कारण है कि वे यथास्थिति को बदलने के लिए

युद्ध और संधि का सहारा लेते हैं तथा अतैद्धिक समझौतों द्वारा आगे बढ़ते हैं। दुकातादार जैसे राजनय के समर्थक राज्यों का स्तनाव एवं कार्य इसके विपरीत होता है।

प्रचार द्वारा राजनय (Diplomacy by Propaganda)

आजकल राजनय में प्रचार का पर्याप्त महत्व बढ़ गया है। राजनयिक निर्णयों को अपने अनुकूल बनाने के लिए प्रत्येक देश प्रचार तकनीक का प्रयोग करता है। रेडियो, टेलीविजन, प्रेस आदि सधनों द्वारा एक विशेष नीति के पक्ष में दावाचरण बनाया जाता है। जॉर्ज बी. एलन की मान्यता है कि प्रचार राजनय का एक सज्ज हथियार (Conscious Weapon) है। विस्मयक है इस हथियार का प्रयोग इन्हीं सफलता के साथ किया था। बाद में यह व्यवस्था सामान्य बन गई तथा अनेक देश इस अपनाते लगे। प्रचार और प्रशासन राजनय के लिए दो रूपों में उपयोगी होता है। एक इसके द्वारा समझौते पर विचार करने योग्य वातावरण तैयार किया जाता है और दूसरे, समझौता वार्ता के समय उसे अपने हित की दृष्टि से मोड़ने का प्रयास किया जाता है।

प्रचार एवं प्रशासन द्वारा राजनय का लाभ का अपेक्षा इति अधिक पहुँचाई जाती है। के.एम. पन्निक्कर ने समझौता वार्ता को मूलतः एक गुप्त प्रणाली माना है। समझौता-वार्ता के दौरान उसका प्रशासन अत्यन्त खतरनाक माना जाता है। प्रचार द्वारा जनता में अनेक प्रकार मिथ्या-विश्वास एवं भ्रम उत्पन्न किए जाते हैं, किन्तु आज की परिस्थितियों में ये अपरिहार्य बन गए हैं। जैसे तो वय सभी राज्य प्रचार और प्रकारान द्वारा राजनय का संचालन करते हैं किन्तु साम्यवादी राज्यों में इनका प्रयोग अधिक व्यापक रूप में किया जाता रहा। गन्ति एवं संधि दोनों अवसरों पर प्रचार के सधनों की उपयोगिता होती है। आज इस समय को अपनाने वाले राज्य केवल साम्यवादी ही नहीं हैं अपितु प्रायः सभी राज्यों द्वारा इनका सहारा लिया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका भी प्रजातन्त्र और स्वतंत्रता के नाम पर प्रचार के सधनों का उपयोग करता है।

संयुक्त गः सहमिलन राजनय (Coalition Diplomacy)

सहमिलन का सामान्य अर्थ है—किसी उद्देश्य के लिए दूसरों के साथ मिलकर एकता कायम कर लेना। भारत में संयुक्त अथवा सहमिलन अथवा संघीय सरकारें विगत वर्षों से राज्यों में बनती जा रही हैं और जुलाई, 1979 में देसाई सरकार के पतन के बाद चौधरी चन्मोहन की जो सरकार बनी वह संयुक्त अथवा सहमिलन सरकार (Coalition Government) का उदाहरण ग। दर्शन में भी राज्यस्थान, केरल, और पश्चिमी बंगाल में संघीय सरकारें कार्य कर रही हैं। राष्ट्रों में सहमिलन की प्रक्रिया नवनी ही पुरानी है जितना कि स्वयं राष्ट्र। किसी मन्त्र राज्य से रहा करने अथवा युद्ध में विजय प्राप्त करने अथवा समान आर्थिक लाभ उठाने जैसे उद्देश्यों से प्रेरित होकर राष्ट्रों में सहमिलन की प्रक्रिया होती रही है। महान गौरव का मुकाबला करने के लिए पृथ्वीराज चौहान ने विभिन्न राजपूत राष्ट्रों से सहायता ली थी। इति सन्दर्भ के लिए भी राष्ट्रों में सहमिलन होता रहा। इस तथा द्वितीय ने लिखा है—“नीति निर्धारक जब यह अनुभव करते हैं कि अपने

लेट्यों को दब अकेला पूरा नहीं कर सकता तो शक्ति समर्थन के लिए वे दूसरों से सहायता लेते हैं। इस प्रकार दूसरों के साथ मिलकर एक निश्चित अथवा समान उद्देश्य के लिए वे एकता कायम कर लेते हैं।" राजनीति शास्त्र की भाषा में इस तकनीक अथवा मिलन को 'संयुक्त होना या सहमिलन (Coalition) की संज्ञा दी जाती है। 20वीं शताब्दी में और विशेषकर द्वितीय महायुद्ध के बाद राजनयिक गतिविधियाँ अकेले-अकेले राष्ट्र की न होकर सामूहिक गुटों में संगठित राष्ट्रों की हो गई हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत में एकाकी राजनयिक क्रियाओं का अब विशेष महत्व नहीं रहा है क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र को अपने राष्ट्रीय हित-समर्थन के लिए दूसरे राज्यों को अपने पक्ष में लेना होता है अथवा उन राज्यों के साथ मिलकर काम करना होता है। संयुक्त राष्ट्र महासभा में सहमिलन राजनय सप्तदीय राजनय गुप्त राजनय आदि के दावपेदा चलते ही रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों अथवा संस्थाओं के विकास में स्वतंत्र एकाकी एवं पृथक् राजनयिक क्रिया को लगभग अर्थ की बना दिया है। संयुक्तराज्य अमेरिका या भारत यदि संयुक्त राष्ट्र महासभा में कोई प्रस्ताव रखते हैं तो वह तब तक अर्थहीन होगा जब तक कि उसके मत का समर्थन करने के लिए कुछ और देश आगे न आएँ। अन्य देशों को अपने समर्थन के लिए तैयार करना होता है जिससे सहमिलन के राजनय को प्रोत्साहन मिलता है।

सामूहिक सुरक्षा की खोज (Quest for Collective Security) ने भी राष्ट्रों को इस बात के लिए प्रेरित किया है कि वे सहमिलन के राजनय को अधिकाधिक प्रोत्साहन दें। प्रथम महायुद्ध के बाद फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध अपनी भावी सुरक्षा की खोज में सहमिलन राजनयिक प्रयत्नों को बहुत तेज कर दिया था और संयुक्त राष्ट्र सभ मार्टन ने सामूहिक सुरक्षा सम्बन्धी जो व्यवस्था है उसका प्रभावी क्रियान्वयन सभी सम्भव है जबकि सहमिलन का राजनय प्रभावशील होता है। सुरक्षा के अतिरिक्त विश्व राजनीति का स्वरूप भी आज ऐसा हो गया है कि बिना मित्रों के सहयोग के एक राष्ट्र अपने को सबसे अलग-थलग पड़ा पाएगा। इससे भी सहमिलन के राजनय को प्रोत्साहन मिलता है। सन् 1971 में भारत और सोवियत सभ के बीच जो 20 वर्षीय मित्रता और सहयोग की सन्धि हुई वह सहमिलन राजनय की एक विशेष उपलब्धि मानी जा सकती है। युद्ध के समय परिचयी यूरोपीय राष्ट्रों ने जो क्षेत्रीय संगठन बनाए—उनमें सम्मिलित होना सहमिलन के राजनय का ही स्वरूप माना जाएगा। सहमिलन के राजनय से बहुपक्षीय राजनय का और बहुपक्षीय राजनय से सहमिलन के राजनय का विकास हुआ है अर्थात् दोनों एक-दूसरे के पूरक अथवा सहयोगी हैं। आज इस बात से इनकार करना कठिन है कि राजनय संगठनात्मक रूप लेता जा रहा है—एकाकी राजनय का महत्व घट रहा है और सभी समस्याएँ अन्तर्राष्ट्रीय अथवा क्षेत्रीय उत्तमों बन गई हैं जिनके समाधान के लिए सम्मेलनीय राजनय बहुपक्षीय राजनय सहमिलन राजनय शिखर राजनय आदि का विकसित होना स्वाभाविक है। क्षेत्रीय संगठनों के अन्तर्गत सक्रिय राजनय को राजनीतिक क्षेत्रों में प्रायः सहमिलन का राजनय (Coalition Diplomacy) कहा जाता है। राष्ट्रमण्डल (Commonwealth) में सक्रिय राजनय सहमिलन राजनय ही है। राष्ट्रमण्डल के सदस्य-राज्यों के अध्यक्षों ने स्वीकार किया है कि "आपसी परामर्श राष्ट्रमण्डल का जीवन रक्त है" (Consultation is the life-blood of the Commonwealth)। अरब लीग यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन यूरोपीय संसद नाटो

सीटो यूरोपीय साझा बाजार और खाड़ी परिषद् आदि के अन्तर्गत जो राजनयिक क्रियाएँ चलती रहती हैं वे सहनिलन राजनय की प्रतीक हैं।

सहनिलन राजनय का मूल्योक्त

सहनिलन राजनय की तकनीकी इस बात को सम्भव बनती है कि विश्व के देश आपसी समस्याओं का समन्धान आपसी परामर्श से करें। पारस्परिक दिवार दिवारों के माध्यम से क्षेत्र विरोध के देश अथवा विश्व के विभिन्न देश किन्हीं समस्याओं के सम्बन्ध में एक सामान्य दृष्टिकोण का विकास करते हैं जिससे व्यापक हित के लिए सामान्य चेष्टा जाग्रत होती है और अन्तर्राष्ट्रीय विवेक को प्रोत्साहन मिलता है। सहनिलन राजनय के फलस्वरूप हम राष्ट्रवाद से ऊपर उठकर अधिराष्ट्रवाद (Supra national) की ओर बढ़ें। सहनिलन के राजनय ने विश्व में शक्ति सन्तुलन बनाए रखने में मदद की है। सहनिलन के राजनय के विकसित होने के फलस्वरूप विकास-सचर्यों में दृढ़ि हुई है और छोटे छोटे राष्ट्र अपने क्षेत्रीय आर्थिक संगठन बनाकर अपने त्वरित आर्थिक विकास को प्रयत्नशील हैं। पश्चिमी यूरोप का बहुत ही अल्पकाल में जो युद्धोत्तर पुनर्निर्माण हो सका उसके मूल में सहनिलन राजनय ही उत्तरदायी रहा है। सहनिलन राजनय के माध्यम से न केवल क्षेत्रीय समस्याओं के समन्धान में बल्कि विश्व समस्याओं के समन्धान में सामान्य दृष्टिकोण पनपने लगा है। निराश्रयीकरण कैसे किया जाए, इसकी सीमा क्या हो, इसके स्तर क्या हों—इन बातों पर मतभेद हो सकते हैं लेकिन सहनिलन राजनय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इस बात पर सभी देश सहमत हैं कि निराश्रयीकरण आवश्यक है। जो मतभेद हैं उन्हें भी सहनिलन के राजनय द्वारा कम किया जा रहा है। संयुक्त राष्ट्रसंघ सहनिलन के राजनय का उदाहरण प्रस्तुत करता है और हम इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि इस विश्व सस्था के माध्यम से राजनयिक क्रियाओं का संस्थाकरण (Institutionalisation) हो गया। सहनिलन के राजनय के माध्यम से हम अन्तर्राष्ट्रीय बन्धक तथा एकीकरण की दशा में आगे बढ़े। यूरोप ने इसके लिए जनमानस तेजी से तैयार हो गया है जिसका एक प्रमाण यूरोपीय संसद की स्थापना है। यूरोप एकीकरण की दिशा में बढ़ चुका है। सहनिलन के राजनय में कतिपय दोष भी हैं। ये दोष उसी प्रकार के हैं जैसे संसदीय राजनय के हैं। गुटबन्धियों के कारण विश्व शान्ति की समस्या खलझली जा रही है। क्षेत्रीय सहनिलन के राजनय ने शीत युद्ध को सहारा दिया है और क्षेत्रीय स्वार्थों को आगे बढ़ाया है। विश्व के विभिन्न रूप परस्पर सहनिलन के राजनय में सलग्न रहते हैं। इस प्रकार अलग-अलग गुटों में अलग अलग सहनिलन के राजनय ने एक दूसरे के प्रति तनाव और अविश्वास को बढ़ावा दिया है। सहनिलन के राजनय का उपयोग उसी साधनानि से करना चाहिए जिस अपमानानि से संसदीय राजनय तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनय के किसी अन्य स्वरूप का।

पुराना राजनय (The Old Diplomacy)

सामान्य अर्थ में राजनय उतना ही पुराना है जितना राज्य का विकास है, किन्तु राज्यों के बीच स्थापित प्रक्रियाएँ एवं स्वीकृत तरीकों से शान्तिपूर्ण सम्बन्धों का निर्दह अधिक पुराना नहीं है। यूरोप में यह 15वीं शताब्दी के अन्त में विकसित राज्य व्यवस्था की देन है। इस

प्रकार राजनय का इतिहास 500 वर्षों का इतिहास है। प्रारम्भ में इसका विकास यूरोप महाद्वीप की परिधि में सीमित रहा किन्तु 1914 के बाद इसके क्षेत्र और प्रकार में नवीनता का सूत्रपात हुआ। पुराने राजनय काल (1500-1914) में अन्तर्राष्ट्रीय राजनय मुख्य रूप से अपने मित्र बनाने और दूसरों के मित्र तोड़ने का कार्य करता था। इतने पर भी यूरोपीय राज्य परस्पर मित्रता और घनिष्ठापूर्ण व्यवहार करते थे। तत्कालीन राजतन्त्रीय एवं कुलीनतन्त्री व्यवस्थाएँ पश्चिमी यूरोप की एकता की भावना से प्रभावित थीं। श्री के. एम. पनिकर के कथनानुसार 'पुराना राजनय मित्रतापूर्ण मानवीय तथा विनम्र कला थी। यह पारस्परिक सहिष्णुता के आधार पर संचालित किया जाता था।'

पुराने राजनय की प्रक्रिया सम्म राज्यों के सम्बन्धों के संचालन के लिए श्रेष्ठ थी। यह सहृदयतापूर्ण एवं सम्मानजनक तथा निरन्तर एवं क्रमिक थी। इसमें ज्ञान और अनुभव को महत्व दिया जाता था तथा सद्विश्वास, सक्षिप्तता एवं स्पष्टता को सन्धि वार्ता का आवश्यक गुण माना जाता था। पुराने राजनय की जो बुराइयाँ बताई जाती हैं वे वास्तव में गलत विदेश नीति की बुराइयाँ हैं। पुराने राजनय में सन्धि वार्ता की प्रणाली दोषपूर्ण नहीं थी। प्रो. निकल्सन की मान्यता है कि यह आधुनिक प्रणाली की अपेक्षा अधिक कार्यकुशल थी।

पुराने राजनय की विशेषताएँ

(Characteristics of the Old Diplomacy)

प्रो. हेरल्ड निकल्सन ने पुराने राजनय की पाँच विशेषताओं का उल्लेख किया है। ये क्रमशः निम्नलिखित हैं—

1. **यूरोप की प्रभुता** पुराने राजनय काल में यूरोप को सभी महाद्वीपों से अधिक महत्वपूर्ण माना गया। इस काल में एशिया तथा अफ्रीका को साम्राज्यवाद व्यापार एवं धर्म प्रचार के लिए उपयुक्त क्षेत्र माना जाता था। अमेरिका 1897 तक अपने महाद्वीप में सीमित रहा और पृथक्तावादी अथवा अलगवादी नीतियों अपनाता रहा। इस काल में कोई भी युद्ध उस समय तक बड़ा युद्ध नहीं माना जाता था जब तक कि 5 यूरोपीय महाशक्तियों में से कोई एक भाग न ले। यूरोपीय राज्यों द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और युद्ध सम्बन्धी प्रश्नों का निर्णय किया जाता था।

2. **महाशक्तियों और छोटी शक्तियों में भेद** पुराने राजनय के अनुसार यह माना जाता था कि महाशक्तियों के हित और दायित्व व्यापक होते हैं। उनके पास अधिक आर्थिक और सैनिक शक्ति होती है इसलिए वे छोटे राज्यों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं। छोटे राज्यों का महत्व उनके सैनिक साधनों, युद्ध स्थिति, बाजार मूल्यों और कच्चे माल के स्रोतों के आधार पर निर्दिष्ट किया जाता था। छोटे राज्यों का अन्तर-स्थायी भू-भाग¹। पुराने राजनय काल में छोटी शक्तियों के हित मत एवं समर्थन महाशक्तियों के निर्णयों का कदाचित् ही बदल पाते थे।

3. **महाशक्तियों का दायित्व** इस काल में महाशक्तियों का यह उत्तरदायित्व था कि छोटी शक्तियों के आचरण का निरीक्षण करें और उन्हें शान्ति स्थापित करने, छोटी शक्तियों

1 "Hence old diplomacy was a friendly human and political art, carried on with much fineness and a great deal of mutual toleration."

—K. M. Panikkar

2 Harold Nicolson: The Evolution of Diplomatic Method p. 73-76

के बीच संधर्ष होने पर महरत्तियों हस्तक्षेप करती थीं। इस संधर्ष को महरत्तियों का संधर्ष बनने से रोकने का पूरा प्रयत्न किया जाता था।

4 व्यावसायिक राजनयिक सेवा पुराने राजनय की एक अन्य विशेषता यह थी कि प्रत्येक यूरोपीय देश ने बहुत कुछ एक ऐसी व्यावसायिक राजनयिक सेवा स्थापित की गई थी। ये राजनय अधिकारी विदेशी राज्य-निर्यात में अपने देश का प्रतिनिधित्व करते थे। इनकी शिक्षा अनुभव तथा लक्ष्य में पर्याप्त समन्वय रहती थी। इनका एक निश्चय दाय बन जाता था। उनकी सरकार का लक्ष्य चाहे कुछ भी हो किन्तु वे राजनय का उद्देश्य शक्ति की रक्षा मानते थे। सन्धि दस्तावेजों में वे व्यावसायिक राजनय पर पर्याप्त जानकारी सिद्ध हुए इनके व्यावसायिक आधार का एक जैसा मन्दबुद्ध होता था तथा वे व्यवसायिक आपसी संधर्ष को टालना चाहते थे।

5 निरन्तर एवं गैरपनीय सन्धि दस्तावेज पुराने राजनय की पाँचवीं मुख्य विशेषता यह थी कि इससे सन्धि दस्तावेजों में निरन्तरता तथा गैरपनीयता के मन्वय दी जाती थी। इसका लिए सार्वजनिक सम्मेलन अत्यन्त नहीं किए जाते थे। सन्धिकृत राजदूत को स्वातन्त्र्य राज्य की जनता की पूर्ण जानकारी रहती थी वह उनकी शक्ति एवं कमजोरियों का पहले से ही अनुमान लगा सकता था। उसे स्थानीय हिलों दुराग्रहों एवं मन्त्रिकों की जानकारी रहती थी। वहाँ के विदेश मन्त्री स बर बर मिलने पर भी जनता का ध्यान आकर्षित नहीं होता था। दस्तावेज गैरपनीय रहने के कारण बुद्धिमान और सम्मनजनक सन्धियाँ की जा सकती थीं। सन्धि दस्तावेजों के दौरान जनता की महत्त्वपूर्ण नहीं बढ़ पाती थी। दो राज्यों की सन्धि में प्रत्येक पक्ष के थोड़ा अदरय झुकना पड़ता है। यदि जनता को यह बात पहले से ही पता हो जाए तो विदेशी आन्दोलन मढ़कने का आश्वासन पैदा हो जाती है। ऐसी स्थिति में सन्धि दस्तावेज असफल हो जाती है। पुराने राजनय में गैरपनीयता और विरदसनीयता रहने के कारण ऐसी आशंका नहीं रहती थी।

पुराने राजनय के तरीकों के अनुसार सन्धि दस्तावेज करने वाले राजनयिक के समय की कमी नहीं रहती थी। इस काम में दोनों पक्षों की सरकारें सन्धि पर ज़रूर मन व्यक्त कर देती थीं। यदि सन्धि दस्तावेज कोई गतिरोध पैदा हो जाता था तो दस्तावेज को कुछ समय के लिए रोक दिया जाता था। अन्त में जो सम्झौता होता था वह राजनयिकों का परिणाम न होकर पर्याप्त सोच विचार एवं गम्भीर विचार निष्कर्ष का परिणाम होता था। उदाहरण के लिए 1907 का आगस्त अन्तिम एक वर्ष तीन महीने के विचार विमर्श का परिणाम था।

पुराने राजनय के दोष (Defects of Old Diplomacy)

पुराने राजनय में गम्भीरता बुद्धिमत्ता गैरपनीयता परिकल्पना आदि गुण के साथ कुछ दोष भी थे। इस व्यवस्था ने अनेक दुर्घटनाओं को प्रोत्साहित किया। इसकी प्रमुख आलोचना यह की जाती है कि इसने गुप्त सन्धियों को प्रोत्साहित किया। सन्धि दस्तावेजों के विरदसनीय बनने के प्रयत्न में गैरपनीयता की प्रवृत्ति विकसित हो गई। उच्च पदधिकारी तथा आदरणीय व्यक्ति भी ऐसी गुप्त सन्धियों में संलग्न होते हैं जिनका दस्तावेजन नहीं कर सकते हैं। ईरल्ल

निकल्सन के कथनानुसार "गुप्त वायदों को प्रोत्साहित करने वाली विश्वसनीय गन्धि वार्ताएँ आज खुले राजनय से भी बुरी होती थी।"¹

पुराने राजनय में व्यावसायिक राजनयज्ञों में कुछ कार्यात्मक दोष (Functional defects) भी घर कर लेते थे। उनको अपने जीवन काल में अनेक परिस्थितियों में मानवीय मूर्खता या अहंकार से युक्त कार्य देखने का अवसर प्राप्त होता था। फलतः वे गम्भीर भावनाओं को तात्कालिक उद्देश्य मानने की गलती कर बैठते थे। वे उन गहन भावनाओं का मूल्य भी कम आँकते थे जो सारे राष्ट्र के पतन का कारण बन जाती थी। ये इस बात की ओर ध्यान नहीं देते थे कि वैदेशिक सम्बन्धों के तथ्यों की जानकारी केवल कुछ लोगों को ही होती है तथा अन्य लोग अनभिज्ञ रहते हैं और अन्तिम निर्णय इन्हीं का होता है। इन राजनयज्ञों की कुछ गलत धारणाएँ बन जाती थी जैसे—समय के साथ स्वतः ही समझौता हो जाता है महत्वहीन बातों की परवाह नहीं करनी चाहिए तथा महत्वपूर्ण बातें स्वयं ही सुलझ जाती हैं गलती नहीं की जानी चाहिए और इसलिए यह उपयुक्त है कि कोई कार्य ही न किया जाए। इस प्रकार पुराना राजनयज्ञ एक आत्मतुष्ट व्यक्ति होता था। उसके कार्य अनुभव और धरित्र की कमजोरियों अनेक बार राजनयिक असफलता के कारण बन जाती थी।

पुराने राजनय से नवीन में सक्रमण

(Transaction from Old to the New)

पुराने राजनय का काल अब समाप्त हुआ तथा नया राजनय कब प्रारम्भ हुआ इस सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि यह परिवर्तन आकस्मिक नहीं था। इसके अतिरिक्त पुराने तथा नवीन राजनय के सिद्धान्तों और तरीकों में कोई स्पष्ट एवं मान्य भेद नहीं किया जा सकता। पुराने राजनय से नवीन राजनय के बीच के सक्रमण काल की मुख्य बात यह थी कि इस समय गन्धि वार्ता की कला में बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप सुधार अथवा समायोजन हुआ।² राजनय के विकास पर मुख्य रूप से तीन तत्वों ने प्रभाव डाला है—(i) औपनिवेशिक प्रसार की इच्छा (ii) तीव्र व्यापारिक प्रतियोगिता तथा (iii) संघर्ष साधनों की गति में वृद्धि। इन तीनों तत्वों ने राजनय के रूप को बदलने में उत्प्रेरक योगदान किया है। सक्रमणकाल में प्रचलित राजनय के कुछ प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं—

1. तानाशाही राजनय जब यूरोप तथा एशिया के देशों में निरंकुश राजतन्त्र का सारा राज्य एवं उसके निवासी सम्राट की निजी सम्पत्ति माने जाते थे। शासन के अन्य मामलों की नीति विदेश नीति एवं राजनय पर भी उसी की इच्छा सर्वोपरि रहती थी। फ्रांस के लुई चौदहवें रूस की सम्राज्ञी कैथरीन तथा भारत के मुगल सम्राट अपने देश के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का स्वयं संचालन करते थे। इन देशों में आने वाले विदेशी राजदूतों के लिए यह अनिवार्य था कि वे राजा के विश्वासपात्र कृप भाजन एवं स्नेहभाजन बने।

1 "Confidential negotiations that lead to secret pledges are worse even than the televised diplomacy that we enjoy to-day —Harold Nicolson

2 "an of negotia tion has gradually adjusted itself to changes in political conditions —Harold Nicolson

इसके लिए वे अधिक प्रयत्न करते थे। इसके अतिरिक्त वे अपने राष्ट्रीय हितों की सचन के लिए कई प्रकार के उचित और अनुचित कार्य भी करते थे जैसे—राष्ट्रीय कांग्रेसों को बुला लेना, राजा के नियोजन या उच्च अधिकारियों को रिहायत देना, अपने विदेशी अधिकारियों को हटा देना या प्रतिकूल राजा को हटाने या हत्या करने के षडयन्त्र में सहायक बनना तथा अपने अनुकूल व्यक्ति को राजसिंहसन पर बैठाना आदि। इस प्रकार के राजनय को बूढ़ा राजनय (Boudoir Diplomacy) कहा जाता है।

अष्टीसी मन्त्र के शब्द 'बुद्धा' का अर्थ सज्जन महिला का निजी कम होता है। इस प्रकार बूढ़ा राजनय का आशय उस राजनय से है जिसकी सभी चालें सज्जनी के निजी कम में चली जाती थीं। सभी सन्धि वार्ताएँ एवं निर्णय यहीं किए जाते थे किन्तु मन्त्र राजदूतों का यहाँ तक पहुँचना सरल नहीं था। भारत के मुगल मन्त्र से अलग स्वार्थ सिद्ध करने के लिए अंग्रेजी मन्देशदूतक अनुपय विनय न कम लेते थे। साथ ही वे मन्त्रों को देखकर घल कण्ट विरहसपत झूठ तथा षडयन्त्रों का भी खुन्कर मन्त्र लेने थे।

2. संधिधार्मिक राजनय सन् 1815 ई. के कन्वेंशन सत्रों का प्रभवी होना प्रारम्भ हो गया। उनके अधिकार समद एवं कार्यकारिणी को सौंप दिए गए थे मन्त्रिमन्त्र क अनुसार इसका अभ्यास करती थी। ये सन्धियाँ राजा द्वारा लिए गए निर्णयों के भी अंग्रेज घोषित कर सकती थी। सन् 1905 में जर्मनी के विलियम द्वितीय तथा रूस के जार ने क्लिफोर्ड में एक गुप्त मैत्री सन्धि कर ली। जब वे अपनी राजनयियों को वामन जाएँ उनके विदेश मन्त्रियों ने इस सन्धि को अस्वीकार कर दिया। परन्तु दोनों राज्यों को नीचा देखना पड़ा। इस प्रकार 19^{वीं} शताब्दी के प्रारम्भ में ही यह मन्त्र जाने लगा था कि किसी एक व्यक्ति के विचार एवं मन्देशों द्वारा समके देश की विदेश नीति का निर्माण अनुचित है।¹

यह सच है कि 1914 तक विश्व के राज्यों की विदेश नीति एवं राजनय पर उनके राज्यों का प्रभुत्व रहा। इंग्लैंड के एडवर्ड मन्त्र तथा महारानी विक्टोरिया ने अपने देश की विदेश नीति तथा राजनय पर अपनी छाप लगा रखी थी। इस प्रकार हेनरी मन्त्र की विदेश नीति और राजनय पर अन्तर्गत नियन्त्रण रखा था। इन उदाहरणों के होते हुए भी राजनय की मूल प्रवृत्ति में परिवर्तन शुरू हो गया था। इस पर अब कार्यकारिणी और समद का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा था।

पुराना राजनय उस मन्त्र की राजनयिक परिस्थितियों, विचारों और आदर्शों में प्रभावित रहता था। जब इन राजनयिक परिस्थितियों में परिवर्तन होते थे तो कुछ समय बाद राजनय का रूप भी बदल जाता था। वरन् यह है कि कोई भी राजनय तब तक ही प्रभावशाली रहता है जब तक उसे देश की मन्त्रु शक्ति का दिशान और महारा प्रद होता है। 19^{वीं} और 20^{वीं} शताब्दियों में जब राज्य व्यवस्था तन्त्रों से बदल रही थी तो राजनय में भी परिवर्तन आने लगे।²

1. "In the earlier years of nineteenth century it was still considered essential that the whims and fancies of one individual should determine the policy of their countries."

—Herbert Adams

2. "Thus when during the course of the 19th century the old theories of diplomacy appeared to be adopting new shapes it was in fact not the diplomats who were undergoing a change of heart but the political systems which they represented."

—Harold Adams

नवीन राजनय (The New Diplomacy)

प्रथम विश्वयुद्ध को नवीन राजनय के श्रीगणेश का युग माना जा सकता है। इस नए युग में पुराने राजनय की समस्त विशेषताएँ गौण बन गईं। पुराने राजनय की सम्मति का मुख्य कारण यह है कि पूर्व और पश्चिम के बीच अन्तर बहुत बढ गए हैं। उनकी राजनीतिक मायातारें आर्थिक विश्वास और जीवन का रहन रहान पूर्णतः भिन्न हैं।

नए राजनय के दो भाग

(Two Categories of New Diplomacy)

आधुनिक राजनय को विचारकों ने काल की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया है। प्रथम भाग में 19वीं शताब्दी तक का राजनय और द्वितीय भाग में 1914 के बाद के राजनय का समावेश किया गया है।

19वीं शताब्दी तक का राजनय 19वीं शताब्दी में ओव राजनीतिक परिवर्तन हुए और इनके साथ ही राजनय के स्वरूप तथा क्षेत्र में भी परिवर्तन होते रहे। इस काल में राजनय का मुख्य केन्द्र यूरोप ही रहा। इस समय विश्व के अधिकांश देश प्रजातन्त्र की ओर अग्रसर हो रहे थे इसलिए राजनय में भी नई दिशाएँ खोजी जाने लगी। इस काल के राजनय को जिन तत्त्वों ने प्रभावित किया वे मुख्यतः निम्नलिखित थे

1. **अन्तर्राष्ट्रीय समाज की भावना** विश्व के राज्यों में सामान्य सन्धियों का मुकाबला करने के लिए एकता की भावनाएँ विकसित होती हैं। पर्सिया के भय ने ग्रीक राज्यों को संगठित किया था। उसी प्रकार प्रॉसा के पोपेलियन बोनापार्ट की महत्वाकांक्षाओं का मुकाबला करने के लिए यूरोप के अन्य राज्य आपस में संगठित हो गए। बाद में इन राज्यों ने कंसर्ट ऑफ यूरोप (Concert of Europe) की रचना की। इस संगठन ने अन्तर्राष्ट्रीय समाज की भावनाओं के विकास में योगदान किया। अब बड़ी शक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में आत्म गौरव मानवता तथा पारस्परिक विश्वास जैसे कुछ सामान्य नियमों का सम्मान किया जाने लगा। प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने पर यह सन्धि समाप्त हो गई। युद्ध समाप्ति के बाद राष्ट्रसंघ तथा द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीय समाज की भावना के प्रतीक थे।

2. **जनमत का प्रभाव** जनमत की भावना के विकास के साथ साथ जनमत ने देशों की विदेश नीतियों को प्रभावित करना प्रारम्भ किया। राजनय पर जनमत का प्रभाव पड़ने लगा। निकल्सन के कथनानुसार नए तथा पुराने राजनय के संक्रमण काल के बीच जनमत एक महत्वपूर्ण तत्व रहा है।¹ राजनय पर जनमत के प्रभाव को वैनिंग तथा पामर्सटन ने स्वीकार किया। पामर्सटन का कहना था कि जनमत सेनाओं से भी अधिक शक्तिशाली होता है। यह सगिनों और गेलियों से भी अधिक शक्ति प्रदान कर सकता है। जनमत का प्रभाव बढ़ने का कारण यह तथ्य है कि राजनयज्ञ जन भावनाओं की उपेक्षा करके सन्धि करते हैं तो वह सन्धि निरर्थक हो जाती है। उदाहरण के लिए 1919 के पेरिस सन्धि सम्मेलन में

1 "Public opinion became an ever increasing factor in the transition between the old diplomacy and the new."
—Harold Nicolson

अमेरिकी राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन ने ला सन्धियों की थीं उनको अमेरिकी कांग्रेस ने मान्यता नहीं दी। कारण यह था कि सन्धि करते समय राष्ट्रपति ने जन मन्त्रियों का सन्तुष्टि ध्यान नहीं रखा। एतल यह हुआ कि राष्ट्रसंघ के जन्मदाता विल्सन का देश राष्ट्रसंघ का सदस्य ही नहीं बना।

१ यात्रादात के सघनों में सुधार आधुनिक युग में यात्रादात के द्रुतगामी सघनों के विकास ने राजनय को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। हैरल्ड विल्सन के कथनानुसार भाषा वे इजिन बेतार के तार वायुमन तथा दूरभाष ने पुराने राजनय के व्यवहार को बदलने में महत्वपूर्ण योगदान किया है। पहले यात्रादात इन संचार के आधुनिक सघन न होने के कारण राजनयज्ञों को अपनी बुद्धि के अनुसार ही निर्णय लेने होते थे और प्रत्येक कार्य के लिए वही उत्तरदायी होते थे। वर्तमान परिस्थितियों में वे आवश्यकता के समय अपनी सरकार से संपर्क स्थापित कर सकते हैं। आजकल दूतों की योग्यता और कुरलता का पुराने समय जैसा महत्व नहीं है। इसके नावजूद भी राजदूत के अनुभव स्वभाव बुद्धिमान सदाशरण आदि की उपयोगिता है।

बीसवीं शताब्दी का राजनय अब अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध यूरोप तक ही सीमित नहीं रहे हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशिया तथा अफ्रीका के नये देशों की भूमिका अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पर्याप्त महत्वपूर्ण बन गई है। अमेरिका और जापान ने अब अपनी पृथक्तावादी नीति त्याग कर विश्व राजनीति में सक्रिय रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया है। राजनय के पुराने ऋण में इस परिवर्तन के प्रमुख कारण हैं—

1 संयुक्तराज्य अमेरिका का विश्व की महारक्ति के रूप में अग्रगण्य हुआ तथा संयुक्त अमेरिकी राज्यों ने भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया है। फलतः अब अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा राजनय का केन्द्र यूरोप से हटकर अन्य महाद्वीपों में बिखर गया है।

2 एशिया तथा अफ्रीका के देशों को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई तथा वे भी अपने आपको अन्तर्राष्ट्रीय रणमय का एक अंगिना मानने लगे। प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व जापान के अतिरिक्त किसी एशियाई देश का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नाम नहीं था। विश्व रणमय पर न तो उनकी कोई स्थिति थी और न ही उनकी आवाज को कोई महत्व दिया जाता था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद स्थिति में परिवर्तन आया तथा राष्ट्रवादी चीन अफगानिस्तान इरान और ईराक आदि एशियाई देश राष्ट्रसंघ के सदस्य बन गए। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशिया के अनेक देशों को स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। ये संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य बन गए तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इनकी आवाज का महत्व बढ़ गया। प्रसिद्ध इतिहासकार औरनल्ड टायनबी का कथन है कि 1919 से पहले केवल 16 छोटे राज्य गम्भीरतः पूर्वक विश्व राजनीति में भाग लेते थे। इनमें से 15 यूरोपीय देश थे। सन् 1919 के बाद यह संख्या बढ़कर 47 हो गई। इनमें से केवल 22 ही यूरोपीय रहे। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इस नए दृष्टिकोण में एशिया के देश यूरोपीय अथवा अमेरिकी राजनयिक दौरे देशों के अखाड़े मात्र नहीं रह गए और न अब राजनय पर यूरोप का एकधिकार ही रहा।

3 नवीन राजनय के उदय का तीसरा कारण पुराने शक्ति सन्तुलन का नष्ट होना था। शक्ति सन्तुलन में परिवर्तन आने के कारण राज्यों के परस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन

हुआ। टिटलर तथा उसके सहयोगियों की पराजय के बाद सत्तार स्पष्ट रूप से दो रीढ़ानिक गुटों में विभाजित हो गया। पूर्वी एशिया में साम्यवादी चीन का उदय हुआ। इन नए परिवर्तनों से युक्त विश्व के राज्याय का स्वरूप बदलना भी स्वाभाविक था।

4 सौंदर्यत रूप में होने वाली महान् क्रान्ति के बाद लेनिन तथा उसके साथियों ने रूसी राज्यामिलेखागारों के गुप्त अभिलेखों को प्रकाशित किया। इस प्रकार गोपनीय सन्धि वार्ता का प्रकाशन करके एक नए राज्याय का सूत्रपात किया गया। अनेक देशों ने जारशाही रूस के साथ जो सन्धियाँ की थीं वे उसकी जनता के सामने प्रकट हो गईं। भ्रत गुप्त सन्धियों के प्रति विभिन्न देशों की सरकारें एवं जनता चौकशी रहने लगी।

५ द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद प्रारम्भ होने वाले शीतयुद्ध ने सत्तार को स्पष्टतः दो शिविरों में विभाजित कर दिया। इसमें से प्रत्येक शिविर दो प्रकार के राजनय का प्रयोग करता था—एक शिविर के साथ राज्यों के साथी तथा दूसरे शिविर के साथ विरोधी राज्य। इस परिवर्तित सन्दर्भ में पुराना राजनय समयातीत बन गया। सन् 1991 ^४ में सौंदर्यतमय के अवसान के साथ ही समुत्तराज्य अमेरिका ही विश्व की एकमात्र महाशक्ति रह गई है और शीतयुद्ध की समाप्ति हो गई। इससे भी राजनय के स्वरूप में परिवर्तन आना अपरिहार्य है।

नवीन राजनय की विशेषताएँ

(Characteristics of New Diplomacy)

श्री का एम पणिकर ने नए राजनय की पाँच मुख्य विशेषताओं का उल्लेख किया है—

(1) नवीन राजनय के अन्तर्गत एक देश अपनी बात को समझाने के लिए अन्य देश के शासकों से ही नहीं बरन् वहीं की जनता से भी अपील करता है।

(2) विरोधी राज्य की सरकार को बदनाम करने के लिए उचित लक्ष्यों को तोड़ मरोड़ कर रखा जाता है तथा दोषारोपण किया जाता है।

(3) अपने राज्य की जाति का विरोधी राज्य की जनता से सम्पर्क तोड़ दिया जाता है। केवल अधिकारी स्तर पर ही राजनयिक सम्बन्ध कायम रखे जाते हैं। साम्यवादी चीन तथा तानाशाही पाकिस्तान द्वारा भारत के प्रसंग में इसी प्रकार की नीति अपनाई गई है।

(4) विरोधी राज्यों के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्कों को कम से कम कर दिया जाता है तथा किसी भी समझौते के साथ आक्रमणकारी भाषा में अधिक से अधिक शर्तें लगाई जाती हैं।

(5) प्रत्येक राज्य अपने विरोधी पक्ष को आतंकित करने की दृष्टि से अस्त्र-शस्त्रों पर बहुत सा धन खर्च करता है तथा हड़तालों, सम्मेलनों और आन्दोलनों का आयोजन करता है।

स्पष्ट है कि आधुनिक राज्याय का स्वरूप अपने पूर्ववर्ती राजनय से पर्याप्त भिन्न है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक नई पद्धति का विकास हो रहा है।

पुराने और नए राजनय में अन्तर

(Difference Between Old and New Diplomacy)

पुराने और नए राजनय के बीच लक्षण एवं प्रक्रिया की दृष्टि से कुछ अग्रलिखित अन्तर हैं—

(1) **संघ की दृष्टि से** : पुराने राजनय (1500 से 1914 तक) का मुख्य उद्देश्य मित्र बनाना और दूसरे के मित्रों को तोड़ना था। नए राजनय का लक्ष्य इसके साथ साथ राज्य की प्रादेशिक, राजनीतिक तथा आर्थिक अखण्डता की सुरक्षा करना है। आधुनिक राजनय में यह माना जाता है कि राज्य की सुरक्षा के लिए केवल विदेशी सेनाओं से खतरा नहीं रहता बल्कि आर्थिक और राजनीतिक मोर्चों पर भी खतरा हो सकता है। अतः एक राज्य सदैव दूसरे राज्य की राष्ट्रविरोधी गतिविधियों पर नजर रखता है तथा उनको निष्फल बनाने का प्रयास करता है। आजकल राजनय का मुख्य दायित्व देश के व्यापारिक हितों की रक्षा करना है। व्यावसायिक राजनय आज के अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का सक्रिय अंग बन गया है। इस आधुनिक राजनय का लक्ष्य राजनीतिक होने के साथ साथ आर्थिक भी है।

(2) **सद्व्यवहार की दृष्टि से** : पुराने राजनय में पत्र व्यवहार तथा दूसरे दिवार विमर्शों में सत्य तथा शिष्ट भाषा का प्रयोग किया जाता था। प्रत्येक राज्य अपना दृष्टिकोण तथा लक्ष्य इस प्रकार प्रकट करता था ताकि दूसरे राज्य को दुरा प्रतीत न हो। के एम. पत्रिकर के मतानुसार "पुराना राजनय एक नैत्रीपूर्ण उदार तथा शिष्ट कला थी जिसकी रचना बड़ी दक्षता के साथ की जाती थी और उसने पारस्परिक सहिष्णुता बढ़ाती जाती थी।" इसके विपरीत नया राजनय अपने विरोध को कठोर रूप में प्रदर्शित करता है तथा सत्य-सत्य पर अशिष्ट भाषा का प्रयोग भी करता है। आज शिष्टाचार की भाषा का युग नहीं रहा। विरोधी के साथ नम्रतापूर्ण व्यवहार को सामान्य जनता विरहासपात समझती है। आज अनीपक्षिक नेलजेल का सर्वथा अभाव पाया जाता है।

(3) **क्षेत्र की दृष्टि से** : पुराने राजनय का क्षेत्र सीमित था। यह केवल यूरोपीय राज्यों, सप्तराज्य अमेरिका व जापान तक ही सीमित था। आज इसका विस्तार विश्व के छोटे से छोटे राज्य तक है। विश्व-राजनीति में लिए जाने वाले निर्णय महारक्तियों की इच्छा से नहीं, बल्कि छोटे राज्यों की इच्छानुसार लिए जाते हैं। इस प्रकार नए राजनय का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया है।

(4) **तरीके की दृष्टि से** : पुराने राजनय का व्यवहार रूढ़िवादी और पुराने तरीके से संचालित होता था। अब यह सिद्धान्त और तरीके पुराने और बेकार हो चुके हैं। आज के राजनयज्ञों के सम्पर्कों की नई पद्धतियों का विकास हो गया है।

(5) **गोपनीयता की दृष्टि से** : पुराने राजनय के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों और समझौते गुप्त हुआ करते थे। प्रशासकों द्वारा गुप्त रूप से पूरे देश को कुछ शर्तों से बाँध दिया जाता था। सौदियत संध में साम्यवाद का उदय होने के बाद गुप्त सन्धियों का युग समाप्त हो गया और इसके स्थान पर खुली सन्धियाँ होने लगीं। सप्तराज्य अमेरिका के राष्ट्रपतियों ने खुले ढंग से किए गए खुले करारों का समर्थन किया तथा विश्व के राज्यों ने इसे मान्यता दी।

(6) **जन सम्पर्क की दृष्टि से** : पुराने राजनय में मुख्य कार्यकर्ता राज्यों की सरकारें होती थीं किन्तु नए राजनय में जनता प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती है। जन-सम्पर्क के लिए रेडियो, समाचार पत्र, साप्ताहिक-संगठन आदि का सहारा लिया जाता है। आजकल प्रेस तथा सूचना डिपार्टमेंट के कार्यालय का एक आवश्यक अंग बन गया है। कुछ राज्यों में साप्ताहिक सहकारी भी रखे जाते हैं।

(7) व्यक्ति उत्तरदायित्व की दृष्टि से पुराने राजनय में राजदूतों का व्यक्तिगत उत्तरदायित्व अधिक होता था। उस समय तक यातायात और संचार के साधनों का विकास नहीं हो पाया था अतः वे अपनी सरकार से पथ प्रदर्शन प्राप्त किए बिना ही व्यक्तिगत सूझबूझ तथा योग्यता के आधार पर कार्य करते थे। आजकल यातायात एवं संचार के हतगामी साधनों ने यह समय बर दिया है कि राजदूत विरही भी समय अपनी सरकार का निर्देशन एवं पथ प्रदर्शन प्राप्त कर सकें। इसलिये आज वे राजनयज्ञ अपने कार्यों के लिए पूर्ववत् व्यक्तिगत उत्तरदायित्व वहन नहीं करते।

सांस्कृतिक राजनय (Cultural Diplomacy)

अति प्राचीन काल से ही विश्व के सभी देश सांस्कृतिक राजनय का सहारा लेते रहे हैं। सांस्कृतिक राजनय एक उच्च कोटि की कला है। सभी देशों की विदेश नीति में सांस्कृतिक संबंधों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। भारतीय सांस्कृतिक परिषद् जो विदेश मन्त्रालय के प्रशासनिक नियन्त्रण के अधीन काम करती है, अन्य देशों के साथ भारत के सांस्कृतिक सम्बन्ध विवरित करने के लिये एक प्रमुख एजेंसी के रूप में कार्य करती है।

अनु युग की राजनीतिक व शैक्षिक जटिलताओं के काल में सांस्कृतिक राजनय अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धों में नये आयाम को जन्म देता है। जो अन्तराष्ट्रीय अवबोध व सहयोग को बढ़ाने में सहायक हैं। सशक्त और समजोर तथा अमीर और गरीब सभी राष्ट्रों की अपनी संस्कृति व सम्यता होती है। कुछ कमजोर और गरीब राष्ट्रों की संस्कृति शक्तिशाली और अमीर राज्यों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। भारत जैसे राष्ट्र सांस्कृतिक राजनय के क्षेत्र में अन्य राज्यों को बहुत कुछ सिखा सकते हैं। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के साथ अफ्रीका एशिया और लैटिन अमेरिका के नये विकासशील राज्यों को प्रभावित कर उनकी मित्रता प्राप्ति के प्रयत्न सभी राज्यों द्वारा चल रहे हैं। इस प्रयत्नों का उद्देश्य अन्य लोगों के समक्ष अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाना तथा विरोधी की प्रतिष्ठा को गिराना है। इस प्रभाव को बढ़ाने के लिये पुस्तक पुस्तिकाओं का निःशुल्क भ्रमण कम मूल्य पर पितरण रेडियो टेलीविजन द्वारा अपनी संस्कृति की बातों का प्रसारण पर्यटकों विद्यार्थियों अथवा राज्यों के शिष्टमण्डलों की अदला बदली आदि कार्य किये जाते हैं। विद्वानों वैज्ञानिकों खिलाड़ियों चिकित्सकों गीतों संगीतज्ञों आदि का आदान प्रदान अपनी संस्कृति के प्रभाव को बढ़ाने के लिए आज सामान्यतः किया जाता है। इस सबके परिणामस्वरूप स्थापित सम्पर्क अन्य देशों के नागरिकों के मन में सम्मान व स्थान बनाने में सफल रहते हैं। इस व चीन आज अपनी संस्कृति के माध्यम से ही एशिया और अफ्रीका में सम्माननीय स्थान अर्जित किये हुए है।¹

रेडियो मारको रेडियो पीकेन बी बी सी वॉयस ऑफ अमेरिका वॉयस ऑफ जर्मनी तथा आल इण्डिया रेडियो आदि के माध्यम से राज्य अपने अपने देश की संस्कृति का खूब खुलकर प्रचार करते हैं। वार्षिक फिल्म समारोह संगीत व नृत्य मण्डलियों का मेला जाना सांस्कृतिक राजनय का एक रूप है, जावाला-इयॉट-याफोली-मिचिगो भी अपने देश की एक विशेष प्रतिभा स्थापित करने में सहायक होते हैं। ये नवीन दूत का कार्य

करते हैं। फ्रांस व अमेरिका के मध्य बढ़ते हुए कटु सम्बन्धों को कम करने के लिए ही डीगाल ने सौंस्कृतिक राजनय का सहारा लिया था। 1963 में राष्ट्रपति कैनेडी व उनके परिवार की इच्छा पर 'मेनलिसा' के घित्र को अमेरिका भेजा गया था। इससे प्रेरित होकर जेम्स रेस्नन ने न्यूयार्क टाइम्स में नवीन राजनय के सावनों पर एक लेख में लिखा था कि "ललित कला आज नवीन राजनय का एक शस्त्र बन गया है।" इस प्रकार सौंस्कृतिक राजनय आज सनी देगों की विदेश नीति का अनिवार्य अंग है।¹ खिलाडी नी सौंस्कृतिक राजदूत का कार्य करते हैं, और अपने देश के लिए सद्भावना अर्जित करते हैं।

युद्धपोत राजनय (Gunboat Diplomacy)

अपने राष्ट्रीय उद्देश्यों की प्राप्ति, राष्ट्रीय हितों की रक्षार्थ अथवा अपने प्रभाव व शक्ति की सर्वोच्चता को बनाये रखने के लिये जब एक राज्य दूसरे राज्य को प्रभावित करने के सनी प्रयासों में असफल हो जाता है, तो युद्ध का उद्देश्य नहीं होते हुए भी वह अन्तिम साधन के रूप में शक्ति प्रदर्शन का उपयोग करता है, यही युद्धपोत का राजनय है। वार्ता के पीछे सैनिक शक्ति अवश्य रहनी चाहिए, जिससे कि आदरयकता पढ़ने पर राष्ट्रीय हितों की रक्षार्थ अथवा सक्रिय नीति तत्त्वों की प्राप्ति के लिए वह प्रयोग में लाई जा सके। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में शक्ति के आधार पर वार्ता (Negotiation from Strength) करने का प्रयत्न किया जाता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि विदेश सम्बन्धों के क्षेत्र में राजनयिक सकलता प्रायः सैनिक शक्ति से प्रभावित होती है। एक सामान्य राजदूत नी अपने राज्य की सैनिक शक्ति के कारण बड़ी सकलतायें प्राप्त करता है। डॉ. हेनरी विलिंगर की अपनी योग्यता होते हुए भी राजनय में उनकी सकलता का आधार समुद्र राज्य अमेरिका की सैनिक शक्ति ही थी।

युद्धपोत राजनय के कुछ उदाहरण

(1) सन् 1875 में जब फ्रांस ने अपनी सैनिक शक्ति को पुनर्गठित करने का प्रयास किया जो जर्मनी के बिस्मार्क ने अपने प्रधान सेनापति बोन मोटके के परामर्श पर 'निवारक युद्ध' (Preventive War) का दातदरंग बनाकर फ्रांस को युद्ध न करने देने में सकलता प्राप्त की।

(2) सन् 1911 के आगादीर सकट के समय युद्धपोत राजनय का सकलतापूर्वक प्रयोग किया गया। जर्मनी नहीं चाहता था कि फ्रांस मोरक्को में अपना प्रभाव बढ़ाए। अतः जर्मन सम्राट विलियम केसर ने अपने नौसैनिक जहाज 'पेन्थर' को आगादीर में लगर डालने का आदेश दिया ताकि फ्रांस पर सैनिक दबाव डालकर फ्रांसीसी हथौड़े हटा लिए जायें। यद्यपि केसर को अपने उद्देश्य में पूरी सकलता नहीं मिली, लेकिन इन युद्धपोत राजनय के कारण ही उसे केमरून तथा कांगो को जोड़ने वाला रेलियारा अवश्य मिल गया।

(3) सन् 1971 के भारत-पाक युद्ध के दौरान अमेरिका ने अपना सातवीं नौसैनिक बेड़ा तथा उसका एकमात्र परमाणु शक्ति धातित विमान वाहक 'इन्टरप्राइज' बगल की खाडी में इसलिये भेजा ताकि भारत को अमेरिकी सैन्य शक्ति से नयनीत कर दिया जाए।

अमेरिका के इस कार्य के पीछे राष्ट्रपति निक्सन का उद्देश्य भारत में मनोवैज्ञानिक भय पैदा कर, अपनी शक्ति का डर दिखाकर पाकिस्तान के साथ युद्ध को बन्द करवाना था क्योंकि उसका मित्र युद्ध में हार रहा था। विख्यात पत्रकार जेक एन्डरसन (Jack Anderson) द्वारा प्रकाशित दस्तावेजों के अध्ययन से पता चलता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका एक ओर तो भारतीय नौ सैनिक गतिविधियों की नाकेबन्दी करना चाहता था तथा दूसरी ओर भारत व रूस को यह बता देना चाहता था कि आवश्यकता पड़ने पर अमेरिका अपनी सैनिक शक्ति का भी उपयोग कर सकता है। वाशिंगटन स्थित भारतीय राजदूत लक्ष्मीकान्त झा के कड़े विरोध भारत में देशव्यापी अमेरिकी विरोधी प्रदर्शनों और रूसी नाविक बेड़े की बगाल की खाड़ी में उपस्थिति के परिणामस्वरूप अमेरिका को अपने नाविक बेड़े को हटाना पड़ा। यह अमेरिका के युद्धपोत राजनय की शर्मनाक पराजय थी।

(4) सन् 1991 ई. के खाड़ी युद्ध में भी अमेरिकी नौ सैनिक बेड़े की अहम् भूमिका रही।

ये उदाहरण स्पष्ट करते हैं कि अनेक राज्य युद्ध का उद्देश्य न होते हुए भी दबाव के लिए शक्ति प्रदर्शन का उपयोग करते हैं और इस प्रकार युद्धपोत राजनय का आश्रय लेते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक युद्धपोत राजनय काफी बदनाम हो चुका था और प्रथम महायुद्ध के अन्त तक लुप्तप्राय हो गया था पर द्वितीय महायुद्ध के बाद के युग में इसका प्रयोग पुनः बढ़ गया है।

राजनय में नई तकनीके और नए विकास

(New Techniques and Recent Developments in Diplomacy)

राजनय पर एक युग की राजनीतिक समस्याओं, मान्यताओं एवं अन्य परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है और तदनुसार राजनय के सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर आ जाता है। आज राजनय पर जनमत का नियन्त्रण है। यह वित्त एवं अर्थव्यवस्था से प्रभावित होता है तथा विज्ञान के नए आविष्कारों ने इसकी तकनीकों में परिवर्तन किए हैं। राजनयिक आपार की दृष्टि से महत्वपूर्ण विकास एवं तकनीके निम्नलिखित हैं—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राजनय का व्यवहार पहले व्यक्तिगत स्तर पर होता था किन्तु आज सामूहिक रूप से एक अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर भी सम्भव है क्योंकि 1920 के बाद स्थापित राष्ट्रसंघ, संयुक्त राष्ट्रसंघ एवं राष्ट्रमण्डल जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने विश्व के विभिन्न राज्यों को एक जगह बैठकर विचार विमर्श करने का अवसर दिया है।

(2) प्रजातान्त्रिक नियन्त्रण प्रजातान्त्रिक देशों में यह मॉड की जाती है कि विदेश नीति एवं सन्धि वार्ता पर जनता के प्रतिनिधियों का नियन्त्रण रहना चाहिए। राजनयज्ञ विदेश मन्त्री तथा राजनय के अन्य अधिकारता जन प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी बनाए जाते हैं तथा उन्हीं के नियन्त्रण में रह कर कार्य करते हैं।

(3) वाणिज्य का महत्व आधुनिक राजनय में वाणिज्य को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है वैसे व्यापारिक हितों का राजनय पर कुछ प्रभाव तो प्रारम्भ से ही रहा है। साम्राज्यवादी देशों ने व्यापारिक हितों की सिद्धि के लिए ही अपने उपनिवेश बसाये थे। 19वीं शताब्दी के कुछ राज्य वाणिज्य सहचरी (Commercial Attache) नियुक्त करने लगे तथा राजनयिक

सम्पर्कों में व्यापारिक हितों का भी ध्यान रखा जाने लगा। आजकल वाणिज्य दूतीय सेवा (Consular Service) अधिक संगठित एवं विधिवत् रूप से संचालित है। विभिन्न राज्यों द्वारा अन्य राज्यों की राजधानियों तथा प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों में अपने वाणिज्य दूत नियुक्त किए जाते हैं। इनका कार्य अपने देश तथा देशवासियों के व्यापारिक हितों की रक्षा तथा अभिवृद्धि करना होता है। पद के अनुसार इन वाणिज्य दूतों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

- (i) महावाणिज्य दूत (Consul General)
- (ii) वाणिज्य दूत (Consul)
- (iii) उपवाणिज्य दूत (Vice Consul)
- (iv) वाणिज्य अधिकर्ता (Consular Agents)

(4) मुद्रा और वित्त का महत्व : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विस्तृत हो जाने के कारण मुद्रा और वित्त की समस्या प्रमुख बन गई है। इसके सम्बन्ध में विभिन्न देशों ने अपने राजदूतावासों में वित्त सहायारियों (Financial Attache) की नियुक्ति की है। वित्तीय मामलों के विशेषज्ञों को ही इन पदों पर नियुक्त किया जाता है।

(5) समाचार-पत्रों का महत्व : आधुनिक युग के नारद, समाचार-पत्र एक देश की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का दर्पण होते हैं। इसलिए राजदूत को अपने स्वागतकर्ता देश के सभी प्रमुख समाचार-पत्रों का अध्ययन और विवेचन करना चाहिए। प्रकाशन के कार्य में सहायता के लिए राजदूतावास के साथ एक सूचना विभाग की स्थापना और पत्र-सहायरी की नियुक्ति की जाती है। पत्र-सहायरी से यह आशा की जाती है कि वह स्थानीय पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों को पढ़े, मनन करे और अनुवाद करे।

(6) प्रचार के अन्य साधनों का महत्व : नए राजनय में प्रचार का महत्व बहुत बढ़ गया है। प्रचार द्वारा एक देश अपने किसी प्रश्न पर पहले से ही अनुकूल अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण तैयार कर लेता है अथवा सन्धि-वार्ता के समय दूसरे पक्ष पर दबाव डालने का प्रयास करता है। विभिन्न राज्यों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ को अपने प्रचार का माध्यम बनाया है। आजकल महासभा और सुरक्षा परिषद् की बैठकों में दिए गए भाषणों का उद्देश्य शान्ति की स्थापना न होकर अपना प्रचार तथा विरोधी पक्ष की आलोचना करना होता है।

रेडियो और टेलीविजन द्वारा प्रभावशाली प्रचार किया जाता है।

आधुनिक राजनय में प्रचार का एक नया तरीका यह अपनाया जाता है कि सरकार स्वयं ही अपने कार्यों की आलोचना और टीका टिप्पणियाँ समाचार-पत्रों में प्रकाशित कराती है ताकि उस सम्बन्ध में जनता के रुख का अध्ययन कर सके। इस तरीके को राजनयिक मतगबाजी कहा जाता है।

(7) अटकलबाजियाँ : नए राजनय में अटकलबाजियों का भी महत्व है। साधारणतः अटकलबाजी समाचार-पत्रों के माध्यम से की जाती है, परन्तु इसका उद्देश्य दूसरे के मत को प्रभावित करना न होकर परखना होता है। यदि जनमत उस बात को स्वीकार न करे तो विदेश मन्त्री या राजदूत सारी जिम्मेदारी से बचते हुए यह घोषणा कर देते हैं कि उन्हें इस विषय में कुछ पता नहीं है। यदि लोग इन अकालों की सराहना करें तो विदेश मन्त्री आगे बढ़कर उस दिशा में कदम उठा सकता है।

राजनय पर प्रभाव डालने वाले कुछ नए विकास

(New Developments Responsible for Changing Role of Diplomacy)

आज राजनय द्वारा विश्व राजनीति में उस कार्य का सम्पादन नहीं किया जा रहा है जो विश्व युद्धों के पूर्व होता था। मॉर्गेन्थो (Morgenthau) के मतानुसार “द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राजनय अपना महत्व खो चुका है। इसके कार्य अब जितने कम रह गए हैं उतने राज्य व्यवस्था के इतिहास में कभी नहीं रहे थे।” राजनय का महत्व घटाने के लिए उन्होंने पाँच कारणों से उतारदायी ठहराया है। ये निम्न प्रकार हैं—

- 1 संचार साधनों का विकास (Development of Communications)
- 2 राजनय का अवमूल्यन (Depreciation of Diplomacy)
- 3 संसदात्मक प्रक्रिया द्वारा राजनय (Diplomacy by Parliamentary Procedure)
- 4 शक्तिशाली शक्तियाँ राजनय में नवागंतुक (The Super Powers Newcomers in Diplomacy)
- 5 वर्तमान विश्व राजनीति का स्वरूप (Nature of Contemporary World Politics)

उपर्युक्त कारणों से राजनय का व्यवहार कठिन और दुरूह बन गया है।

एक ओर तो विभिन्न कारणों के फलस्वरूप राजनय का व्यवहार आज के युग में दुरूह बन गया है और दूसरी ओर उसकी आवश्यकता जितनी आज के अणुयुग में है उतनी शायद ही कितनी युग में रही होगी। विश्व में शक्ति के लिए सदैव संघर्ष होता रहता है। इस संघर्ष को सीमित एवं सन्तुलित बनाकर राजनय विश्व में शान्ति स्थापना का एक प्रमुख साधन बनाता है। राजनय के अभाव का अर्थ होगा युद्ध और युद्ध का अर्थ होगा प्रलय तथा मानव-सम्पत्ता और संस्कृति का विनाश। इस खतरे को टालने के लिए उन तत्त्वों की खोज करना आवश्यक है जो वर्तमान विश्व की परिस्थितियों में भी राजनय को सम्भव बना सके। राजनय को पुनः स्थापित करने के लिए पहले तो उन सभी तत्वों को मिटाना होगा जो कि पुराने राजनय के ह्रास के कारण माने जाते हैं। हेरोल्ड निकोलसन (Harold Nicolson) के मतानुसार तीन ऐसे विकास हैं जिन्होंने राजनय के सिद्धान्त एवं व्यवहार को प्रभावित किया है—

- 1 राष्ट्रीय समुदाय के प्रति बढ़ती हुई घेतना (Growing Sense of the Community of Nations)
- 2 लोकमत का बढ़ता हुआ महत्व (Increasing appreciation of the Importance of Public Opinion)
- 3 संचार साधनों का द्रुत विकास (Rapid Increase in Communications)

मॉर्गेन्थो के मतानुसार आज की परिस्थितियों में एक देश को राजनय के सफल कार्यान्वयन के लिए नी नियमों का पालन करना चाहिए। इनमें चार मौलिक नियम निम्न प्रकार हैं—

- 1 राजनय को आन्दोलनकारी विचारधारा से पृथक् रखा जाए। इस नियम का उल्लंघन करने पर युद्ध का खतरा बढ़ जाता है।

- 2 विदेश-नीति को राष्ट्रीय हित के शब्दों में परिभाषित किया जाना चाहिए तथा राष्ट्रीय शक्ति द्वारा उसे समाप्त किया जाना चाहिए ।
- 3 राजनय के लिए आवश्यक है कि राजनीतिक घटना-चक्र को दूसरे देशों के दृष्टिकोण से देखा जाए ।
- 4 एक राष्ट्र को उन सभी दिश्यों पर समझौता करने को तैयार रहना चाहिए जो उसके लिए अधिक महत्व के नहीं हैं ।

समझौतों के सफल होने के लिए पाँच अन्य नियमों का पालन करना चाहिए जो इस प्रकार हैं—

- 1 समझौता करते समय कानून की तरफ ध्यान न देकर जनता के हितों का ही ध्यान रखना चाहिए ।
- ऐसी स्थिति में कभी मत रद्द न रहो जहाँ पीछे हटने के लिए तुम्हें अपमानित होना पड़े तथा आगे बढ़ने के लिए गम्भीर सकट का सामना करना पड़े ।
- 3 कमजोर मित्र राष्ट्र को अपने लिए निर्णायक बनने का अवसर न दो ।
- 4 सशस्त्र सेना विदेश-नीति का साधन होती है, उसका स्वामी नहीं । एक विदेश-नीति जो सैनिकों द्वारा सैनिक कला के नियमों के अनुसार संचालित होती है हमेशा युद्ध का ही कारण बनती है क्योंकि जैसा बीज बोया जाता है वैसे ही फल भी चखने को मिलते हैं ।
- 5 सरकार जनमत का नेतृत्व करती है न कि गुलामी का । लोकमत के पीछे भागने वाले राजनय में सफल नहीं हो पाते क्योंकि लोकमत विवेकपूर्ण की अपेक्षा भावनात्मक अधिक होता है ।

राजनय का दंगल : असंलग्नता का राजनय, सहायता का राजनय, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का राजनय, राष्ट्रमण्डलीय राजनय

(The Arena of Diplomacy of Non-alignment,
Diplomacy of Aid, Diplomacy at the International
Organisations, Commonwealth Diplomacy)

राजनय का रूप देश की स्थिति दृष्टिकोण लक्ष्य एवं विश्व राजनीति में सक्रियता के अनुसार निर्धारित होता है। असंलग्नता की नीति अपनाने वाले राज्य का राजनय विश्व की सभी महाशक्तियों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने का प्रयास करता है जबकि सैनिक गठबन्धन में बँधा हुआ राज्य केवल अपने पक्ष के राज्यों के साथ ही निकट सहयोग स्थापित कर पाता है। महाशक्तियों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति सन्तुलन बनाए रखने के लिए अथवा विरोधी के प्रसार पर रोक लगाने के लिए जरूरतमंद राज्य को सहायता देने की नीति अपनायी जाती है। आज ये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन समुक्त राष्ट्रसंघ में सभी राज्य जिस प्रकार राजनयिक आधरण करते हैं वह व्यक्तिगत राजनय से कुछ भिन्न है। राष्ट्रमण्डलीय देशों के राजनयिक सम्बन्धों में व्यापारिक हितों की रक्षा एक मुख्य लक्ष्य होता है। इन सभी को हम राजनय के विशिष्ट रूप कह सकते हैं तथा इस अध्याय में क्रमशः इनका विवेचन किया जाएगा। ये हैं—

- (1) असंलग्नता का राजनय
- (2) सहायता का राजनय
- (3) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का राजनय
- (4) राष्ट्रमण्डलीय राजनय

असंलग्नता का राजनय (Diplomacy of Non alignment)

असंलग्नता की नीति द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद का विकास है। परिधर्मी गुट तथा साम्यवादी गुट के बीच शीतयुद्ध छिड़ने की स्थिति में कुछ राज्यों ने किसी भी गुट से संलग्न न रहने का निर्णय लिया तथा भारत के नेतृत्व में गुट निरपेक्षता की नीति अपनायी। किसी राज्य के साथ सैनिक गठबन्धन में न बँधकर असंलग्न राज्य दोनों ही गुटों से अपना सहयोग

बनाए रखना चाहते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर बिना किसी पूर्वाग्रह के औचित्य एवं राष्ट्रीय-हित की दृष्टि से विचार प्रकट करते हैं।¹

असंलग्नता एक सक्रिय तटस्थता है। यह उस निष्क्रिय तटस्थता से निन्न है जिसे अपनाते वाला राज्य अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष के समय किसी भी पक्ष के साथ नहीं मिलता तथा अपनी ही सीमाओं में सिमट कर रह जाता है। वह चाहता है कि न तो स्वयं आग को बुझाए और न आग ही उसे प्रभावित करे। इसके विपरीत असंलग्न राज्य वे हैं जो पहले से ही किसी पक्ष के साथ नहीं बैठते (Uncommitted) वरन् अन्तर्राष्ट्रीय समस्या उत्पन्न होने पर न्याय का पक्ष लेने की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखते हैं। सक्रिय तटस्थता या असंलग्नता की नीति का अनुसरण भारत एशिया और अफ्रीका के अनेक राज्यों द्वारा किया जा रहा है। प्रारम्भ में इस नीति को साम्यवादी और पूँजीवादी दोनों ही गुटों ने गलत बताया था। स्टालिन का कहना था कि "जो हमारा मित्र नहीं है वह दुश्मन है।" ऐसा ही मत समुत्तराज्य का था। अमेरिकी विदेश मन्त्री जॉन फास्टर डलेस ने यह मत प्रकट किया कि तटस्थता अनैतिक है।² बाद के अनुभव से दोनों गुटों को सही स्थिति का ज्ञान हो गया। यहाँ हम असंलग्न राजनय का विवेचन भारत के सन्दर्भ में करेंगे।

असंलग्न राजनय का औचित्य

(Justification of Non-aligned Diplomacy)

भारत ने असंलग्न राजनय का अनुशीलन निम्नलिखित कारणों से किया है—

1. भारत विरव-शान्ति की स्थापना के लिए प्रयत्नशील है। यदि वह किसी गुट में शामिल होता है तो अकारण ही विरव में दगाव की स्थिति को बढ़ावा मिलेगा।

2. गुट निरपेक्ष रहकर ही भारत युद्ध को टालने में अपने प्रभाव का प्रयोग कर सकता है। किसी गुट में शामिल होने के बाद उसका यह प्रभाव समाप्त हो जाएगा।

3. असंलग्न राजनय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारों की स्वतन्त्रता का द्योतक है। प नेहरू के शब्दों में "किसी भी गुट में शामिल हो जाना अपनी राय को बलिदान करने के समान है।"

4. भारतीय राजनय पर यहाँ की भौगोलिक, ऐतिहासिक, परम्परागत एवं सांस्कृतिक विषयक परिस्थितियों का प्रभाव है। अपनी संस्कृति एवं अतीत की परम्पराओं के कारण यह दूसरे के दृष्टिकोण को समझना, निष्पक्ष विचार और साहस, आत्मसम्मान, निर्निवृत्ता एवं सहिष्णुता आदि गुणों से प्रेरित है। असंलग्न राजनय इसी का प्रतिफल है।

5. असंलग्न राजनय भारत के राष्ट्रीय हितों के अनुकूल है। भारत को अपने आर्थिक विकास की योजनाओं का सफल बनाने के लिए विदेशी सहयोग की आवश्यकता है। यह सहयोग असंलग्नता की नीति अपनाने पर पर्याप्त और सरलता से मिल सकता है। इसके लिए किसी एक देश या गुट पर अवलम्बित रहने की आवश्यकता नहीं है जिसके कारण आत्म-सम्मान को भी धक्का लगता है।

1 "A wise neutral joins with neither, but uses both, as his honest interest leads him."

—William Penn

2. Thomas A. Bailey The Art of Diplomacy

6 भौगोलिक स्थिति के कारण भी भारत इस नीति को अपनाने के लिए प्रेरित हुआ है। यह यदि पश्चिमी गुट के साथ सन्धियाँ करना चाहे तो रूस तथा चीन की भौगोलिक निकटता के कारण ऐसा नहीं कर सकता और साम्यवादी देशों के साथ उसकी सैनिक सन्धियाँ इसलिए नहीं हो सकती थी क्योंकि धार्मिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुसार वह हिंसात्मक एवं दमनकारी नीतियों का विरोधी रहा है।

असलग्न राजनय की उपयोगिता

(Utility of Non aligned Diplomacy)

ऊपर वर्णित असलग्न राजनय का औचित्य उसकी उपयोगिता का भी परिचायक है। इस राजनय का अनुशीलन कर एक राज्य न केवल अपने राष्ट्रीय हित की सिद्धि करता है वरन् विश्व शान्ति में भी योगदान करता है। इसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं—

1 असलग्न राजनय ने दोनों विरोधी विन्तु शक्तिशाली गुटों को टिकट लाने में महत्वपूर्ण योगदान किया है। प्रारम्भ में संयुक्तराज्य अमेरिका यह मानता था कि जो साम्यवाद का विरोध करने में उसका साथ नहीं देता वह उसका शत्रु है। विन्तु शीघ्र ही उसे यह ज्ञात हो गया कि अधिक मित्र बनाने पर अधिक जटिलताएँ उपस्थित हो जाती हैं। किसी विवादग्रस्त क्षेत्र या राज्य को यदि तटस्थ बना दिया जाए तो अन्तराष्ट्रीय तनाव पर्याप्त घट जाता है। ऐसे क्षेत्र जहाँ किसी के मित्र नहीं होते वहाँ किसी के शत्रु भी नहीं होते। शीतयुद्ध को समाप्त करने में असलग्नता की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

2 गुटनिरपेक्षता की नीति एक व्यावहारिक विकल्प है। इसे त्यागने का अर्थ है किसी सैनिक गठबन्धन में शामिल होना। राष्ट्रीय हित की दृष्टि से उचित यही है कि किसी गुट के साथ न बँधा जाए और तटस्थ रहकर अवसर के अनुकूल आचरण किया जाए।

3 असलग्न राजनय के दोहरे लाभ हैं। एक ओर तो युद्धप्रवृत्त राज्यों द्वारा तटस्थ राज्यों के अधिकारों का सम्मान किया जाता है और दूसरी ओर तटस्थ राज्यों का यह दावित्व हो जाता है कि वह युद्धप्रवृत्त राज्यों के प्रति तटस्थ नीति अपनाएँ।

4 असलग्न राजनय प्रायः कमजोर राज्यों के लिए श्रेष्ठ माना जाता है। इन राज्यों की शक्ति एवं साधन स्रोत इतने नहीं होते कि किसी पक्ष के साथ साधर्म्य में उलझ सकें। स्पेन स्वीडन तथा स्विट्जरलैण्ड दोनों महायुद्धों के समय तटस्थ रहे। इनकी दूरदर्शिता कुशल राजनीति, भौगोलिक स्थिति तथा सामाज्य के कारण महायुद्धों की लपटे इनको नहीं छू सकीं। इनको दोनों पक्षों का सहयोग तथा सहायता प्राप्त होती रही तथा मित्र बने बिना ही इनको मित्र राज्यों के लाभ प्राप्त हो गए।

असलग्न राजनय की समस्याएँ

(Problems of Non aligned Diplomacy)

असलग्न राजनय की कुछ समस्याएँ भी हैं जिनका निराकरण करना अति आवश्यक है। कभी कभी तो इनके कारण एक राज्य असलग्न राजनय को छोड़ने का निर्णय ले भी लेता है। समस्याएँ अप्रतिष्ठित हैं—

1 असतन्त्र राजनय दोनों पक्षों की मित्रता प्राप्त करने के प्रयत्न में दोनों की ही मित्रता से दूषित हो जाता है। दोनों पक्ष असतन्त्र राज्य को दिरेधी का प्रच्छन्न सहयोगी मानने लगते हैं। यही कारण है कि वे आवश्यकता के समय उसकी सहायता करने में सकोच करते हैं।

2 असतन्त्र राजनय को प्रायः अनैतिक माना जाता है क्योंकि ऐसे राज्य की कोई निरिद्धत विधायिका नहीं होती उसके निरिद्धत मित्र और शत्रु नहीं होते। यह अवसरवादी बन जाता है तथा अतीत के सम्बन्धों को भुला देता है।

3 युद्धकाल में यदि ऐसा राज्य तटस्थ बना रहे तो इसमें आतङ्कियों को सहायता मिलेगी, उसका पक्ष दृढ़ होगा। जब असतन्त्र राज्य दोनों पक्षों में ही एक जैसा सम्बन्ध रखना चाहते हैं तो वे प्रायः एक पक्ष की कौमत्त पर दूसरे पक्षों को अनजाने में सहायता पहुँचाते हैं।

4 असतन्त्र राजनय की एक अन्य समस्या यह है कि विचारों में तटस्थता रखना असम्भव है। आज के प्रजातान्त्रिक राज्यों को दिरेध की गतिविधियों से उदासीन नहीं रखा जा सकता। सन् 1939 में हिटलर का आक्रमण प्रारम्भ होने पर अमेरिकी राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी रूजवेल्ट ने कहा था कि 'यह राष्ट्र तटस्थ भी तथ्यों को ध्यान में रखता है। तटस्थ को अपना नैतिक और घेतना बन्द करने के लिए कहा जा सकता है।'¹

5 असतन्त्र राज्य आवश्यकता के समय युद्ध के लिए तैयार नहीं हो पाता। वहाँ की जनता के मानस में यह बात पक्के रूप में जन जली है कि उन्हें शान्ति की नीति अपनानी है युद्ध में नहीं पड़ना है तथा किसी भी सन्धि संगठन के सच मिलना राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल है। ऐसी स्थिति में समस्या तब उत्पन्न होती है जब ऐसा राज्य स्वयं सशस्त्र आक्रमण में फैस जाए।

6 सन् 1991 में संविष्ट सच के विघटन के बाद शतियुद्ध समाप्त हो गया, और समुक्त राज्य अमेरिका ही दिरेध की एकमात्र महाशक्ति रह गई है। अतः असतन्त्र राजनय की प्रासंगिकता के आगे भी प्रश्न दायक दिष्ट लग गया है।

सहायता का राजनय (Diplomacy of Aid)

काही लम्बे समय से राज्य आर्थिक सधनों को, राजनीति के एक अंग के रूप में अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उपयुक्त कर रहे हैं। राजनय के आर्थिक सधनों का उपयुक्त कोई नई बात नहीं है। फ्रेंस तथा रूस के मध्य सन्धि को सम्भव करने के लिए फ्रेंस सरकार ने रूस को रैलवे से अपना उबाल दिलाया था। इसी प्रकार फ्रेंस सरकार ने लिटल एन्ग्लैंड में भी आर्थिक सहायता दी थी, जिसका उद्देश्य 'एन्ग्लैंड पर फ्रॉसीसी प्रभाव बढ़ाना था। किसी भी राष्ट्र के उद्देश्यों में राष्ट्रीय आर्थिक विकास को अधिकधिक महत्त्व दिया जाता है अतः किसी भी देश की विदेश नीति सशक्त आर्थिक चेष्टाओं से निर्धारित होती है। यूजीन ब्लैक ने अपनी पुस्तक आर्थिक विकास का राजनय (The Diplomacy of Economic Development) में बताया है कि आर्थिक राजनय दिन पर दिन महत्त्वपूर्ण

बनता जा रहा है। यह निर्विवाद है कि किसी भी देश के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध उसकी अपनी आवश्यकताओं से प्रभावित रहते हैं। इस प्रकार बड़े स्तर पर राज्यों को सहायता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक अग्रिम अंग बना हुआ है। यही कारण है कि आज आर्थिक तथा व्यापारिक राजनय पर अधिकाधिक जोर दिया जाता है।¹

जब एक राज्य अपने मित्र बनाने के लिए अथवा शत्रुओं के प्रसार को रोकने के लिए दूसरे राज्यों को धन, अन्न, मशीन, शस्त्र आदि की सहायता देता है तो इसे सहायता के राजनय की सहायता दी जाती है। सहायता के राजनय अथवा आर्थिक राजनय का वास्तविक प्रथम प्रयोग, द्वितीय महायुद्ध के कारण यूरोप में जो विनाश हुआ उसको दूर करने के लिए आरम्भ हुआ था और कुछ ही वर्षों में यह शीतयुद्ध का अंग बन गया। सहायता के राजनय का अथवा आर्थिक राजनय का प्रयोग समुक्त राज्य अमेरिका ने इतने बड़े पैमाने पर इतने विविध रूप में और इतने सशक्त रूप में किया है कि उसके विरुद्ध 'डालर साम्राज्यवाद' ('Dollar Imperialism') और 'डॉलर राजनय' ('Dollar Diplomacy') का आरोप लगाया जाता है। 'डॉलर राजनय' ('Dollar Diplomacy') शब्द का प्रारम्भ राष्ट्रपति ट्रैफिड के काल (1909-1913) में हुआ था।²

सरकारी लोकोपकारी कार्यों का प्रारम्भ प्रायः अपने ही देश में होता है परन्तु बाह्य देशों में परोपकार, राजनय का एक स्वरूप है। द्वितीय महायुद्ध के बाद हुआ यह कि यूरोप का आर्थिक पुनर्निर्माण विकास और एकीकरण करने के लिए परिषदीय शक्तियों द्वारा जो प्रस्ताव किए गए उन्हें विभिन्न कारणों से सोवियत रूस तथा उसके साथी राष्ट्रों द्वारा अस्वीकार कर दिया गया। फलस्वरूप ऐसा कोई सामान्य कार्यक्रम निर्धारित नहीं किया जा सका। जिसके द्वारा यूरोप के सभी राष्ट्रों का आर्थिक विकास हो सके। अतः दोनों ही पक्ष अपने-अपने गुट के देशों के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए अलग अलग योजनाएँ बनाने लगे। परिणामस्वरूप यूरोपीय महाद्वीप विभाजित हो गया तथा क्षेत्रीय आधार पर क्षतिपूर्ति के प्रयास किए गए। समुक्त राज्य अमेरिका साम्यवाद के विरुद्ध ऐसे झगड़ों को आत्मरक्षा के लिए बढ़ा उपयोगी समझता था। अतः 1951 के पारस्परिक सुरक्षा कानून (The Mutual Security Act) में यूरोप का आर्थिक और राजनीतिक सघ बनाने के लिए अमेरिका द्वारा आर्थिक सहायता की व्यवस्था की गई।

सर्वप्रथम 1947 में मार्शल योजना (Marshall Plan) के सामने आई। इस योजना का उद्देश्य युद्ध-ध्वस्त यूरोप का पुनरुद्धार कर उसको साम्यवाद से बचाना था। परिषदीय देशों ने मार्शल योजना का उत्साहपूर्वक स्वागत किया। ब्रिटेन और फ्रांस की पहल पर जुलाई 1947 में पेरिस में 16 यूरोपीय देशों-इंग्लैंड, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, डेनमार्क, ग्रीस, आयरलैंड, इटली, नार्वे, लक्जमबर्ग, स्वीडन, स्विट्जरलैंड, पुर्तगाल, नीदरलैंड और टर्की के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। इसमें एक यूरोपीय आर्थिक सहयोग समिति (Committee of European Economic Cooperation) की स्थापना की गई और यूरोपीय पुनरुद्धार का चार वर्षीय सहयोगात्मक कार्यक्रम तैयार किया गया। यूरोपीय आर्थिक सहयोग समिति ने समुक्त राज्य अमेरिका को एक रिपोर्ट अर्पित की। इस प्रस्ताव के उद्देश्य (Mouve) की व्याख्या करते हुए ट्रैफिन ने कहा—“मेरा प्रस्ताव यह है कि अमेरिका

उन 16 राज्यों को, जो उसी की तरह मध्यम सत्ताओं की सुरक्षा एवं राष्ट्रों के बीच स्थायी शान्ति के लिए दृढ़ सक्षम हैं उनके पुनर्निर्माण कार्यों में सहायता देकर विश्व-शान्ति एवं अपनी सुरक्षा में योगदान करें।" मार्शल योजना को जो अधिकृत रूप से 'यूरोपीय रिलीफ प्रोग्राम' (European Relief Programme) के नाम से प्रसिद्ध हुई, कॉंग्रेस ने स्वीकृत कर दिया। 3 अप्रैल 1948 को कॉंग्रेस ने विदेशी सहायता अधिनियम पारित कर मार्शल योजना को वृत्त रूप प्रदान किया और इसको कार्यक्रमित करने के लिए 'यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन' (Organisation for European Economic Co-operation) की स्थापना की गई। मार्शल योजना सम्मानितिक दृष्टिकोण से इतिहास की सर्वाधिक दिग्दर्शक और युग-प्रदर्शक घटनाओं में से एक थी, जिससे संश्लेषण रूप और परिधान का विशेष पहलू ही अमेरिका और भी अधिक उग्र हो गया। इस योजना के अन्तर्गत चार वर्षों (1947-1952) में अमेरिका ने यूरोप को लगभग 11 बिलियन डॉलर की सहायता दी। इस योजना के कारण एक ओर तो परिधान यूरोप आर्थिक प्लान और सम्बन्धी अधिनियम से बच गया तथा दूसरी ओर समुच्च राज्य अमेरिका परस्पर युग का सर्वमान्य नेता बन गया। अमेरिका ने यूरोपीय देशों को आर्थिक सहायता देते हुए यह शर्त लगाई थी कि वे अपनी सरकारों में सम्बन्धी हस्तों का सम्मेलन करेंगे। मार्शल योजना एक प्रकार से टूर्नमन्त सिद्धान्त का ही विकसित रूप थी जिसने टूर्नमन्त सिद्धान्त में प्रतिनिधित्व 'अदोष की नीति' को तीन प्रकार से आगे बढ़ाया—(i) जहाँ टूर्नमन्त सिद्धान्त में अलग-अलग राज्यों को सहायता देने की व्यवस्था की गई थी, वहाँ मार्शल योजना में यूरोप को समग्र रूप से सहायता की व्यवस्था की गई। (ii) मार्शल योजना ने 'अदोष की नीति' में आर्थिक हस्त को मनी प्रकार स्पष्ट कर दिया। (iii) इसके द्वारा पहली बार अमेरिकी आर्थिक सहायता को एक संश्लेषणीय एवं योजनाबद्ध रूप दिया गया।

परिधानी यूरोप में मार्शल योजना के द्वारा बढ़ते हुए राजनीतिक प्रभाव को देखते हुए रूस भी पूर्वी यूरोप के लिए 'मोलेटोव योजना' बनाने के लिए मजबूर हुआ और 1949 में मास्को में 'पारस्परिक आर्थिक सहयोग-परिषद्' की स्थापना की गई। उस समय निरवयव ही संश्लेषण रूप अन्तर्गत निम्नलघु राष्ट्रों को कुछ मदद तो नहीं दे सका, लेकिन वह जो शेषन कर रहा था उसमें कुछ कमी उत्पन्न हुई। पुनर्जी अन्तर्निष्ठ कार्य-प्रवृत्ति के स्थान पर पूर्वी यूरोप के राज्यों में एक अर्द्ध-राजकीय नियोजन किया गया, लेकिन इससे परिधानी यूरोप के आर्थिक सहयोग का नुकसान नहीं हो सका।

परिधानी यूरोप के अन्तर्गत संश्लेषण दायरे में संश्लेषण रूप द्वारा अदोष-कार्य-प्रवृत्ति के बढाव मार्शल योजना को विशेष सकलता प्राप्त हुई। इस योजना के कारण परिधानी यूरोप में आर्थिक पुनर्निर्माण के नये युग का सूत्रबन्ध हुआ और राष्ट्रों में आन्तरी सहयोग और एकता की भावना का नवर हुआ। दूसरी तरफ पूर्वी यूरोप और परिधानी यूरोप के बीच विशेष की खाई बढती गई। यूरोप की एकता के पुराने आदर्श का स्थान एक नई दृष्टिकोण ले रही थी—संगठित अन्तराष्ट्रिय संगठनों की दृष्टिकोण।

टूर्नमन्त सरकार ने चार-सूत्री कार्यक्रम (Four Point Programme) के माध्यम से ही 'सहायता के राजनय' को आगे बढ़ाया। चीन में सम्बन्ध की दिग्दर्शक से अमेरिका को यह आकांक्षा हो गई कि विश्व के अन्य विकसित देश सम्बन्धी प्रभाव के समान क्षेत्र सिद्ध हो

सकते हैं। अतः ऐसे प्रदेशों में साम्यवाद के अवरोध लिए 20 जनवरी 1949 को ट्रूमैन ने 'चार सूत्री कार्यक्रम (Programme) की घोषणा की—

- (i) समुक्त राष्ट्रसंघ का पूर्ण समर्थन
- (ii) विश्व के आर्थिक पुनरुद्धार के कार्य चालू रखना
- (iii) आक्रमण के विरुद्ध स्वतन्त्रता-प्रेमी राष्ट्रों को सुदृढ़ बनाना एवं
- (iv) अल्प-विकसित देशों के उत्थान के लिए प्राविधिक सहायता देना।

अमेरिकी काँग्रेस ने 1950 के अन्तर्राष्ट्रीय विकास अधिनियम (Act for International Development) द्वारा इस कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया। रिचर्ड स्टैंबिस के शब्दों में "यह कानून अमेरिकी विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर था।" इस योजना द्वारा प्रथम बार तकनीकी सहायता प्रदान करने की आवश्यकता धीरे-धीरे बढ़ने लगी क्योंकि अर्द्ध-विकसित देशों की आवश्यकताएँ बहुत अधिक थीं तथा इसके द्वारा अमेरिका के राष्ट्रीय हितों की रक्षा होती थी।

समुक्त राज्य अमेरिका ने सहायता के राजनय द्वारा द्वितीय महायुद्ध के तुरन्त बाद, साम्यवाद के प्रसार को रोकने में बहुत कुछ सफलता प्राप्त की। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद के काल में यदि कई राज्य साम्यवादी नहीं बने तो इसका श्रेय अमेरिकी सहायता को था। विदेश सचिव डेलेस ने एक बार कहा था कि यदि हम यह सहायता नहीं देते तो निश्चित ही हम चारों ओर से साम्यवादियों से घिर जाते और हमें जीवित रहने के लिए भी प्रयास करने पड़ते।

द्वितीय महायुद्ध के बाद सहायता के राजनय ने इस प्रकार अपने पैर जमा लिए। इसमें साम्यवादी राज्यों ने अपने प्रसार के लिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न राज्यों की सरकारों अथवा विद्रोहियों को सहायता दी। इसी प्रकार पूँजीवादी राज्यों ने अपने आदर्शों की रक्षा के लिए तथा साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए राज्यों को सहायता प्रदान की। दोनों गुटों के विदेश सहायता कार्यक्रम प्रतिस्पर्धा के साथ संचालित किए जाने लगे। यह ठीक ही कहा गया है कि "सहायता का राजनय" लोगों के उदर के माध्यम से उनके मस्तिष्क पर अधिकार करने का प्रयास है। यह सजग स्वार्थ (Enlightened Self interest) का श्रेष्ठ उदाहरण है। सहायता देने वाले राज्य अपने राष्ट्रीय हित की सिद्धि के लिए ऐसा करते हैं। अमेरिकी राष्ट्रपति केंनेडी ने 1963 में काँग्रेस के सम्मेलन अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि "यह बात पूर्णतः सदेहरहित है कि हमारे सहायता कार्यक्रम हमारी राष्ट्रीय परम्पराओं के अनुकूल हैं तथा हमारे राष्ट्रीय हित की पूर्ति करते हैं।"¹

भारत जैसे अर्द्धविकसित अथवा विकासशील देश विदेशी पूँजी अथवा विदेशी सहायता के माध्यम से अपने आर्थिक विकास को तीव्र करने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन इस चीज पर अधिक निर्भरता के आर्थिक और राजनीतिक दोनों ही खतरे हैं। विदेशी पूँजी देश में राजनीतिक हस्तक्षेप का साथ लाती है। भारी मात्रा में आर्थिक सहायता देने वाला देश 'आर्थिक प्रभुत्व' के साथ साथ 'राजनीतिक प्रभुत्व' को भी बढ़ाने का प्रयत्न करता है। विदेशी सहायता के कारण फण्ड की योजना नीति प्रभावित होती है। उसे विदेशी दबाव

के कारण सश्रेष्ठित करना पड़ता है। विदेशी सहायता देश की सुरक्षा के लिए सकट पैदा कर सकती है। जब सकटकाल में अचानक विदेशी सहायता बन्द कर दी जाती है और विदेशी पूँजी बचपस लौटने लगती है तो देश की सुरक्षा को खतरा पैदा हो जाता है। विदेशी पूँजी के अत्यधिक आगत से देश के अर्थिक दिवलिपेन का खतरा पैदा हो जाता है क्योंकि बाज़ और लाल के मुग़लान के रूप में नारी मात्रा में राशि विदेशों को घनी जाती है। इससे देश में आश्चर्यक पूँजी-निर्माण सम्भव नहीं हो पाता और अर्थिक दिवस की योजनाएँ ठप होने लगती हैं। नारी मात्रा में विदेशी मशीनों और उपकरणों को निरन्तर काम में लेने से इनके सम्बन्ध में देश की निर्भरता बढ़ जाती है। यद्यपि भारत मशीनरी के सम्बन्ध में आत्म-निर्भरता की ओर बढ़ रहा है, यद्यपि आहारपदार्थ उद्योगों के लिए आश्चर्यक उचित और नारी मशीनों की उत्तिर विदेशों पर ससली निर्भरता बनी बड़ी हुई है। यह स्थिति देश के लिए गम्भीर घुनी है। विदेशी पूँजी के सन्ध-सय जो विदेशी लोग देश में घुस जाते हैं उनके कारण गैरनियत व्यवस्था नहीं रह पाती। बनी बनी अश्रेष्ठ विदेशी दत्त देश के लोगों को बड़ा नुकसान पहुँचाने हैं। बहुउद्देशीय अल्पनिर्देश देश का रोपन करने लगती हैं।

वई अर्थों में खाद्यपत्रों की सहायता विदेशी सहायता का सबसे प्रमुख व महत्वपूर्ण अस्त्र बन गया है। यह उन्नत के स्तर पर प्रचार का एक अंश सम्बन्ध है क्योंकि यह 'जन-जन का राजनय' (People to Diplomacy) है। संयुक्त राज्य अमेरिका ने 1954 में 'राष्ट्र के लिए खाद्य प्रोग्राम' (Food for Peace Programme) आरम्भ किया था। अकाल पीड़ित देशों को खाद्यपत्र उनकी अपनी स्थानीय मुद्रा में बेचे अथवा दान में दिये जाते थे। प्रत्येक राज्य राजनीतिक उद्देश्य प्रष्टि के लिए खाद्यपत्र देते हैं।

विदेशी सहायता के लक्ष्य

(The Objects of Foreign Aid)

एक राज्य द्वारा विदेशी सहायता के राजनय का अनुशीलन कुछ लक्ष्यों की प्रष्टि के लिए किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के सम्बन्ध में ये लक्ष्य निम्नलिखित हैं—

1. राष्ट्रीय हित की पूर्ति : संयुक्त राज्य द्वारा अन्य राज्यों को इसलिये सहायता दी जाती है ताकि वहाँ संयुक्त राज्य के अर्थिक, राजनीतिक तथा अन्य हित सुरक्षित रहें। जिस राज्य में करोड़ों डॉलर व्यय किए जाते हैं उससे यह आशा करना स्वभाविक है कि विश्व-राजनीति में वह सहाय्यपूर्ण नीति अन्वयण। संयुक्त राज्य यह चाहता है कि उसकी सहायता प्राप्त करने वाला राज्य उसके शत्रु पक्ष को किसी प्रकार प्रोत्साहन न दे।

2. साम्प्रदायी प्रसार प्रेरणः साम्प्रदायी प्रसार के लिए अनुकूल मूनि गरीबी, अविद्या, अज्ञानता तथा निष्ठुरता है। जो राज्य न्यूनतम आश्चर्यकालों के लिए सपर्य कर रहा है वह साम्प्रदायी की ओर सुगमता से झुक जाता है अतः संयुक्त राज्य द्वारा इन अर्थों से पीड़ित राज्यों को अन्ने पौं पर खड़े होने के लिए सहायता दी जाती रही। इनसे साम्प्रदायी का प्रसार होने से रुका और उसके दिष्ट परिणामी राज्यों की प्रेरणनी हुई है। यदि सहायता न दी जाय तो संयुक्त राज्य को न्ये था कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्प्रदायी अन्वेलन दिष्ट के नारी देशों पर छा जाय और अमेरिका को अन्ने दिग्दिग् ने छिर लाने पर

अपने अस्तित्व के लिए साधर्म्य करना पड़ेगा। सन् 1991 में सोवियत संघ में साम्यवादी व्यवस्था के पतन ने इस भय को समाप्त कर दिया।

3 अर्थव्यवस्था के सन्तुलन के लिए - समुक्तराज्य अमेरिका ने औद्योगिक प्रगति द्वारा अपना पर्याप्त उत्पादन बढ़ा लिया है। इस समस्त उत्पादन की खपत देश में नहीं हो पाती अतः विदेशी बाजारों की खोज की जाती है। यह जरूरतमंद देशों को इस शर्त पर सहायता देता है कि वे अमेरिकी माल की ही खरीददारी करें ताकि समुक्तराज्य की अर्थव्यवस्था सन्तुलित बनी रहे।

4. अन्य राज्यों की मित्रता प्राप्त करने के लिए - अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सहयोग मैत्री और सौहार्द्रपूर्ण वातावरण अनिवार्य हैं। यह मित्रता आवश्यकता के समय सहायता देने पर ही प्राप्त की जा सकती है तथा एक सन्तुष्ट राज्य ही मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम रखता है। अतः विदेशों को सहायता देकर समुक्तराज्य अमेरिका विश्व में अपने पक्ष को सबल करने में प्रयत्नशील रहता है। उसे इस साधन से शीतयुद्ध के समय अनेक मित्र बनाने में काफी सहायता मिली है।

5 देश-रक्षा के लिए अनिवार्य - वैदेशिक सहायता का राजनय समुक्तराज्य के अस्तित्व एवं सुरक्षा की दृष्टि से भी उपयोगी था। सोवियत संघ के अस्तित्व के समय उसका विरोधी पक्ष पर्याप्त सराफ था। उससे लड़ने अथवा बचाव के लिए एक कुशल राजनीति की आवश्यकता रही। समुक्तराज्य को अपने बचाव के लिए किलेबन्धियाँ करनी पड़ीं। विदेशों को सहायता प्रदान करके एक राज्य की मित्रता जीत लेना समुक्तराज्य की आत्मरक्षा के लिए अत्यन्त उपयोगी है। सोवियतसंघ के पतन के बाद यह सकट समाप्त हो गया।

6. धन अधिक नहीं है : विदेश सहायता के राजनय का समर्थन करते हुए यह कहा जाता है कि समुक्तराज्य अमेरिका को साम्यवादी आक्रमण के विरुद्ध अपनी रक्षा के लिए वैदेशिक सहायता की नीति अपनानी पड़ेगी। इस कार्यक्रम पर होने वाला धन इसकी उपयोगिता को देखते हुए अधिक नहीं था। 1963 में विदेश सहायता के लिए अतिरिक्त 600 मिलियन डॉलर की माँग करते हुए राष्ट्रपति केनेडी ने कांग्रेस में कहा था कि "विश्व के विकासशील देशों को शक्तिशाली एवं स्वतंत्र बनाने के लिए यह मात्रा उतनी भी नहीं है जितना कि यह देश लिपस्टिक, क्रीम आदि चीजों पर प्रतिवर्ष व्यय करता है।" राष्ट्रपति केनेडी के समय कांग्रेस द्वारा प्रतिरक्षा के लिए लगभग 50 मिलियन डॉलर प्रतिवर्ष स्वीकार किए जाते थे। इनमें से अधिकांश का सम्बन्ध साम्यवाद की रोकथाम से था। कुल मांग का केवल दसवीं हिस्सा ही जरूरतमंद राज्यों की सहायता के लिए खर्च किया जाता था।

विदेशी सहायता का रूप (The Form of Foreign Aid)

समुक्तराज्य द्वारा विदेशों को दी जाने वाली सहायता का रूप सम्बन्धित देश की आवश्यकता पर निर्भर करता है। प्रायः जिस प्रकार की सहायता समुक्तराज्य देता है वह निम्नलिखित में से किसी एक रूप में या एक से अधिक रूपों में होती है—

(1) किसी राज्य को नकद मुद्रा के रूप में ऋण देना ताकि वह अपनी इच्छानुसार अमेरिकी उत्पादनों का क्रय कर सके।

(2) किसी राज्य की जनता के भरण-पोषण के लिए खाद्यान्न भेजना।

(3) साम्यवाद का मुकाबला करने के लिए एक राज्य को आवश्यक शस्त्रों से सुसज्जित करना ।

(4) किसी राज्य को समर्थ और स्वतन्त्र बनाए रखने के लिए वहाँ के औद्योगिक विकास में सहयोग देना तथा इस हेतु आवश्यक तकनीकी ज्ञान एवं मशीनें उपलब्ध कराना ।

(5) यदि किसी राज्य में घरेलू उत्पादन की व्यवस्था न हो सके तो वहाँ निर्मित माल बेचना ।

ये विदेशी सहायता के मुख्य रूप हैं । इसके अतिरिक्त शिक्षा, संस्कृति एवं मनोरंजन आदि क्षेत्रों में भी सहायता दी जाती है ।

विदेशी सहायता की समस्याएँ (The Problems of Foreign Aid)

संयुक्त राज्य द्वारा दी जाने वाली विदेशी सहायता का एक दूसरा पहलू भी है । आलोचकों द्वारा इसकी मात्रा, औचित्य एवं अन्य प्रकार की आलोचनाएँ एवं समस्याएँ मुख्यतः निम्नलिखित हैं—

1 आलोचकों का कहना है कि विदेश सहायता के रूप में अब तक काफी धन दिया जा चुका है किन्तु यह मुख्य रूप से अविचारपूर्ण योगदान ही माना जा सकता है । इस सहायता का अधिकांश भाग अपने उद्देश्य को पूरा नहीं करता और इसलिए राष्ट्रीय हित में नहीं है ।

2 आलोचकों के मतानुसार विदेशी सहायता के रूप में दी जाने वाली राशि बहुत अधिक है । रॉबर्ट मर्फी के कथनानुसार अमेरिका जब एक बार नीति निर्धारित कर लेता है तो फिर उस पर आने वाली लागत को और नहीं देखता । सन् 1948 में यूगोस्लाविया तथा स्टालिन के बीच मतभेद बढ़ गए तो संयुक्त राज्य ने यूगोस्लाविया को सहायता देने की नीति अपनाई । उसने इतनी सहायता दी कि उसके उद्देश्यों तथा नीयत को भी सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा ।

3 आलोचकों के अनुसार विदेश सहायता का रूप गलत है । उसका लगभग एक तिहाई भाग शस्त्रों एवं लोहा, इस्पात आदि के रूप में दिया जाता है ताकि साम्यवाद से लड़ा जा सके किन्तु ये हथियार अनेक अवसरों पर साम्यवादियों के हथों में पहुँच जाते हैं । कभी कभी ये हथियार सीधे तानाशाहों को भेजे जाते हैं जो इनका प्रयोग अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए करते हैं । ये तानाशाह शासक अपनी जनता का दमन करने में इस सहायता का उपयोग करते रहे ।

4 अमेरिकी प्रसंग में विदेश सहायता की एक अन्य आलोचना यह है कि यह गलत देशों को दी जाती है । पोलैण्ड तथा यूगोस्लाविया को पर्याप्त सहायता दी गई है जो पहले से ही साम्यवादी शासन के अधीन थे । जिन राज्यों ने पूँजीवादी व्यवस्था को नष्ट करने की शपथ ले रखी हो उन शत्रुओं के हाथ में बन्दूक सौंपने की सार्थकता पर सन्देह किया जाता है ।

5 विदेश सहायता के राजनय के विरुद्ध यह कहा जाता है कि विदेशों की मित्रता खरीदी नहीं जा सकती । सन् 1945 के बाद संयुक्तराज्य ने फ्रांस को भारी सहायता दी किन्तु जनरल देगोल के नेतृत्व में फ्रांस ने संयुक्तराज्य को जानबूझ कर आघात पहुँचाया ।

मिरा के राष्ट्रपति तासिर तथा इटोशिया के सुवर्ण ने भारी मात्रा में अमेरिकी सहायता ग्रहण की बिन्तु अमेरिका विरोधी नीतिमें अपनाई और खुलकर विरोधी प्रचार किया ।

6 विदेश सहायता के रूप में दिए जाने वाले हथियारों के प्रयोग पर समुत्तराज्य नियन्त्रण नहीं रख सकता । द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उसने सोवियत आक्रमण से रक्षा के लिए फ्रोंस की भारी मात्रा में हथियार दिए । इन हथियारों का प्रयोग फ्रोंसीसी सेनाओं ने उत्तरी अफ्रीका में अल्जीरियाई विद्रोहों को दबाने के लिए किया । इसी प्रकार समुत्तराज्य ने पाकिस्तान को हथियार दिए ताकि वह साम्यवादी के सम्भावित आक्रमण का विरोध कर सके बिन्तु उसने इन हथियारों का प्रयोग भारत पर आक्रमण करने और सीमा पर तनाव रखने में किया है ।

7 समुत्तराज्य अमेरिका खाड़ी के देशों को इसलिए सहायता देता है ताकि इस क्षेत्र के तेल भंडारों पर उसका नियंत्रण रहे । सन् 1971 का खाड़ी युद्ध इसी उद्देश्य को ध्याना में रखकर लड़ा गया ।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का राजनय

(Diplomacy of the International Organisations)

वर्तमान विश्व की बदलती हुई परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों और सम्मेलनों में राजनय का महत्व बढ़ गया है । संचार साधनों के विस्तार औद्योगिक प्रगति व्यापारिक एवं वित्तीय सम्बन्धों के प्रसार शान्ति की आवश्यकता और समग्र युद्ध के खतरे के कारण अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ बड़ी अधिक बढ़ गई हैं । इनके समाधान के लिए 19वीं शताब्दी के परम्परागत तरीके असामयिक बन गए हैं । इनको यद्यपि सीमित रूप में अपनाया जा सकता है । किन्तु ये उलझा तथा विलम्ब करने वाले हैं । अतः अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का प्रचलन हुआ ताकि आपसी झगड़ों पर विचार विमर्श एवं समझौता पार्ता का प्रस्ताव पारित किया जा सके । इस प्रणाली में प्रत्येक को क्रियान्वित करने की कोई व्यवस्था नहीं थी । यह कार्य व्यक्तिगत राज्यों को ही करना पड़ता था अतः अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की आवश्यकता अनुभव की गई । इनके माध्यम से राज्यों के आपसी सम्बन्धों की अनेक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है ।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के रूप

(Two forms of International Organisations)

मौटे रूप से अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—सामान्य तथा विशेषकृत । सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन वे होते हैं जो विश्व शान्ति की स्थापना का प्रयास करते हैं तथा सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को प्रोत्साहित करके उन्हें सुदृढ़ करते हैं । अनेक स्वयन्सहायता आदर्शवादियों एवं राजनीतिज्ञों द्वारा इनका समर्थन किया जाता है । इन संगठनों की योजनाएँ प्राचीनकाल से ही प्रस्तुत की जा रही हैं किन्तु इसे व्यावहारिक रूप भाग्यविक राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था के विकास के बाद ही दिया जा सका । ये सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (The General Organisations) राष्ट्रसंघ अथवा समुक्त राष्ट्रसंघ की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय हो सकते हैं अथवा अमेरिकी राज्यों के समूह या यूरोप की परिवर्द्ध की भाँति क्षेत्रीय भी हो सकते हैं । इनका सम्बन्ध शान्ति एवं सुरक्षा की सामान्य समस्याओं से

रहता है। ये मित्रतापूर्ण तरीकों से राजनीतिक विवादों को दूर करने के साथ-साथ अनेक आर्थिक कानूनी सामाजिक और मानवीय समस्याओं का सम्धान भी करते हैं।

राज्यों के गैर-राजनीतिक अथवा तकनीकी प्रकृति के आपसी सम्बन्धों का विवेचन करने के लिए विशेष अन्तर्राष्ट्रीय अन्विकरणों की स्थापना की जाती है। इन सगठनों की गणना अन्तर्राष्ट्रीय सघ (Unions) के रूप में की जाती है तथा इनको सगठन सघ यूरो सस्था समाज परिषद् बोर्ड कमीशन समिति समुदाय आदि नामों से जाना जाता है। आज ये सभी विशेषीकृत अन्तर्राष्ट्रीय सगठन कहे जाते हैं।

राष्ट्रीय सन्नमुता और अन्तर्राष्ट्रीय सगठन

(National Sovereignty and International Organisations)

अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों के मार्ग में सदाधिक उल्लेखनीय बाधा सन्नमुता की अद्यारणा है। सिद्धान्त रूप में इसे पूर्ण मना जाता है किन्तु व्यवहार में इस पर अनेक सीमाएँ तथा प्रतिबन्ध होते हैं। जब राज्य अपनी ओर से किसी अन्तर्राष्ट्रीय अन्विकरण की स्थापना करते हैं तथा उसे निर्देशान्, प्रबन्ध या निदानन की शक्तियाँ देते हैं तो वे उस सीमा तक अपनी सरकार की कार्य करने की स्वतन्त्रता को सन्निह करते हैं। इस प्रकार सन्नमुता और अन्तर्राष्ट्रीय सगठन परस्पर विरोधी बन गए हैं। प्रारम्भ में जिन बाधों को विशुद्ध रूप से राष्ट्रीय शक्ति के अन्तर्गत माना जाता था, वे आज अन्तर्राष्ट्रीय सस्था के दायित्व बन गए हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों का इतिहास

(History of International Organisations)

अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों का इतिहास राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना के बाद में प्रारम्भ हुआ है। इसे काल क्रमानुसार निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है—

1. प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व : 19वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के चार तत्वों—व्यवस्थानिका, कार्यपालिका, प्रशासन और न्यायपालिका का विकास हो रहा था। व्यवस्थापन का कार्य प्रारम्भिक स्तर पर विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में प्रारम्भ हुआ। कार्यपालिका सम्बन्धी उत्तरदायित्व का श्रीगणेश 1815 की वियना कॉन्फ्रेंस में हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासनिक सगठन द्वारा कुछ अधिक सकलत्वाएँ प्राप्त की गईं। नेपोलियन काल के अन्त में दिक्कत प्रशासनिक अन्विकरणों ने मुख्यतः यल्लयत के दिग्घ में हार्द दिया। 19वीं शताब्दी के मध्य तक रुधार के आधुनिक सधनों ने दिग्द दो नजदीक लाने का कार्य किया। फलतः अतिरिक्त प्रशासनिक अगों का गठन किया गया। इस काल के कुछ उल्लेखनीय सगठनों ने सहकारी सेवा के विकास में उल्लेखनीय कार्य किया।¹ उल्लेख सौख्यिकी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 1804 से 1854 तक केवल सन अन्तर्राष्ट्रीय सघों की स्थापना हुई किन्तु अगनी 25 वर्षों ने अन्य सघ गठित किए गए।

1. कुछ उल्लेखनीय रूप में हैं : (1) International Bureau of Weights and Measures (1875), (2) International Union for the Protection of Industrial Property (1883) (3) The International Bureau for the Publication of Customs Tariffs (1890) इत्यादि।

1890 से प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ तक 23 सघ और स्थापित हुए तथा इस प्रकार कुल योग लगभग 50 हो गया।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायिक सरथाओं का विकास 19वीं शताब्दी में सबसे बाद में हुआ। प्रारम्भ में राज्यों के आपसी विवादों को समझौता वार्ता या पंच फैसले द्वारा सुलझाने का रिवाज था और इस हेतु सिद्धान्तों/प्रक्रियाओं तथा यन्त्रों का विकास किया गया था। 19वीं शताब्दी में पंच निर्णय के आधार पर लगभग 300 सन्धियों की गई। इन सभी में किसी न किसी प्रकार के पंच निर्णय का उल्लेख था। सन् 1899 में प्रथम हेग शान्ति सम्मेलन बुलाया गया। इसमें न्यायाधिकरण के स्थायी न्यायालय की स्थापना की गई जिसे हेग न्यायाधिकरण के रूप में जाना जाता है। द्वितीय हेग सम्मेलन (1907) में इस न्यायाधिकरण की संरचना पर विचार किया गया तथा इसे राज्यों के विवादों को सुनने और निर्णय देने की शक्ति प्राप्त हो गई। राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद भी यह न्यायाधिकरण कार्य करता रहा। सन् 1907 में पाँच अमेरिकी राज्यों ने न्याय के केन्द्रीय न्यायालय के रूप में एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण की स्थापना की। यह 1914 में समाप्त हो गया क्योंकि समुक्त राज्य ने इसके निर्णय को अमान्य कर दिया।

2 राष्ट्रसंघ (The League of Nations) प्रथम विश्वयुद्ध के बाद विश्व में शान्ति स्थापना के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता गम्भीर रूप से अनुभव की जाने लगी। कुछ अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरण युद्ध के समय भी कायम थे किन्तु उन्हें अधिक व्यापक और प्रभावशाली बनाने का विचार किया गया। युद्ध के बाद पेरिस के शान्ति सम्मेलन में राष्ट्रसंघ की आधारशिला रखी गई। राष्ट्रसंघ के घोषणा पत्र में एक परिषद् तथा एक सभा के लिए व्यवस्था थी। इनके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय और सचिवालय का प्रावधान भी था। सघ ने दो विश्वयुद्धों के बीच अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया किन्तु यह इसके निर्माताओं की महत्वाकांक्षाओं को पूरा नहीं कर सका।

राष्ट्रसंघ का महत्वपूर्ण योगदान न्याय और प्रशासन के क्षेत्र में रहा। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय इसका महत्वपूर्ण अंग है। इसे विश्व का प्रथम स्थायी न्यायालय माना जा सकता है। इसके सचिवालय पर 59 राज्यों ने हस्ताक्षर किए और अन्य 51 राज्यों ने इसे स्वीकार किया। 1922 से 1940 तक इसके 49 अधिवेशन हुए जिनमें इसने 60 अन्तर्राष्ट्रीय विवादों की सुनवाई की। अपने कार्यकाल में इसने 32 निर्णय 137 आदेश और 27 परामर्श दिए। अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों का यह विवरण न्यायालय को अद्वितीय स्थान प्रदान करता है।

प्रशासन के क्षेत्र में भी राष्ट्रसंघ की प्राप्ति उल्लेखनीय थी। एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में इसका सचिवालय सार्वभौम वस्तुगत और राष्ट्रीय स्वार्थों से अप्रती सत्ता बन गया। इसके कर्मचारी कार्य के आधार पर 11 से लेकर 15 अनुभागों में संगठित किए गए।

3 महायुद्धों के बीच सन्धि वार्ता और पंच निर्णय दो महायुद्धों के बीच राष्ट्रसंघ के शान्ति प्रयासों के अतिरिक्त पंच निर्णय और सन्धि वार्ता के लिए पृथक् संगठनों का भी सहयोग लिया गया। युद्ध से भयभीत सत्तार के विवादों के शान्ति पूर्ण समाधान हेतु विभिन्न सन्धियों की गई। सन् 1922 में राष्ट्रसंघ की समा द्वाता की गई सिफारिशों के आधार पर

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने के लिए लगभग 200 संधियों की गईं। इनमें लेकरन संधि ऐसी महत्वपूर्ण संधियों में थी। 1933 में 20 अमेरिकी राज्यों ने एक युद्ध विरोधी संधि की। 1928 में अमेरिकी विदेश सचिव कैलिंग ने पुरानी संधियों के स्थान पर 27 नए निर्णय संधियाँ कीं। ये मुख्य रूप से यूरोप और अफ्रीका के राज्यों के साथ की गई थीं।

4 सयुक्त राष्ट्रसंघ की व्यदस्था सयुक्त राष्ट्र द्वितीय विश्वयुद्ध को रोकने में असफल रहा। इसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों तथा अन्य कारणों ने द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रारम्भ किया। उस राजनीतिक मंडी अन्तर्गत ही रोकने के लिए एक अधिक सन्धि तथा दोषहीन संगठन बनाने की योजना तैयार करने लगे। सन् 1944 के डम्बर्टन ओक्स सम्मेलन में चार बड़े राज्यों ने सर्वसम्मति से जो निर्णय लिए उनके अन्तर्गत सयुक्त राष्ट्रसंघ का घटक तैयार किया गया। यथा सम्मेलन में इसने कुछ संशोधन किए गए तथा सन् 1945 के सन्मेलन में इसे सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया।

सयुक्त राष्ट्रसंघ के संगठन के राजनीतिक तथा गैर राजनीतिक दोनों ही प्रकार के काम हैं। इसके राजनीतिक अंग महत्त्वपूर्ण और सुलझा परिषद् हैं। महत्त्वपूर्ण का कार्य विभिन्न अवसरों की पहल तथा निगरानी करना है। सदस्यों द्वारा विभिन्न रूप से स्वीकृत इसके प्रस्तावों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यदस्था बनाया जा सकता है। यह सुलझा सम्मेलन विवादों पर विचार नहीं करता। यह कार्य सुलझा परिषद् द्वारा सम्पन्न किया जाता है। सुलझा परिषद् का मुख्य कार्य सन्धि एवं व्यदस्था की स्थापना करना है। संधि के मुख्य लक्ष्य की पूर्ति करने के लिये यह संधि का महत्त्वपूर्ण अंग बन गई है। इसकी अन्तर्गत ही के विश्व प्रस्ताव पालन करने तथा प्रविश्य लगाने की शक्ति प्राप्त है किन्तु इसे सही अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय वादनीय नहीं बनाया जा सकता।

सयुक्त राष्ट्रसंघ के गैर राजनीतिक अंगों में न्याय परिषद्, अर्थिक और सामाजिक परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायलय तथा लघुदालय हैं। गैर राजनीतिक प्रकृति के कार्य सम्पन्न करने के लिए विभिन्न निर्देशित अधिकारों का भी प्रयोजन किया गया है। ये अधिकार अर्थिक एवं सामाजिक परिषद् से सम्बद्ध रहकर कार्य करते हैं। इनकी सलाह कई दर्जनों है। इनमें से कुछ नग्ननिर्मित हैं—जैसे अन्तर्राष्ट्रीय बैंक एवं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राबाँध आदि, तथा कुछ पहले से ही कार्य कर रहे हैं—जैसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन आदि। सयुक्त राष्ट्रसंघ का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायलय (The International Court of Justice) संयुक्त और अंग्रेजों ने राष्ट्रसंघ के न्यायलय से परामर्श निम्न रहता है। इसका सम्बन्ध क्षेत्रधिकार निर्मित है तथा अन्तिम हस्तक्षेप ऐच्छिक बना दिया गया है। सयुक्त राष्ट्रसंघ के लघुदालय को कई कानूनीक विषयों में निर्दिष्ट किया गया है। प्रत्येक दिग्गज अपने अपने क्षेत्र का निरोधक होता है। यह महत्त्वपूर्ण के अर्थ में सयुक्त राष्ट्रसंघ के मुख्य सामाजिक अधिकारों का कार्य में कार्य करता है। महत्त्वपूर्ण महत्त्व के समुदाय संगठन के कार्य का दार्शनिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए उत्तरदायी है। यह अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति के लिए उत्तरदायी प्रत्येक को सुलझा परिषद् को सैन्य देता है। दर्शन में सयुक्त राष्ट्रसंघ के न्यायविद निम्नके वर्तमान पाली है।

अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों की संरचना एवं कार्य संचालन

(Structure and Operation of International Organisations)

अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों की संरचना अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों की अपेक्षा अधिक औपचारिक होती है। ये निरन्तर कार्यरत रहते हैं इसलिए इनके ढाँचे एवं प्रक्रिया को सत्यागत रूप दे दिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों में एक सरकारी यन्त्र रहता है, इसलिए इसकी रचना कानून पर आधारित होती है जिसमें इसकी शक्तियाँ आन्तरिक ढाँचा तथा बाहरी सम्बन्ध आदि का उल्लेख रहता है। इन कानूनों को अमिसमय (Conventions), समझौता (Agreements) धोषणापत्र (Covenant), अधिकारपत्र (Charter), संविधान (Constitution) आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। इनमें आवश्यकतानुसार संशोधन एवं परिवर्तन होते रहते हैं।

सामान्य कार्य (General Functions) अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों के सामान्य कार्य उन शक्तियाँ एवं उत्तरदायित्वों पर निर्भर हैं जो विभिन्न राज्यों द्वारा सौंपे जाते हैं। इन कार्यों का सम्बन्ध राज्यों के समस्त पारस्परिक सम्बन्धों से रहता है। इनके क्षेत्र में शान्ति स्थापना सुरक्षा एवं आपसी विवादों के निपटारे सम्बन्धी मामले सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त ये अनेक आर्थिक सामाजिक तथा अन्य विषयों से भी सम्बन्ध रखते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों के इतिहास का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि इन्होंने कृषि, व्यापार वित्त शिक्षा, विज्ञान संस्कृति, कानून न्याय समाज-व्यवस्था, स्वास्थ्य यातायात, संचार आदि विषयों में उल्लेखनीय योगदान दिया है।

सामान्य संरचना (General Structure) राज्यों के आपसी सम्बन्धों का संचालन करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें निरन्तर कार्य करने वाला एक स्थायी यन्त्र होता है। इसकी संरचना का रूप इसके लक्ष्य क्षेत्राधिकार तथा भाग लेने वाले राज्यों की संख्या पर निर्भर करता है। सामान्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के तीन भाग होते हैं—(i) सगठन की नीति निर्धारित करने के लिए एक सभा होती है जिसे विधायी शाखा कहा जा सकता है। इसमें विभिन्न प्रश्नों पर विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद होता है और सगठन के सिद्धान्तों एवं विनियमों की व्यापक रूपरेखा तैयार की जाती है। यह कार्य महासभा सभा सम्मेलन आदि द्वारा किया जा सकता है। इसकी बैठकें सामयिक रूप से अथवा आवश्यकतानुसार होती रहती हैं। (ii) प्रशासनिक शाखा द्वारा सगठन की निर्धारित नीतियों को कार्यान्वित किया जाता है। यह प्रायः एक स्थायी निकाय होता है। इस शाखा को ब्यूरो समिति अथवा सचिवालय आदि नामों से जाना जाता है। यह शाखा सगठन के लिए सामान्य लिपिक सम्बन्धी या प्रशासकीय कार्य सम्पन्न करती है। यह सम्बन्धित प्रकारानों को प्रसारित करती है कार्यवाही की सूची बनाती है तथा आय-व्यय के बजट का प्रारूप तैयार करती है। (iii) मध्यवर्ती अंग—कुछ अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों में कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका शाखाओं के बीच एक मध्यवर्ती अंग होता है जो नियमानुसार स्थायी प्रकृति का होता है।

सामान्यतः उक्त तरीके से ही अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों को गठित किया जाता है किन्तु कुछ अभिकरणों की संरचना मित्र प्रकार की भी हो सकती है। उदाहरणस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय

बैक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष निगम प्रकृति के होते हैं तथा इनको व्यावसायिक उद्योगों के रूप में संगठित किया जाता है।

सदस्यता (Membership) : अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की सदस्यता इस बात पर निर्भर होती है कि वह संगठन सरकारी है अर्द्ध सरकारी है अथवा गैर-सरकारी है। साधारणतः राज्यों को ही सरकारी अनिकरण में भाग लेने के योग्य माना जाता है किन्तु इस नियम के अपवाद भी हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन आदि अनिकरणों में सहयोगी सदस्य भी शामिल किए जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय प्रम-संगठन में केवल राज्यों के ही सदस्य होते हैं किन्तु वे सरकार प्रबन्ध और मजदूरों का प्रतिनिधित्व करते हैं और प्रत्येक प्रतिनिधि को पृथक् मतदान का अधिकार होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की सदस्यता के मुख्यतः दो रूप हैं—(i) सार्वभौमिक सदस्यता, और (ii) प्रतिबंधित सदस्यता। अनेक संगठनों की सदस्यता सार्वभौमिक होती है, जैसे—संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा उसके अनिकरण। इसकी मौलिक सदस्य संख्या 51 थी जो बाद में बढ़कर 1992 तक 166 हो गई। इसके विपरीत, संयुक्त राष्ट्रसंघ के कुछ संगठनों में कार्यत्नक अथवा मौलिक दृष्टि से सदस्यता मर्यादित होती है, जैसे—अन्तर्राष्ट्रीय सांख्यिकीय संस्थान में 225 सदस्य होते हैं जो अधिकतर कनाडा, संयुक्तराज्य अमेरिका तथा पश्चिमी यूरोप के राज्यों से लिए जाते हैं। क्षेत्रीय अनिकरणों को मौलिक परिधि में रखा जाता है, यथा एशियाई अठ्ठीकी तथा यूरोपीय मामलों के सम्बन्ध में पृथक् अनिकरण होते हैं।

प्रतिनिधित्व एवं मतदान (Representation and Voting) : अन्तर्राष्ट्रीय आचरण में सम्प्रभुता को स्वीकार करने के कारण दो सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ है—प्रतिनिधि की समानता और मतदान प्रक्रिया में सर्वसम्मति। कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अपनी स्वात्मन्त्रता को इतना सँजित नहीं करना चाहता कि किसी निर्णय को अस्वीकृत करके भी उसके पक्ष में के लिए बाध्य हो।

राष्ट्रसंघ में सिद्धान्त, समानता और सर्वसम्मति की मान्यता दी गई तथा व्यवहार में समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाकर द्विसदनीय व्यवस्था की गई। राष्ट्रसंघ की सभा में भी सनी छोटे-बड़े राज्यों को एक जैसा प्रतिनिधित्व दिया गया और सुरक्षा परिषद् में महाशक्तियों का प्रतिनिधित्व व्यक्त रहा। इस प्रकार महाशक्तियों की सभा के एक अंग पर प्रभुत्व रखने का अवसर दिया गया और दूसरे अंग में छोटी शक्तियों को समानता प्रदान की गई।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की रचना में राष्ट्रसंघ के अनुनय का लाल सटकाया गया। महासभा में इसके प्रतिनिधित्व और मतदान की सम्मति प्रदी गई है। सुरक्षा परिषद् में पाँच महाशक्तियों को स्थाई सदस्यता और विषेय-धिकार प्रदान किया गया है। इसमें मतदान प्रक्रिया सदा बराबर दी गई है। महासभा में सर्वसम्मति के त्याग पर बहुमत का नियम स्वीकार किया गया है। सुरक्षा परिषद् में सनी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर स्थाई सदस्यों की स्वीकृति आदर्यक मानी गई है।

अमेरिकी राज्यों के संगठन (O.A.S.) में सदस्यता अमेरिकी महाद्वीप के राज्यों के लिए है। इसमें सदस्यों की समानता एवं बहुमत के नियम को अपनाया गया है। सन् 1948

में जब अमेरिकी राज्यों के संगठन का चार्टर बनाया गया तो पूर्ण समानता का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। चार्टर में भी मतदान की समानता का उल्लेख कर दिया गया है।

प्रशासनिक अभिकरणों के सम्बन्ध में स्थिति भिन्न है। अनेक अभिकरणों में प्रतिनिधित्व की समानता है और प्रत्येक सदस्य राज्य का केवल एक प्रतिनिधि शामिल किया जाता है। अन्य अभिकरणों में प्रतिनिधियों की संख्या तो दो या तीन तक है किन्तु मतदान का अधिकार एक ही है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन में प्रत्येक राज्य अपने चार प्रतिनिधि भेज सकता है और प्रत्येक सदस्य मत देने का अधिकारी होता है। इस प्रकार इसमें राष्ट्रीय समानता का निर्वाह किया गया है।

स्थायी मुख्य कार्यालय (Permanent Head-quarter): द्वितीय विश्वयुद्ध तक समुक्त राज्य अमेरिका विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का मुख्य कार्यालय था। आजकल अधिकांश स्वतन्त्र अभिकरणों ने अपने केन्द्र प्रायः तटस्थ राज्यों में स्थापित कर लिए हैं। ऐसे केन्द्र स्विट्जरलैण्ड, बेल्जियम, हालैण्ड तथा स्वीडन में स्थित हैं। प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण एवं न्यायालय हेग में स्थापित किए गए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन का कार्यालय जिनेवा में है। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण यह स्थान अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की क्रियाओं का मुख्य केन्द्र बन गया है।

समुक्त राष्ट्रसंघ में राजनयज्ञ के कार्य

(Diplomat's Role in the United Nations Organisation)

समुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद राजनय की प्रणाली और तकनीकों पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। समस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार पर इस विश्व संस्था का प्रभाव है तथा प्रत्येक छोटे या बड़े राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में इस संस्था के सदस्य प्रश्न पूछ सकते हैं। प्रत्येक सदस्य राज्य इसमें अपना प्रतिनिधि-मण्डल भेजता है। इन प्रतिनिधियों का यह कर्तव्य है कि वे केवल अपने राष्ट्र हित की दृष्टि से ही न सोचें बल्कि विश्व शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से विचार करें। परम्परागत राजनय के अनुसार एक राज्य केवल उन्हीं विषयों से सम्बन्ध रखता था जो उसके राष्ट्रीय हित को प्रभावित करते थे किन्तु अब इस विश्व-संगठन के मध्य पर राज्य ऐसे विषयों पर भी बहस करता है जिनका उसके राष्ट्रीय हित से प्रत्यक्ष कोई सम्बन्ध नहीं होता। आज एशिया, अफ्रीका और अमेरिका के राज्य विश्व-शान्ति से सम्बन्धित प्रश्नों को पर्याप्त रूप से प्रभावित करते हैं।

समुक्त राष्ट्रसंघ में एक राजनयज्ञ को केवल महाशक्तियों के विचारों को ही प्रभावित करने की धिन्ता नहीं रहती बल्कि छोटे राज्यों का भी ध्यान रखना होता है क्योंकि ये राज्य शक्ति-सन्तुलन को प्रभावित करते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् स्वतन्त्र हुए विकासशील राज्य बड़े राज्यों से अच्छे सम्बन्ध बनाने के लिए सभी राजनयिक उपायों का उपयोग करते हैं। वे अपने विकास कार्यों के लिए अन्य राज्यों से पर्याप्त सहायता प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। आज के राजनयज्ञ की मुख्य समस्या केवल युद्धों को रोकना नहीं है बल्कि अन्य राज्यों के साथ मधुर सम्बन्धों की स्थापना भी है ताकि विश्व में सुखवस्था की स्थापना द्वारा स्वयं लाभान्वित हो तथा औरों की सहायता कर सकें। आज का राजनयज्ञ अपने राज्य की सरकार के प्रति उत्तरदायी होता है। जब वह समुक्त राष्ट्रसंघ में कोई वायदा करता है तो उसके राज्य का यह दायित्व हो जाता है कि वह उसे पूरा करे। यदि वह ऐसा नहीं करता

तो हम में सब राज्य से पूरा जगह तथा सबही निम्न की जाएगी। इस प्रकार राजनय का मुख्य संशय निम्नलिखित में करने मिले की एक काल मात्र नहीं है बल्कि विश्व-प्रतिष्ठा में ऐसे समझों की स्थापना करना है जिससे दूसरे राज्य उसके व्यक्तित्व का सम्मान कर सकें। अतः राजनय के दो परम्परागत दृष्टिकोण अत्यन्त बलवन्त हैं जिनका प्रतिपादन मेकडविल, रिचर्ड टेलीनेन्ड तथा फर्ग्युसन क्लिफ ने किया था। टेलीनेन्ड ने लिखी की राज्य का संशय विश्व जनता की करने पर में करना होता है। इस कार्य के लिए वैश्विक समझों का विकास आवश्यक अनिवार्य है। राजनय की दूसरे राज्यों के दृष्टिकोण और समझ का भी पूरा ज्ञान होना चाहिए। अतः के राजनयिक को विश्व-जनता को करने पर में मेकडविल के लिए प्रचार-समझों का साधन लेना होता है। आधुनिक राजनय प्रवृत्तियों का है तथा बहुत कुछ राष्ट्र-संघ के समय में इसे सहज रूप में प्रदान कर दिया है। यही निम्न के राजनयिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्झनों पर विचार करते हैं विशेष अर्थ सम्मान प्रस्तुत करते हैं करने पर के पर में समझों का प्रयोग करते हैं तथा बहुत के अन्तर्गत पर सम्झनों निर्माण लेते हैं।

समझों में सहभाग एवं समूह राजनय

(Diplomacy of Coalitions and Groups in General Assembly)

समझों एक संघर्ष निम्न की होती है क्योंकि यहाँ एक अनिवार्य दलीय-प्रणाली (Embryonic Party-system) प्रगट होती है। जिस प्रकार सभी राजनयिक दलों की वैश्विक समझों के समझ का बहाना समझ समझ जाता था, सभी राष्ट्र संयुक्त राष्ट्रों में राज्यों के निम्न समझों की प्रतिनिधित्व को समझ-समझ इस प्रकार पर बलवन्त होता है कि वे कुछ समझों, दलीय विचारधारा (Selfish Social Interest) के लिए वैश्विक सिद्धांतों का प्रतिपादन कर देते हैं।¹ यही ही इस प्रकार का कारण अन्तर्राष्ट्रीय संयुक्त राष्ट्रों में अनिवार्य दलीय प्रणाली के समय में मिलने वाले कुछ अन्तर्राष्ट्रीय हैं। न केवल अन्तर्राष्ट्रीय संयुक्त राष्ट्रों की अन्तर्राष्ट्रीय समझों में ही इस प्रकार की प्रतिनिधित्व सम्मान है। संयुक्त राष्ट्रों में सदस्य-राज्य निम्न एक-दूसरे से मिलते करते हैं। समझों समझों और समझों पर निम्न समझ-प्रणाली होता जाता है। सभी समझों प्रतिनिधित्व समझ पर समझ-प्रणाली सम्मान मिल जाता है तो सभी अन्तर्राष्ट्रीय समझ से सम्मान की यह प्रणाली जाती जाती है। यह अवस्था नहीं है कि इस प्रकार का समझ-प्रणाली समझ विश्व-राजनीति की अन्तर्गत सम्मानों से ही सम्मान सम्मान हो। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान और समझों पर ही समझ-प्रणाली जाती जाती है। अन्तर्गत में यह एक समझ अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान होता है कि सम्मानित विश्व-प्रतिष्ठा द्वारा एक-दूसरे को सम्मान का सम्मान मिल जाता करने पर में निम्न और समझ समझों को सम्मानित मिल जाता तथा समझों का सम्मान-प्रणाली मिल जाता।

समझों में राज्यों के समूह (Groups), सहभाग का सम्मान (Coalitions), भू (Bloc) सभी निम्न सम्मान करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मानों और समझों की प्रतिनिधित्व के सम्मानित सम्मान द्वारा लिखी निम्न निर्माण पर सम्मानों की सम्मानित होती जाती है। सम्मानों की राजनीतिक प्रणाली के कारण ही ऐसा होता है।

महासभा और संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य अंगों के विभिन्न चुनावों के सम्बन्ध में राज्यों के समूह और सहमिलन या गुट बड़ी सरगर्मी दिखाते हैं। अधिकांश महासभायी चुनाव प्रतिनिध्यात्मक सिद्धान्त पर आधारित होते हैं। चूँकि संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रत्येक संघ में महासभा के सभी सदस्यों का प्रवेश सम्भव नहीं हो सकता अतः सीमित सदस्यता के निकाय या समूह इस तरह स्थापित कर दिए जाते हैं कि उनसे अपने अपने सम्पूर्ण पक्षों का प्रतिनिधित्व हो।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में विभिन्न प्रकार के सहयोग समूहों और संगठनों का विकास होता है। इनमें तदर्थ सहमिलन (The Adhoc Coalition) होता है जिसका कम या अधिक समय के लिए समस्या विशेष पर विचार विमर्श के लिए निर्माण होता है और जब वह समस्या समाप्त हो जाती है अथवा उसका स्वरूप बदल जाता है तो वह तदर्थ सहमिलन (Adhoc Coalition) समाप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए, स्पेनिश भाषा भाषी प्रतिनिधि अनेक बार इस दृष्टि से परस्पर संयुक्त हुए हैं कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यवाही में स्पेनिश भाषा के प्रयोग के दावे पर आवाज बुलन्द कर सकें। इसी प्रकार कोरिया युद्ध के समय उन 16 राज्यों ने कोरियाई प्रश्नों पर एक दूसरे के साथ सहयोग किया जिन्होंने कोरिया में संयुक्त राष्ट्रसंघीय सैनिक कार्यवाही में भाग लिया था।

महासभा में राज्यों के दूसरे प्रकार के संगठन या गठबन्धन (Coalition) का उदय तब होता है जब कुछ राज्य नियमित या अनियमित रूप से काकस (Caucus) में मिलते हैं ताकि वे सामान्य हित के मामलों पर आपस में विचार विमर्श कर सकें बिना इस बात पर बचनबद्ध हुए कि वे एक होकर कार्य करेंगे। लेटिन अमेरिकी राज्य अफ्रो एशियायी समूह जिसमें अरब और अफ्रीकी उप समूह भी शामिल हैं तथा राष्ट्र मण्डल इसी प्रकार के संघ या समूह माने जाते हैं। इन समूहों के अपने कुछ सामान्य संगठनात्मक लक्षण हैं। ये महासभा के अधिवेशन में प्रायः कुछ सप्ताहों में एक बार मिलते हैं तथा वर्ष के शेष भाग में और भी कम एकत्र होते हैं। इन समूहों की अध्यक्षता बारी बारी से होती है। ये किसी भी सदस्य द्वारा उठाये गए किसी भी मामले पर विचार विमर्श करते हैं तथा मतदान की कोई प्रक्रिया अपनाए बिना ही आम सहमति पर पहुँचने का प्रयत्न करते हैं।

संयुक्त राष्ट्र अथवा महासभा के अन्तर्गत पूर्वी यूरोप के जो साम्यवादी राज्य हैं वे अपने को एक समूह (Group) की बजाय 'गुट' (Bloc) कहना अधिक पसन्द करते थे। अब इन देशों से साम्यवाद समाप्त हो गया है और अब इनमें भी बहुदलीय लोकतांत्रिक व्यवस्था कार्य कर रही है। यद्यपि दोनों शब्दों में कोई खास अन्तर प्रतीत नहीं होता तथापि ब्लाक शब्द से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि ब्लाक रूप में संगठित राज्य एक व्यवस्थित आधार पर केवल आपसी विचार विमर्श ही नहीं करते बल्कि सदैव एकमत होकर कार्य करते हैं। थॉमस होवेटे के अनुसार "राज्यों का यह समूह एक ब्लाक है जो काकस में नियमित रूप से मिलता है और जिसके सदस्य काकस में लिए गए निर्णयों के अनुरूप महासभा में अपना मतदान करते हैं। इस परिभाषा के अनुसार तो महासभा में केवल एक ही सच्चा ब्लाक दिखाई देता था और वह है सोवियत ब्लाक। लेकिन 1991 ई. में सोवियत संघ के विघटन के बाद यह ब्लाक समाप्त हो गया।

महासभा के प्रस्तावों में राज्यों की निम्नलिखित चार श्रेणियों का उल्लेख रहता है अर्थात् महासभा में राज्यों की चार श्रेणियों प्रमुख हैं—

1. लैटिन अमेरिकी राज्य (Latin American States)
2. अफ्रीकी एवं एशियाई राज्य (African and Asian States)
3. पूर्वी यूरोपीय राज्य (Eastern European States)
4. पश्चिमी यूरोपीय एवं अन्य राज्य (Western European and Other States)

राज्यों की इन श्रेणियों के अलग अलग अथवा एक-दूसरे के साथ मिलकर समय समय पर विभिन्न सदस्यों की दृष्टि से विभिन्न समूह विकसित होते रहते हैं।

राष्ट्रमण्डल के जो राज्य समुक्त राष्ट्रसंघीय महासभा के सदस्य हैं उनमें वैचारिक अथवा भौगोलिक एकता नहीं पाई जाती लेकिन राष्ट्रमण्डल का सदस्य होने के नते व्यवहार में वे एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति रखते हैं। राष्ट्रमण्डलीय राज्य अधिकांशतः ब्रिटिश राजनीतिक परम्पराओं से प्रभावित रहे हैं और उनकी भाषा अंग्रेजी है।

उल्लेखनीय है कि कोई भी क्षेत्र या मत समूह महासभा के मतदान को लगातार प्रभावित नहीं कर सकता। राजनीतिक एवं कूटनीतिक दबाव में आकर अनेक छोटे राष्ट्र अपना दृष्टिकोण बदलते रहते हैं। महासभा में मतदान में विजय प्राप्त करने के लिए स्थायी सहयोगियों के अतिरिक्त अन्य राष्ट्रों पर भी निर्भर करना पड़ता है।

महासभा में सदस्य राष्ट्रों पर अनेक तरह के प्रभाव भी पड़ते हैं। बड़े राष्ट्र, जिसमें अमेरिका की भी गणना की जा सकती है अपने प्रभाव को बनाए रखने के लिए अससदीय पद्धतियों को अपनाते हैं। नदेदित, अविकसित तथा कनी-कनी मित्र-राष्ट्रों को आर्थिक सहायता कम करने या समाप्त कर देने की धमकी दी जाती है। वर्तमान में समुक्त राज्य अमेरिका के ही विश्व की एकमात्र महाशक्ति रह जाने के कारण महासभा में उसकी स्थिति और भूमिका सर्वोपरि बन गई है। महासभा में छोटे राष्ट्र भी अपने राजनीतिक प्रभाव, विश्व में उनकी प्रतिष्ठा व उच्च कौटि की कूटनीति से अपना प्रभाव प्रदर्शित कर सकते हैं। सदस्य-राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों का प्रभाव भी समुक्त राष्ट्र की प्रतिष्ठा को बल देता है।¹

सुरक्षा परिषद् में निषेधाधिकार का राजनय (Veto Diplomacy in Security Council)

समुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुच्छेद 27 में सुरक्षा परिषद् की मतदान प्रणाली का वर्णन है जिसमें असाधारण अथवा सारमूत (Substantive) मामलों में परिषद् के 11 सदस्यों के स्वीकारात्मक मतों के साथ 5 स्थायी सदस्यों का मत शामिल होना आवश्यक है। इन 5 स्थायी सदस्यों में से यदि कोई भी सदस्य अपनी असहमति प्रकट करे अथवा प्रस्ताव के विरोध में मतदान करे तो प्रस्ताव को स्वीकृत नहीं समझा जाता। चार्टर में परिषद् पर साधारण और असाधारण कार्यविधि में अन्तर करने वाली कोई व्यवस्था नहीं दी गई है, अतः जब यह प्रश्न उठता है कि कोई मामला साधारण या प्रक्रियात्मक (Procedural) माना जाए अथवा असाधारण (Substantive), तब दोहरे निषेधाधिकार (Double Veto) का

प्रयोग होता है अर्थात् पहले तो निषेधात्मक मतदान द्वारा किसी प्रश्न को असाम्यारण विषय बनाने से रोका जाता है और तत्पश्चात् प्रस्ताव के दायित्वों (Obligations) के विरोध में पुनः मतदान होता है। जॉन तथा एडवर्ड ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सीमावर्ती मामलों में यह प्रारम्भिक प्रश्न उठता है कि क्या विषय साम्यारण (Procedural) है और क्या स्वतः ही यह निषेधाधिकार का विषय है। वास्तव में इसी नियमन के निषेधाधिकार को दोहरे निषेधाधिकार में बदल दिया है। पहले तो एक नकारात्मक वोट दिया जाता है जिसमें सुरक्षा परिषद् किसी विषय को साम्यारण न मान ले और उसके बाद दूसरे वोट द्वारा निषेधाधिकार का प्रयोग कर प्रस्ताव को विफल बना दिया जाता है।

जिस समय समुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर का निर्माण किया जा रहा था उस समय निषेधाधिकार पर काफी विचार विमर्श हुआ था। तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट का विचार था कि यदि स्थायी शान्ति की खोज करनी है और समुक्त राष्ट्र जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को सफल बनाना है तो यह कार्य महाशक्तियों के पूर्ण सहयोग से ही पूरा हो सकेगा। दूरदर्शी रूजवेल्ट ने यह अनुभव कर लिया था कि सोवियत संघ अथवा समुक्तराज्य अमेरिका जैसे महान् राष्ट्रों के लिए किसी भी ऐसे संगठन में भाग लेना सम्भव नहीं होगा जिसमें अन्य राष्ट्र केवल अपने बहुमत के बल पर महाशक्तियों को कोई कार्य करने के लिए बाध्य कर दें। इस प्रकार की स्थिति को रोकने का एकमात्र उपाय निषेधाधिकार था। यह स्पष्ट था कि महाशक्तियों को उनकी इच्छा के विरुद्ध जबरदस्ती किसी भी कार्य को करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था क्योंकि इसका परिणाम स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की समाप्ति हो सकता था। इन्हीं सब बातों पर विचार करके समुक्तराज्य अमेरिका ने यही उचित समझा कि वह निषेधाधिकार सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को ही स्वीकार करेगा और यदि इसमें निषेधाधिकार की व्यवस्था नहीं होगी तो वह संगठन का सदस्य नहीं बनेगा। परन्तु निषेधाधिकार का प्रबल समर्थन करते हुए भी अमेरिका इस अधिकार को सीमित रखना चाहता था। वह इस बात के पक्ष में था कि विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान और नवीन सदस्यों के संगठन में प्रवेश पर निषेधाधिकार की व्यवस्था न की जाए लेकिन रूस इसके लिए सहमत नहीं था। वह निषेधाधिकार को असीमित रखना चाहता था। रूस को यह जानना था कि परिषदी शक्तियों ने विवशता के कारण ही जर्मनी के विरुद्ध उसके साथ सहयोग किया था अन्यथा वास्तव में दोनों के बीच मौलिक सैद्धान्तिक मतभेद थे। रूस को आशंका थी कि यदि भविष्य में सुरक्षा परिषद् में परिषदी शक्तियों का प्रभुत्व होगा तो वे बहुमत के आधार पर स्वेच्छापूर्वक व्यवहार कर सकेंगे। अतः उसने अपने हितों की रक्षा के लिए निषेधाधिकार पर बल दिया और कहा कि या तो सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों को यह अधिकार दिया जाए अथवा समुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना ही न की जाए। अन्ततः यही निश्चय हुआ कि निषेधाधिकार असीमित रूप से प्रदान किया जाए किन्तु इसका प्रयोग अत्यावश्यक परिस्थितियों में ही हो।

समुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के निर्माताओं का विचार था कि महाशक्तियों का युद्धकालीन सहयोग विश्व संस्था के मध्य पर भी जारी रहेगा लेकिन शीघ्र ही उनकी आशाओं पर तुलारापात हो गया। भयंकर शीतयुद्ध घासू हो गया और महाशक्तियों ने खुलकर अपने निषेधाधिकार का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। एक अध्ययन के अनुसार 12 दिसम्बर 1971

तक अकेला सोवियत रूस ही 108 बार निषेधाधिकार का प्रयोग कर चुका था जबकि अप्रैल, 1982 के प्रथम सप्ताह में अमेरिका ने अपने निषेधाधिकार का प्रयोग 30वीं बार किया। तुलनात्मक दृष्टि से ब्रिटेन, फ्रांस और साम्यवादी चीन ने इस अधिकार का प्रयोग बहुत ही कम किया है। सोवियत रूस का तर्क था कि सुरक्षा परिषद में परिषदी शक्तियों के बहुमत के मुकाबले अपने हितों की रक्षा करने का उसके पास एकमात्र उपाय निषेधाधिकार और विरोधी प्रस्तावों को रद्द करना ही है। सोवियत सघ के विघटन के बाद रूसी गणराज्य स्थायी सदस्य के लिए अपना दावा कर रहा है।

निषेधाधिकार के राजनय के फल और विफल में बहुत कुछ कहा गया है। विफल में कहा गया है कि इसने सदस्यों को समानता का स्तर देने सम्बन्धी सयुक्त राष्ट्रसंघीय सिद्धान्त का उल्लंघन किया है। इसके कारण सुरक्षा परिषद शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था के अपने दायित्वों का समुचित रूप से पालन करने में असमर्थ रही है। भूतपूर्व महासचिव ट्रिग्वेली ने कहा था कि विश्व सस्था निषेधाधिकार के राजनय के कारण नपुंसक बन गई है। महाशक्तियों के सघर्ष द्वारा प्लाघित प्रस्त कर दी गई है। सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों ने इसका प्रयोग अपने मित्र राष्ट्रों को सहायन देने के लिए किया है। इसके कारण सुरक्षा परिषद में जो गतिरोध उत्पन्न होते हैं उनसे विश्व राज्यों की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में आस्था डगमगा गई है। वीटो-राजनय के दुरुपयोग के कारण कई स्वतन्त्र राष्ट्र अनेक वर्षों तक विश्व सस्था के सदस्य नहीं बन सके। आलोचकों का आरोप है कि निषेधाधिकार द्वारा महाशक्तियों को सयुक्त राष्ट्र व्यवस्था पर अधिपत्य प्राप्त हो गया है।

निषेधाधिकार की आलोचनाओं में वजन है तथापि कुछ व्यावहारिक तथ्यों की उपेक्षा करना अनुचित है। निषेधाधिकार की व्यवस्था को समाप्त करने में जो खतरे निहित हैं वे इस व्यवस्था के कायम रहने के खतों से कहीं अधिक भयावह हैं। किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को सफलता तभी मिल सकती है जब उसे विश्व की महाशक्तियों का सहयोग हो और ये महाशक्तियाँ किसी भी ऐसी सस्था में भाग नहीं लेना चाहेंगी जिसमें अन्य देश केवल अपने बहुमत से उन्हें कोई कार्य करने अथवा न करने के लिए बाध्य करें। इसे रोकने का एकमात्र उपाय निषेधाधिकार ही है। गूनेन के शब्दों में, ए. ई. स्टीवंस का कहना सही है कि "मौक्य के नियम का जन्म अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की वास्तविकताओं से हुआ है। यदि 5 महान् राज्य किसी मतले पर राजी नहीं होते हैं तो उनमें से किसी के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग एक बड़े मुद्दे को जन्म देगा। सयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना इसी सम्पादना से बचने के लिए हुई थी।"

निषेधाधिकार असहमति सूचक लक्षण है, न कि इसका कारण, अतः निषेध-व्यवस्था के समाप्त कर देने से महाशक्तियों के मतभेद दूर नहीं होंगे और न ही इससे कोई बड़ा लाभ होगा। यदि निषेधाधिकार की व्यवस्था न भी होती तो भी सुरक्षा परिषद में गत्यावरोध उत्पन्न करने की दूसरी युक्तियाँ निकाली जा सकती थीं और उनका भी उतना ही दुरुपयोग किया जाता जितना वर्तमान निषेधाधिकार व्यवस्था का किया जा रहा है।

यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण है कि निषेधाधिकार के प्रयोग के फलस्वरूप सुरक्षा परिषद का काम ठप्प हो गया है। अब तक का अनुभव सिद्ध करता है कि निषेध शक्ति का इतना अधिक प्रयोग होने के कारण कोई अन्तर्राष्ट्रीय निर्णय लेने में इसने अधिक बाधा नहीं डाली

है। जिन निर्णयों के लेने में यह बाधक बना है उनके कारण विश्व शान्ति के लिए किसी प्रकार का खतरा पैदा नहीं हुआ है। इसके विपरीत निषेधाधिकार अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा सुलझाने में सहायक हुआ है। जब कश्मीर के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद में ब्रिटेन व अमेरिका ने खुलकर पाकिस्तान का समर्थन किया और निर्लज्जतापूर्वक न्याय का गला घोट्टा सब सोचियत रूप के निषेधाधिकार के प्रयोग ने स्थिति को सम्भालने में और न्याय की रक्षा करने में सहायता प्रदान की।

वास्तव में निषेधाधिकार सभ के विभिन्न फलों में सन्तुलन कायम रखने में सहायक सिद्ध हुआ है। यदि निषेध व्यवस्था न होती तो समुक्त राष्ट्रसभ पूरी तरह एक गुट विशेष का शस्त्र बन जाता जिसे अपनी मनमानी करने की पूरी छूट मिल जाती। निषेधाधिकार के अभाव में समुक्त राष्ट्रसभ की भी वही स्थिति होती जो राष्ट्रसभ की हुई।

निषेधाधिकार को अनेक स्वस्थ परम्पराओं के विकास और व्यावहारिक कदमों ने पूर्वापेक्षा कुछ कम प्रभावशाली बना दिया है। शान्ति के लिए एकता का प्रस्ताव पास होने के बाद से अब न तो यह अधिकार कोई नया अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष उत्पन्न करता है और न आगे बढ़ाता है। इसके होते हुए भी महासभा द्वारा अनेक कार्य सम्पादित किए गए हैं। शान्ति निरीक्षण आयोग सामूहिक उपाय समिति आदि की स्थापना द्वारा महासभा ने सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को निषेध के दुष्प्रभाव से मुक्त करने का प्रयास किया है।

उपयोगी यह होगा कि नई सदस्यता और शान्तिपूर्ण सम्झौतों के सम्बन्ध में तो निषेधाधिकार औशिक है अतः समाप्त होना चाहिए। परन्तु शान्ति भंग और आक्रमण की स्थिति में सैनिक कार्यवाही के लिए इस अधिकार का प्रयोग कायम रखना चाहिए अन्यथा अनेक गम्भीर और नवीन समस्याएँ उत्पन्न हो जाएँगी।

राष्ट्रमण्डलीय राजनय (Commonwealth Diplomacy)

ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल को संघेप में 'राष्ट्रमण्डल' कहा जाता है। इसमें वे राज्य शामिल हैं जो कभी ब्रिटिश साम्राज्य के भाग थे। राष्ट्रमण्डल अनुमानतः एक चौथाई पृथ्वी पर फैला हुआ है। इसकी वर्तमान सदस्य संख्या 40 से भी अधिक है जिनमें तीन चौथाई से भी अधिक विकासशील राष्ट्र हैं। इसके सदस्य राज्य विभिन्न शासन व्यवस्थाओं द्वारा प्रशासित होते हैं।

राष्ट्रमण्डल के सदस्य जैसे ग्रेट ब्रिटेन कनाडा आस्ट्रेलिया म्यूजीलीण्ड भारत पाकिस्तान श्रीलंका घाना मलेशिया आदि। ये राज्य अपने बाह्य सम्बन्धों के लिए पूर्णरूपेण स्वतन्त्र हैं। ये अन्तर्राष्ट्रीय सघर्षों में पूर्ण स्वतन्त्रता का उपयोग करते हैं।

राष्ट्रमण्डलीय देशों के आपसी सम्बन्ध (Intra Commonwealth Relations)

1926 के लार्डो सम्मेलन से स्थापनवासी समुदायों को परिभाषित करते हुए यह कहा गया था कि ये सभी आन्तरिक और बाह्य मामलों में स्वायत्तता रखते हुए भी ताज के प्रति सामान्य स्वामिमक्ति रखते हैं। सन् 1949 में प्रधानमन्त्रियों की बैठक में भारत ने यह मत प्रकट किया कि वह नए सविधान के अधीन स्वतन्त्र सम्प्रभु गणराज्य होने जा रहा है किन्तु

वह राष्ट्रमंडल में रह कर ब्रिटिश राजा को स्वतन्त्र राज्यों की प्रतीक तथा राष्ट्रमंडल का अध्यक्ष मानेगा। बाद में समय समय पर दूसरे राज्यों ने भी ऐसे ही निर्णय लिए।

स्पष्ट है कि राष्ट्रमंडल के सभी सदस्य राज्य पूर्णतः सम्पूर्ण हैं। वे अपने बहरी या आन्तरिक मनलों में किसी के अधीन नहीं हैं और स्वेच्छा से ब्रिटिश राष्ट्रमंडल की सदस्यता ग्रहण करते हैं। गणराज्यों के अतिरिक्त अन्य राष्ट्रमंडलीय सदस्य दूसरे राज्यों के साथ व्यवहार करते समय वही पदवी ग्रहण करते हैं। भारत, पाकिस्तान, धाना आदि गणराज्य अपने अन्तराष्ट्रीय पत्र व्यवहारों में किसी पदवी का प्रयोग नहीं करते। गणराज्यों के अतिरिक्त अन्य राष्ट्रमंडलीय देशों में गवर्नर जनरल द्वारा ब्रिटिश सम्राट के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था केवल औपचारिकता मात्र है। यह गवर्नर जनरल नाममात्र की कार्यपालिका का कार्य करता है और इसकी नियुक्ति ब्रिटिश महारानी द्वारा सम्बन्धित राज्य के प्रधानमंत्री की सिफारिश पर की जाती है।

राष्ट्रमंडलीय देशों में राजनयिक प्रतिनिधि

(Diplomatic Agents in the Commonwealth Countries)

जुलाई 1947 में राष्ट्रमंडलीय सम्बन्धों का कार्यलय गठित किया गया। इसकी अध्यक्षता राष्ट्रमंडलीय सम्बन्धों के राज्य सचिव को सौंपी गई। इस दिनग का उत्तरदायित्व ग्रेट ब्रिटेन और राष्ट्रमंडल के सदस्यों के सम्बन्धों का समन्वय कर सदस्य राज्यों के सम्बन्धों को नियमित और नियन्त्रित करना है। यदि संविद बड़े तो राष्ट्रमंडलीय मंत्रियों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध कायम रख सकता है।

एक राष्ट्रमंडलीय देश का दूसरे राष्ट्रमंडलीय देश में प्रतिनिधित्व करने वाला अधिकारी राजदूत या मंत्री न कहा जाकर उच्चायुक्त कहा जाता है। राष्ट्रमंडल के सभी सदस्य अपने आपसी हित के मनलों पर परस्पर विचार विमर्श करते हैं। वे किसी भी अन्तराष्ट्रीय प्रश्न पर एकमत होकर निर्णय देने का प्रयत्न करते हैं।

राष्ट्रमंडलीय देशों में नियुक्त उच्चायुक्तों का पद राजदूतों और अन्य राजनयिक प्रतिनिधियों से निम्न नहीं होता। कुछ औपचारिकताओं को छोड़कर अन्य सभी कार्यावहियों तथा राजनयिक विशेषधिकार और उन्मुक्तियों राजदूतों के समान होती हैं। इनमें मुख्य अन्तर एक तो नाम का ही है। राष्ट्रमंडलीय देश आपस में निम्न राजनयिक प्रतिनिधियों का आदान प्रदान करते हैं, उनको उच्चायुक्त कहा जाता है। दूसरा अन्तर यह है कि राजदूत की नियुक्ति के समय उसे दिया जाने वाला पत्र प्रत्यय पत्र (Letter of Credence) कहा जाता है। किन्तु उच्चायुक्त के सन्दर्भ में इसे आदेश पत्र (Letter of Commission) कहा जाता है। यह पत्र स्वतन्त्र राज्य के अध्यक्ष को सौंपा जाता है और तब उच्चायुक्त दूसरे राजदूतों की भाँति कार्य करने लगता है। उसे अन्य राजदूतों जैसे समस्त विशेषधिकार एवं उन्मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

अन्य देशों से सम्बन्ध

(Relations with other Countries)

राष्ट्रमंडल कोई अन्तराष्ट्रीय सत्ता नहीं है। इसके विपरीत यह एक स्वतन्त्र राज्य की सत्ता है जो सम्पूर्ण हित के विषयों पर स्वेच्छा से विचार विमर्श एवं अपनी सहयोग

के लिए मिलते हैं। राष्ट्रमण्डल का सदस्य बनने पर किसी राज्य की आन्तरिक नीति एवं विदेश सम्बन्धों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगता। ये राज्य गैर राष्ट्रमण्डलीय राज्यों से सन्धियों कर सकते हैं तथा राजनयिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। वे ऐसे देश के साथ भी सन्धि बार्ता कर सकते हैं जो राष्ट्रमण्डल की नीतियों अथवा राष्ट्रमण्डल के किसी सदस्य की नीतियों का विरोधी हो। यह सत्य है कि राष्ट्र मण्डलीय राज्यों के कुछ समुक्त लक्ष्य और महत्वाकांक्षाएँ होती हैं किन्तु वे अपने हित में कुछ भी करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र होते हैं। राष्ट्रमण्डल के सदस्य किसी राज्य से कोई भी सन्धि करने के लिए स्वतन्त्र हैं। पाकिस्तान सैनिक संगठनों का सदस्य रहा है जबकि भारत सैनिक गठबन्धनों का कटु आलोचक है।

राष्ट्रमण्डल के सदस्य विरव संगठन में स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। भारत 1919 में अधिराज्य-स्तर न रखते हुए भी राष्ट्रराज्य का सदस्य बन गया था। इसी प्रकार कनाडा, दक्षिणी अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया आदि राज्य भी इसके सदस्य बन गए थे। सन् 1945 में समुक्त राष्ट्रराज्य की घोषणा होने पर भारत और दूसरे राष्ट्रमण्डलीय देश इसके मौलिक सदस्य मान लिए गए थे। राजनय की दृष्टि से एक उत्तेजनीय तथ्य यह है कि राष्ट्रमण्डल में यद्यपि ब्रिटिश साम्राज्य के भूतपूर्व प्रदेश हैं तथापि इससे उनकी सम्प्रभुता पर कोई आँघ नहीं आती।

राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्यों की सन्धि करने की शक्ति पर कोई भर्थादा अथवा प्रतिबन्ध नहीं है। प्रत्येक राज्य एक सम्प्रभु के रूप में किसी भी राज्य के साथ सन्धिबद्ध हो सकता है अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में प्रतिनिधित्व कर सकता है। राष्ट्रमण्डल कोई ऐसा केन्द्रीय बाध्यकारी यन्त्र नहीं है जो किसी सदस्य राज्य को किसी अन्य राज्य के साथ सन्धिबद्ध होने के लिए बाध्य कर सके अथवा किसी सन्धि को तोड़ने के लिए मजबूर कर सके।

राष्ट्रमण्डल की नीतियों की क्रियान्विति

(Implementation of the Commonwealth Policies)

राष्ट्रमण्डल की समस्त नीतियाँ सदस्य राज्यों के प्रधानमन्त्रियों वित्त मन्त्रियों एवं विदेश मन्त्रियों के सामयिक सम्मेलनों द्वारा क्रियान्वित की जाती हैं। इन सम्मेलनों में सामान्य हित के प्रश्नों पर विचार विमर्श होता है तथा कार्यवाही हेतु निर्णय लिए जाते हैं। इन निर्णयों के लिए साधारणतः सर्वसम्मति आवश्यक मानी जाती है तथा ट्विटिंग के कथनानुसार "जिन प्रश्नों पर सर्वसम्मति प्राप्त नहीं होती वे बाद में विचार के लिए स्थगित कर दिए जाते हैं। समय बीतने के साथ परिस्थितियाँ एवं मत बदल जाते हैं और पूर्ण सर्वसम्मति सम्भव हो जाती है। ऐसे निर्णय ही मित्रतापूर्ण सामूहिक कार्य को प्रोत्साहित कर पाते हैं।"

नीति निर्धारित करने के बाद सदस्य राज्यों द्वारा उसे क्रियान्वित करने के लिए कार्यवाही की जाती है। सर्वसम्मति से स्वीकार होने पर भी यदि कोई सदस्य इस नीति को क्रियान्वित नहीं करता तो इसे लागू करने के लिए कोई उपाय नहीं है। यद्यपि में जब कभी ऐसे अवसर आते हैं तो वे प्रायः सदस्य राज्यों के विरोध एवं अस्वीकृति का कारण बन जाते हैं तथा कभी कभी तो इनसे राज्यों के आपसी सम्बन्धों में भी कटुता उत्पन्न हो

जाती है। विभिन्न राज्यों द्वारा व्यक्तिगत रूप से अपनाई गई विरोधी नीतियों के कारण भी विवाद हो जाते हैं। इतने पर भी राष्ट्रमण्डल एक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सस्था है तथा इसके कुछ सदस्यों के दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर रहते हुए भी यह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में उत्तेजनीय योगदान करती है।

वास्तव में राष्ट्रमण्डल सदस्य-देशों के नेताओं के विचारों के आदान-प्रदान का उपयोगी मध्य प्रदान करता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रमण्डलीय मामलों में उनके बीच अधिक सद्भाव और सहयोग उत्पन्न होता है। एक बार इस छोटे, पर अपेक्षाकृत अधिक संगठित मध्य पर आम सहमति प्राप्त हो जाने के बाद अपेक्षाकृत बड़े अन्तर्राष्ट्रीय संगठन जैसे सयुक्तराष्ट्र में अधिक प्रभावशाली ढंग से कार्य किया जा सकता है। राष्ट्रमण्डल के विकसित देशों की उपस्थिति इस सम्बन्ध में उपयोगी है क्योंकि 1973 में ओटावा में हुए राष्ट्रमण्डल के शासनाध्यक्ष सम्मेलन से, यह औपचारिक विचार-विमर्श की बजाय राजनीतिक और आर्थिक विषयों पर उपयोगी व अधिक व्यावहारिक विचार-विनिमय की दिशा में प्रयत्नशील है। इसका मुख्य उद्देश्य विकसित और विकासशील देशों के बीच अन्धायपूर्ण आर्थिक विषमताओं को दूर करना है।

राष्ट्रमण्डल के समय-समय पर शिखर सम्मेलन आयोजित होते रहते हैं। इन सम्मेलनों से विश्व समस्याओं के समाधान में काफी सहायता मिलती है।

आधुनिक राजनय में प्रचार-युद्ध और शान्ति के दौरान राजनय

(Propaganda in Modern Diplomacy Diplomacy
during War and Peace)

राष्ट्रीय हित के साधन के रूप में प्रचार एक बहुत ही प्रभावशाली शस्त्र है। इसका दो रूपों में महत्व है। प्रथम तो यह कि प्रचार द्वारा राष्ट्रीय हित के अन्य साधन जैसे राजनय आर्थिक साधन साम्राज्यवाद युद्ध आदि को अधिक सफलतापूर्वक तथा अधिक प्रभावपूर्ण रूप से प्रयुक्त किया जा सकता है। दूसरे प्रचार स्वयं में भी इतना सक्रिय तथा मस्तिष्क पर प्रभाव डालने वाला होता है कि बिना इसके शक्तिशाली स्वरूप के कोई भी देश प्रगति नहीं कर सकता और न वह विश्व समाज में उच्च स्तर ही प्राप्त कर सकता है। आज के प्रजातन्त्र के युग में भी प्रचार के महत्व को कई गुना कर दिया है क्योंकि वर्तमान युग में अपनी नीतियों के प्रति दूसरे देशों की सक्रिय सद्भावना प्राप्त करने के लिए इतना पर्याप्त नहीं है कि आप उस देश के शासन के कुछ व्यक्तियों को प्रसन्न करके अपने पक्ष में कर ले वरन् प्रचार के समस्त साधनों द्वारा उस देश की जनता को प्रभावित किया जाता है। अपने देश की नीतियों के पक्ष में जनमत तैयार करके ही उस देश की सरकार को अपने पक्ष में किया जा सकता है।

प्रचार के प्रभावशाली यन्त्र कोई सुनिश्चित नहीं होते वरन् समय की आवश्यकता एवं नवीन आविष्कारों के प्रवाह में उनका प्रभाव एवं महत्व घटता बढ़ता रहता है। आज के युग में प्रेस रेडियो टेलिफोन टेलीविजन सस्ती पत्रिकाएँ समाचार पत्र चलचित्र आदि साधनों को प्रचार कार्य में प्रयुक्त किया जाता है।

प्रचार का अर्थ (Meaning of Propaganda)

“बीसवीं सदी में प्रचार राष्ट्रीय नीतियों का मुख्य साधन बन गया है।” प्रचार का अर्थ सामान्यतः उन कार्यों एवं व्यवहारों से लिया जाता है जो अन्य व्यक्ति को अपना पक्ष समझाने और सदनकुल आधरण कराने के लिए सम्पन्न किए जाते हैं। जोसेफ फ्रेविल के कथनानुसार “प्रचार का अर्थ सामान्यतः ऐसे किसी भी व्यवस्थित प्रयास से लिया जाता है

ले एक विशेष सार्वजनिक संदेश के लिए किसी जन-समूह के प्रतिष्ठक, भावनाओं एवं भावों को प्रभावित करने हेतु किया जाए।" प्रचार अपने आप में अच्छा या बुरा नहीं होता बल्कि नैतिक दृष्टि से निष्पक्ष होता है। उसका संदेश अच्छा और बुरा दोनों प्रकार का हो सकता है। प्रचार द्वारा अनेक लोगों के दिल और दिमाग को एक साथ बदलने का प्रयत्न किया जाता है। चार्ल्स बर्ड (Charles Bird) के कथनानुसार "प्रचार का अर्थ एक बड़े जन-समूह पर सुनिश्चित एवं व्यवस्थित रूप में सुझावों का प्रयोग करना है ताकि उन लोगों के दृष्टिकोण को नियंत्रित किया जा सके और उनसे मनमाने व्यवहार कराया जा सके।" प्रचार व्यक्तिगत भी हो सकता है और सामूहिक भी। दोनों विधियों में यह एक संगठित एवं व्यवस्थित प्रयत्न होता है। इसके माध्यम से किसी क्षेत्र के जनमानस को इच्छानुसार बदला जा सकता है। इस प्रकार प्रचार के अर्थ में तीन बातें उल्लेखनीय हैं—(i) यह व्यक्ति अथवा समूह द्वारा किया जाता है (ii) यह संगठित एवं व्यवस्थित रूप में किया जाता है, और (iii) यह जनमत के दृष्टिकोण अथवा भावों को प्रभावित करने के लिए किया जाता है।

प्रचार एवं राजनय (Propaganda and Diplomacy)

राजनय के शास्त्रशास्त्र में प्रचार एक महत्वपूर्ण हथियार है। अमेरिकी राष्ट्रपति मल्डेन्ट ने एक बार पत्रकार सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए कहा था कि प्रचार-मन्त्री को सन्देश-पत्रों में एक टप्पा के रूप में नहीं छाना जाना चाहिए। टप्पों तथा प्रचार-सन्देशों में अन्तर होता है। प्रचार के लिए टप्पों को टोड़-मोड़ कर प्रस्तुत किया जाता है। प्रचार का अर्थ है जनमानस को टप्पों पर अन्तर्गत का लेख बढाना। राष्ट्रीय हित के अनुसार एक देश का राजनय जब अपने मित्रों और शत्रुओं का ध्यान करता है तो प्रचार-यंत्र उसका मुख्य सहयोग करता है। इसके माध्यम से मित्र-राज्य के प्रति सुदृढ़-बन्धन बंधन करने तथा शत्रु राज्य के प्रति विष फैलाने में सुविधा रहती है। प्रचार द्वारा अपने विरोधी पक्ष को विश्व के अन्य राज्यों में बदनाम किया जाता है उसकी हस्तैर पर कालिख लगा कर प्रस्तुत किया जाता है, उसके नेक भावों के लक्ष्यों की व्याख्या स्वयंभूत रूप में की जाती है तथा उसके हितों को आपत पहुँचाने के प्रत्येक अवसर का उपयोग किया जाता है। दूसरी ओर मित्र बनाने, बढाने और बनार रखने के लिए भी प्रचार रूपन को अपनाया जाता है। दूसरे राज्यों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढाने में प्रचार-यंत्र राजनयज्ञ की कदम-कदम पर सहयोग करता है। प्रचारकर्ता द्वारा मित्रों अथवा सम्बन्धित मित्रों के छोटे-बड़े लोगों को भी बढा-बढा कर प्रस्तुत किया जाता है और उनके गलत कार्यों की ओर से आँख बन्द कर दी जाती है अथवा सगरी व्याख्या टोड़-मोड़ कर की जाती है। इस प्रकार प्रचार द्वारा राजनयज्ञ का कार्य सरल बन जाता है। प्रचार की सहायता से वह किसी राज्य के साथ सन्धि के लिए समुक्त दृष्टिकोण तैयार करता है सन्धि में अपनी इच्छानुसार सर्वे स्वीकार करता है तथा सन्धि को प्रवीर बनाने के लिए स्वदेश और विदेश में जनमत तैयार करता है।

आधुनिक सत्ता सधनों द्वारा बड़े जन-समूह को स्थान की दृष्टि होते हुए भी एक साथ सम्बन्धित किया जा सकता है। रेडियो, टेलीविजन आदि ने विश्व के सभी देशों को

अत्यन्त निकट ला दिया है। इन साधनों द्वारा एक मित्र या शत्रु राज्य की न केवल सरकार को बरन् वहीं की जनता को भी सम्बोधित और प्रभावित किया जा सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध के समय नाजी जर्मनी ने शत्रु राज्यों की जनता को प्रभावित करने के लिए अनेक नए तरीकों का आविष्कार किया था। कहा जाता है कि उस समय नाजी समर्थन में बोलने वाले इतने रेडियो स्टेशन पैदा हो गए थे कि उनके प्रसारण केन्द्र का पता लगाना भी दुष्कर था। गोब्लिस (Mr Goebbels) नाजी प्रचार यन्त्र का मुख्य संचालक था। उसने उद्देश्य के अनुकूल प्रचार की अलग अलग तकनीकों का आविष्कार किया। नाजी रेडियो तथा प्रेस द्वारा प्रचार का कार्य व्यवस्थित रूप में किया जाता था। इसमें से कुछ बातें सत्य होती थीं कुछ का उद्देश्य जर्मनी तथा उसके मित्र राज्यों की जनता के मनोबल को ऊँचा उठाना होता था तथा शेष का उद्देश्य शत्रु राज्य की जनता के मनोबल को गिराना होता था।

दरअसल प्रचार रूपी यन्त्र के सहारे कूटनीति कई बातें व्यक्त करती है जिनमें कुछ का उद्देश्य अपने देश और अपने मित्र राज्य की जनता के मनोबल को ऊँचा उठाना होता है कुछ का उद्देश्य शत्रु राज्य की जनता के मनोबल को गिराना होता है कुछ का उद्देश्य विश्व के दूसरे देशों को भुलावे में डालकर उनकी सहानुभूति अर्जित करना होता है तथा कुछ का उद्देश्य सत्य बात को सामने रखकर अपना पक्ष मजबूत बनाना होता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रायः सभी विचारक कूटनीति में प्रचार के महत्त्व के सम्बन्ध में एकमत हैं। प्रसिद्ध विद्वान हेंस जे मॉर्गेन्थौ ने प्रचार को मनोवैज्ञानिक युद्ध (Psychological War) की स्थिति माना है। उन्हीं के शब्दों में “मनोवैज्ञानिक युद्ध अथवा प्रचार कूटनीति तथा सैन्य बल के साथ तृतीय शक्ति (Third Force) के रूप से संयुक्त होता है जिसके द्वारा विदेश नीति अपने उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयत्न करती है।”¹ आधुनिक युग में प्रचार का महत्त्व इतना बढ़ गया है कि कूटनीति और युद्ध के बाद इसे ही राष्ट्रीय नीति की ‘तृतीय शक्ति’ माना जाता है। इसका राष्ट्रीय हितों की पूर्ति में प्रयोग किया जाता है।

राष्ट्रीय हित में वृद्धि के लिए प्रचार

(Propaganda for Promotion of National Interest)

प्रचार एक ऐसा साधन है जिसके उद्देश्यों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। ज्ञान के क्षेत्र में इसकी पहुँच है। यही हमारा सम्बन्ध प्रचार के केवल उसी रूप से है जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालने में समर्थ होता है। पैडलफोर्ड तथा लिंकन का कथन है कि “प्रचार का रूप चाहे कुछ भी हो अथवा इसमें किसी भी तकनीक को अपनाया गया हो इसका मुख्य उद्देश्य नीति एवं राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति होती है।”

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने वाला प्रचार केवल एक देश की सरकार द्वारा ही किया जाता हो ऐसी बात नहीं है। गैर सरकारी स्त्रोतों से भी प्रचार के रूप का प्रयोग हो सकता है। अनेक व्यक्ति व्यापारिक हित असंख्य संगठन इस प्रकार के कार्य में सहयोग दे सकते हैं। विभिन्न राजनीतिक दल दूसरे देश में प्रचार द्वारा अपने राष्ट्र हित के लिए

समर्थन प्राप्त करते हैं। समय के अनुसार प्रचार के अभिनव साधनों का विकास होता रहता है।

प्रचार के उद्देश्यों पर यदि हम विचार करें तो ज्ञात होगा कि मूलरूप में सभी प्रचार सम्बन्धी कार्य राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर ही क्रियान्वित किए जाते हैं। ऐसा निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है

प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय समझौते जिस समय होते हैं उनको अपने हित में मोड़ने के लिए एक देश प्रचार का सहारा ले सकता है।

दूसरे, किसी समस्या या विशेष प्रश्न पर विचार करने के लिए कोई सम्मेलन बुलाने हेतु उपयुक्त वातावरण तैयार करने के लिए भी प्रचार का सहारा ले सकता है।

तीसरे, प्रचार द्वारा विचारधारा का प्रचार भी किया जाता है। एक देश के राजनीतिज्ञ सदैव इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते हैं कि जिस विचारधारा पर उनका देश आरुढ़ है, उसी को दूसरे देश भी माने क्योंकि मैत्री एवं सहयोगपूर्ण सम्बन्धों का दृढ़ आधार विचारों की एकता होती है।

चौथे प्रचार का सहारा अपनी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों पर समर्थन प्राप्त करने के लिए भी किया जा सकता है।

राज्य के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रचार वस्तुतः बहुत ही प्रभावशाली साधन है। नाजी जर्मनी की राजनीति पूरी तरह प्रचार पर आधारित थी। प्रचार को साधन के रूप में प्रमुखता देते हुए हिटलर ने लिखा था, “प्रचार एक साधन है और जिस उद्देश्यों की प्राप्ति करनी है, उसी सन्दर्भ में प्रचार को आँकना है। इसे इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिए ताकि यह उद्देश्यों की प्राप्ति के योग्य बन सके और यह बिल्कुल स्पष्ट है कि सामान्य उद्देश्यों का महत्व आवश्यकताओं के अनुसार बदलता रहता है, इसलिए प्रचार का आन्तरिक रूप भी सततनुसार बदलता रहना चाहिए।”

प्रचार के महत्त्व को स्वीकार करते हुए अनेक राजनीतिज्ञों और विचारकों ने इसे न केवल राष्ट्रीय हितों की अमिवृद्धि का बल्कि राष्ट्रीय शक्ति का भी एक तत्त्व माना है। पामर एवं पॉक्स ने लिखा है प्रचार राष्ट्रीय नीति के सन्दर्भ में अधिकाधिक आवश्यक होता जा रहा है क्योंकि इससे राज्य में संगठित जनमत का निर्माण और विदेश में अपने हितों में वृद्धि होती है। बीसवीं शताब्दी में प्रचार राष्ट्रीय नीति का एक परिपक्व साधन बन गया है। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रणमंच पर यदि राज्य प्रचार यन्त्र का सहारा न ले और प्रभावशाली रूप में प्रचार नीति का अनुशीलन न करे तो वह निःसन्देह भारी कठिनाई में फँस सकता है।

विदेश-नीति के साधन के रूप में प्रचार

(Propaganda as an Instrument of Foreign Policy)

महाराष्ट्रियों द्वारा प्रचार-यन्त्र को उनकी विदेश-नीति के स्वतन्त्र साधन के रूप में अपनाया जाता रहा। शीतयुद्ध के समय विश्व-राजनीति में गुटबन्धियाँ थीं और प्रत्येक गुट या शिबिर अपने हितों की प्राप्ति के लिए प्रचार के साधनों का प्रयोग करता रहा। दूसरे गुट को कमजोर बनाने के लिए, उसके सहयोगियों को तोड़ने के लिए, अपने पक्ष को

मजबूत बनाने के लिए और अधिकाधिक देशों को अपने शिविर की ओर खींचने के लिए प्रचार तकनीकों को चतुराई और कुशलता के साथ प्रयोग में लाया जाता रहा। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि प्रचार विदेश नीति के अनेक साधनों में से एक है। इसके लक्ष्यों को सुपरिभाषित करके नियोजित रूप से शान्ति का प्रयास करना चाहिए। विदेश नीति के दूसरे साधनों के साथ भी इसका उचित समन्वय होना चाहिए। स्पष्ट विदेश नीति के लक्ष्यों के बिना एक प्रचारक उद्देश्यहीन तैराक की भाँति होता है जो केवल डूबने से बचने के लिए हाथ पैर मारता है यह किसी दिशा में आगे नहीं बढ़ता।

यह सच है कि सभी देश प्रचार साधन का प्रयोग अपने राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए करते हैं। समस्त प्रचार का असर होना आवश्यक नहीं है। प्रचार का उद्देश्य किसी राज्य की सरकार को गिराना या दबाना भी नहीं है वरन् यह दूसरे राज्य के जनमत को अपने पक्ष में मोड़ने का प्रयास करता है ताकि उसके हितों की रक्षा हो सके। इस हेतु यह सम्बन्धित राज्य को धुरा सहयोग और समर्थन देता है।

युद्धकाल और शान्तिकाल में प्रचार का राजनय (Diplomacy of Propaganda during War and Peace)

राजनय की दृष्टि से प्रचार के बहु उद्देश्यीय कार्य हैं। यह धार्मिक सामाजिक राजनीतिक आर्थिक आदि लक्ष्यों की पूर्ति का प्रयास करता है। मूलतः सभी प्रचार सम्बन्धी कार्य राष्ट्रहित को ध्यान में रखकर सम्पन्न किए जाते हैं।

युद्धकाल में प्रचार का राजनय

युद्धकाल में प्रचार अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करता है। युद्धप्रवृत्त राज्य अपने लक्ष्यों की दृष्टि से इसका प्रयोग करता है। रेडियो टेलीविजन तथा संचार के अन्य साधनों के माध्यम से युद्ध के समय प्रचार एक सहयोगी मित्र की भाँति सहायक बनता है। युद्ध प्रवृत्त राज्य सबसे पहले राष्ट्रीय स्तर पर प्रचार की सहायता लेता है ताकि अपने देश की जनता का उत्साह बढ़ा सके और उसके मनोबल को ऊँचा उठा सके। शत्रु राज्य के सन्दर्भ में प्रचार वहाँ की जनता के मनोबल को गिराने का कार्य करता है। वह शत्रु सेना के मनोबल को भी तोड़ता है ताकि उसे अपनी विजय के बारे में कोई आशा न रहे और विपक्ष की तुलना में स्वयं को कमजोर मानने लगे। प्रचार साधन को अपनाते हुए एक राज्य अपनी सेना की उपलब्धियों को बढ़ा घड़ा कर बताता है और शत्रु सेना की कमजोरियों तथा हीन स्थिति का विस्तार से उल्लेख करता है। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से प्रचार साधन द्वारा युद्धप्रवृत्त राज्य विश्व जनमत को अपने शान्तिप्रिय उद्देश्यों और शत्रु के आक्रमणकारी इरादों से परिचित कराता है। प्रचार के समस्त साधन विश्व के राज्यों को यह बताने का प्रयास करते हैं कि शत्रु राज्य अशान्तिप्रिय है आक्रान्ता है अन्तर्राष्ट्रीय कानून और समझौतों का उल्लंघनकर्ता है और वह स्वयं विश्व शान्ति के हितों में तथा अपनी सम्प्रभुता और अखण्डता की रक्षा के लिए युद्ध कर रहा है। प्रो. शुमार् (Prof. Schuman) के मतानुसार युद्धकाल में समस्त प्रचार चार दिशाओं में निर्देशित होता है—(1) हम न्याय सगत हैं और शत्रु पक्ष अन्यायी और पापी है (2) हम मजबूत हैं और शत्रु कमजोर है (3) हम समर्थित हैं और शत्रु विमाजित है (4) हम जीतेगे और शत्रु हारेगा।

युद्ध के समय अपनाए जाने वाले प्रचार की तकनीक के दो पहलू होते हैं—प्रचारकर्ता और श्रोता। श्रोताओं को तीन भागों में विभजित किया जा सकता है—शत्रु मित्र और तटस्थ। युद्ध के समय अपनाए गए प्रचार-यन्त्र में इन तीनों की दृष्टि से पृथक्-पृथक् तरीके प्रयोग में लाए जाते हैं। आज के समय युद्ध (Total War) के युग में प्रचार का महत्व बहुत बढ़ गया है।

युद्धकाल में प्रचार के संदेश का विदेशन श्रोताओं की दृष्टि से तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। तीनों स्थितियों में प्रचार के संदेश निम्नलिखित होते हैं—

(क) शत्रु मित्र और तटस्थ श्रोताओं के लिए प्रचार के संदेश

- (1) संदेश में ऐसे राज्यों से यदि सम्बन्ध बिगड़ने की सम्भावना हो तो ऐसा प्रचार दिया जाता है ताकि उन्हें अचानक घबरा न लगे।
- (2) सम्बन्ध बिगड़ने पर उसका उत्तरदायित्व एवं दोष दूसरे पक्ष का ही समझा जाए।
- (3) उनका जो इस प्रकार झंझा जाता है ताकि वह अपनी इच्छा से कुछ चीजों को स्वीकार कर लें।
- (4) नदी कादों के नैतिक अधिकार प्रदान करने के लिए अग्रगण्य दायर की जाती है।
- (5) राज्य सरकार अपने दावों एवं उपलब्धियों को बढ़ा-बढ़ाकर बताती है ताकि वह अधिक सम्मान और सत्ता प्राप्त कर सके।
- (6) उनका में प्रचार द्वारा स्वयं-निर्दिष्ट पैदा की जाती है ताकि वह सरकार की नीतियों का अधिक समर्थन कर सके।

(ख) शत्रु-श्रोताओं के लिए प्रचार के संदेश

- (1) प्रचार द्वारा शत्रु-राज्य के नेताओं के मनोबल को गिराया जाता है और उनके द्वारा किए गए कार्यों की कुशलता को कम किया जाता है।
- (2) प्रचार द्वारा शत्रु की शक्तिहीनता और विरोध की निरर्थकता को प्रकट किया जाता है।
- (3) उनका में शत्रु की सरकार के दिग्बद्ध विद्रोही भ्रमना प्रोत्साहित की जाती है।
- (4) ऐसे कार्यों की सम्भावनाओं को कम किया जाता है जिससे शत्रु की शक्ति बढ़ती हो और वह पूरे निरन्तर के समय एकिकृत होता हो।

(ग) अन्तर्राष्ट्रीय श्रोताओं के लिए प्रचार के संदेश

- (1) प्रचार द्वारा एक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के अन्य राज्यों की सद्गुण वर्णित करता है।
- (2) वह अपने शत्रु राज्य के प्रति श्रोताओं में शत्रुता और विरोधी दृष्टिकोण उत्पन्न करता है।
- (3) प्रचार द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय श्रोताओं को यह समझाया जाता है कि प्रचारकर्ता राज्य और उनकी नीतियों का समर्थन करने पर क्या लाभ मिल सकते हैं।

शान्तिकाल में प्रचार का राजनय

शान्तिकाल में प्रचार के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित होते हैं—

- (1) अन्तर्राष्ट्रीय समझौते में मनचाही शर्तें स्वीकार कराने के लिए किया जाता है।
- (2) यदि किसी प्रश्न या समस्या पर विचार करने के लिए सम्मेलन आयोजित करने की आवश्यकता हो तो इस हेतु उपयुक्त वातावरण तैयार करने के लिए प्रचार किया जाता है।
- (3) एक देश अपनी विचारधारा को दूसरे देश में फैलाने के लिए भी प्रचार यन्त्र को सक्रिय करता है। विचारधारा की एकरूपता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और मैत्री की भावनाएँ विकसित होती हैं।
- (4) एक राज्य अपनी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों पर स्वदेश और विदेश के जनमत का समर्थन प्राप्त करने के लिए प्रचार करता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि प्रचार शान्ति और युद्ध दोनों कालों में महत्वपूर्ण उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयास करता है। राजनय की तकनीक के रूप में इसके प्रयोग के औचित्य पर सन्देह नहीं किया जा सकता। इस तकनीक के हानि लाभों पर कोई मत प्रकट किए बिना ही यह स्वीकार किया जा सकता है कि इस प्रचार से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में कई दिराएँ और उपयोगिता प्राप्त कर ली गयी हैं।

राजनय, प्रचार तथा राजनीतिक युद्ध

(Diplomacy, Propaganda and Political Warfare)

मानव सभ्यता के प्रभाव से ही युद्ध समाज की एक अभिन्न विशेषता बना हुआ है। पामर तथा पार्किंस के शब्दों में 'शान्ति तो एक अल्पकालीन सन्धि के समान है जिसमें विचारधारा का प्रत्येक समर्थक अपने लिए उपयुक्त स्थिति प्राप्त करने के हेतु दूसरे को धोखा देने को तत्पर है।' युद्ध केवल सेना द्वारा हथियारों से रणक्षेत्र में ही नहीं लड़े जाते। युद्ध के अनेक रूप होते हैं। उदाहरण के लिए—(1) मनोवैज्ञानिक युद्ध (2) राजनीतिक युद्ध (3) सैनिक युद्ध आदि। राजनीतिक युद्ध का अर्थ किसी सुनिश्चित शब्दावली में व्यक्त करना कठिन है। इतिहास के उदाहरणों द्वारा यह भली प्रकार जाना जा सकता है कि इस प्रकार की नीति अथवा कार्यक्रम अपनाने पर अमुक देश राजनीतिक युद्ध का कर्ता माना जा सकता है। इसमें कोई राष्ट्र सैनिक शक्ति का प्रयोग नहीं करता लेकिन शक्ति के किसी न किसी रूप का प्रयोग अवश्य होता है। युद्ध का निहितार्थ यह है कि विपक्षी को कोई बात स्वीकार करने के लिए मजबूर कर दिया जाए। सैनिक बल से ऐसा करने पर उसे हम सैनिक युद्ध की सज़ा देते हैं लेकिन कूटनीतिक प्रचार आदि द्वारा भी राष्ट्र को इस प्रकार विवश किया जा सकता है। जब हम प्रचार कूटनीति आर्थिक दबाव आदि का प्रयोग इस रूप में करें कि दूसरा देश हमारी नीतियों को मानने के लिए विवश हो जाए तो यह प्रक्रिया राजनीतिक युद्ध कहलाएगी। राजनीतिक युद्ध की असफलता प्रायः सैनिक युद्धों में परिणत हो सकती है।

राजनीतिक युद्ध भी राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का एक प्रमुख साधन है। इसका उद्देश्य पहले शत्रु को कमजोर बनाना उसके मनोबल को क्षीण करना और शत्रु अथवा विरोधी राज्य में अस्थिरता फैलाकर उद्देश्यों की प्राप्ति करना है। सामान्यतः ये ही कार्य कूटनीति

प्रचार और अन्य साधनों के होते हैं तथापि अपनी प्रकृति और स्वरूप में ये राजनीतिक युद्ध से भिन्न हैं। सामान्य प्रचार को हम राजनीतिक युद्ध की सजा नहीं देते, लेकिन प्रचार का उद्देश्य यदि विरोधी राज्य को निर्बल बनाना डराना या धमकाना अथवा अपनी नीति मानने के लिए विवश करना है तो वह राजनीतिक युद्ध का अंग बन जाता है। इसी प्रकार सामान्य कूटनीति भी राजनीतिक युद्ध के अन्तर्गत नहीं आती, पर ज्यों ही कूटनीति का प्रयोग उपर्युक्त उद्देश्यों की दृष्टि से किया जाता है तो वह भी राजनीतिक युद्ध की परिधि में आ जाती है।

सारौश में कूटनीति या प्रचार या आर्थिक उपाय आदि को राजनीतिक युद्ध की परिधि में समी लिया जा सकता है जबकि उनका उद्देश्य या परिणाम विवशकारिता हो। कौन-सी क्रिया सामान्य है अथवा राजनीतिक युद्ध का अंग है यह उद्देश्य पर निर्भर करता है। यदि नाकाबन्दी (Embargo) आर्थिक स्रोतों के सरक्षण के लिए की गई है तो यह सामान्य क्रिया है लेकिन यदि इसका उद्देश्य विरोधी राज्य को आर्थिक वस्तुओं से वंचित रखकर दुर्बल बनाना है तो यही क्रिया राजनीतिक युद्ध के अन्तर्गत गिनी जाएगी। राजनीतिक युद्ध सैनिक युद्ध छिड़ने से समाप्त नहीं हो जाता अपितु युद्धकाल में प्रचार, कूटनीति, आर्थिक साधन सभी राजनीतिक युद्ध के साधन बन जाते हैं और युद्ध में राष्ट्रीय हित के पक्ष में सहायक होते हैं। अतः राजनीतिक युद्ध में प्रचार का महत्व निर्विवाद है।

प्रचार के उपकरण

(The Instruments of Propaganda)

वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रचार के लिए मुख्यतः निम्नलिखित उपकरणों का प्रयोग किया जाता है—

1: उच्च प्रसारण शक्ति वाले रेडियो (Radio of High Intensity)

रेडियो ने प्रचार कला को अत्यन्त व्यापक बना दिया है। आजकल पर्याप्त शक्तिशाली और दूरी तक प्रभाव रखने वाले ट्रांसमीटर बन चुके हैं जिनकी सहायता से प्रचार की नीतियों के अनुसार विभिन्न धाराओं पर समाचार और मत प्रेषित किए जाते हैं। जब शान्तिकाल में किसी राज्य द्वारा विरोधी प्रचार किया जाता है तो उसे रोकने के लिए विभिन्न यान्त्रिक तरीके अपनाए जाते हैं। रेडियो के माध्यम से प्रचार की एक चल्लेखनीय बात यह है कि इसमें एक राज्य की सरकार दूसरे राज्य की जनता से प्रत्यक्ष रूप में बातें करती है तथा वहाँ की सरकार को बीच में नहीं लेती। विश्वास है कि आज के प्रजातान्त्रिक युग में जनता की राय का महत्व अधिक है। इसके अतिरिक्त सरकारें आती-जाती रहती हैं इसलिए जनमत को प्रभावित करना ही प्रचार का स्थायी तरीका हो सकता है। प्रचार के राजनयिक प्रयोग की दृष्टि से इसका मुख्य उद्देश्य अपनी जनता के हृदय को जीतना है। इसके लिए एक व्यवस्थित और निरन्तर प्रचार यन्त्र का होना अनिवार्य है। जर्मन प्रचारकों के मतानुसार एक झूठ को सौ बार दोहराने पर वह सच बन जाती है किन्तु आजकल परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं। आज का जनसाधारण रेडियो तथा प्रेस से प्रसारित होने वाले समाचारों की सत्यता और तथ्यात्मकता में विश्वास करता है, अतः एक झूठ को यदि तीन बार दोहराया जाए तो वह भी सत्य बन जाएगा। इसके विपरीत यदि हम सत्य को बताना चाहते हैं तो इसके लिए उसे सौ से भी अधिक बार दोहराना पड़ेगा।

2 टेलीविजन (The Television)

टेलीविजन के आविष्कार ने प्रचार के क्षेत्र में क्रांति कर दी है। यह रेडियो से अधिक प्रभावशाली होता है क्योंकि असंख्य लोगों को एक साथ सम्बोधित करते हुए टेलीविजन की सहायता से सत्ता का सत्तात्कार भी कराया जा सकता है। विकासशील देशों में इसका अधिक प्रयोग न होने के कारण इसके प्रभाव का क्षेत्र सीमित है। यह विकसित राज्यों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। सन् 1991 के खाड़ी युद्ध को टेलीविजन पर दिखाया गया था।

3 प्रेस तथा फिल्म (Press and Film)

आज के युग में समाचार पत्र देश विदेश की खबरों का प्रसारण करते रहते हैं। प्रजातान्त्रिक देशों में प्रेस का महत्व निर्विवाद है। सर्वाधिकारवादी राज्यों में प्रेस सामान्यतः राज्य द्वारा नियन्त्रित होता है। वहीं समाचार पत्रों में व्यक्त किए गए तथ्य और मत राज्य की शक्ति वृद्धि का कार्य करते हैं। यद्यपि इनमें प्रायः स्वतन्त्र विचार तथा ईमानदारीपूर्ण मत का अभाव रहता है। यद्यपि यह सच है कि साम्यवादी तथा परिधमी प्रजातान्त्रिक राज्य दोनों ही अपने राष्ट्रीय हित की वृद्धि के लिए प्रचार साधन को अपनाते रहे।

राजनय में प्रेस के महत्व का मूल्यांकन करना कठिन है। प्रेस द्वारा एक राष्ट्र के जनमत की अभिव्यक्ति होती है। प्रेस जनमत निर्माण करने परिवर्तित करने तथा रूप देने का कार्य भी करता है। स्वतन्त्र प्रजातन्त्रात्मक देशों में राजनीतिज्ञों को अनेक बार प्रेस की आलोचना सहनी पड़ती है। एक प्रभावशाली समाचार पत्र किसी नेता को घड़ा या गिरा सकता है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक देश के राजनय का यह दायित्व है कि समय समय पर समाचार पत्रों के रुख का अध्ययन करता रहे।

राजनयज्ञ की दृष्टि से प्रेस के साथ साथ फिल्मों का भी उत्सुखनीय स्थान है फिल्मों द्वारा अधिक लोगों से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। युद्धकाल में शत्रु राज्य की जनता की फिल्मों द्वारा अनेक तथ्यों से अवगत कराया जाता है किन्तु इन फिल्मों के निर्माता और निर्देशकों का नाम नहीं दिया जाता। इनका उद्देश्य दूसरे राज्य की जनमत की मान्यताओं एवं मूल्यों को बदलने का प्रयास करना होता है।

4 सांस्कृतिक आदान प्रदान कार्यक्रम (Cultural Exchange Programmes)

राजनय की आधुनिक तकनीकों में एक मुख्य तकनीक यह है कि एक राज्य सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आदान प्रदान द्वारा अपनी आन्तरिक शक्ति और सत्ता के प्रति अन्य राज्यों की जनता को प्रभावित करता है। आजकल महाशक्तियाँ अपने व्यापक उत्पादन और सम्पन्नता से अन्य राज्यों को प्रभावित करने के लिए ऐसे कार्यक्रम अपनाती हैं। इन कार्यक्रमों के अन्तर्गत मित्रता बढ़ाने के प्रयास किये जाते हैं। पुस्तकालयों की स्थापना की जाती है। पुस्तकें भेंट की जाती हैं तथा समय समय पर साहित्य राजनीति शिक्षा आदि क्षेत्रों के प्रभावशाली व्यक्तियों को भेजा जाता है। सांस्कृतिक प्रतिनिधि मण्डल अपनी प्रगति और सम्पन्नता का प्रदर्शन करते हैं। उसी प्रकार स्वागतकर्त्ता देश भी प्रतिनिधि मण्डल के सदस्यों को अपनी प्राप्तियों से प्रभावित करता है। दोनों एक दूसरे में अपने प्रति स्वामिमक्ति और मित्रता बढ़ाने का पूरा प्रयास करते हैं। इससे विकासशील देशों की महत्वाकांक्षाएँ बढ़ती हैं तथा ये उठने ही सम्पन्न होने के शीघ्रतम उपायों की खोज करते हैं। इस प्रवृत्ति का

विकसित राज्यों द्वारा शोषण किया जाता है। प्रत्येक सौंस्कृतिक आदान-प्रदान का राजनयिक लक्ष्य होता है। वे विचारों को प्रभावित करने तथा प्रचार की सिद्धि के साधन बन जाते हैं।

5 आर्थिक और सैनिक सहायता (Economic and Military Aids)

वर्तमान में विकासशील देशों की सहायता के लिए आर्थिक तथा सैनिक सहायता देने का तरीका अपनाया जाता है। उन्नत राज्य विकासशील राज्य की योजनाओं तथा आर्थिक क्रियाओं में रुचि लेने लगता है। इस रुचि में स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से राजनयिक लक्ष्य निहित रहते हैं। प्रो. मॉर्गेन्थो ने लिखा है कि "आर्थिक और तकनीकी सहायता प्रचार से कुछ नित्र है। इसमें वायदा करने की अपेक्षा काम किया जाता है। प्रचार के प्रभावशाली तरीके के रूप में इस प्रयास की सफलता के लिए दो बातें उल्लेखनीय हैं—(1) जो भी सैनिक या आर्थिक सहायता दी जाए उसका दीर्घकाल में नहीं बरन् तुरन्त लाभ होना चाहिए तथा यह लाभ प्रभावित राज्य की जनता की समझ में आना चाहिए और (2) यह सहायता स्पष्ट होनी चाहिए।" प्रचार-यन्त्र और सहायता कार्यक्रम दोनों ही परस्पर सम्बन्धित होते हैं। प्रचार द्वारा सहायता देने वाले अधिकरण को श्रेय प्रदान किया जाता है तथा इसके लक्ष्यों को देश की विदेश नीति के दर्शन व प्रकृति के अनुकूल सिद्ध किया जाता है।

6. शान्तिकालीन प्रदर्शन (Peace-time Demonstrations)

शान्तिकालीन शक्ति प्रदर्शन भी आजकल राजनय का एक महत्वपूर्ण तरीका बन गया है। इसे अपनाते वाता राज्य अणुविस्फोट एवं सुरक्षा-प्रदर्शन द्वारा, उपग्रह छोड़कर तथा हाइड्रोजन बमों के विस्फोट द्वारा कमजोर एवं तटस्थ राज्यों को मित्र बनाने और वहाँ की जनता में अपने प्रति स्वामिमक्ति पैदा करने का प्रयास करता है। इस प्रकार के प्रदर्शनों को सभार-साधनों द्वारा प्रसारित किया जाता है तथा रेडियो टेलीविजन समाचार-दर्शन समाचार-पत्र आदि द्वारा विश्व के देशों को भेजा जाता है। नए हथियारों का आविष्कार करके उनका प्रचार किया जाता है। इससे शत्रु-राज्यों के शिविर में आतंक फैलता है तथा मित्र-राज्यों के बन्धन मजबूत होते हैं।

प्रचार के तरीके (Methods of Propaganda)

जो तरीके व्यापार में विज्ञापन और प्रचार के लिए अपनाए जाते हैं वही तरीके राजनय में अपनाए जाते हैं। विज्ञापन की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार में प्रभावित व्यक्तियों की भाँग रुचि और उनके मनोविज्ञान का ध्यान रखा जाता है। उनकी कमजोरियों इच्छाओं तथा भय के अनुकूल प्रचार की तकनीकें अपनाई जाती हैं। पामर तथा परकिंस ने प्रचार के तरीकों को चार शीर्षकों में वर्गीकृत किया है जो निम्नानुसार हैं—

1. प्रस्तुत करने की विधि (Methods of Presentation)

किसी बात को किस प्रकार कहा जाए, यह प्रचार की दृष्टि से विशेष महत्व रखता है। एक राज्य केवल उन्हीं बातों को बार-बार दोहराता है जो उसके पक्ष में होती हैं और दूसरी बातों के तथ्यपूर्ण होते हुए भी उनका उल्लेख नहीं करता है।

सत्य को छिपाना और असत्य को बढ़ा-चढ़ा कर कहना आधुनिक प्रचार का महत्वपूर्ण लक्षण है। हिटलर ने तथ्यों को प्रस्तुत करने के सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिए थे—

1 प्रचार का लक्ष्य बुद्धिमान या समझदार व्यक्ति न होकर अल्पबुद्धि व्यक्ति होने चाहिए। ऐसे लोगों की भावनाओं को जाग्रत कर उन्हें उत्तेजित कर देना चाहिए।

2 विरोधी के पक्ष में कोई बात नहीं करनी चाहिए। उनके विपक्ष में ही सब कुछ कहना चाहिए।

3 प्रचार करते समय केवल दो में से एक पक्ष चुनना चाहिए। अच्छा या बुरा सत्य या झूठ उचित या अनुचित आदि। दूसरे शब्दों में बीच की कोई बात नहीं कहनी चाहिए।

4 प्रचार में साधारण झूठ का उपयोग नहीं करना चाहिए। झूठ इतना बड़ा और व्यापक होना चाहिए ताकि सुनने वालों को यह विश्वास ही न हो कि इतना बड़ा झूठ भी बोला जा सकता है।

कहा जाता है कि अब्राहम लिंकन जिन दिनों बकालत करते थे एक न्यायाधीश ने उनके तर्कों पर आपत्ति की और कहा “मि लिंकन इस समय आप जो तर्क दे रहे हैं वे आपके द्वारा ही एक दूसरे केस में कल दिए गए तर्कों के विपरीत हैं।” इस पर लिंकन का उत्तर था “माई लॉर्ड हो सकता है कि मैंने कल जो तर्क दिए थे वे गलत हों किन्तु मेरे ये तर्क पूर्णतः सत्य हैं।” प्रत्येक राजनयज्ञ अब्राहम लिंकन के इस उत्तर को ध्यान में रखकर ही अपना कार्य करता है। वह उन सभी तथ्यों को छिपा लेता है जो उसके मामले के विपरीत जाते हैं। प्रचार यन्त्र के कुराल उपयोग से बिस्मार्क तथा हिटलर ने कई बार अपने उद्देश्यों को बड़ी सफलतापूर्वक प्राप्त कर लिया था। प्रस्तुतीकरण प्रचार के कई रूप हो सकते हैं उदाहरण के लिए—

(1) भूतकाल के किसी तथ्य को, जो अन्य किसी भी दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है आप इस तरह से शोर मरोड़ कर सकते हैं कि वर्तमान में उससे आपके हितों में अनुकूल परिणाम प्राप्त किया जा सके।

(2) प्रचार में ऐसी घटनाओं एवं प्रमाणों का अपने पक्ष के समर्थन में उपयोग किया जा सकता है जिनका उद्देश्य कुछ और ही होता है किन्तु आप उनसे अपना उल्लू सीधा कर लेते हैं। हिटलर यहूदियों के विरुद्ध जर्मनों में रोष भड़काना चाहता था। उसने अनेक कहानियाँ तथा पुस्तकें प्रस्तुत कीं और उनके आधार पर यह सिद्ध करने की घेष्टा की कि यहूदी लोग पूरे विश्व पर राज्य करने की योजना बना रहे हैं। इस प्रचार का तत्काल परिणाम यह हुआ कि यहूदियों के प्रति जर्मनों में क्रोधाग्नि भड़क उठी।

(3) प्रचार करते समय झूठ और धोखे का मार्ग सर्वाधिकारवादी और लोकतान्त्रिक दोनों ही राज्यों द्वारा प्रयोग में लाया जाता है किन्तु दोनों व्यवस्थाओं द्वारा किया जाने वाला ऐसा प्रचार एक ही कोटि में नहीं रखा जा सकता। दोनों के बीच उद्देश्य का अन्तर रहता है। प्रजातान्त्रिक देशों का ऐसा प्रचार तानाशाही देशों की तुलना में प्रायः अच्छे उद्देश्यों के लिए किया जाता है।

(4) घटनाओं के लक्ष्य रूप को ही प्रचार का विषय बनाया जा सकता है और यह भी सम्भव है कि प्रचार काफी प्रभावकारी सिद्ध हो।

(5) प्रायः झूठी और महत्वहीन घटनाओं को युद्ध का कारण बना दिया जाता है। सन् 1965 के भारत-पाक युद्ध में साम्यवादी चीन ने भारत पर भेड़े धुराने जैसे महत्वहीन और

भेदे आरोप लगाए और ऐसा वातावरण बनाने का प्रयत्न किया कि वह जब चाहे तब भारत पर हमला कर सके ।

2 ध्यान आकर्षित करने की तकनीकें

(The Techniques of Gaining Attention)

प्रचार का उद्देश्य दूसरे राज्य के मस्तिष्क को अपने स्वार्थ के अनुरूप बनाना होता है इसके लिए सम्बन्धित राज्य का ध्यान आकर्षित करना परम आवश्यक है । राज्य की जनता का ध्यान आकृष्ट करने के लिए एक राज्य निम्नलिखित तरीके अपना सकता है—

1 **सरकारी प्रयास** एक राज्य की सरकार अपने राष्ट्रीय हित के अनुकूल अन्य राज्य की सरकार के सम्मुख विरोध प्रकट करती है । सामयिक पत्रों और नेताओं के भाषणों द्वारा सरकार अपना रुख स्पष्ट करती है ।

2 **शक्ति प्रदर्शन** एक राज्य द्वारा अपनी जल, धन और नव शक्ति का कुछ अवसरों पर प्रदर्शन किया जाता है ताकि दूसरे राज्य उसकी सैनिक शक्ति का अनुमान लगाकर तदनुसार व्यवहार करें । शक्ति प्रदर्शन द्वारा एक राज्य अपनी मीलों और हितों की ओर विदेशों का भी ध्यान आकर्षित करता है ।

3 **राजनीतिक यात्राएँ** राज्य अपना सरकार के अध्यक्ष द्वारा विदेश यात्राएँ की जाती हैं । यात्राओं के समय दिए गए भाषणों, वक्तव्यों एवं समुक्त वार्ताओं के प्रसारण द्वारा एक राज्य विश्व की समस्याओं के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण प्रकट करता है ।

4 **रचनात्मक कार्यक्रम** प्रचार के साथ साथ राज्यों को रचनात्मक कार्यक्रमों का आयोजन भी करना चाहिए । पामर तथा परकिंस के अनुसार जब कोई राज्य रचनात्मक नीति अपनाता है तो उसका प्रचार अधिकरण कमजोर होते हुए भी दूसरे राज्यों का ध्यान आकर्षित कर लेता है ।

3 प्रतिक्रिया जानने का प्रयास (Device for Gaining Response)

प्रचार कार्यक्रम के प्रति देशवासियों की उचित प्रतिक्रिया जानने के लिए विभिन्न तरीके अपनाए जाते हैं । कुछ प्रमुख तरीके निम्नलिखित हैं—

1 **नारों का प्रयोग** प्रचारकर्ता जनता से जो कराना चाहते हैं उसके लिए उन्हें दो चार शब्दों के कुछ नारों की सृष्टि करनी होगी । ये नारे कुछ समय में लोगों के जीवन का अंग बन जाएंगे और घर घर में गूँजने लगेंगे । शीतयुद्ध में संवियत संघ ने अमेरिका के विरुद्ध और अमेरिका ने साम्यवादी व्यवस्था के विरुद्ध अनेक नारों का प्रयोग किया था ।

2 **प्रतीकों का प्रचलन** व्यक्ति की भावनाओं को प्रभावित करने में नारों की भाँति प्रतीकों का भी महत्वपूर्ण स्थान है । इस दृष्टि से देशवासियों में भावनात्मक एकता लाने और राष्ट्रीय नीतियों का समर्थन करने के लिए किसी चित्र जानवर सेकत राष्ट्रगीत झण्डा एवं अन्य प्रकार के प्रतीकों का उपयोग किया जाता है । हिटलर ने स्वस्तिक को अपने नازی दल का प्रतीक बनाया । अमेरिकी झण्डे पर घील का चित्र है तथा इसी प्रकार दूसरे देश भी अपने प्रतीक निर्धारित करते हैं ।

3 विचारों का व्यक्तिकरण - कुछ विचार व्यक्ति विशेष के नाम से जोड़ दिए जाते हैं ताकि उनका प्रचार करने में सुविधा रहे और जनता उस व्यक्ति में श्रद्धा के कारण इन विचारों को भी स्वीकार कर ले। उदाहरण के लिए साम्यवादी देश अपने सिद्धान्तों का प्रचार मार्क्स, लेनिन, माओ आदि के नाम से करते रहे। भारत में कुछ विचार गाँधीजी और नेहरूजी के नाम से जोड़ दिए जाते हैं।

4 परिस्थितियों एवं दृष्टिकोणों का उपयोग - एक कुशल प्रचारक नवीन परिस्थितियों और दृष्टिकोणों को अपने हित के अनुसार ढाँढ़ लेता है और उसी रूप में उनकी व्याख्या करता है। हिटलर ने प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी के अपमान और आर्थिक मन्दी की स्थिति का लाभ उठाते हुए अपनी शक्ति वृद्धि की ओर जनता का समर्थन प्राप्त किया। पामर तथा परकिंस के मतानुसार प्रत्येक प्रचारक प्रचलित दृष्टिकोण से लाभ उठाकर उन्हें ऐसी दिशा में मोड़ने का प्रयास करता है जिससे उसका हित साधन हो सके।

4 स्वीकृति प्राप्त करने के साधन (Methods of Gaining Acceptance)

प्रचारक द्वारा प्रयास किया जाता है कि दूसरे राज्य उसकी नीतियों को यथासम्भव स्वीकार कर लें। ऐसा करने के लिए वह स्वयं को प्रचार के साथ एकीकृत कर लेता है। प्रभावित लोग तभी सच्चे दिल से स्वीकृति प्रदान करते हैं जबकि उन्हें वह अपना ही विचार दिखाई देता है।

प्रचार पर स्वीकृति प्राप्त करने का दूसरा तरीका धर्म और जाति को प्रभावित करना है। इसके द्वारा दो राज्यों के लोग आपस में अपनत्व की भावनाओं का अनुभव करते हैं और इसलिए वे ऐसे राज्य की नीतियों को स्वीकार करने लगते हैं।

स्पष्ट है कि प्रचार-कार्य को प्रभावशाली बनाने के लिए सज्ज प्रयास किए जाते हैं। यहाँ एक बात स्मरणीय है कि प्रत्येक प्रचार को विरोधी प्रक्रिया का सामना करना पड़ता है। विरोधी पक्ष न केवल उस प्रचार का समुचित उत्तर देता है वरन् उसे दबाने व कुचलने के लिए अपने प्रचार-यन्त्र को तेज भी कर देता है। प्रचार के क्षेत्र में प्रतिक्रिया और प्रतिस्पर्धा स्वाभाविक होने के कारण विरोधी प्रचार के खण्डन को प्रचार का ही एक भाग बना लिया जाता है। विज्ञान की प्रगति के साथ ही प्रचार के अभिनव साधनों का प्रचलन होता जा रहा है। परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार प्रचार की प्रक्रियाएँ और विधियाँ बदलती रहती हैं। ऐसा होना प्रचार-कार्य की प्रभावशीलता के लिए जरूरी है।

प्रभावशाली प्रचार की आवश्यकताएँ (The Requisites for Effective Propaganda)

प्रचार को प्रभावशाली बनाने के लिए कुछ बातों का ध्यान रखना उपयोगी होता है। इसमें श्रोताओं की रुचि, मनोविज्ञान तथा सामूहिक दृष्टि आदि का ध्यान रखा जाता है। प्रचारित विषय को सरल और देखने सुनने तथा पढ़ने योग्य बनाया जाता है। ये सभी बातें प्रचार-कार्य को प्रभावी बनाती हैं। ये मुख्यतः निम्नलिखित हैं—

1 प्रचार-कार्य की उस्तुमकता - विभिन्न समाचारों और सूचनाओं को यथासम्भव तथ्यगत रूप से प्रकट किया जाना चाहिए और श्रोताओं को स्वयं ही निर्णय पर पहुँचने का अवसर देना चाहिए। सीधी और बिना भिलावट की बातें अधिक प्रभावी सिद्ध होती हैं। जो समाचार अनिकरण वास्तविक तथ्य प्रकट करता है वह शीघ्र ही लोकप्रिय हो जाता है।

2. बड़ा झूठ और उसका दोहराव प्रचार को प्रनादी बनाने के लिए कोई बड़ा झूठ बोला जाता है और उसे अनेक बार दोहराया जाता है। सामान्य जनता ऐसी स्थिति में यह समझने लगती है कि सम्बन्ध यह सत्य होगा। यहाँ समचार के दूसरे स्त्रोतों पर नियन्त्रण रखना जरूरी हो जाता है ताकि परस्पर विरोधी बातें प्रसारित न होने पाएँ।

3 सरलता सामान्य जनता के मस्तिष्क पर सरल बातों का प्रभाव अधिक पड़ता है। वह विभिन्न राजनीतिक और आर्थिक विचारधाराओं के सम्बन्ध में तर्क-दितर्क सुनने की अपेक्षा सरल बातें सुनना अधिक पसन्द करती है जैसे—संविदात और घनी प्रचार में पूर्ण-विद्रोह के लिए 'प्रतिहिंस्यवादी' 'कठमुल्ला' 'साम्राज्यवादी' जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता रहा। दूसरी ओर, परिषदी गुट अपने तथा अपने सचियों के क्षेत्र को स्वतन्त्र सत्तार कहकर सम्बंधित करते हैं।

4 रुचि एवं आकर्षण व्यक्ति को केवल वही बात प्रभावित करती है जो उसे रुचिकर लगती है। रुचि की बात प्रत्यक्ष नहीं होती है जो एक देश के हितों से सम्बन्ध रखती है। उदाहरण के लिए एरिया और अफ्रीका के राज्य अपने दिक्कत की बातों में अधिक रुचि लेते हैं। प्रघातकर्त्ता राज्य अपनी बात कहने के साथ-साथ श्रेष्ठ राज्य की समस्याओं में अपनी रुचि व्यक्त करता है।

5 स्पष्टता एवं प्राणत्विकता जब कोई बात आसानी से समझ में आ जाती है और उसके सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं रहता तो सुनने वाले अधिक प्रभावित होते हैं। जटिल और उलझी बातें कोई स्थाई और व्यापक प्रभाव नहीं डालती हैं। स्पष्ट और प्राणत्विक बातें श्रोताओं द्वारा दोहराई जाती हैं और इसलिए उनका प्रभाव गहरा और व्यापक होता है।

6 स्थानीय अनुभव एवं दृष्टिकोण से समरूपता प्रत्येक प्रचार केवल लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही नहीं किया जाता बल्कि उसकी वंछित प्रतिक्रिया प्राप्त करने के लिए भी किया जाता है। इसके लिए स्थानीय रुचियों, अनुभवों और दृष्टिकोणों का ध्यान रखना अनिवार्य है। संविदात प्रचार में दिक्कतपूर्ण देशों में एकता, समान समस्याओं के बारे में विश्लेषण होता था। एशिया और अफ्रीका में साम्यवादी प्रचार इसलिए प्रभावशाली बन सका था क्योंकि उसमें साम्राज्यवादी, पूँजीवादी और शोषाकारी नीतियों का विरोध कर विकास का सपना दिखाया जाता रहा।

7 स्थिरता प्रचार कार्य हमेशा एक रीति नहीं रहता है फिर भी समान श्रोताओं के लिए एक-ही समस्याओं पर विभिन्न दिशाएँ प्रकट करने से व्यवहार में विभिन्न समस्यार्थ उत्पन्न हो जाती है। निरन्तरता और स्थिरता किसी प्रचार को प्रभावशाली बनाने में सहायक सिद्ध होती है।

शान्ति और युद्ध के दौरान महाशक्तियों के प्रचार यन्त्र

(Propaganda Machinery of Great Powers during War and Peace)

प्रचार सम्बन्धी उच्च वैज्ञानिक विवेचन के साथ-साथ प्रमुख राज्यों के प्रचार यन्त्रों का अध्ययन करना भी उपदेगी होगा। यहाँ हम सन्धुक्त राज्य अमेरिका और संविदात संधि के प्रचार यन्त्र का उल्लेख करेंगे ताकि राजनय में प्रचार के दार्शनिक महत्व को समझा जा सके।

संयुक्त राज्य का प्रचार यन्त्र (Propaganda Machinery of U.S.A.)

संयुक्त राज्य अमेरिका ने साम्यवादी खतरे का मुकाबला करने के लिए अपना प्रचार यन्त्र तेज किया। प्रारम्भ में संयुक्त राज्य मुनरो सिद्धान्त का अनुसरण करने के कारण प्रचार की आवश्यकता से अनभिज्ञ था किन्तु युद्धकाल की परिस्थितियों ने उसे प्रचार के महत्व से अवगत कराया।

द्वितीय विश्वयुद्धकालीन प्रचार युद्ध के समय संयुक्त राज्य ने विदेशों में मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक युद्ध छेड़ने के लिए विभिन्न संस्थाएँ गठित कीं। इनके द्वारा जर्मन घरित्र को गिराने का प्रयास किया गया। युद्धकाल में मित्र राष्ट्रों के रेडियो स्टेशन प्रायः एक जैसी थे। ये मुख्यतः तीन प्रकार के थे—जो स्टेशन जर्मन नागरिकों के लिए समाचार और परामर्श प्रसारित करते थे उन्हें *White Station* (White Station) कहा जाता था। दूसरे प्रकार के रेडियो स्टेशन मित्र राज्यों के होते हुए भी अपने आपको जर्मन घोषित करते थे। इनका उद्देश्य शत्रु को भ्रम में डालना और सच बातचीत जानकारी के लिए मित्र राष्ट्रों को प्रसारण सुनने के लिए प्रेरित करना था। ये काले स्टेशन (*Black Stations*) कहलाते थे। तीसरे ग्रे (*Grey*) स्टेशन थे जो न जर्मन होने का दावा करते थे और न मित्र राष्ट्रों के होने का। युद्ध के अन्तिम दिनों में कुछ कमाण्डिंग जनरलों ने अग्रिम टैंकों पर लाउडस्पीकर लगावा दिए ताकि शत्रु को आत्मसमर्पण के लिए फुसलाया जा सके।

युद्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रचार मनोवैज्ञानिक युद्ध के प्रयास पूर्णतः सफल नहीं हो सके। उनकी सभी नीतियों को शत्रु द्वारा पहले से ही अपनाया जा रहा था। मित्र राज्यों की असफलता के मुख्यतः दो कारण थे—

1. प्रारम्भ में प्रचार के लिए जो उच्च स्तरीय योजनाएँ बनाई गई थीं उनको क्रियान्वित नहीं किया जा सका। यदि जापान के मनोबल को प्रचार द्वारा गिरा दिया जाता तो वहाँ परमाणु बम गिराने की आवश्यकता न होती।

2. संयुक्त राज्य ने अपने प्रचार में जर्मनी के सामान्य नागरिकों और प्रशासन में कोई भेद नहीं किया अतः वहाँ के नागरिक यह सोचने लगे कि अमेरिका केवल नाजी सरकार का नहीं बल्कि जनता का भी दुश्मन है अतः उन्होंने नाजी प्रशासन का पूरा समर्थन किया। नाजी प्रचार यन्त्र के सघातक गोयेबल्स ने कहा था कि "यदि मैं शत्रु के पक्ष में होता तो प्रथम दिन से ही नाजीवाद के विरुद्ध लड़ने का नारा लगाता न कि जर्मन जनता के विरुद्ध।"

युद्ध के बाद अमेरिकी प्रचार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संयुक्त राज्य का प्रचार यन्त्र अधिक सक्रिय बन गया। सन् 1948 के रिमथमण्ड एक्ट के अनुसार अमेरिकी जनता और विश्व की जनता के बीच सद्भावना स्थापित करने का निर्णय लिया गया। सन् 1951 में विदेश विभाग के अन्तर्गत एक पृथक् अमिकरण अन्तर्राष्ट्रीय सूचना प्रसारण (IIA) स्थापित किया गया। 1 अगस्त 1953 को अमेरिकी राष्ट्रपति ने संयुक्त राज्य सूचना अमिकरण (USIA) की स्वतन्त्र कार्यालय के रूप में स्थापना की और इसे समुद्र पार के सूचना कार्यक्रम का उत्तरदायित्व सौंपा।

संयुक्त राज्य सूचना अमिकरण ने अनेक देशों में अपनी सूचना चौकियाँ स्थापित की हैं। वह असाध्यवादी देशों के हजारों समाचार पत्रों के लिए करोड़ों की राख्या में पैसे विशेष

सामग्री व्यंग्य चित्र पोस्टर आदि भेजता है। वॉइस ऑफ अमेरिका (Voice of America) भी इसका महत्वपूर्ण भाग है। यह लगभग 38 भाषाओं में प्रतिदिन 24 घण्टे प्रसारण करता है। इसके अधिकांश प्रसारण केन्द्र साम्यवादी देश होते थे। लेकिन नब्बे के दशक में पूर्वी यूरोप से साम्यवाद के पतन और दिसम्बर 1991 ई. को सोवियत संघ के विघटन के बाद साम्यवादी शिविर की स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन आ गया है। वर्तमान में संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रचार तंत्र में साम्यवाद विरोधी विचारों पर ध्यान केन्द्रित नहीं है।

अमेरिकी प्रचार का अधिकांश भाग प्रतिक्रिया के रूप में है। इसके अतिरिक्त विदेश नीति की मुख्य बातों को भी प्रचारित किया जाता है। वर्तमान में संयुक्तराज्य अमेरिका के प्रचार में परमाणु हथियारों के निषेध और मानवाधिकारों पर अधिक बल दिया जा रहा है।

सोवियत संघ का प्रचार यन्त्र

(Propaganda Machinery in U S S R)

द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व सोवियत संघ के प्रचार का लक्ष्य पार्टी तथा सरकार के तानाशाही नियन्त्रण को सगठित करना अपने कार्यक्रमों के अनुयायी बढ़ाना तथा जनता को मातृभूमि के लिए दुःख उठाने, त्याग करने तथा प्राण देने के लिए तैयार करना था। यहाँ जारशाही को उखाड़ फेंकने के लिए एक मुख्य हथियार के रूप में प्रचार का प्रयोग किया गया था। क्रान्ति के अगुआ यह जानते थे कि शक्ति के अभाव में प्रचार ही उनका महत्वपूर्ण शस्त्र है।

विश्वयुद्ध से पूर्व प्रचार द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व सोवियत प्रचार की निम्नलिखित विशेषताएँ थीं—

1 यह प्रचार देश के सभी क्षेत्रों के सभी वर्गों को प्रभावित करता था।

2 साम्यवादी ने अपने प्रचार के लिए नवीन शब्दों का चयन किया। अपने पक्ष में तथा विरोधी पक्ष में अत्यन्त प्रभावशाली शब्दों का प्रयोग किया गया। बाद में ये शब्द साम्यवादी सत्ता में अत्यन्त लोकप्रिय बन गए।

3 साम्यवादियों ने अनेक नए नारों तथा प्रतीकों का उपयोग किया, जैसे सितारा लाल और हथौड़ा व हैसिया।

4 प्रचार कार्य में अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन को महत्व दिया गया। इस हेतु कमिन्टर्न (Comintern) आदि संस्थाओं का गठन किया गया। यह संस्था विश्व के अन्य देशों के साम्यवादी दलों को निर्देशन देने तथा उन्हें सोवियत संघ के अनुकूल नीति अपनाने की प्रेरणा देने का कार्य करती थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सोवियत प्रचार जब दूसरा विश्वयुद्ध समाप्त हो गया तो सोवियत संघ के प्रचार की प्रक्रिया और उद्देश्यों में पर्याप्त अन्तर आ गया। उसका प्रचार अन्तर्राष्ट्रीय अधिक बन गया और यह शीत युद्ध की दृष्टि से प्रेरित होने लगा। युद्धोत्तरकाल में इसके प्रचार की निम्नलिखित उल्लेखनीय विशेषताएँ थीं—

1 मुख्य रूप से अर्द्धविकसित या अविकसित देश सोवियत प्रचार का क्षेत्र बन गए।

2 इस प्रचार में साम्यवादी जीवन के तौर तरीकों की प्रशंसा की गई और पूँजीवादी राष्ट्रों के अत्यधिक तथा शोषण का स्वरु रजित चित्र खींचा गया।

3 विभिन्न देशों में साम्यवादी आन्दोलनों को उकसाया गया तथा उनका समर्थन किया गया।

4 सोवियत प्रचार ने संयुक्त राज्य द्वारा विभिन्न देशों को दी जाने वाली आर्थिक और दैनिक सहायता को उसकी साम्राज्यवादी नीति का प्रतीक बताया। पत्रों एवं लेखों द्वारा इस बात का खुलकर प्रचार किया गया कि अमेरिका संसार को गुलाम बनाना चाहता है।

5 सोवियत संघ ने शान्ति का अभियान प्रारम्भ किया। उसने प्रचार द्वारा स्वदेश और विदेश की जनता को यह बताने का प्रयास किया कि वह शान्ति प्रेमी है और शान्ति स्थापना के लिए निःशस्त्रीकरण का पक्ष लेता है।

दिसम्बर 1991 ई. में सोवियत संघ विश्व मानचित्र से समाप्त हो गया है। अन्तिम राष्ट्रपति के रूप में मिखाइल गोर्बाच्योव ने अपने पद से त्यागपत्र देने की घोषणा की। सोवियत संघ के अस्तित्व के साथ ही प्रचार तंत्र का एक अध्याय समाप्त हो गया।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनय में प्रचार तंत्र का अत्यन्त महत्व है।

राजनय और महाशक्तियाँ—राजनय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून

(Diplomacy and Super Powers : Diplomacy
and International Law)

राजनय अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के शान्तिपूर्ण समाधान तथा राष्ट्रों के मध्य सन्तुलन एवं मित्रता को बनाए रखने का एकमात्र साधन है। अतः उपयुक्त है कि हम अमेरिका और सोवियत रूस—इन दो महाशक्तियों (Super Powers) के राजनय का अध्ययन करें। महाशक्तियों का राजनय विश्व के विभिन्न देशों के राजनय को प्रभावित करता है और यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आज विश्व राजनय का सम्पूर्ण ताना-बाना इन महाशक्तियों के राजनय पर आश्रित है।

संयुक्तराज्य अमेरिका का राजनय (Diplomacy of the United States of America)

संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व का एक महानतम प्रजातान्त्रिक राष्ट्र है जिसकी विदेश नीति की प्रकृति और व्यवहार का जिसके राजनय का सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता रहा है।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व अमेरिकी राजनय

संयुक्तराज्य अमेरिका का एक राष्ट्र के रूप में जन्म 1776 के अमेरिकी स्वातन्त्र्य-संग्राम के फलस्वरूप हुआ था। अपने जन्म-काल की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से विवश होकर अमेरिका को इस नए गणतन्त्र की तटस्थता और पृथक्तावादी नीति का सहारा लेना पड़ा। 1797 में प्रथम राष्ट्रपति वॉशिंगटन ने अपने विदाई-भाषण में पृथक्तावादी नीति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा था—“विदेशों के सम्बन्ध में हमारे व्यवहार का महान् यह नियम है कि हम उनके साथ व्यापारिक सम्बन्ध तो रखें किन्तु राजनैतिक सम्बन्ध यथासम्भव कम से कम रखें। हमारी सच्ची नीति यह है कि हम विदेश के किसी भी भाग के साथ स्थाई सन्धियों न करें।” चूँकि अमेरिका यूरोप के झगड़ों से बिल्कुल पृथक् और तटस्थ रहकर अपनी उन्नति करना चाहता था इसलिए उसकी नीति को पृथक्तावादी कहकर सम्बोधित किया गया। इस सन्दर्भ में यह ध्यान देने योग्य बात है कि अमेरिका की यह पृथक्ता केवल यूरोप के मामलों तक ही थी। विश्व के अन्य भागों के लिए यह पृथक्ता नीति नहीं अपनाई गई। उदाहरण के लिए 1854 में अमेरिकी नौ-सेना ने जापान को अपनी

परम्परागत पृथक्तावादी नीति का परित्याग करने को बाध्य किया तो 1900 में चीन के बाक्सर विद्रोह में अमेरिकी सेनाओं का हस्तक्षेप हुआ तथा सामान्य सुदूरपूर्व के मामलों में अमेरिका ने गहरी दिलचस्पी प्रकट की।

तटस्थता और पृथक्तावादी अमेरिकी नीति को सिद्धान्त रूप में राष्ट्रपति जैफरसन (Jefferson) ने 1801 में इस प्रकार प्रकट किया—“शान्तिपूर्ण व्यापार सब के साथ झगड़ पैदा करने वाली सन्धियाँ किसी के साथ भी नहीं।” इसका आशय यही है कि अमेरिका यूरोपीय देशों के साथ व्यापार करे लेकिन यूरोपीय राजनीति के फन्दे में न फँसे।

सन् 1823 ई. में मुनरो सिद्धान्त (Monroe Doctrine) के प्रतिपादन से अमेरिकी विदेश नीति और राजनय के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। सन् 1823 में जब प्रशिया आस्ट्रिया और रूस के ‘पवित्र साघ’ ने स्पेन में निरंकुश शासन के विरुद्ध हुई क्रांति को कुचलने के बाद स्पेन के दक्षिण अफ्रीका के उपनिवेशों में मैड्रिड विरोधी स्वातंत्र्य आन्दोलनों को दबाना चाहा तो 2 दिसम्बर 1823 को तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति मुनरो ने यूरोपीय राज्यों को अमेरिकी महाद्वीप के मामलों में हस्तक्षेप न करने की चेतावनी देते हुए ऐतिहासिक घोषणा की कि—

1 “हम यह जता देना चाहते हैं कि यूरोपीय शक्तियों के युद्धों में हमने कभी भाग नहीं लिया और न कभी भाग लेने का हमारा विचार है। हम इनसे सर्वथा पृथक् रहे हैं।”

2 “हम अपनी शान्ति और सुख की दृष्टि से अमेरिका के किसी भी भाग में यूरोपीय शक्तियों की राजनीतिक सत्ता का विस्तार नहीं होने देगे और दक्षिणी अमेरिका के गणराज्यों की स्वतन्त्रता में किसी हस्तक्षेप को सहन नहीं करेंगे।”

3 “अमेरिकी महाद्वीप का कोई प्रदेश भविष्य में यूरोपीय शक्तियों द्वारा उपनिवेशान (Colonisation) का क्षेत्र नहीं बनाया जा सकेगा।”

राष्ट्रपति मुनरो ने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि किसी यूरोपीय राष्ट्र द्वारा अपनी प्रणाली को अमेरिकी गोलार्द्ध में फैलाने का प्रयत्न किया गया तो समुत्तराज्य अमेरिका उसे पूर्णतः अमैत्रीपूर्ण कार्यवाही समझेगा। स्पष्टतः मुनरो सिद्धान्त यूरोपीय राज्यों की एक चेतावनी थी कि वे अमेरिकी महाद्वीपों में साम्राज्यवादी घेष्टाओं से दूर रहे। साथ ही यह एक आश्वासन भी था कि अमेरिका भी यूरोपीय झगड़ों से अलग रहेगा। दूसरे शब्दों में मुनरो सिद्धान्त का अर्थ था तुम पृथक् रहो हम भी पृथक् रहेगे। यह सिद्धान्त अमेरिकी महाद्वीपों के मामलों में समुक्त राज्य अमेरिका की सर्वोच्चता के सिद्धान्त की घोषणा करता था।

मुनरो सिद्धान्त सन् 1823 ई. में अपने प्रतिपादन से प्रथम महायुद्ध तक पृथक्तावादी नीति के साथ साथ सुचारु रूप से चलता रहा। अमेरिका के लिए इन दोनों आधारों पर आश्रित विदेश नीति व राजनय का लगभग सौ वर्ष तक सुचारु संचालन इसलिए सम्भव हुआ कि इस बीच विश्व में शान्ति सन्तुलन बना रहा जिनके तीन कारण थे—

(1) अटलाण्टिक महासागर और अन्य समुद्रों में ब्रिटिश नौ शक्ति की प्रधानता तथा ब्रिटिश अमेरिकी मित्रता (2) यूरोपीय महाद्वीप में शक्ति सन्तुलन कायम रहना क्योंकि नेपोलियन के बाद यूरोप में कैसर के अभ्युत्थान से पहले तक कोई ऐसी शक्ति उदित नहीं हुई जो सम्पूर्ण यूरोप में हावी होती अथवा ब्रिटिश साम्राज्य को हानि पहुँचाती तथा (3) यूरोप

या एशिया में किसी शक्ति या शक्तियों के ऐसे गुट का अभाव रहा जो संयुक्तराज्य अमेरिका अथवा दक्षिण अमेरिका को हानि पहुँचा सके। शक्ति सन्तुलन के इन तीनों कारणों की समीक्षा करते हुए शून्य का कथन है कि 'जब तक ग्रेट ब्रिटेन की शक्ति सर्वोच्च बनी रही तब तक संयुक्तराज्य अमेरिका पृथक्तावादी नीति पर चलता रहा और इसके अनुकूल तटस्थता (Neutrality) समुद्रों की स्वतन्त्रता (Freedom of the Seas), तटस्थ देशों के व्यापारिक अधिकारों सुदूरपूर्व में सब शक्तियों को व्यापार के समान अवसर देने की मुक्त द्वार नीति (Open Door Policy) का समर्थन करता रहा।'

प्रथम महायुद्ध काल में अमेरिकी राजनय

सन् 1914 ई. में प्रथम महायुद्ध का आरम्भ हो जाने पर संयुक्तराज्य अमेरिका के लिए परम्परागत पृथक्तावादी नीति पर चलते रहना सम्भव न रहा। सन् 1901 में रूजवेल्ट अमेरिका के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए और उन्हीं के समय से अमेरिका विश्व राजनीति में गहरी रुचि लेने लगा। इस समय एकाएक यह अनुभव किया कि वह वास्तव में विश्व की एक महान् शक्ति है जिसे विश्व की समस्याओं से विरक्त नहीं रहना चाहिए। इसके प्रथम शिकार लेटिन अमेरिका के पड़ोसी देश ही हुए, यद्यपि साथ ही अमेरिका अन्य अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में भी रुचि प्रदर्शित करता रहा। सन् 1905 में रूस-जापान युद्ध का अन्त कराने के लिए राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने सफलतापूर्वक हस्तक्षेप किया। सन् 1906 में फ्रांस-जापान संधि शुरू हुआ। अमेरिका ने इस मामले में भी मध्यस्थता की तथा फ्रांस और जर्मनी में बीच बचाव कराकर यूरोप में शान्ति को भग होने से बचाया। इसके अतिरिक्त रूजवेल्ट ने हेग पक्ष न्यायालय का समर्थन किया और वहाँ दो बड़े अन्तर्राष्ट्रीय मुकदमे भेजे। लेकिन इतना होने पर भी अभी तक अमेरिका स्वयं को यूरोप के झगड़ों से दूर रखकर दयासम्भव तटस्थता की नीति पर ही डटा रहना चाहता था।

सन् 1914 में प्रथम महायुद्ध छिड़ने पर संयुक्तराज्य अमेरिका ने यूरोप के युद्धों से पृथक् रहने की परम्परागत नीति के अनुसार तटस्थता की घोषणा की, प्रत्युत आरम्भ से ही यह भी आशा होने लगी कि अमेरिका के लिए इस युद्ध से पूर्णतः पृथक् एवं अप्रभावित रह सकना सम्भव नहीं होगा। संयुक्त राज्य अमेरिका का हित मित्रराष्ट्रों की दिजय में सन्निहित था। जर्मनी की दिजय से अमेरिका को न केवल नीबन अधिक शक्ति होती अपितु इससे यूरोप का शक्ति सन्तुलन बिगड़ने की तथा यूरोपीय महाद्वीप सहित सम्पूर्ण विश्व में जर्मनी के हद्दी होने की आशंका थी जिससे अमेरिका की सुरक्षा भी सकट में पड़ सकती थी। इन सभी राष्ट्रीय स्वार्थों ने अमेरिका में इस धारणा को बल दिया कि मित्रराष्ट्रों की दिजय होनी ही चाहिए। परिणामस्वरूप अमेरिकी जनमानस में मित्रराष्ट्रों के पक्ष में दातादरग बनाया गया। अमेरिका ने बड़े ही सकटापन्न काल में मित्रराष्ट्रों के पक्ष में युद्ध प्रवेश किया। इससे मित्रराष्ट्रों को न केवल असीमित मानवीय शक्ति ही मिली, बल्कि असीम धन, खाद्य पदार्थ, खनिज और हर प्रकार के नैतिक स्रोतों की प्राप्ति भी हुई। अमेरिकी सेना रण सामग्री और युद्धपैलों ने न केवल साम्यवादी रूस द्वारा जर्मनी से पृथक् सन्धि करने से हुई शक्ति को पूरा किया प्रत्युत युद्ध का फल पलट कर जर्मनी की नीबन पराजय को निश्चित बना दिया। 'तटस्थता की नीति अमेरिकी स्वार्थों की रक्षा में असमर्थ सिद्ध हुई थी, अतः पृथक्ता

के स्थान पर यूरोपीय महासागर में भाग लेने की नीति अपनाई गई" जिसके फलस्वरूप विजयी जर्मनी पराजित जर्मनी में बदल गया और 11 नवम्बर 1918 को जर्मनी ने बिना शर्त आत्मसमर्पण कर विराम-सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिए ।

दो महायुद्धों के बीच अमेरिकी राजनय

प्रथम महायुद्ध के बाद अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन के चौदह सूत्रों को शान्ति-सम्मेलन का आधार माना गया । पेरिस सम्मेलन में एकत्रित राजनीतिज्ञों ने विल्सन के कारण ही राष्ट्रसंघ को वर्साय-सन्धि सहित सभी शान्ति सन्धियों का अंग बना दिया । वर्साय-सन्धि के द्वारा न तो अमेरिका ने कोई मित्रता-प्राप्ति का प्रयास किया और न ही कोई शत्रु बनाए । मार्च 1920 में सीनेट में अन्तिम रूप से वर्साय की सन्धि को रद्द कर दिया और नवम्बर 1920 में विल्सन की जगह रिपब्लिकन उम्मीदवार हार्डिंग को राष्ट्रपति चुन लिया गया । अमेरिकी विदेश नीति और राजनय की परम्परा ही पृथक्तावादी नीति का अनुसरण करती रही थी । परिस्थितियों से बाध्य होकर ही अमेरिका युद्ध में सम्मिलित हुआ था मित्रराष्ट्रों के सशक्त युद्ध-प्रधार तथा जर्मनी की नीति कुरासता की कमी ने अमेरिका को युद्ध में घसीट लिया था । अब एक बार जब युद्ध समाप्त हो गया तो विश्व-राजनीति में दिलचस्पी लेना अमेरिका के लिए आवश्यक नहीं रह गया । अमेरिकी जनता की दृष्टि में यूरोप की राजनीति में दिलचस्पी लेने का अमिप्राय था, 'तरह-तरह की झड़टों में अमेरिका को कैसाए रखना । अतः अमेरिका ने पुनः अन्तर्राष्ट्रवाद को ठुकरा कर के पृथक्तावादी नीति का अनुसरण किया ।

राष्ट्रपति हार्डिंग ने अमेरिकी विदेश नीति और राजनय को तटस्थता का पूरा जामा पहनाने की चेष्टा करते हुए विल्सन द्वारा दिये गए वधनों और बाध्यताओं से भी अपने देश को मुक्त कर लिया । लेकिन पृथक्तावाद की अपनी घोषित नीति के बावजूद अमेरिका की बढ़ती हुई शक्ति उसके हितों विश्व-राजनीति की परिवर्तित स्थिति तथा अन्य परिस्थितियों ने उसे यूरोपीय एवं गैर-अमेरिकी मामलों में रुचि लेने को विवश कर दिया । सन् 1919 के बाद अमेरिका ने एक ऐसी नीति का पालन किया जिसे 'स्पर्शहीन सहयोग की नीति' कहा जा सकता है । यह एक ऐसी नीति थी जिसका उद्देश्य उत्तरदायित्व को वहन किए बिना 'शक्ति और प्रतिष्ठा की प्राप्ति' था । पृथक्तावाद के प्रति अपनी निष्ठा की घोषणा करते हुए भी संयुक्त राज्य अमेरिका एक सीमा तक विश्व-राजनीति में भाग लेता रहा । यद्यपि अमेरिका की सीनेट राष्ट्रसंघ को अस्वीकार कर चुकी थी तथापि एक वर्ष से भी अल्पावधि में अमेरिका ने संघ की बैठकों में प्रेक्षकों (Observers) को भेजना प्रारम्भ कर दिया । संघ के प्रति कुछ उदार नीति का अनुसरण करते हुए न केवल जेनेवा में गैर-सरकारी निरीक्षक भेजे गए अपितु बाद में सस्त्रास्त्रों के रित्रियों के तथा अफीम के व्यापार का नियन्त्रण करने वाले संघ के सम्मेलनों में और स्वास्थ्य सम्बन्धी योजनाओं में भी संयुक्त राज्य, अमेरिका, ने, सहभाग, किया । वास्तव में 1928 ई. के बाद ही अमेरिका ने संघ की समझौतों में पूर्ण रूप से भाग लेने के लिए अपने प्रतिनिधि भेजना प्रारम्भ कर दिया जो अपने राष्ट्रीय स्वायत्तों की रक्षा के लिए सदैव सजग रहते थे । मार्च 1930 तक अमेरिकी प्रतिनिधियों ने ऐसे 22 सम्मेलनों में भाग लिया । सन् 1931 की समाप्ति से पूर्व अमेरिका राष्ट्रसंघ व

संरक्षण में सम्पन्न 13 सन्धीयों से सम्मान था और 1934 में अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन का सदस्य भी बन गया।

दास्य में प्रथम महायुद्ध के बाद तेजी से बढ़ती अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने समुक्त राज्य अमेरिका को अपनी विदेश नीति और अपने राजनय पर पुनर्विचार के लिए बाध्य कर दिया। सन् 1920 में दुनिया में जो परिस्थितियाँ थीं उनमें प्रजटन्त्र अष्टांगुल मुखरिथ था किन्तु 1930 तक फासीवाद को कई जगह विजय प्राप्त हो चुकी थी तथा अन्य प्रदेशों में तानशाही शासनों का विकास हो गया था। उक्त संसार संघर्षकारवाद के छठरे में पड़ चुका था यह अलम्ब था कि समुक्त राज्य अमेरिका इस विकास से अँधेरे में डूब रहा था। अमेरिकी नेताओं को यह विचार हो चला कि संस्थिता एवं पर्याप्त का अर्थ कोई महत्त्व नहीं रह गया है। राज्य संधि हल का कहना था कि पृथक्वाद बनी भी मुखर का सधन नहीं बन सकटा वरन् यह तो असुखा का एक फलदायक स्रोत है। यह स्पष्ट हो गया कि पृथक्वाद की नीति के अनुसरण के कारण अमेरिका को विश्व में 'महारक्ति' का स्तर प्राप्त नहीं हो सकता था। मार्च 1933 में व्रैंकलिन रूजवेल्ट के राष्ट्रपति बनने पर अमेरिका पृथक्वाद से अन्तर्राष्ट्रीयवाद की ओर मुड़ने लगा, फिर भी अमेरिका चाहता नहीं था कि मित्रराष्ट्रों के साथ सहानुभूति रखते हुए भी यूरोप के मुद्दों में व्यापक पृथक् रहे। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने संविधान मस को मन्वटा देने का निर्णय किया।

नवम्बर 1933 में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने संविधान सरकार को मन्वटा प्रदान कर दी। दोनों राष्ट्रों के परस्परिक कूटनीतिक सम्बन्धों की स्थानना के साथ ही राष्ट्रपति रूजवेल्ट और संविधान मन्त्री लिलियन ने अपनी-अपनी सरकारों के मन पर प्रन किया कि (1) वे दोनों देशों के व्यक्तित्व जीवन की स-व्यवस्था के अधिकार का आदर करेंगे और एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। (2) दोनों देशों में सरकारी कार्यों में लगे सभी अधिकारी और सरकार से सम्बन्धित सभी संगठन किसी भी प्रकार की स्पष्ट और अस्पष्ट क्रिया द्वारा दूसरे देश की शक्ति, उन्नति, व्यवस्था और मुखर को हानि पहुँचाने का प्रयत्न नहीं करेंगे। (3) अपने देश की क्षेत्रीय सीमा में किसी भी संगठन के निर्माण, निवस और कार्य की आज्ञा नहीं दी जाएगी जो दूसरे देश की सरकारों और क्षेत्रीय एकता को खतरा प्रस्तुत हो। (4) किसी भी ऐसे समूह या संगठन के निर्माण और उस समूह या संगठन के प्रतिनिधि अधिकारियों के निवास पर प्रतिबन्ध लगाया जाएगा, जिसका उद्देश्य दूसरे देश की सरकार को फलना अथवा उस देश की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में उबरदस्ती परिर्वर्तन लाने का प्रयत्न करना हो। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने विलियम बुलिट (William Bullitt) को संविधान सच में पहला राजदूत बनाया। मन्वटा के उपरान्त भी मास्को और वरिगटन राजनय अथवा कूटनीति के क्षेत्र में रहने ही दूर रहे जिन्हें मैनेलिक क्षेत्र में थे। विलियम बुलिट और जेसरु डेविज की अध्यक्षता में जो कार्यमन्डल मास्को गए लेकिन उनमें उचित सलाह की कमी थी। अतः वे नए संविधान-अमेरिकन सम्बन्धों को बढा नहीं पाए। वरिगटन में संविधान दूत ट्रोयानोवस्की (Trojanowsky) भी अमेरिका की पृथक्ता की दीवार को हटाने में सकल नहीं हो सके। बुलिट जैसा मन्वटाकाली राजदूत संविधान सच के साथ अच्छे संबंध स्थापित करने में सकल नहीं रहा।

अगस्त 1936 में राष्ट्रपति ने जोसेफ ई डेविज (Joseph E Davies) को मास्को के अमेरिकन राजदूत के लिए बुलिट के स्थान पर भेजा। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने बुलिट की उछल प्रकृति को ध्यान में रखते हुए डेविस को सोवियत अधिकारियों के साथ व्यवहार में प्रतिष्ठित रूप में आत्मसमय और औपचारिकता का रवैया अपनाने की सलाह दी। नए दूत को यह भी कहा गया कि वह सैनिक और आर्थिक पहलू के रूसी शासन की शक्ति की स्थिति के प्रति आँखें देखी और व्यक्तिगत विचारों पर आधारित सूचना देने का प्रयत्न करे और यह भी पता चलाने कि यूरोपियन युद्ध होने पर सोवियत सरकार की नीति क्या होगी ?¹

एक राजनयज्ञ अथवा कूटनीतिज्ञ के रूप में अमेरिकन राजदूत डेविज मास्को में सफल रहा। उसे स्टालिन से मिलने का एक असाधारण विशेषाधिकार प्राप्त हुआ। स्टालिन डेविज वार्ता में रूस अमेरिका सहयोग और मतभेद के अनेक मुद्दों पर स्पष्ट विचार विनिमय हुआ। लॉरेंस स्टीनहार्ट (Lawrence Steinhardt) जो डेविज के बाद राजदूत बने मास्को में अगस्त 1939 में ही पहुँच सके। अतः एक वर्ष तक के समय के लिए मास्को में अमेरिकन दूतावास बिना किसी राजदूत के ही कार्य करता रहा। द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ होने के समय रूस और अमेरिका राजनीतिक दृष्टि में अभी भी अपने ही दूर थे जितने कि कूटनीतिक सम्बन्ध वार्ता के आरम्भ होने से पहले या बाद में थे।²

यूरोप में हिटलर की आक्रामक गतिविधियों ने स्पेनिश गृहयुद्ध में हिटलर और मुसोलिनी के खुले हस्तक्षेप ने तथा चीन पर जापान के आक्रमण ने रूजवेल्ट को यह विश्वास दिला दिया कि पृथक्तावाद के विरुद्ध जनमत को जागृत करने का समय आ गया था। फलस्वरूप बढ़ती हुई अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को दूर करने के लिए 5 अक्टूबर 1937 को राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अमेरिका के लिए तटस्थता के सिद्धान्त को अस्वीकृत किया और सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त की प्रशंसा की। अपने इस भाषण में रूजवेल्ट ने कहा—“लुटेरे राज्यों ने आतंक का राज्य स्थापित कर लिया है। इनके आक्रमणों को पृथक्तावाद या तटस्थता से नहीं रोका जा सकता। अन्ततोगत्वा वे समुक्त राज्य को घुनीती देंगे। जब कोई सक्रामक महामारी फैलती है तो समाज यह चाहता है कि इसके बीमारों को पृथक्स्थान में रखने की व्यवस्था व्यवस्था द्वारा महामारी को रोका जाए। अक्रान्ता राज्यों को भी इसी प्रकार रोकना चाहिए।” वहीं बहुसंख्यक पृथक्तावादियों ने राष्ट्रपति की बढ़ी असम्य भाषा में आलोचना की।

अमेरिकी जनता की प्रतिक्रिया से जर्मनी और इटली में फासिस्टवादी शक्तियों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। जब हिटलर ने अपनी दृष्टि धेनोस्लोवाकिया पर डाली और म्यूनिख समझौता हुआ तो अमेरिका में भीषण प्रतिक्रिया हुई और रूजवेल्ट ने राजनय नीति में परिवर्तन कर दिया जिसका उद्देश्य आन्तरिक सुधारों की अपेक्षा सत्तार में सामूहिक सुरक्षा की नीति पर अधिक बल देना था। वास्तव में राष्ट्रपति रूजवेल्ट की पूर्ववर्ती धारणा अब और भी अधिक स्पष्ट और दृढ़ हो गई थी कि साम्राज्यवाद के बढ़ते हुए ज्वार के बीच तटस्थवादी नीति अमेरिकी हितों के प्रतिकूल थी। रूजवेल्ट को यह विश्वास हो गया कि म्यूनिख समझौते का अर्थ ‘शान्ति’ नहीं बल्कि युद्ध था।

1 के के निश व इन्दु खन्ना वही पृ 140-50

2 डॉ एम पी रोम वही पृ 197

कुल मिलाकर दो महायुद्धों के मध्यकाल में अमेरिकन विदेश नीति और राजनय का मूल तत्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से अलग रहता ही रहा। समुक्तराज्य अमेरिका द्वितीय महायुद्ध में तभी शामिल हुआ जब जापान ने पर्ल हार्बर पर 7 दिसम्बर 1941 को आक्रमण कर दिया। इस समय अमेरिकन राजनय का मूल मंत्र 'खुला राजनय' (Open Diplomacy) था। इसने 'उदारवादी अन्तर्राष्ट्रीयता' (Liberal Internationalisation) के सिद्धान्त को जन्म दिया।¹

द्वितीय महायुद्ध काल में अमेरिकन राजनय

अमेरिका द्वारा जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने के साथ ही अब 'पुरानी दुनिया' तक सीमित युद्ध नई दुनिया में भी प्रवेश कर गया और अमेरिका जैसा सबल तथा साधन-सम्पन्न राष्ट्र ब्रिटेन फ्रांस आदि मित्रराष्ट्रों के पक्ष में मैदान में आ गया। महायुद्ध काल में अमेरिका ने अपनी महान् सैनिक शक्ति का प्रदर्शन किया जिससे शत्रु-राष्ट्रों (जर्मनी जापान इटली आदि) की पराजय निश्चित हो गई। युद्ध के दौरान अमेरिका ने मित्रराष्ट्रों के पक्ष में अपने सैनिक भी भेजे उन्हें शस्त्रास्त्र भी दिए और उनके लिए डालर की धूलियाँ भी खोल दीं। इस सैनिक और आर्थिक सहायता ने अमेरिका का सिद्धांत जमा दिया और 'महाशक्ति' के रूप में उदय होने का उसका मार्ग प्रशस्त हो गया।

महायुद्ध के प्रारम्भिक काल में रूस पर जर्मनी ने आक्रमण किया। पश्चिमी देश और अमेरिकन कूटनीतिज्ञों तथा सैनिक विशेषज्ञों में अधिकांश यह आशा कर रहे थे कि हिटलर कुछ ही दिनों में रूस पर सम्पूर्ण नियन्त्रण स्थापित कर लेगा। रूस में नियुक्त पूर्व अमेरिकी राजदूत जोसेफ डेविज ही ऐसा अकेला कूटनीतिज्ञ था जो रूस की स्थिति के इस परम्परागत विवेचन से असहमत था। इस समय सोवियत अमेरिकन सम्बन्धों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण राजनयिक तत्व रुजवेल्ट की जर्मन आक्रमण के विरुद्ध सहानुभूति थी। वाशिंगटन में सोवियत दूत ओमॉन्स्की (Oumansky) और उपराज्य सचिव वैल्ज ने एक समझौता किया जिसके अनुसार अमेरिका की सरकार ने रूस को असीमित निर्यात और इंग्लैण्ड के साथ समानता का वचन दिया। वाशिंगटन ने जर्मन आक्रमण में सोवियत स्थिति को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से सभी व्यावहारिक आर्थिक सहायता प्रदान करने का वचन दिया। ऐसा समुक्त राज्य की राष्ट्रीय सुरक्षा के हितों में किया गया। 14 अगस्त, 1941 को राष्ट्रपति रुजवेल्ट और प्रधानमंत्री चर्चिल ने एक 'अटलाण्टिक चार्टर' की घोषणा की जिसमें मित्र-देशों के युद्ध के उद्देश्यों का वर्णन किया गया। इस चार्टर पर सोवियत स्वीकृति सितम्बर में मिली। सोवियत लोगों की वीरता ने युद्ध की अस्त-व्यस्तता में एक महान् सधि का उदय हुआ जिसका नाम समुक्तराष्ट्र था। ग्रेट ब्रिटेन समुक्त राज्य अमेरिका सोवियत सधि और चीन इस सधि के आधार स्तम्भ थे।

सम्पूर्ण युद्धकाल में सम्मेलनीय राजनय (Conference Diplomacy) चलता रहा। जनवरी, 1943 में कासाब्लांका (मोर) में चर्चिल रुजवेल्ट और डिगाल का एक सम्मेलन हुआ जिसमें घोषणा की गई कि उत्तरी अफ्रीका पर आक्रमण करने से पूर्व इटली पर आक्रमण करके उसे पराजित कर दिया जाए। अक्टूबर 1943 में मास्को सम्मेलन हुआ

जिसमें पहली बार युद्ध के सम्बन्ध में ऑगल समझौता सम्पन्न किया गया और मित्रराष्ट्रों ने घुरी राष्ट्रों के सम्बन्ध में अपनी नीति की घोषणा की। सम्मेलन में संयुक्तराज्य अमेरिका इंग्लैण्ड और रूस की सरकारों में सामंजस्य स्थापित करने तथा यूरोप की समस्याओं पर विचार करने के लिए लन्दन में यूरोपीय परामर्शदाता आयोग (European Advisory Commission) स्थापित करने का निर्णय लिया गया। इसी सम्मेलन में सुरक्षा और शान्ति कायम रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाने का निश्चय हुआ। यही संगठन बाद में संयुक्त राष्ट्र सघ के रूप में विकसित हुआ। इस समय तक स्टालिनग्राड के युद्ध में नाज़ी हार के कारण सोवियत-जर्मन युद्ध का बहाव सोवियत पक्ष में मुड़ चुका था। अमेरिका ने इस अवसर पर मैत्री-प्रदर्शन और प्रशंसा के राजनय का खुल कर प्रयोग किया था। 8 नवम्बर, 1942 को अमेरिका के लोगों द्वारा स्टालिनग्राड दिवस मनाया गया था। राजधानी में अमेरिकन-सोवियत मित्रता की कॉंग्रेस की समा हुई थी जिसका सभापतित्व जोसेफ डेविज ने किया था जो पहले सोवियत रूस में अमेरिकन राजदूत रह चुके थे। मई 1943 में जब जोसेफ डेविज राष्ट्रपति रूजवेल्ट के विशेष प्रतिनिधि के रूप में मास्को पहुँचा तो उसने शीघ्रता से स्टालिनग्राड की यात्रा करके उसने सोवियत सेनानियों को श्रद्धा-सुमन अर्पित किये।

नवम्बर, 1943 में काहिरा सम्मेलन में रूजवेल्ट चर्चिल और च्यांगकाई शोक ने विचार-विमर्श किया और नवम्बर-दिसम्बर में तेहरान सम्मेलन में चर्चिल रूजवेल्ट तथा स्टालिन ने जर्मन सेनाओं के विनाश की योजनाएँ तैयार कीं। इस सम्मेलन में ऑगल-सोवियत मित्रता के नेताओं ने नाज़ी शासन के पतन को शीघ्र लाने के लिए अपनी नीतियों में सामंजस्य स्थापित कर लिया। जुलाई 1944 में संयुक्त राष्ट्रों का एक सम्मेलन ब्रिटेन युद्ध में हुआ जिसमें 44 राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इसमें पुनर्निर्माण और विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष स्थापित करने का निश्चय किया गया।

21 अगस्त से 7 दिसम्बर 1944 तक संयुक्तराज्य अमेरिका सोवियत रूस ग्रेट ब्रिटेन और चीन के प्रतिनिधियों ने वाशिंगटन के निकट डम्बर्टन ओक्स नामक स्थान में एकत्र होकर एक अन्तर्राष्ट्रीय भावी संगठन—संयुक्त राष्ट्र सघ की रूपरेखा के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया और अनौपचारिक वार्ता की। इस सम्मेलन के निर्णय अन्तिम नहीं थे यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर का बहुत कुछ आधार इसी सम्मेलन में बना।

महायुद्धकालीन अन्तिम महत्वपूर्ण सम्मेलन याल्टा (कृष्ण सागर में क्रीमिया प्रायद्वीप में) नामक स्थान पर फरवरी 1945 में हुआ। इसमें रूजवेल्ट चर्चिल स्टालिन ईडन मोलोटो आदि प्रमुख नेता सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन में सुदूरपूर्व तथा मध्यपूर्व आदि के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विचार-विमर्श किया गया। युद्धकालीन सम्मेलनों में याल्टा का यह सम्मेलन सबसे महत्वपूर्ण था क्योंकि इस सम्मेलन ने जिन समस्याओं को जन्म दिया उनका युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इस सम्मेलन में व्यक्त विचारों ने जहाँ एक तरफ अन्तर्राष्ट्रीय समझौते की आधारशिला रखी वहीं दूसरी तरफ मित्रराष्ट्रों में आपसी मतभेदों को भी जन्म दिया जिसकी घरम सीमा शीतयुद्ध (Cold War) मानी जाती है। याल्टा सम्मेलन के कुछ निर्णय उस समय गुप्त रखे गए और पूरा विवरण 1951 में संयुक्तराज्य अमेरिका के स्टेट डिपार्टमेन्ट ने प्रकाशित किया।

25 अप्रैल 1945 से 25 जून 1945 तक सन फ्रांसिस्को में सयुक्त राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन सयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना से सम्बन्धित था। इस सम्मेलन आरम्भ होने से 13 दिन पहले राष्ट्रपति रूजवेल्ट का स्वर्गवास होने के कारण उनके पराधिकारी ट्रूमैन ने इस सगठन के प्रति अमेरिकी सरकार की प्रतिबद्धता को देहराया।

रूजवेल्ट के निधन के बाद अमेरिकन विदेश नीति और राजनय ने एक नया मोड़ पाया। ट्रूमैन प्रशासन के आरम्भ हो जाने से उग्र संवेद्यत विरोधी नीति का भी आरम्भ हो गया। 7 मई 1945 को जर्मनी द्वारा बिना शर्त आत्मसमर्पण और युद्ध विराम सन्धि पर हस्ताक्षर करने के बाद यूरोप में युद्ध समाप्त हो गया। जुलाई अगस्त में पोटस्डम (बर्लिन) सम्मेलन हुआ जिसमें सयुक्त राज्य अमेरिका, संवेद्यत संघ और ग्रेट ब्रिटेन ने अनेक महत्वपूर्ण निर्णय लिए। पोटस्डम सम्मेलन में यह स्वीकार कर लिया गया कि औपचारिक शर्तों पर हस्ताक्षर इटली, इत्यादि, रूमनिया, हंगरी और फिनलैंड की स्वीकृति प्राप्त करने के लिये आवश्यक है। इन पूर्व शत्रु देशों को सयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता दी गई। विश्वास भी दिलाया गया। स्वेन में फ्रैंको शासन के सम्बन्ध में यह घोषणा की गई कि अन्तिम स्पेनिश सरकार जिसकी स्थापना केन्द्रीय शक्तियों के समर्थन पर की गई थी, पने उद्देश्य, प्रकृति अनिलेखों और आक्रामकता के लिये सहयोग करने के कारण सयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता के योग्य नहीं है। अमेरिका और ब्रिटिश सरकारों ने पोलैंड को नई लोकतन्त्रीय सरकार को स्वीकृति दे दी और लन्दन द्वारा पुरानी पोलैंड की सरकार को भी स्वीकृति दानित ले ली। पोटस्डम सभा में 'रीथ' के प्रशासन पड़ोसी 'स्लाव' देशों से निकाले गए जर्मन अल्पमतों के पुनर्निवास जर्मन युद्ध अपराधियों के मुकदमे और जर्मन सरकार की स्थापना हो जाने पर उससे शक्ति समझौते की महत्वपूर्ण समस्याओं पर भी विचार किया गया है।¹

द्वितीय महायुद्ध के बाद अमेरिकन राजनय

द्वितीय महायुद्ध सयुक्त राज्य अमेरिका के लिए प्रचण्ड रूप में एक वरदान सिद्ध हुआ। यह महायुद्ध ने अमेरिका को एक आज़ादी राष्ट्र से आज़ादाता राष्ट्र का रूप दिया था और द्वितीय महायुद्ध ने अमेरिका को उसके आर्थिक प्रभुत्व से आच्छादित कर दिया। स्पष्ट था कि महायुद्ध में अमेरिका को उस घोर विनाश का सामना नहीं करना पड़ा, जिसका अन्य मित्र और शत्रु राष्ट्रों को करना पड़ा था। जर्मनी, ब्रिटेन, रूस, इटली, फ्रांस आदि सभी राष्ट्र मरकर बमबर्ष के शिकार हुए थे और ब्रिटेन को छेड़कर इन सभी देशों में भूमि पर रक्तस्त्रित युद्ध हुए थे। इसलिए जहाँ युद्धकाल में दूसरे देश आर्थिक और सामरिक दृष्टि से अस्त व्यस्त हो गए, वहाँ अमेरिका की आर्थिक समृद्धि पर कोई आघात नहीं आया। इसलिए उसकी राजनीतिक प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और अब यह सैनिक, राजनीतिक और आर्थिक तीनों ही दृष्टियों से दुनिया की जगत् का नेता बन गया। इन सब बातों ने अमेरिकन राजनय को प्रभावित किया। अमेरिकी नेतृत्व विश्व का राजनयिक तिरमौर बनने की आकांक्षा करने लगा और साम्यवाद के विरुद्ध हर प्रकार से सुदृढ़ मोर्चा स्थापित करने की दिशा में अमेरिकन राजनय प्रवर्धित होने लगा।

जिस लोकतन्त्रवादी जगत् का नेतृत्व पहले दिन ब्रिटेन के हाथों में था वह अब समुक्त राज्य अमेरिका के हाथों में आ गया। प्रत्येक देश उसकी सहायता पाने के लिए लालायित था। 28 अक्टूबर 1945 को अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमेरिकी विदेश नीति के जिन बारह सूत्रों (Points) की घोषणा की उससे यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका अब 'नेतृत्व' से पीछे नहीं हटना चाहता। ये नीति बिन्दु अमेरिका की महत्वाकांक्षा के प्रतीक थे जिनमें अमेरिका मानो यह कह रहा था कि उसने दुनिया को बचाने, सुधारने तथा दुनिया में अपनी सरकार स्थापित करने का ठेका ले लिया है। इन उद्देश्यों में अमेरिका के 'डालर साम्राज्यवाद' की गूँज थी। अमेरिका अब पृथक्तावादी नीति से बिल्कुल हट चुका था अर्थात् अमेरिका ने अब राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक हस्तक्षेप की नीति पर चलना शुरू कर दिया था। उसको चुनौती देने वाला एकमात्र राष्ट्र सोवियत सघ था। अतः अमेरिका के नीति निर्माताओं और प्रशासकों ने यह निश्चय कर लिया कि उनका देश प्रत्येक स्तर पर सोवियत सघ के प्रभाव और साम्यवाद के प्रसार को रोकेंगा। इसे अवरोध नीति (Policy of Containment) की सज़ा दी गई। इसके फलस्वरूप मार्शल योजना का निर्माण हुआ जिस पर अप्रैल 1948 में अमेरिकन कांग्रेस ने स्वीकृति दे दी। 'महाराष्ट्र' के रूप में अमेरिका के इरादे तब और स्पष्ट हो गए जब जनवरी 1949 में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने प्रसिद्ध 'चार सूत्री कार्यक्रम' (Four Point Programme) की घोषणा की। 'चार सूत्री कार्यक्रम' के फलस्वरूप अमेरिकी विदेश नीति और राजनय का कार्य विश्व व्यापी हो गया। अब यह निश्चय किया गया कि जहाँ कहीं शान्ति भंग करने वाली प्रत्यक्ष या परोक्ष आक्रमण की कार्यवाही होगी उसे समुक्त राज्य अमेरिका की सुरक्षा के लिए सकट माना जाएगा और अमेरिका उसे रोकने का पूरा प्रयत्न करेगा।

आर्थिक क्षेत्र में तो अमेरिका ने अपना नेतृत्व स्थापित कर ही लिया। सैनिक क्षेत्र में भी उसने स्वयं को पूरी तरह एक महाराष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए अनेक राजनयिक कदम उठाए। अन्य देशों के साथ सैनिक सन्धियों और पारस्परिक प्रतिरक्षा कार्यक्रम की नीति प्रारम्भ की गई जिसके फलस्वरूप अप्रैल 1948 में नाटो (NATO) की स्थापना हुई। इस सन्धि संगठन द्वारा समुक्त राज्य अमेरिका पश्चिमी यूरोप के साथ सैनिक गठबन्धन में बँध गया। इस सन्धि ने यूरोपियन देशों को एक सुरक्षा आवरण प्रदान किया ताकि वे अपना आर्थिक और सैनिक विकास कार्यक्रम तैयार कर सकें। इस सन्धि द्वारा अमेरिका ने यह दायित्व सम्माल लिया कि वह साम्यवाद विरोधी किसी भी युद्ध के लिए सदैव तैयार रहेगा। नाटो फार्मूला का प्रयोग अन्य क्षेत्रों में भी किया गया। नाटो सदस्यों को सैनिक सहायता दी गई। सदस्य देशों में सैनिक अड्डे स्थापित किये गए तथा विभिन्न देशों के साथ मैत्री सन्धियाँ क्रियान्वित की गईं।

समुक्त राष्ट्रसंघ में भी अमेरिका ने सक्रिय नेतृत्व की भूमिका निभाना आरम्भ कर दिया। यह सुरक्षा परिषद् में रूस विरोधी सदस्यों का अनुवा बन गया और समुक्त राष्ट्रसंघ 'महाराष्ट्रियों' के दाव पेंच का अखाड़ा बन गया। जब 1946 में सुरक्षा परिषद् में यूनान सम्बन्धी विवाद प्रस्तुत हुआ तो अमेरिका और रूस तथा उनके साथी राष्ट्र 'शीत युद्ध' को विश्व सन्ध्या में घसीट लाए। समुक्त राष्ट्रसंघ पर अमेरिका का प्रभाव व्याप्त हो गया और संघ के निरीक्षण में वस्तुतः अमेरिका द्वारा ही यूनान को आर्थिक और सैनिक सहायता दी गई।

इस प्रकार अधिक सैनिक और राजनीतिक सत्ता पर अमेरिका एक महारक्ति के रूप में उभर आया और वह 'मुक्त विश्व' (Free World) का एकछत्र नेता बन गया। महायुद्ध के बाद 'ट्रुमैन युग' (1945-52) और 'आइज़नहावर युग' (1953-60) में संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति और राजनय की मूल धारा सरगर्भित रूप में प्रकट करते हुए डॉ एन पी रॉय ने लिखा है—

'ट्रुमैन सिद्धान्त की घोषणा, मार्शल योजना, आइज़नहावर सिद्धान्त, सैनिक संगठन की नीति आदि के परिणामस्वरूप अमेरिका का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय योगदान बढ़ा। अब इसकी विदेश नीति का संश्लेषण महासागर से जपान को दूर रखना था। द्वितीय महायुद्ध में शामिल होकर अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की तरंगों में ऐसा चलझा जैसा वह पहले कभी नहीं चलझा था और एक बार उसने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नया लेना शुरू किया तब से आज तक उसने पीछे मुड़कर नहीं देखा है। द्वितीय महायुद्ध के बाद के प्रथम विदेश सचिव जेम्स बेयन्स (James Byrnes) ने ठीक ही कहा था कि "जिस हद तक हम सम्पूर्ण विश्व में फैल गए हैं उसे पीछे ही लोग समझ सकते हैं।" 1940 से 1960 तक के दो दशकों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अद्भुत परिवर्तन देखे। यूरोपीय राज्य व्यवस्था इस दौरान सम्पन्न हो गई और इसका स्थान दो महाशक्तियों ने ले लिया। इनके द्वारा नेतृत्व ने विश्व को दो धुरों में बाँट दिया जिनका नेतृत्व क्रमशः संवैधान्तिक संसद और संयुक्त राज्य अमेरिका कर रहे थे। महायुद्ध के बाद के काल में अमेरिका विश्व का सर्वोच्च शक्तिशाली राज्य बना। यह वास्तव में एक विश्व शक्ति था जो विश्व राजनीति, आर्थिक स्थिति और सैनिक शक्ति को प्रभावित किये हुए था। हार्बर्ट विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डेनियल पैरिगिन के शब्दों में महायुद्ध के तुरन्त बाद का समय 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अमेरिकी काल' था। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका एक महारक्ति के रूप में उभरा। ग्रेट ब्रिटेन व फ्रांस तीसरे स्थान के राष्ट्र रह गए। जर्मनी, इटली व जपान का कोई महत्व नहीं था। रूस जो स्वयं एक महारक्ति के रूप में उभरा था, पूर्वी यूरोप पर छा गया। इसी के साथ अमेरिका दो मूल सिद्धान्तों से बँध गया। ये थे सम्प्रदाय का विरोध और राष्ट्रीय सुरक्षा। संयुक्त राज्य अमेरिका की सम्पूर्ण राजनयिक रणनीति सम्प्रदाय के बढ़ते प्रभाव को रोकने (Containment of Communism) में लगी गई जिसका परिणाम निकला—शीतयुद्ध। रूसी सम्प्रदाय ने संयुक्त राज्य अमेरिका को बाध्य किया कि वह अपनी डेढ़ सौ वर्षों की संसद पद्धति परम्परा को, जिससे वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से अलग था, खड़ा करे। सन्धियों की उसने एक शृंखला ही स्थापित कर दी और वह सन्धियों में फैलता चलझा चला गया। अब ये सन्धियाँ उसकी शक्ति का संकेत बन गईं। इनके परिणामस्वरूप अमेरिका ने विश्वव्यापी सैनिक अड्डे स्थापित कर लिए। अब अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध महाशक्तियों के सम्बन्ध से प्रभावित थे। दो मार्गों में बँटा विश्वयुद्ध की छाया में रह रहा था। सम्प्रदाय का विरोध तथा राष्ट्रीय सुरक्षा इसकी राजनयिक गतिविधियों के मूल आधार बन गए। मार्शल योजना, ट्रुमैन सिद्धान्त आदि युक्तियाँ इसी आधार पर निर्मित की गई थीं। एक समय था जब सम्प्रदाय-विरोधी हर देश उनका मित्र था तथा अलेक्जेंडर के मतानुसार जो उनके साथ नहीं था वह उनका शत्रु था।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् जहाँ समुत्तराज्य अमेरिका अपने अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव को बढ़ाने के लिए सन्धि संगठनों का निर्माण कर रहा था वहीं दूसरी ओर वह अणु युद्ध के भयावह परिणामों के आधार पर सन्धिपूर्ण सह अस्तित्व (Peaceful Co existence) का भी समर्थक बन गया था। इससे दोनों महाशक्तियों के मध्य सन्धिपूर्ण प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हुई। अमेरिका ने यह भी अनुभव किया कि विश्व सन्धि को बनाए रखने के लिए रूसी सम्मान और प्रतिष्ठा को बिना आपात पहुँचाए रूसी पक्ष के समक्ष प्रस्तावों को लचीला रखना आवश्यक है। केनेडी बाल (1960-63) में अमेरिका में सुलह और समझौते की नीति का सूत्रपात हुआ। केनेडी युग की अमेरिकी विदेश नीति और राजनय के मुख्य बिन्दु ये थे—। समझौतों और वार्ताओं द्वारा पूर्व और पश्चिम के मतभेदों को कम दिया जाए पर साथ ही साम्यवादी छतरे के विरुद्ध साहस और दृढ़ता की नीति अपनाई जाए। 2 विश्व में साम्यवाद के अतिरिक्त गरीबी और अन्य सामाजिक समस्याएँ भी शत्रु हैं। अमेरिका को साम्यवाद का मुकाबला करने के साथ साथ विश्व के आर्थिक और सांस्कृतिक सीमा प्रदेशों की ओर भी ध्यान देना चाहिए। 3 विश्व में डॉलर के मूल्य को सुरक्षित रखा जाए डॉलर की साख में कमी न होने दी जाए। 4 ऐसे प्रयत्न बार बार किए जाएँ कि महाशक्तियाँ एक दूसरे के निकट आएँ तथा एक दूसरे को समझें। 5 दोनों गुटों के बीच विचारों के स्पष्ट आदान प्रदान द्वारा शकटों को मिटाया जाए। 6 साम्यवाद को सीमित करने के लिए पूरे विश्व को यहाँ तक कि लीह दीवार के पीछे के प्रदेशों को भी राजनीतिक एवं आर्थिक गतिविधियों का क्षेत्र बना लिया जाए तथा 7 यथा साध्य सह अस्तित्व पर बल दिया जाए।

जॉनसन शासनकाल (1964-68) में अमेरिकी राजनय की छवि धूमिल हुई। जॉनसन शासनकाल में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति अपनाए गए दृष्टिकोण के कारण न सिर्फ अमेरिका को काफी हाँसी हुई बल्कि उसे अपनी लोकप्रियता से भी हाथ धोना पड़ा। बाद में इस तथ्य को स्वयं जॉनसन ने भी स्वीकार किया।

निक्सन का कार्यकाल (1969-1974) अमेरिका के इतिहास में क्रान्तिकारी माना जाएगा क्योंकि उन्होंने साम्यवादी जगत् में अमेरिका की विदेश नीति और कूटनीति को एक नई दिशा प्रदान की। निक्सनकाल में चीन के विरुद्ध अपने पूर्वग्रहों को छोड़कर उसके साथ अपने सम्बन्धों को मैत्रीपूर्ण बनाकर अमेरिका ने अपने राजनय को एक नया मोड़ दिया। सुदीर्घकाल से चला आ रहा वियतनाम युद्ध उन्हीं के कार्यकाल में समाप्त हुआ और साँविद्यत संधि के साथ निःशस्त्रीकरण वार्ताओं में काफी प्रगति हुई। पूँजीवादी और साम्यवादी जगत् में 'सह अस्तित्व' की सम्भावनाओं को जितना अधिक बल निक्सन के कार्यकाल में मिला उतना पहले कभी नहीं मिला था।

फोर्ड का शासनकाल (1974-76) विदेश नीति और राजनय की दृष्टि से सामान्य रहा। रूस के साथ कन्दम चुपार के प्रयत्न चालू रहे भारत विरोध में फोर्ड प्रशासन एक कदम आगे बढ़ गया यात्रा राजनय चलता रहा और विदेशमन्त्री किंसिजर चीन की यात्रा पर गए और राष्ट्रपति फोर्ड ने जापान की यात्रा की। अमेरिकी राजनय और विदेश नीति का यह एक खेदजनक पहलू रहा है कि उसने विश्व के राष्ट्रीय आन्दोलनों और मुख्य राष्ट्रों को कभी खुले दिल से समर्थन नहीं दिया है। फोर्ड भी इसी नीति पर चले। अमेरिका रोडेशिया और दक्षिण आफ्रीका की रणभेद समर्थक सरकारों का पक्ष लेता रहा। २0 अक्टूबर

1974 को सयुक्त राष्ट्र सभ से दक्षिणी अफ्रीका को निष्क्रिय करने के प्रस्ताव पर अमेरिका ने वीटो का प्रयोग किया।

कार्टर युग (1977-1980) ने अमेरिका विदेश नीति और राजनय के क्षेत्र में स्तुति योग्य उपलब्धियाँ हासिल नहीं कर सका। यह अदृश्य हुआ कि परिघटन एशिया और दक्षिण-पश्चिम के प्रति अमेरिका ने पहले की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया। उप-राष्ट्रपति वाल्टर मोडेल ने बेल्टिजमन परिघटन जर्मनी, इटली, ब्रिटेन, फ्रांस और जपान की यात्रा में इन देशों से पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में राजनयिक वार्ताएँ कीं। साथ ही यूरोपीय आर्थिक समुदाय और नटो के साथ सम्बन्धों का ज़्यादा ज़ोर दिया। इन्होंने इटली की ज़रूरत व्यक्त की। परिघटन जर्मनी के नेताओं से द्विपक्षीय और बहुपक्षीय व्यावहारिक समझौतों पर वार्ताएँ कीं। फ्रांस की परमाणु जानकारी देने के बारे में विशेष दिवस हुआ। कार्टर प्रशासन चीन के साथ सम्बन्ध सुधार के लिए प्रयत्नशील रहा और भारत के साथ उसके सम्बन्ध सन्तुष्ट बने रहे। अगस्त, 1977 में विदेश-मंत्री स्टाइस देन्हा ने चीन की यात्रा की किन्तु टाइवान सम्बन्धी मतभेद के कारण अन्तर्राष्ट्रीय तथा द्विपक्षीय सहयोग के विभिन्न मुद्दों पर मतभेद नहीं हो सका। अमेरिका टाइवान से सम्बन्ध तोड़ने को तैयार नहीं हुआ और चीन के विरोधी रवैये के कारण कार्टर ने यहाँ एक बड़ा झटका दिया कि चीन को पूर्ण मान्यता देने में अभी दबाव लगेगा। देन्हा की यात्रा की सन्धि पर कोई सयुक्त विज्ञप्ति प्रसारित नहीं की गई और न ही ऐसा बयान दिया देने लगा कि दोनों पक्ष अन्ततः टाइवान पर समझौता कर लेंगे। देन्हा के बाद कार्टर के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार ब्रिजिस्की ने पोलैंड की यात्रा की। चीन के प्रति नीति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन करते हुए कार्टर ने चीन को विभिन्न किस्मों के हथियारों तथा विद्युत आणविक उपकरणों के निर्यात पर लगे प्रतिबन्धों में ढील देने का निर्णय किया। कार्टर प्रशासन, बादशूद साम्यिक उत्तर-पश्चिम और सैन्यवादों के संवेद्यत सभ के साथ अपने देश के उत्तरोत्तर सम्बन्ध सुधार के लिए सचेत रहा। कार्टर ने अपने कार्यकाल के कुछ ही महीनों में रूस-अमेरिका सम्बन्धों का समीकरण बदल दिया। जब तक संवेद्यत सभ यह मानकर चल रहा था कि वह परमाणु क्षत्रों से अग्रता प्राप्त कर लेगा और अपने देशों के असन्तुष्टों का अमेरिका ही प्रसन्नता के बिना दमन कर सकेगा। उसे आशा थी कि इस सबके बादशूद अमेरिका के आर्थिक सहयोग से सम्बन्धित होगा। कार्टर ने यह स्पष्ट कर दिया कि परमाणु क्षत्रों के बारे में वह संवेद्यत सभ नहीं चाहता और अमेरिका से आर्थिक सहयोग स्थगित रखने के लिए संवेद्यत सभ को घर में और बाहर अपना आचरण बदलना होगा। कार्टर की इस नीति ने संवेद्यत सभ को दुविधा में डाल दिया। निःशस्त्रीकरण पर कुछ सैद्धांतिक सहमतियों के बादशूद दोनों पक्षों में गम्भीर मतभेद बने रहे। अन्त में सन् 1979 में सन्धि-2 समझौता हो गया, जिसे राजनीतिक क्षेत्र में अस्त्र-परिस्तिन्न की दिशा में एक सीमित पर महत्वपूर्ण सन्धि माना गया। अफगानिस्तान में संवेद्यत हस्तक्षेप को लेकर रूस-अमेरिका के बीच चुनौती सम्बन्धों में कुछ तनाव आ गया। तथापि उनमें इन्हीं स्थिति से दोनों ही महारजियाँ बचने का प्रयत्न करती रहीं, जिसने कोई सशस्त्र टकराव हो जाए।

20 जनवरी 1981 को अमेरिका के 40 वें राष्ट्रपति के रूप में शपथ लेते हुए रोनाल्ड रीगन ने कहा था— 'हम अपनी मित्रता उनकी सार्वभौमिकता पर नहीं थोपेंगे क्योंकि हमारी अपनी सार्वभौमिकता बिक्री के लिए नहीं है। रीगन ने अमेरिका के प्रतिद्वन्द्वियों को कहा— 'शान्ति में उनका यकीन है। शान्ति स्थापना के लिए वह बातचीत कर सकते हैं बलिदान कर सकते हैं लेकिन आत्मसमर्पण कभी नहीं करेंगे। रोनाल्ड रीगन की विदेशनीति और कूटनीति प्रारम्भ से ही कटु और कठोर रही। रीगन के राजनय का मुख्य लक्ष्य यह रहा है कि अमेरिका के प्रभाव क्षेत्र का विस्तार किया जाए पश्चिमी यूरोप को हर मामले में अमेरिका के प्रभाव क्षेत्र का विस्तार किया जाए पश्चिमी यूरोप को हर मामले में नीचा दिखाया जाए। रीगन ने न्यूट्रान बम्ब के निर्माण का फैसला किया जिससे समूचा विश्व स्तब्ध रह गया। वास्तव में शस्त्रीकरण के राजनय का हर दृष्टि से रीगन ने बहुत ही कुशल उपयोग किया। नवम्बर 1981 के अपने भाषण में राष्ट्रपति रीगन ने सोवियत नेता ब्रेझ्नेव को अपनी घार सूत्री निशस्त्रीकरण योजना मेजने का उल्लेख किया। अमेरिका की 'शस्त्रीकरण की नीति' के प्रति यूरोप में जो असन्तोष बढ रहा था उसे शान्त करने के लिए रीगन ने यह भाषण देने की कूटनीति अपनाई थी। अरब इजराइल के बीच कुछ बातों पर सहमति का वातावरण तैयार करने के प्रयत्नों में अमेरिकी राजनय का मुख्य लक्ष्य यह रहा है कि सोवियत सघ वहाँ किसी भी तरह का हस्तक्षेप न कर सके। सितम्बर 1983 में रूस द्वारा अपने सीमा क्षेत्र में दक्षिणी कोरियाई यात्री विमान को गिराए जाने पर रीगन प्रशासन ने रूस को नीचा दिखाने और उसकी निन्दा करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। प्रधार के कूटनय का पूरा सहारा लिया गया और शीत युद्ध का दौर इस तरह पुनः शुरू किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक वातावरण अमेरिका के पक्ष में हो गया। अमेरिका ने विमानकाण्ड को इस प्रकार लिया मानो उस पर ही सीधा हमला किया गया हो। यात्रा राजनय और शिखर राजनय का मार्ग अपनाते हुए अप्रैल 1984 के अन्त में राष्ट्रपति रीगन ने पीकिंग की यात्रा की। पाकिस्तान को अपने पक्ष में रखने के लिए रीगन प्रशासन ने सहायता राजनय (Aid Diplomacy) को पूरी तरह अपनाया है। रीगन प्रशासन की विदेश नीति और राजनयिक गतिविधियाँ इस उप महाद्वीप में भारत विरोधी रही हैं। सैनिक सहायता कार्यक्रम अमेरिका की विदेश नीति और राजनय का प्रारम्भ से ही अस्त्र रहा है तथापि रीगन के कार्यालय में इसे बेहद प्रोत्साहन मिला है। रीगन प्रशासन की कूटनीति हर क्षेत्र में तनाव और अस्थिरता पैदा करने की है।

अपने शासन के अंतिम वर्षों में रीगन ने सोवियत सघ के साथ सबंध सुधारने की दिशा में सकारात्मक प्रयत्न किये। सोवियत सघ और समुक्त राज्य अमेरिका के साथ परमाणु हथियारों के परिसीमन की दिशा में अनेक वार्ताओं के दौर चले। इतना ही नहीं नवम्बर 1985 में जेनेवा और अक्टूबर 1986 में आइसलैण्ड की राजधानी राइकजाविक में रीगन और गोर्बाचोव के बीच शिखर सम्मेलन आयोजित हुए। इससे दोनों देशों के बीच सबंधों में सुधार हुआ। शीतयुद्ध में कमी आई।

राष्ट्रपति रीगन ने चीन के साथ मित्रतापूर्ण सबंधों का विस्तार किया। सन् 1984 ई. में उन्होंने चीन की यात्रा की। दोनों देशों के बीच अनेक समझौतों पर हस्ताक्षर किये गये।

रीगन प्रशासन ने एशिया में पाकिस्तान की महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करते हुए उसे भारी मात्रा में सैनिक सहायता प्रदान की। इस सैनिक सहायता में एफ 16 लड़ाकू विमान और अवाक्स विमान जैसे सक्षम विमान भी शामिल थे। इस अमेरिकी सहायता का भारत ने घोर विरोध किया और इसे अमैत्रीपूर्ण कार्यवाही माना।

रीगन के कार्यकाल में संयुक्त राज्य अमेरिका ने विश्व में स्थित अपने सैनिक अड्डों और विशेषकर हिन्द महासागर में स्थित डियागोगार्सिया के सैनिक अड्डे का विस्तार किया। इस काल में उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन को भी सुदृढ़ किया। पश्चिमी यूरोपीय देशों और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच संबंध अच्छे रहे। ग्रेट-ब्रिटेन संयुक्त राज्य अमेरिका के सबसे बड़े मित्र के रूप में उभरा।

पश्चिमी एशिया में संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपनी परम्परागत इजरायल समर्थक नीति को जारी रखा। श्री यासिर अराफात के नेतृत्व वाले फिलिस्तीनी मुक्ति मोर्चे को अमेरिका द्वारा मान्यता नहीं दी गई।

मध्य अमेरिका और दक्षिणी अमेरिका पर संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपने वर्धस्व की नीति को बरकरार रखा। रीगन प्रशासन ने निकारागुआ के कोंद्रा विद्रोहियों को भारी मात्रा में सैनिक और आर्थिक सहायता प्रदान की।

सुदूर पूर्व में राष्ट्रपति रीगन ने जापान और दक्षिणी कोरिया के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध बनाये रखने की नीति को कायम रखा।

संयुक्त राज्य अमेरिका ने विकासशील देशों को आर्थिक सहायता देने के राजनय को जारी रखा लेकिन इसके मूल में इन देशों की अर्थ-व्यवस्था पर वर्धस्व कायम करना था।

रीगन के कार्यकाल में संयुक्त राज्य अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्र सच के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया। यूनेस्को की सदस्यता छोड़ना फिलिस्तीनी नेता यासिर अराफात को संयुक्तराष्ट्र की महासभा को संबोधित करने के लिए 'बीसा' नहीं देना और संयुक्त-राष्ट्र सच के खर्च के लिए धनराशि देने में आनाकानी करने जैसी घटनाओं के सदर्म में यह कहा जा सकता है कि रीगन प्रशासन का संयुक्त-राष्ट्र सच के प्रति रवैया विरोधी रहा।

असलग्न आन्दोलन के प्रति भी रीगन-प्रशासन का दृष्टिकोण अच्छा नहीं रहा। उसकी यह धारणा थी कि असलग्न राष्ट्र सोवियत सच के पिछलग्गू हैं और वे संयुक्त राज्य अमेरिका के विरोधी हैं।

संयुक्त विरलेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रीगन के कार्यकाल में अमेरिकी राजनय सैनिक उद्देश्यों की प्राप्ति में लगा रहा। संयुक्त राज्य अमेरिका का रक्षा-व्यय भी बहुत बढ़ गया। फिर भी सोवियत सच के साथ तनाव शैथिल्य की प्रक्रिया के कारण शीतयुद्ध में कमी आई।

रीगन के पश्चात् जार्ज बुश ने देश के 41 वें राष्ट्रपति के रूप में रापथ ली। उनके कार्यकाल में संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति और राजनय की कतिपय विशेषताओं को निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है।

प्रथम संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत सच के बीच तनाव-शैथिल्य की प्रक्रिया जारी रही। सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाचोव और राष्ट्रपति जार्ज बुश के बीच वार्ताओं

के ओक क्रम चलते रहे। सन् 1991 में मैड्रिड में पश्चिमी एशिया की समस्या के समाधान के लिए आयोजित सम्मेलन में दोनों नेताओं ने भाग लिया। परमाणु हथियारों के परित्याग के लिए भी दोनों देशों के बीच विभिन्न समझौते संपन्न हुए। राष्ट्रपति जार्ज बुश ने सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाचोव को अपना समर्थन दिया। अगस्त 1991 में जब राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाचोव का तख्ता पलट दिया गया तो समुक्त राज्य अमेरिका ने इसकी कड़ी आलोचना की। सोवियत राष्ट्रपति की पुनः सत्ता में वापसी में समुक्त राज्य अमेरिका का महत्वपूर्ण हाथ रहा।

द्वितीय पश्चिमी एशिया में समुक्त राज्य अमेरिका का वर्चस्व कायम रहा। सन् 1991 के खाड़ी युद्ध में समुक्त राज्य अमेरिका की विजय ने इस क्षेत्र में उसकी स्थिति को अत्यन्त सुदृढ़ बना दिया। समुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में 28 देशों की बहुराष्ट्रीय सेनाओं ने इराक से कुवैत को स्वतंत्र कराके के छदेरम से प्रभावशाली सैनिक कार्यवाही की। अमेरिकी विमानों ने इराक पर भीषणतम आक्रमण किये। परिणामस्वरूप इराक को पराजय का सामना करना पड़ा। कुवैत को स्वतंत्र करा लिया गया। खाड़ी युद्ध में समुक्त राज्य अमेरिका की विजय ने विश्व राजनीति का स्वरूप ही बदल दिया।

तृतीय अरब इजरायल समस्या के समाधान की दिशा में भी समुक्त राज्य अमेरिका ने गंभीरता से प्रयास किये। विदेशमन्त्री जेम्स बेकर ने इस समस्या का समाधान करने के लिए अथक प्रयास किये। यह उनके अथक प्रयासों का ही परिणाम था कि मैड्रिड में इजरायलियों और अरबों के बीच प्रत्यक्ष वार्ता सम्भव हो सकी। दोनों ही पक्षों के बीच खुलकर वार्ताएं हुईं और इससे मतभेदों को कम करने में सहायता मिली।

चतुर्थ समुक्त राज्य अमेरिका ने पश्चिमी यूरोप के एकीकरण की दिशा में अपनी भूमिका का निर्वाह किया। जर्मनी के एकीकरण के बाद की प्रक्रिया में भी जार्ज बुश की महत्वपूर्ण भूमिका रही।

पंचम समुक्त राज्य अमेरिका ने विवादास्पद देशों को आर्थिक सहायता देते समय मानव अधिकारों को भी एक मुद्दा बनाया। मानवाधिकारों का हनन करने वाले देशों को आर्थिक सहायता रोक दी गई।

षष्ठम दिसम्बर 1991 ई. में सोवियत संघ के विघटन के पश्चात् समुक्त राज्य अमेरिका ही विश्व की एकमात्र महाशक्ति रह गया है। इससे विश्व में शीतयुद्ध का युग समाप्त हो गया। स्वयं राष्ट्रपति जार्ज बुश ने गर्वोक्ति से कहा कि हम इस युद्ध में विजयी रहे। निस्संदेह वर्तमान में सम्पूर्ण विश्व पर समुक्त राज्य अमेरिका की घीघराहट कायम हो गई है।

सप्तम जार्ज बुश के नेतृत्व में समुक्त राज्य अमेरिका ने समुक्त राष्ट्र संघ के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण अपनाते हुए इसे सही समय सहयोग दिया। इसके नये महासचिव बवरास घाली के निर्वाचन में भी समुक्त राज्य अमेरिका की अहम् भूमिका रही।

अष्टम चीन और समुक्त राज्य अमेरिका के बीच भी संबंधों में उत्तरोत्तर सुधार आता गया।

नवम, जार्ज बुश ने भूतपूर्व सोवियत संघ से अलग हुए तीनों बाल्टिक गणराज्यों लैटविया, लिथुआनिया और इस्तोनिया को तुरन्त राजनयिक मान्यता देने का निर्णय लिया।

इनके अलावा संविद्यत संधि से अलग हुए अन्य 12 गणराज्यों को भी संयुक्त राज्य अमेरिका ने मान्यता दे दी। इतना ही नहीं रूसी राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन के नेतृत्व में गठित 11 गणराज्यों के राष्ट्रमंडल को भी जार्ज बुश का पूर्ण समर्थन प्राप्त है।

उपरोक्त विरलेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अमेरिकी राजनय के विविध स्वरूप रहे हैं और उस पर अनेक तत्वों का प्रभाव रहा है। इस विवेचन का निम्नलिखित रूप से अध्ययन किया जा सकता है।

प्रथम तनाव शैथिल्य (Detente) और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का राजनय अमेरिकी राजनय की एक प्रमुख विशेषता रहा है।

द्वितीय, रिखर सम्मेलनीय राजनय का प्रयोग भी अमेरिकी राजनय की एक अन्य विशेषता रही है। फ्रैंकलिन रूजवेल्ट से लेकर जार्ज बुश तक सभी राष्ट्रपतियों ने इस राजनय को अपनाया है।

तृतीय संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा अपने राजनय में प्रचार मध्यमों का खुलकर सहारा लिया गया है। पत्र पत्रिकाओं, पुस्तकों और रेडियो प्रसारण द्वारा अपने पक्ष का प्रचार किया जाता है।

चतुर्थ सहायता के राजनय के मध्यम से भी संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा अपने पक्ष में वक्तव्य तैयार किया जाता रहा है और सहायता प्राप्त करने वाले देशों की विदेशनीति को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया जाता रहा है। सहायता के राजनय को दबाव के राजनय के रूप में अपनाया जाता रहा है।

पंचम, खाद्य के राजनय के मध्यम से भी अमेरिका ने अन्य देशों की विदेशनीति को प्रभावित किया है।

षष्ठम, अमेरिकी राजनय पर जनमत का भी प्रभाव रहा है।

सप्तम, यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका प्रजातांत्रिक राजनय का दावा करता है लेकिन व्यवहार में उसकी नीतियाँ तानाशाही और राजतन्त्रात्मक शक्तियों को सम्पूर्ण देने की रही हैं।

अष्टम, अमेरिकी राजनय में उसकी गुप्तचर सत्था सी आई ए (Central Intelligence Agency) की भी अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस सत्था ने न केवल जاسूसी के कार्य का ही निर्देश किया है अपितु उस पर यह भी आरोप रहा है कि उसने राज्यों से अस्थिरता उत्पन्न करने के लिए उन राजनेत्रों को भी अपने मार्ग से हटाना है जो अपने देशों का सन्तुष्टा के साथ नेतृत्व कर रहे थे। अतः इस सत्था पर अविश्वसनीय और हत्याओं की राजनीति के आरोप भी लगाये जाते रहे हैं।

नवम, संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा युद्धपोत राजनय (War Boat Diplomacy) का भी सहारा लिया जाता रहा है।

दशम, मूलपूर्व अमेरिकी विदेशमंत्री ठा हेनरी क्लिंग्विज द्वारा अपनाये गये राजनय को 'शटल राजनय' की संज्ञा दी जाती है।

यद्यपि, राजनय के आरम्भिक काल में लूट प्रथा (Spoil system) के कारण प्रेरित राजदूतों की नियुक्ति नहीं होती थी, लेकिन अब दुश्मल और प्रेरित राजनयिक प्रतिनिधियों

द्वारा ही इस कार्य का निर्वाह किया जाता है। सुप्रसिद्ध और प्रतिष्ठित व्यक्तियों की भी इस पद पर नियुक्ति की जाती रही है।

सोवियत संघ का राजनय

(Diplomacy of Soviet Union)

सन् 1917 में लेनिन के नेतृत्व में सोवियत संघ में साम्यवादी क्रान्ति सफल हुई। पूँजीवादी देशों द्वारा इस क्रान्ति को असफल बनाने के लिए सभी सम्व प्रयत्न किये गए।

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक सोवियत राजनय द्वितीय महायुद्ध के पूर्व का सोवियत राजनय निम्नलिखित अवस्थाओं में से होकर गुजरा

प्रथम अवस्था (1917-1921) शासन के इन प्रारम्भिक चार वर्षों में सोवियत शासकों का मुख्य लक्ष्य देश में साम्यवादी शासन को सुदृढ़ करना तथा विश्व में साम्यवादी क्रान्ति का प्रचार प्रसार करना था। मार्च 1919 में मास्को में एक अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी सम्मेलन आयोजित हुआ जिसमें विश्व में साम्यवादी क्रान्ति का प्रचार करने के लिए सोवियत संघ की सहायता से एत्रीय अन्तर्राष्ट्रीय या कमिटी (Comintern) का निर्माण किया गया। सन् 1921 ई. तक सोवियत विदेशनीति और कूटनीति का मुख्य उद्देश्य साम्यवादी क्रान्ति का प्रचार करने के लिए विश्व के क्रान्तिकारियों और विद्रोहियों को सहायता करना था।

नवीन साम्यवादी रुस ने सभी विदेशी शक्तों को चुकाने से इन्कार कर दिया। इससे साम्यवादी सरकार के अतिरिक्त विदेशी पूँजी से स्थापित औद्योगिक संस्थानों का राष्ट्रीयकरण सब प्लाइन्ट स्टॉक कंपनियों का राष्ट्रीयकरण विदेशी व्यापार पर राज्य का एकाधिपत्य स्थापित करना तथा व्यापारिक जहाजों का राष्ट्रीयकरण आदि ऐसे कार्य किये गए जिनसे परिणाम से रुस के सम्बन्ध बहुत कटु एवं शत्रुतापूर्ण हो गए।

पारघात्य राष्ट्री द्वारा रुस के गृह युद्ध में बोल्शेविक विरोधी दलों की युद्ध सामग्री की सहायता और सैनिक हस्तक्षेप तथा रुस के आर्थिक प्रतिरोध की नीति थी। साम्यवादियों की कार्यवाही से क्रोधित होकर मित्रराष्ट्रों ने रुस की सोवियत सरकार को मान्यता देने से इन्कार कर दिया। इन राष्ट्रों की सक्रिय सहायता पाकर प्रतिक्रियावादियों ने कई जगह स्वतः सरकारें कायम कर लीं। मित्रराष्ट्र क्रान्तिकारियों को केवल भड़काकर ही सन्तुष्ट नहीं हुए अपितु सोवियत संघ का अन्त करने के लिए उन्होंने स्वयं उस पर धावा बोल दिया। फिर भी रुस पर आक्रमण करने के लिए कोई न कोई बहाना होना चाहिए था और मित्रराष्ट्रों ने धावा बोलने से पहले ऐसा बहाना खोज निकाला। उस समय आर्जेन्टिना तथा मुरमीस में युद्ध सामग्री प्रचुर मात्रा में पड़ी थी। मित्र राष्ट्रों को भय था कि यह विशाल युद्ध सामग्री कहीं जर्मनी के हाथ न लग जाए। अतः इस सामग्री को जर्मनी से बचाने का बहाना लेकर मित्रराष्ट्रों ने रुस पर विधिवत् आक्रमण कर दिया। इन राष्ट्रों में संयुक्त राज्य अमेरिका ग्रेट ब्रिटेन फ्रांस जापान जर्मनी ऑस्ट्रिया हंगरी चेकोस्लोवाकिया रूमानिया सर्बिया ग्रीस टर्की फिनलैण्ड पोलैण्ड तथा राष्ट्रवादी चीन प्रमुख थे। इस शोषणीय स्थिति में रुस की रक्षा करने के लिए ट्राट्स्की के नेतृत्व में लाल सेना युद्ध क्षेत्र में कूद पड़ी।

अन्त में बोल्शेविकों की विजय हुई। मित्र राष्ट्रों की सहायता मिलने के बावजूद क्रान्ति विरोधी प्रतिक्रियावादी अधिक दिनों तक मैदान में नहीं टिक सके। बोल्शेविकों ने

बहुत क्रूरता के साथ उनका दमन कर दिया। अक्टूबर 1920 में युद्ध समाप्त हो गया और 1921 तक रूस में सर्वत्र बोल्शेविक शासन सुदृढ़ हो गया। मित्रराष्ट्रों द्वारा क्रान्ति को कुचलने के सैनिक प्रयत्नों तथा आर्थिक प्रतिरोध ने रूस को उनका कट्टर विरोधी तथा अविश्वासी बना दिया।

सोवियत रूस और पश्चिमी राष्ट्रों की इस पहली रस्सा-कशी में दोनों पक्ष बराबर रहे। न तो रूसी साम्यवादी विश्व-क्रान्ति के अपने स्वप्न को साकार करने में सफल हुए और न ही पश्चिमी राज्य साम्यवादी रूस को नष्ट कर पाए। इस तरह पूँजीवादी और साम्यवादी शक्तियों का प्रथम सघर्ष अनिर्णीत अवस्था में समाप्त हुआ।

द्वितीय अवस्था (1921-1934) रक्षात्मक पार्ष्वक्य (Defensive Isolation) की थी। इस काल में रूस ने आत्मरक्षा की दृष्टि से विभिन्न शक्तियों के साथ सन्धियाँ सम्पन्न कीं। उनसे व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाए और दूसरे देशों में साम्यवादी प्रचार करना कम कर दिया। इस अवस्था में वह पश्चिमी देशों की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से अलग रहा और उसने राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी ग्रहण नहीं की। इस अवधि में यद्यपि रूस ने पूँजीवादी राज्यों से समझौता करने की नीति का अनुसरण किया, परन्तु कोमिन्टर्न द्वारा अन्य देशों में साम्यवादी क्रान्ति फैलाने के कारण पश्चिमी राज्य रूस को अविश्वास व सन्देह की दृष्टि से देखते रहे। इसलिए संयुक्त राज्य अमेरिका 1933 से पूर्व रूसको वैधानिक मान्यता प्रदान करने के लिए तैयार नहीं हुआ। किन्तु उसकी अधिक समय तक उपेक्षा करना सम्भव न था। रूस अब कोई सामान्य शक्ति नहीं रह गया था। वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर एक महान् शक्ति के रूप में उदित हो चुका था। अतः जब रूजवेल्ट अमेरिका का राष्ट्रपति बना तो उसने सोवियत संघ को मान्यता प्रदान करने की दिशा में प्रयत्न शुरू किए। लन्दन में विश्व-अर्थ-सम्मेलन (1933) के अवसर पर सर्वप्रथम अमेरिकी प्रतिनिधि विलियम बुलिट और रूसी प्रतिनिधि लिटविनोव की भेंट हुई। इसके बाद दोनों में एक सन्धि सम्पन्न हुई जिसके द्वारा दोनों सरकारों ने एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता की सुरक्षा और विरोधी प्रचार करने वाले दलों के दमन का वचन दिया। रूस ने अमेरिका की यह बात मान ली कि वह अपने देश में आने वाले अमेरिकी यात्रियों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करेगा। इस सन्धि का यह अनिवार्य परिणाम हुआ कि रूस की साम्यवादी सरकार को सत्सार की महान् शक्तियों ने स्वीकार कर लिया।

तीसरी अवस्था (1934-1938) : इस काल में रूस राष्ट्रसंघ का सदस्य बना और साथ ही उसने पश्चिम के साथ सहयोग करने की नीति अपनाई। राष्ट्रसंघ में प्रवेश के बाद मई, 1933 में रूस ने अपने पिछले सभी मतभेदों एवं झगड़ों को भुलाते हुए फ्रांस के साथ पारस्परिक सहायता का 1894 जैसा सैनिक समझौता किया। इसके बाद पोलैण्ड तथा बाल्टिक राज्यों के साथ भी मास्को ने अनाक्रमण समझौते किए और टर्की तथा ग्रेट ब्रिटेन से घनिष्ठता स्थापित की। 16 मई, 1935 को चेकोस्लोवाकिया के साथ भी उसकी सन्धि हुई। इस तरह रूस ने फ्रांस एवं चेकोस्लोवाकिया के सहयोग से नाजी आक्रमण के विरुद्ध सगठन सुदृढ़ किया। मार्च 1936 में बाह्य मंगोलिया के साथ एक पारस्परिक सहायता-सन्धि की गई जिसका उद्देश्य आन्तरिक मंगोलिया में जापान के प्रवेश को रोकना था। इस समय तक रूस वस्तुतः एक विशाल शक्ति-सम्पन्न देश बन चुका था।

इन सभी समझौतों और सन्धियों से रूस की स्थिति पर्याप्त सुदृढ़ हो गई। इस समय तक साम्यवादी कूटनीति ने एक और भी नया क्रान्तिकारी मोड़ लिया। देश तथा विदेश दोनों में 1934-35 में कोमिन्टर्न में यकायक एक सवाल उठा। विश्व क्रान्ति नीति के प्रतिकूल रूस ने पारघात्य लोकतन्त्रीय राष्ट्रों में साम्यवादियों को फासिस्ट शासन का विरोध करने वाले बुर्जुआ दलों—उदारवादी समाजवादी आदि के साथ मिलकर समुक्त मोर्चा बनाने का आह्वान किया। फलस्वरूप अब प्रत्येक देश के साम्यवादी दलों ने अन्य प्रगतिशील दलों के साथ फासिस्टवाद के विरुद्ध समुक्त मोर्चा स्थापित किया। वास्तव में रूसी विदेश नीति में यह बिल्कुल नया परिवर्तन था क्योंकि जो समाजवादी उदारवादी आदि उपर्युक्त सभी दल 'पूँजीवाद के पिन्डू' कहे जाते थे वे 1934 के बाद अब 'साम्राज्यवाद के विरुद्ध किए जाने वाले अभियान में बहुमूल्य सहयोगी समझे जाने लगे।

सन् 1934 से 1938 तक सोवियत रूस ने पारघात्य देशों के साथ सहयोग और मैत्री की नीति तो अपनाई परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से रूस और पश्चिम के मध्य कोई वास्तविक मित्रता स्थापित न हो सकी। सोवियत सघ और पारघात्य देशों में पारस्परिक अविश्वासों की भावना थी। पश्चिमी देशों की फासिस्ट आक्रमणों को रूसी साम्यवाद को रोकने में अधिक दिलचस्पी थी। पहला अवसर इटली एबीसीनिया युद्ध का था। इसमें रूस ने राष्ट्रसंघ के माध्यम से मुसोलिनी के बर्बर आक्रमण से अदिस अबाबा की रक्षा का भरपूर प्रयास किया लेकिन ब्रिटेन और फ्रांस ने एबीसीनिया तथा राष्ट्रसंघ की बलि देकर भी मुसोलिनी की रक्षा की। दूसरा अवसर स्पेनिश महायुद्ध का था। इस अवसर पर रूस ने स्पेन की जनतन्त्रीय सरकार को सहायता भेजी और एंग्लो फ्रेंच सरकारों में भी फासिस्टवादी फ्रेंकों में सहायता ली। स्टालिन ने अपने वक्तव्य से इस बात का स्पष्ट आभास दे दिया कि रूस को पश्चिमी शक्तियों से सहयोग की आशा करना पूरी भ्रम मरीचिका थी।

घाँधी अवस्था (1938-39) में रूस ने पश्चिमी राष्ट्रों से पृथक् रहने एवं सकटापूर्ण पार्थक्य (Dangerous Isolation) की नीति अपनाई। सितम्बर 1938 के म्यूनिख समझौते के बाद से ही रूस ने वस्तुतः अपने आपको सकटापन्न स्थिति में पाया। रूस का कोई विश्वासपात्र मित्र नहीं था। रूस इस बात का भली भाँति अनुमान लगा चुका था कि पश्चिमी शक्तियाँ जर्मनी को रूस पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित कर रही हैं। जब रूस पश्चिम की तरफ से निराश हो गया तो उसने अपनी आत्म रक्षार्थ धुरी राष्ट्रों से मैत्री के प्रयास होज कर दिए और अगस्त 1939 में जर्मन समझौता एक वज्रपात के समान था। पारघात्य देशों ने इस समझौते का विरोध किया।

यद्यपि रूस ने जर्मनी के साथ अनाक्रमण समझौता कर लिया तथापि वह जर्मनी के इरादों को भौंपकर स्वयं को उसके विरुद्ध शक्तिशाली बनाने के लिए निरन्तर तैयारी करता रहा। सितम्बर 1939 में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया। रूस महायुद्ध के आरम्भ में तटस्थ रहा। किन्तु अपनी सम्पूर्ण कूटनीतिक सावधानियों के बाद भी वह जून 1941 में अपने ऊपर जर्मनी के आक्रमण को रोक नहीं सका। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच के अभिनेताओं के रूप में सोवियत नेताओं ने अपना पैतरा बदला और अब वे माजी जर्मनी के सहायक न होकर राष्ट्रवादी राजनीतिज्ञ बन गए तथा प्रजातन्त्रात्मक ब्रिटेन का समर्थन करने लगे। 13 जुलाई 1941 को सोवियत रूस और ब्रिटेन ने एक पारस्परिक सहायता

समझौता किया जो मई 1942 में औपचारिक ऑफ़िशल सन्धि के रूप में परिणत हो गया। 24 सितम्बर 1941 को सोवियत संघ अपनी विदेश नीति को राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के सिद्धान्तों द्वारा निर्देशित करता था और करता है। वह प्रत्येक देश की स्वतंत्रता व प्रादेशिक अखण्डता के अधिकार की रक्षा करता है तथा उनके इस अधिकार को स्वीकार करता है कि वे अपने उपयुक्त सामाजिक व्यवस्था एवं सरकार का रूप निश्चित कर लें। 1 जनवरी 1942 को सोवियत रूस संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर कर घुटी राष्ट्र विरोधी संघ में औपचारिक रूप से सम्मिलित हो गया। मई 1943 ई. में सोवियत संघ द्वारा औपचारिक रूप से कॅनेटर्न को समाप्त कर दिया गया।

द्वितीय महायुद्धकाल में सोवियत राजनय

युद्धकाल में सोवियत संघ के लक्ष्यों को इसके सैनिक और कूटनीतिक कार्यों द्वारा ही जाना जा सकता है। कई पर्यवेक्षकों का कहना है कि सोवियत नेता ज़ारशाही साम्राज्यवादी लक्ष्यों से प्रेरित थे। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे उनके पद धिन्हों पर ही चल रहे थे तथापि ज़ारशाही द्वारा सोवियत रूसी हितों का और जनता की महत्त्वकेंद्रियों का प्रतिनिधित्व किया जाता था इसलिए उसे अपनाया जाना उपयुक्त था। युद्ध द्वारा रूस ने पहले तो उन प्रदेशों को प्राप्त करने का प्रयास किया जो ज़ारशाही के समय दूसरे देशों द्वारा ले लिये गए थे। सुदूर पूर्व में रूसी-जपानी युद्ध में हार के कारण ज़ारशाही ने अनेक प्रदेशों पर से अधिकार छोड़ दिया था। इन प्रसारवादी उद्देश्यों के साथ-साथ सोवियत सरकार ने युद्ध से कुछ एक ऐसे लक्ष्य प्राप्त करने की भी चेष्टा की जो ज़ारशाही सरकार द्वारा रूसी साम्राज्य के हित में नियोजित किए गए थे किन्तु प्राप्त नहीं किए जा सके। इन उद्देश्यों में पहला यह था कि यूरोप में प्रभव का क्षेत्र इतना अधिक बढ़ाया जाए कि वहाँ सोवियत सैनिक और कूटनीतिज्ञ सुरक्षित रह सकें। दूसरे, काले सागर के दर्रे पर नियन्त्रण किया जाए और तीसरे जब कभी अवसर प्राप्त हो निकट मध्य एवं सुदूर पूर्व में तथा विश्व में हर जगह सोवियत संघ का प्रभव बढ़ाया जाए।

वस्तुतः प्रत्येक विदेशी साम्यवादी का यह कर्तव्य माना गया कि वह अपने पूरे प्रभव से प्रत्येक सोवियत सैनिक एवं कूटनीति का समर्थन करे। ऐसा करते समय यदि उसे अपने राष्ट्रीय लक्ष्यों तथा उद्देश्यों की अवहेलना भी करनी पड़े तो वह ऐसे न हटे लक्ष्यों के सोवियत सरकार के लक्ष्य एवं उद्देश्य सर्वोच्च हैं और वह विश्व साम्यवादी आन्दोलन की आत्मा है। ऐसे सोवियत नेताओं को विदेशी साम्यवादियों के प्रयत्नों पर अधिक भरोसा एवं विश्वास नहीं था किन्तु फिर भी वे प्रसारवादी कूटनीति को धन्य रखना चाहते थे। उनके लिए द्वितीय विश्वयुद्ध ज़रूरी युद्धों को सम्पन्न करने के लिए एक युद्ध नहीं था बल्कि वह एक ऐतिहासिक संघर्ष था जिससे विश्व साम्यवाद की ओर मुड़ सके। स्टालिन सहित सभी सोवियत नेताओं ने द्वितीय विश्वयुद्ध में यद्यपि विश्व साम्यवाद का प्रचार किया किन्तु उनका मुख्य ध्येय सोवियत रूस की राजनीतिक शक्ति पर था। उन्होंने सज्जता के साथ अपने सैनिक एवं कूटनीतिक कार्यों को समन्वित किया।

22 जून 1941 को हिटलर का सोवियत रूस पर आक्रमण हो गया और सम्पूर्ण एन्तिस्ट यूरोप सोवियत संघ के विरुद्ध एकत्र हो गया। रूसी सेनाओं ने बड़ी बहादुरी के

साथ जर्मन सेनाओं का मुकाबला किया। युद्ध के समय पारघात्य राष्ट्रों ने सोवियत सघ के प्रति सहयोगपूर्ण दृष्टिकोण नहीं अपनाया। उनकी जर्मनी और सोवियत रूस दोनों के विनाश में रुचि थी।

दिसम्बर [1941] में ग्रेट-ब्रिटेन के विदेश सचिव एन्थनी ईडन मास्को गए और इस प्रकार सोवियत सघ के साथ उच्च स्तरीय सम्मेलन का प्रथम अवसर प्राप्त हुआ। इस समय लाल सेना ने जर्मनी के सैनिकों को मास्को के दरवाजों पर रोक दिया था। सम्मेलन के दौरान स्टालिन अपनी अन्तिम विजय के प्रति आश्वस्त था। स्टालिन ने इस सम्मेलन में युद्ध के बाद की स्थिति पर विचार करने पर जोर दिया, किन्तु ईडन ने कहा कि ग्रेट ब्रिटेन सीमा सम्बन्धी प्रश्नों पर युद्ध के बाद ही विचार करने के अमेरिकी विचार से सहमत है। मई 1942 में जब मोलोटोव ऑग्ल-सोवियत संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए लन्दन गए तो उन्होंने पुनः सोवियत गॉग को दोहराया किन्तु ग्रेट-ब्रिटेन ने पुनः इसे मानने से मना कर दिया।

सोवियत सघ की यूरोप में बढ़ी महत्वाकांक्षाएँ थीं और ग्रेट-ब्रिटेन इनसे परिचित था। स्टालिनवाड के युद्ध के बाद सोवियत सेना पूर्वी क्षेत्र में निष्क्रिय बन गई और अब सोवियत सरकार को सफलता का महान् आश्वासन मिला। उसने पश्चिमी शक्तियों की परवाह किए बिना ही पूर्वी केन्द्रीय यूरोप में अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाना शुरू किया। सोवियत महत्वाकांक्षाओं से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होने वाला पोलैण्ड था। पोलैण्ड की निष्कासित सरकार ग्रेट-ब्रिटेन में स्थित थी। उसका सोवियत सघ के प्रति पर्याप्त ऋण अनुभव था क्योंकि इसने 1939 में पोलैण्ड को नष्ट करने में भाग लिया था। सोवियत सघ ने यह प्रदर्शित किया कि युद्ध के बाद पोलैण्ड के सगठन में उसका हाथ है और इसके बाद उसने सोवियत सेना के अधीन पोलिश सघ के देशमकों को मास्को में जमा किया जो साम्यवादी पोलिश सरकार की नामि का काम कर सकें। इसके अतिरिक्त सोवियत सघ ने चेकोस्लाव यूगोस्लाव और रूमानिया की ब्रिगेड भी गठित की जिसमें अधिकृत सिपाहियों को भर्ती किया गया। मास्को ने लन्दन में किंग पीटर II के अधीन यूगोस्लाव सरकार से वार्ता जारी रखी और कैरो में जॉर्ज द्वितीय के अधीन यूनानी सरकार से भी सम्पर्क बनाए रखा। सोवियत सघ ने लन्दन स्थित राष्ट्रपति एडवर्ड वीनस (Edward Venus) के अधीन यूगोस्लाव सरकार से भी मित्रतापूर्ण सम्बन्ध कायम रखे। जुलाई और सितम्बर 1943 में स्वतन्त्र जर्मनी के लिए राष्ट्रीय समिति और जर्मन अधिकारियों का सघ मास्को में गठित किया गया। इसका निर्देशन निष्कासित जर्मनों द्वारा किया जाता था किन्तु इनमें जर्मन अधिकारी भी शामिल थे। उस समय सम्पूर्ण जर्मनी या उसके किसी भाग पर सोवियत सघ के अधिकार के आसार दूर दिखाई दे रहे थे। उस समय मास्को में स्थित जर्मन समूहों का तत्कालीन कार्य यह था कि जर्मन सिपाहियों को आत्म समर्पण के लिए समझा कर उनकी युद्ध-क्षमता एवं प्रयासों को कम किया जाए। अवसर आने पर इसका उपयोग जर्मनी पर सोवियत प्रभाव बढ़ाने के लिए भी किया जा सकता था।

सोवियत नीति के असन्तुलन ने पश्चिमी शक्तियों को भ्रम में डाल दिया तथा उनको सोवियत स्वर्णों के वास्तविक रूप का अनुमान नहीं हो सका। सोवियत सघ द्वारा जो भी आश्वासन दिए जाते थे उनको प्रारम्भ में अमेरिका द्वारा ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया

जाता था किन्तु ग्रेट-ब्रिटेन के लोगों को उनके बारे में विश्वास कम था। सोवियत सघ का प्रसार यूरोप में होता जा रहा था किन्तु उच्च स्तर के अमेरिकी कूटनीतिज्ञों ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। अमेरिकी सरकार एव जनता यह मानकर चल रही थी कि युद्ध के बाद पूर्वी-केन्द्रीय यूरोप में सोवियत सघ का प्रभाव होना ही चाहिए। उन्होंने सोवियत प्रभाव को इन क्षेत्रों में प्रजातन्त्र की स्थापना के विपरीत नहीं माना। उनका तर्क था कि यदि ऐसा कुछ होता तो सोवियत सघ द्वारा अटलाण्टिक चार्टर एव समुक्त राष्ट्रों की घोषणा में विश्वास ही क्यों किया जाता? उस समय समुक्त राज्य अमेरिका में साम्यवाद एव सोवियत धामलों के कुछ ही ऐसे जानकार थे जो सोवियत सघ के इरादों को सन्देह की नजर से देखते थे। उनका विचार था कि सोवियत सघ द्वारा पड़ोसियों को मित्र बनाने पर जोर दिए जाने के पीछे कुछ रहस्य है और वह सम्भवतः यह है कि उसके पड़ोसी भी साम्यवादी देश बन जाएँ, क्योंकि लेनिन की दो गुट की विचारधारा के अनुसार पूँजीवादी-समाजवादी गुट तो कभी मित्र हो ही नहीं सकते और इसलिए एक राष्ट्र सोवियत सघ का दोस्त तभी बन सकता है जबकि वह लाल झण्डे के नीचे आ जाए। सामान्यतः अमेरिकी सरकार एव जनता को सोवियत मैत्री में कोई शक नहीं था और सामान्य परिधमी हित के विषय उन्होंने ग्रेट ब्रिटेन को सौंप दिए।

मित्र राष्ट्रों के विदेश मन्त्रियों का प्रथम सम्मेलन मास्को में अक्टूबर, 1943 में हुआ। इस समय अमेरिकी राज्य सचिव कॉर्डेल हल (Cordell Hull) एव ब्रिटिश विदेश मन्त्री ईडन (Eden) ने सोवियत एव पोलिश सरकारों के बीच समझौता कराने का प्रयास किया किन्तु कोई सफलता नहीं मिली। अमेरिकी दृष्टिकोण पर इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त स्टालिन ने कॉर्डेल हल को यह कहा कि जर्मनी के साथ युद्ध समाप्त हो जाने के बाद सोवियत सघ जापान के विरुद्ध युद्ध में हस्तक्षेप करेगा। सोवियत सघ ने अप्रैल, 1941 में जापान के साथ अनक्रमण संधि की थी और इस प्रकार का कोई इरादा इस संधि का स्पष्ट उल्लंघन था। इस अनैतिक आशयसे भी अमेरिकी सैनिक नेता यूरोप में सोवियत सघ की विस्तारवादी नीतियों के प्रति आश्वस्त रहे।

तेहरान में 28 नवम्बर से 1 दिसम्बर 1943 तक तीन बड़े राष्ट्रमध्यकों का प्रथम सम्मेलन हुआ। यर्गिल रुजवेल्ट एव स्टालिन ने ईरान की राजधानी में पारस्परिक हित के विषयों पर विचार विमर्श किया।

जून 1944 में मित्र राष्ट्रों ने फ्राँस पर आक्रमण किया। इस अवसर पर सोवियत सेना 1941 की सीमा पर पहुँच गई तथा वहाँ से उसने पोलैण्ड, रूमानिया तथा बाल्टिक राज्यों पर आक्रमण करने का कार्यक्रम बनाया। सोवियत सघ ने जब इन उपराज्यों के साथ शान्ति सन्धियों की तो परिधम से नहीं पूछा गया। यह एक प्रकार से उनके गर्व के लिए गहरी चोट थी। इतने पर भी इन देशों ने मित्रराष्ट्रों की एकता की खातिर इन पर अग्रणी भूमिका ग्रहण कर दी। इस प्रकार इन सन्धियों को मनी मित्रराष्ट्रों द्वारा किया हुआ मान लिया गया। उस समय यह कल्पना की गई थी कि ये समझौते केवल अस्थायी प्रकृति के हैं जिनको नावी शान्ति-सम्मेलन में परिवर्तित किया जा सकता है। परिधमी देशों ने इन उपराज्यों में सोवियत गतिविधियों पर नजर रखने की व्यवस्था की। यह कार्य उन्होंने हेलसिंकी बुखारेस्ट सोफिया एव बुडापेस्ट में नियुक्त अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से किया। इन प्रतिनिधियों को ऐसा अनुभव हुआ मानो सोवियत प्रतिनिधियों से वे पृथक् हैं

तथा उनकी अवहेलना की जा रही है। सोवियत प्रतिनिधियों को मित्रराष्ट्र युद्धबन्द आयोगों का समापति बनाया गया क्योंकि सामान्यतः स्वीकृत सिद्धान्त के अनुसार प्रमुख दायित्व उसी देश का मना जाता है जिसने एक प्रदत्त क्षेत्र पर विजय प्राप्त की। ज्यों ज्यों सोवियत सेना पूर्वी केन्द्रीय यूरोप में बढ़ती गई त्यों त्यों उसके नरसंहार अत्याचार बलात्कार एवं अमानवीय व्यवहार की घर्षा बढ़ने लगी जो सोवियत सेना द्वारा विजित क्षेत्र की जनता पर किए जाते थे। इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह थी कि सोवियत सेना की सहायता से देशी साम्यवादी या तो मात्को से लौटकर अथवा भूमिगत क्षेत्रों से निकल कर सत्ताधारी बनने लगे। सोवियत शक्ति द्वारा इस काम में इनकी पूरी सहायता की जाती थी। अमेरिका अभी तक भी इन घटनाओं से सचेत नहीं हुआ था किन्तु ग्रेट ब्रिटेन पर्याप्त सतर्क बन गया। चर्चिल ने पहले भूमध्यसागर से यूरोप पर आक्रमण का समर्थन किया था किन्तु अब वह बल्कान में एड्रियाटिक सागर के शीर्ष पर मित्रराष्ट्रों की सेना रखने पर जोर देने लगा ताकि पूर्वी केन्द्रीय यूरोप में सोवियत शक्ति को मर्यादित रखा जा सके। किन्तु जो अमेरिकी जनरल भूमध्यसागर में कार्यवाही करने में रुचि नहीं लेते थे उन्होंने इस कार्यक्रम को रणनीति की दृष्टि से अनुपयुक्त एवं हल्का बताया। सच तो यह है कि प्रथम विश्वयुद्ध के समय इस क्षेत्र में इटली की सेना को आगे बढ़ने की बजाय डुरी तरह मार खानी पड़ी थी। जब चर्चिल ने आइजनहावर के मुख्यालय में जाकर यह बात कही तथा इसके पक्ष में तर्क दिए तो इके (Ike) ने कहा नहीं। वह दोपहर बाद तक नहीं कहता गया और अन्त में उसने अंग्रेजी भाषा के प्रत्येक रूप में 'नहीं' कहा।

चर्चिल आसानी से ही हिम्मत हारने वाला नहीं था। उसने सितम्बर 1944 में द्वितीय 'क्वेबेक सम्मेलन (Quebec Conference)' में रूजवेल्ट के सामने भी इस बात को रखा। उसने इस पर कोई ऐतराज नहीं किया कि चर्चिल अकेला ही स्टालिन के साथ समझौता कर ले। अक्टूबर 1944 में चर्चिल तथा ईडन मात्को गए। यहाँ उन्होंने पुनः पोलैण्ड के प्रश्न को सुलझाने की बात कही। किन्तु रूसी तानाशाह अधिक से अधिक इस बात पर सहमत हुआ था कि लन्दन के पोलों को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए पोलिश समिति में प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है। स्टालिन ने अन्य ब्रिटिश सुझावों के प्रति अधिक अच्छा रुख अपनाया। इस अवसर पर चर्चिल ने स्टालिन को प्रतिशत का विचार सुझाया जिसके अनुसार बल्कान में उत्तरदायित्व का प्रतिशत के आधार पर विभाजन करना था। स्टालिन ने यह प्रस्ताव बिना किसी आपत्ति के स्वीकार कर लिया। उत्तरी एड्रियाटिक में ब्रिटेन के बने रहने की योजना को भी उसने इसी प्रकार स्वीकार कर लिया।

घर लौटने पर चर्चिल ने देखा कि उसके स्वयं के जनरल पूर्ण अमेरिकी सहायता के बिना इस कार्यवाही के करने के लिए उत्सुक नहीं थे। उन्होंने भी यह सुझाव दिया कि यह कदम फरवरी 1945 से पूर्व उठाना प्रभावकारी नहीं रहेगा। दिसम्बर 1945 में उसने इस कार्यक्रम का बहिष्कार कर दिया। इस लेन देन का एकमात्र फायदा चर्चिल को यह हुआ कि यूनान में अपना प्रभाव बढ़ाने में वह सफल हो सका। सोवियत सरकार ग्रेट ब्रिटेन के साथ समझौते के परिणामस्वरूप केवल इतनी सीमित रही कि उसने बल्कान क्षेत्र में आगे बढ़ना रोक दिया। सोवियत सेनाएँ बेलग्रेड बुडापेस्ट और वार्सा होती हुई पश्चिम दिग्ग प्रग बर्लिन की ओर आगे बढ़ीं।

फरवरी 1945 में 'तीन बड़ों' अर्थात् रुजवेल्ट, चर्चिल और स्टालिन का द्वितीय सम्मेलन 'याल्टा' में हुआ। याल्टा सम्मेलन में वे एक दृढ़ लोकतन्त्रीय पोलैण्ड के निर्माण पर एकमत हो गए। उसकी पूर्वी सीमा का निर्धारण लगभग कर्जन रेखा के अनुसार ही कर दिया गया। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि जर्मन क्षेत्र के उत्तर और पश्चिम के कुछ भाग उसे मिलने चाहिए। याल्टा घोषणा में अस्पष्ट साभान्यताओं से परिपूर्ण होते हुए भी यह स्पष्ट दिखलाई दे रहा था कि इंग्लैण्ड अमेरिका बल्कान और डेनुबियन विषयों पर सौवियत नेतृत्व स्वीकार कर चुके हैं। पश्चिमी शक्तियों ने यूगोस्लाविया में मार्शल टीटो की सहायता करना भी मन लिया। एक गुप्त समझौते के अनुसार सौवियत सघ ने सयुक्तराज्य और ग्रेट ब्रिटेन को वचन दिया कि हिटलर की पराजय के तीन महीने बाद वह जापान के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित हो जाएगा। अन्त में इसी सभा में सयुक्त राष्ट्रसंघ की योजना पर भी वार्तालाप हुआ।

याल्टा सम्मेलन के बाद अग्रेज जून 1945 में सन फ्रांसिस्को सम्मेलन हुआ और इसी बीच 7 मई 1945 को जर्मनी ने बिना शर्त आत्म समर्पण कर दिया। तीन बड़ों के बीच की एकता में दरारे जर्मन आत्म समर्पण से पूर्व ही पड़ गई थीं। सौवियत सरकार का मन था कि अपनी सेनाओं द्वारा विजित प्रदेशों के साथ वह मनमाना व्यवहार करेगी। ऐसी स्थिति में उसने पश्चिमी शक्तियों की इच्छा का ध्यान दिए बिना ही पूर्वी केन्द्रीय यूरोप के क्षेत्रीय प्रश्नों को सुलझाना प्रारम्भ किया। इसके साथ ही सौवियत सघ की 'प्रादेशिक भूख' मिटाने की नीति जारी रही। उसने अपने अनेक पड़ोसी राज्यों को बाँहे दे औपचारिक रूप से मित्र थे अथवा शत्रु अब अपना उपराज्य बना लिया। पोटासडम सम्मेलन के बाद सौवियत रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 8 अगस्त 1945 को मणूरिया पर रूसी आक्रमण हुआ और 14 अगस्त को जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया। इस सप्ताह के युद्ध के लिए उसने प्रभुर पुरस्कार प्राप्त किए। जापान में सौवियत सघ को कांकी लान रहा और यूरोप तथा जप प्रदेशों में भी उसकी उपलब्धियाँ कम नहीं थीं। पूर्वी एशिया में जारशाही जो खी चुकी थी उसे सौवियत सघ ने प्राप्त कर लिया और साथ ही यूरोप में भी उसने नए प्रदेश बढ़ा लिए। इस तरह सौवियत सघ को लगभग 4 लाख 90 हजार वर्गमील भूमि प्राप्त हो गई जिस पर लगभग 10 करोड़ व्यक्ति निवास करते थे।

द्वितीय महायुद्ध के बाद सौवियत राजनय

रूस ने महायुद्ध ज्वलन कठिनियों का धीरे-धीरे समाप्ति किया आर्थिक पुनर्निर्माण के विशाल कार्यक्रम चलाने, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विस्तारवादी नीति अपनाई रीति युद्ध को अत्यन्त तीव्र बनकर और पश्चिमी राष्ट्रों को अपनी उग्र हटवर्क के आगे झुका कर अपने राजनीतिक लक्ष्यों की पूर्ति का मार्ग प्रशस्त किया। स्टालिन जब तक जीवित रहा, सौवियत नीति पश्चिम के प्रति उत्तरोत्तर शत्रुता असहयोग और अलगाव की ओर बढ़ती हुई सौवियत प्रभाव क्षेत्र की सुदृढीकरण तथा दुरग्रहपूर्ण रही।¹ स्टालिन ने मृत्युपर्यन्त एक आक्रामकरी गतिशील अठ्ठारवाजी और लौह आदरता तथा सम्मिलित दिरेधी नीति का अनुसरण किया। पूर्वी यूरोप में अपने दबर्नों को झुठलकर सौवियत प्रभुत्व का विस्तार

किया गया यूनान के गृह युद्ध में साम्यवादियों की सहायता की गई टर्की पर बासफोरस तथा डार्डनेलीज के जलडमरूमध्यों के सम्बन्ध में माण्ड्रेक्स के समझौते को बदलने के लिए दबाव डाला गया मार्शल योजना की सहायता लेना अस्वीकार कर दिया गया। ईरान से सोवियत सेनाओं के हटाने में देर लगाई गई टीटो को मास्को के गुट से निष्कासित किया गया कोरिया व हिन्द चीन में युद्ध हुए। स्टालिन की इस आक्रामक नीति से परिधमी शक्तियाँ सराकित हो गई और उन्होंने बढ़ते हुए सोवियत प्रभाव को रोकने तथा साम्यवाद के प्रसार के विरोध के लिए अनेक उपाय किए। ट्रूमैन सिद्धान्त मार्शल योजना डकक हूरोल्स सन्धियाँ नाटो सधि परिधनी यूरोप की एकता के लिए बनाये गए विभिन्न सगठन आदि स्टालिन की कठोर नीति के प्रभावशाली प्रत्युत्तर थे। सन् 1945-47 तक यूरोप की स्थिति ऐसी नहीं रही। मध्यपूर्व में टर्की और यूनान में हस्तक्षेप के कारण सोवियत रूस की वैसी बदनामी हुई जैसी बाद में आइजनाहावर सिद्धान्त के प्रयोग से अमेरिका की हुई। एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों के प्रति भी स्टालिन की नीति अनुदार रही। इससे उसने एक बड़ी सीमा तक इन राष्ट्रों का समर्थन खो दिया। तटस्थ देशों के प्रति स्टालिन ने विरोधी नीति का अनुसरण किया। उदाहरणार्थ भारत को उसकी तटस्थता के कारण ही स्टालिन रूस विरोधी समझता रहा। स्टालिन की उग्रवादी कठोर नीति ने स्वयं साम्यवादी गुट में काफी क्षोभ उत्पन्न कर दिया।

द्वितीय महायुद्धोत्तर काल में दो महाशक्तियों का उदय हुआ—संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत सघ। विश्व में शक्ति के दो प्रमुख केन्द्र उभर कर सामने आए और लगभग 1954-55 तक विश्व में दृढ़ द्वि ध्रुवीयता की स्थिति (Tight Bipolarity) का बोलबाला रहा। दोनों महाशक्तियाँ एक दूसरे की घोर प्रतिस्पर्धा बन गई और दोनों ही के नेतृत्व में दो विरोधी गुटों का निर्माण होता गया। महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा विशेषकर यूरोप में बहुत तीव्र रही जिससे न केवल शीतयुद्ध में तीव्रता आई बल्कि प्रतिद्वन्द्वी शक्तियाँ और अनेक सैनिक गुटों का निर्माण भी तेजी से हुआ। सन् 1955 के प्रारम्भ में स्थिति यह थी कि जहाँ विश्व शान्ति और संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता केवल 59 सम्प्रभु राज्यों तक सीमित थी वहीं अमेरिका और ब्रिटेन एक ओर तथा रूस और अन्य राष्ट्र दूसरी ओर लगभग 60 से भी अधिक राज्यों के साथ दौंचे थे। सन् 1955 के मध्य द्वि ध्रुवीयता शिथिल होने लगी और धारा बहुकेन्द्रवाद (Poly-centrism) की ओर बहने लगी।

स्टालिन की मृत्यु के बाद रूसी विदेश नीति और राजनय में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। रूसी नीति फिर से विकासोन्मुख बनी। स्टालिन के बाद तीन मुख्य बर्ता ने सोवियत सघ की शक्ति को बढ़ा दिया। पहली बात यह थी कि पूर्वी यूरोप में सोवियत साम्राज्य में स्थायित्व आ गया। दूसरे सोवियत सघ की आर्थिक तथा सैनिक शक्ति तेजी के साथ बढ़ने लगी। तीसरे रूस के दक्षिण क्षेत्र में उसका प्रभाव बढ़ने लगा। मध्यपूर्व दक्षिणी एशिया और अफ्रीका के विकासशील देश उसके प्रभाव क्षेत्र में आ गए। विश्व का सन्तुलन एक प्रकार से साम्यवाद की ओर झुकता नजर आया। स्टालिन के बाद यद्यपि सोवियत साम्राज्य का विस्तार नहीं हुआ तथापि सोवियत सघ की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति इतनी प्रभावशाली हो गई जितनी पहले कभी नहीं थी। स्टालिन के उत्तराधिकारियों को जिन चुनौतियों का सामना करना था वे थीं—सोवियत साम्राज्य की रक्षा करना पूर्वी यूरोप में सोवियत शासन के

स्थायित्व पर पाश्चात्य मान्यता प्राप्त करना तथा जहाँ सम्भव हो सके वहाँ बिना सोवियत सुरक्षा को खतरे में डाले देश की शक्ति का विस्तार करना। स्टालिन की उग्रतावादी कठोर वैदेशिक नीति के जो परिणाम निकले और पाश्चात्य देशों एवं तटस्थ देशों में उसकी जो प्रतिक्रियाएँ हुईं उनके फलस्वरूप अब सोवियत राजनय का एक नवीन दिशा में उन्मुख होना स्वभाविक तथा अनिवार्य था। इसलिए स्टालिन के अविलम्ब उत्तराधिकारी मोलेंकोव ने दिवंगत नेता के अन्त्येष्टि सस्कार में ही घोषणा की कि लेनिन और स्टालिन की शिक्षाओं के अनुसार साम्यवादी तथा पूँजीपति देशों में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व स्थापित करने के लिए पूर्ण प्रयत्न किया जाएगा। रूस की इस नई विदेश नीति के सुखद परिणाम भी शीघ्र ही निकलने प्रारम्भ हो गए। कोरियाई युद्ध का गतिरोध खत्म हो गया और आस्ट्रिया के सम्बन्ध में शान्ति-सन्धि हो गई। सोवियत सैनिकों द्वारा किर्गिज के सैनिक अड्डे खाली कर दिये गए। हिन्द-चीन की समस्या का शान्तिपूर्ण हल निकल आया। सोवियत सघ ने यूनान और इजरायल के साथ पुनः कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किए। यूगोस्लाविया के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध फिरसे कायम हो गए। मोलेंकोव के नेतृत्व में सोवियत रूसी लौह आवरण के सम्बन्ध में भी शिथिलता की नीति बरती जाने लगी। बाह्य दुनिया से निकट सम्पर्क कायम करने का प्रयास किया गया। स्टालिन विश्व को दो विरोधी गुटों में विभाजित मानता था लेकिन नई नीति के अनुसार इसको शान्ति-सन्तुलन की प्रक्रिया माना गया और इसे अपने पक्ष में करने के लिए तटस्थ राष्ट्रों की सहायता प्राप्त करने की चेष्टा की गई।

खुरशेव काल (1955-1964) में सोवियत सघ की विदेश नीति और राजनय ने अनेक नई दिशाएँ ग्रहण कीं। लौह आवरण की नीति उत्तरोत्तर शिथिल होती गई तथा 'पात्रा-कूटनीति' का महत्व बढ़ता गया। पश्चिम के प्रति उग्र नीति का शनैःशनैः परित्याग किया जाने लगा। सोवियत नेता शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की ओर अग्रसर हुए तथा विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान पर अधिकाधिक बल दिया जाने लगा। पर शीतयुद्ध का परित्याग नहीं किया गया। अनुकूल परिस्थितियों में शीतयुद्ध को उभार कर राजनीतिक और प्रभारात्मक लानों को प्राप्त करने के प्रयत्न चलते रहे। अल्पविकसित देशों को आर्थिक प्राविधिक और सैनिक सहायता देने की नीति अपनाई गई। इसमें उत्तरोत्तर विकास होता चला गया। सोवियत प्रभाव-विस्तार की उत्कण्ठा रखते हुए भी उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद विरोधी प्रचार को तीव्र कर दिया गया। सोवियत नीति यह रही है कि एशिया और अफ्रीका की जनता की अधिकाधिक सहानुभूति प्राप्त कर इन महाद्वीपों में साम्यवाद प्रचार के अनुकूल वातावरण तैयार किया जाए। सोवियत शक्ति और प्रभाव-विस्तार के मुख्य आकर्षण केन्द्र तीन क्षेत्र रहे—एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका। अनु आधुनिक अमेरिका से समानता तथा उससे आगे निकल जाने के प्रयत्न अनवरत चलते रहे। सोवियत सघ ने परमाणु हथियार बनाने का महत्वाकांक्षी कार्यक्रम चलाया। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी सन्धि-नीति रची गई।

खुरशेव ने एशिया और अफ्रीका के देशों तथा असम्पन्न विश्व (Uncommitted World) की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद विरोधी प्रचार को भी तीव्र कर दिया। सोवियत सघ द्वारा उपनिवेशों तथा गुलाम राष्ट्रों को स्वतन्त्र बनाने

के सभी प्रस्तावों और आन्दोलनों को प्रबल समर्थन दिया जाने लगा। खुशमैय के प्रभाव में आने के उपरान्त से एशिया और अफ्रीका के अल्प विकसित या अविकसित देशों के प्रति सोवियत विदेश नीति और राजनय के निम्नलिखित प्रमुख लक्ष्य थे—(i) भूतपूर्व उपनिवेशी अथवा अर्द्ध-उपनिवेशी देशों के सन्देश एवं राष्ट्रीय सम्मान को अच्छी प्रकार से ध्यान में रखते हुए इनके प्रति पूरी मित्रता एवं सौहार्द दिखाना (ii) इन देशों के परिचय के साथ अतीत के कटु सम्बन्धों का फायदा उठाते हुए इन्हें परिचय से और भी विमुख कर देना (iii) न केवल उपनिवेशवाद-विरोधी बरन् जातिवाद-विरोधी प्रवृत्तियों को भी उभारना (iv) राजनीतिक तटस्थता की प्रवृत्ति को बढ़ावा देना (v) औद्योगीकरण द्वारा उनकी अर्थव्यवस्था को विकसित करने की महत्वाकांक्षा को सहायता देना हो सके तो सोवियत एवं पारस्परिक व्यापारों के सम्बन्ध की ओर झुकाना (vi) परिचय के विरुद्ध उनके प्रत्येक झगड़े को उकसाना (vii) विदेशी पूँजी या सहायता उनकी स्वतन्त्रता एवं सम्मान के विरुद्ध बँटा कर सन्देश की भावना उभारना तथा (viii) उनके सम्मुख सोवियत रूस के तीव्र औद्योगीकरण को आदर्श के रूप में प्रस्तुत करना ताकि स्थानीय लोग यह समझ सकें कि केवल साम्यवाद ही बहुत कम समय में ऐसी उपलब्धियों को साकार कर सकता है।

ब्रेझनेव युग (1964-1982) में खुशमैयवादी नीतियों को ही आगे बढ़ाया गया। शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व की विचारधारा को पुष्ट किया गया और साथ ही राजनय ने कुछ नई दिशाएँ भी ग्रहण की। यात्रा-राजनय ने अधिक महत्त्व ग्रहण किया। सितम्बर 1965 में भारत-पाक संघर्ष का अन्त कराने में उत्तरेखनीय प्रयास करने के उपरान्त दोनों देशों के बीच झगड़ा सुलझाने के लिए मध्यस्थता करने के लिए ताराकन्द सम्मेलन का आयोजन किया गया। रूस ने अपनी विदेश नीति के इस नए पैतरे में समूचे विश्व को स्तब्ध कर दिया। सोवियत संघ ने इससे पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान में मध्यस्थता के सिद्धान्त को कभी स्वीकार नहीं किया था। पाकिस्तान के प्रति झुकाव के रूसी राजनय को शीघ्र ही पुनः भारत के प्रति झुकाव में मोड़ दिया गया। सोवियत बंगलादेश के सम्बन्ध में रूस का दृष्टिकोण भारत समर्थक था। बंगलादेश के सकट के समय पीकिंग पिण्डी-वाशिंगटन घुंरी के निर्माण की सम्भावनाओं और उससे उत्पन्न खतरे को देखकर भारत ने 9 अगस्त 1971 को सोवियत संघ के साथ मैत्री-सन्धि पर हस्ताक्षर किए। इस तरह भारत और सोवियत संघ चीन-अमेरिकी सम्बन्धों में भविष्य में उत्पन्न होने वाले परिणामों का मुकाबला करने के लिए और अधिक निकट आ गए। सुरक्षा परिषद् में भी रूस ने पाकिस्तान और उसके बड़े आका अमेरिका के मनसूबों पर धनी फेर दिया। युद्ध के दौरान उसने स्पष्ट घेरावनी दी कि कोई भी विदेशी ताकत हस्तक्षेप करने का दुस्साहस न करे। रूस पूर्वी यूरोप के साम्यवादी जगत पर अपना प्रभाव बनाए रखने की नीति पर चलता रहा ताकि वहाँ से पश्चिम यूरोपीय राजनीति में प्रभावपूर्ण ढंग से हस्तक्षेप किया जा सके। अतः पूर्वी यूरोप के देशों में पनप रही सोवियत विरोधी प्रवृत्तियों का सामना करने के लिए उसने वारसा सन्धि संगठन को पहले की अपेक्षा और अधिक कठोर तथा सुदृढ़ बना लिया। रूस ने अमेरिका और पश्चिमी गुट के साथ अवसरानुकूल शीतयुद्ध को उभार देकर भी स्टालिन के समान स्थिति को बिगाड़ने का प्रयास नहीं किया। सोवियत रूस ने अपना ध्यान यूरोप

और एशिया की ओर केन्द्रित किया लेकिन अमेरिका और अफ्रीका के सम्बन्ध में उसका राजनय विशेष सक्रिय नहीं रही।

युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की जटिलताओं में संश्लेषित कूटनीति अभी तक जितनी सफल और प्रभावशाली रही उसनी अमेरिकी कूटनीति नहीं। परिधानी एशिया दक्षिण पूर्वी एशिया पूर्वी यूरोप आदि सभी क्षेत्रों में संश्लेषित रुख ने अपना प्रभाव बढ़ाया और अमेरिका तथा उसके साथी राष्ट्रों की धुनियों का सकलतत्पूरक मुकाबला किया।

नवम्बर 1982 में संश्लेषित राष्ट्रपति ब्रेझनेव की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी यूरी आन्ड्रोपोव (नवम्बर 1982—फरवरी 1984) ने अपने बहुत छोटे कार्यकाल में ही भारी राजनयिक कौशल का परिचय दिया। उनका छोटा कार्यकाल अत्यधिक तनकों से भरा चल रहा किन्तु उन्होंने ब्रेझनेव की नीतियों पर चलते हुए संश्लेषित जनता का दिग्दर्शन अंजित किया। उन्होंने आन्तरिक निःशस्त्रीकरण यूरोप में युद्ध की आशंका कम करने तथा अमेरिका से सम्बन्ध सुधारने पर बल दिया लेकिन साथ ही अमेरिका की राजनयिक धुनियों का सराफा उत्तर भी दिया। अमेरिका द्वारा नटो की ओर से यूरोप में नए परमाणु प्रक्षेपास्त्र लगाने पर उन्होंने यह स्पष्ट चेतावनी दे दी कि संश्लेषित सच भी उपयुक्त जवाबी कायदाही करेगा। यूरी आन्ड्रोपोव ने चीन की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाने की कूटनीतिक पहल की। उनकी विदेश नीति और कूटनीति का एक मुख्य लक्ष्य यह रहा कि भारत और रूस और निकट आए। शक्तिपूर्व सहअस्तित्व का समर्थन करते हुए आन्ड्रोपोव ने टैंगन प्रारम्भ की कुटिल कूटनीति का सकलतत्पूरक प्रत्युत्तर दिया। यूरी आन्ड्रोपोव के उत्तराधिकारी चैरनेको (फरवरी 1984—मार्च 1985) ने स्पष्ट कर दिया कि वे ब्रेझनेव तथा आन्ड्रोपोव की नीति में परिवर्तन करने वाले नहीं हैं। चैरनेको ने कठोर और लचीले राजनय का कुशलतत्पूरक उपदेश दिया। उन्होंने कहा कि वे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर सभी पक्षों के साथ समानता के आधार पर बातचीत करने को तैयार हैं। यद्यपि संश्लेषित सच शक्ति चाहता है तथापि वह न तो किसी की धमकी में आरुण्य और न शस्त्रस्त्रों में किसी देश के बढ़त लेने देगा। स्पष्टतः यह बात अमेरिका को चेतावनी थी। चैरनेको ने कहा कि संश्लेषित सच वर्तमान तनकों को दृष्टिगत कर अपने शक्ति प्रयत्नों की नीति जारी रखेगा। हम खास तौर से छोटे देशों की सहयोग करेगा। उन्होंने दूल्जीवदी विस्तार के विरुद्ध सचेत कर रहे लोगों को भी संश्लेषित समर्थन जारी करने का आह्वान दिया। 27 फरवरी, 1984 को चैरनेको द्वारा परिधानी देशों में सम्बन्धों को सुगुप्तने के लिए मिल बैठकर विचार करने का प्रस्ताव किया गया, लेकिन अमेरिका और उसके साथी देशों की नीति सम्बन्धित प्रतीक्षा करो और देखो की रही। खेलों को भी राजनयिक चेतावनी और दबाव के अस्त्र के रूप में प्रयुक्त किया गया। 19 अप्रैल 1984 को रूस ने प्रथम बार अमेरिका द्वारा ओलम्पिक घर्ट के उत्सव को लेकर बहिष्कार की चेतावनी दी और लस ऐंजिल्स में जो ओलम्पिक खेल हुए उनका महत्व रूस और उसके साथी देशों के बहिष्कार के कारण निरिधत रूप से घट गया। दार्ज के राजनय के रूप में अस्त्र परिसैन्य पर विचार दिवस हुआ। जनवरी 1985 में जिनेवा में दोनों गृहस्थियों के बीच अस्त्र परिसैन्य दार्ज मुक्त आरम्भ हुई जो कि नवम्बर 1983 में नग हो गई थी।

11 मार्च 1985 को मिखाइल गोर्बाच्योव घेरने-को के उत्तराधिकारी बने। तब से लेकर दिसम्बर 1991 ई तक का समय गोर्बाच्योव काल के नाम से जाना जाता है। इस काल में विश्व राजनीति में भारी परिवर्तन हुआ और उसका स्वरूप ही बदल गया। गोर्बाच्योव काल के राजनय की मुख्य विशेषताओं को निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है—

प्रथम गोर्बाच्योव ने ग्लासनोस्त (खुलापन) और पेरेस्त्रोइका की नीति को अपनाया। यह सोवियत कूटनीति में मौलिक परिवर्तन था। इससे विश्व के सम्मुख सोवियत सदस्यों से पर्दा हट गया। सोवियत सघ की वास्तविकता पूरे विश्व के सम्मुख उजागर हो गई।

द्वितीय मिखाइल गोर्बाच्योव की उदारवादी नीतियों के कारण सोवियत सघ से एक के बाद एक गणराज्य पृथक होते गये और स्वयं उन्होंने उन गणराज्यों को मान्यता दे दी। तीनों बाल्टिक गणराज्यों लैटविया, लियुआनिया और इस्तोनिया ने सोवियत सघ से अलग होने की घोषणा की। 21 दिसम्बर 1991 ई को सोवियत सघ से अलग हुए 12 में से 11 गणराज्यों (केवल जार्जिया को छोड़कर) ने एक ऐतिहासिक समझौता सपत्र कर के राष्ट्रमण्डल बनाने का निर्णय लिया। रूसी गणराज्य के राष्ट्रपति बोरीस येल्टसिन को इस नवीन गणराज्य का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। इसके साथ ही विश्व मानचित्र से सोवियत सघ का अस्तित्व समाप्त हो गया। 25 दिसम्बर 1991 ई को मिखाइल गोर्बाच्योव ने सोवियत सघ के राष्ट्रपति पद से त्यागपत्र दे दिया। इसके साथ ही एक युग की समाप्ति हो गई। अतः मिखाइल गोर्बाच्योव की नीतियों को सोवियत सघ के विघटन के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है।

तृतीय मिखाइल गोर्बाच्योव के नेतृत्व में सोवियत सघ ने पूर्वी यूरोप के देशों में सैनिक हस्तक्षेप करने अथवा उन्हें सैनिक शक्ति के बल पर दबाये रखने की नीति का परित्याग कर दिया। परिणामस्वरूप इन देशों की जनता का अपने अपने शासकों के विरुद्ध जमा आक्रोश फूट पड़ा। इस कारण से पूरे पूर्वी यूरोप में साम्यवादी शासकों का पतन हो गया।

चतुर्थ जर्मनी का एकीकरण मिखाइल गोर्बाच्योव की राजनयिक शैली का महान् उदाहरण माना जायेगा।

पंचम मिखाइल गोर्बाच्योव ने परमाणु हथियारों के परिसीमन करने तथा अन्य विश्व सम्स्याओं के समाधान करने के लिए अमेरिकी राष्ट्रपतियों सर्वश्री रोनाल्ड रीगन और जार्ज बुश के साथ शिखर सम्मेलन के राजनय का सहारा लिया। इससे दोनों ही महाशक्तियों के सम्बंधों में उत्तेजनीय सुधार हुआ और विश्व से शीतयुद्ध का युग समाप्त हो गया।

षष्ठम् मिखाइल गोर्बाच्योव के कार्यकाल में सोवियत सघ और पश्चिमी यूरोप के देशों के बीच संबंध निरन्तर सुधरते गये।

सप्तम् सोवियत सघ ने वारसा संधि सगठन को भंग करने का निर्णय लिया तथा अपने सैनिक व्यय में भारी कटौती करने का निर्णय लिया।

अष्टम् सन् 1991 ई के खाड़ी युद्ध में सोवियत सघ ने सक्रियता से भाग नहीं लिया फलस्वरूप समुक्त राज्य अमेरिका और उनके साथी देशों का पलड़ा अत्यधिक भारी हो गया।

यह विश्व राजनीति में सोवियत सघ के समाप्त होने वाले दबदबे की पूर्व अवस्था थी। इस घटना चक्र ने महाशक्ति के रूप में सोवियत सघ के प्रभाव को समाप्त कर दिया।

नवम् निखाइल गेर्बार्थेव ने भी यात्राओं की कूटनीति का सहारा लिया। उन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका सम्मन्धी चीन भारत फ्रांस तथा ब्रिटेन इत्यादि देशों की यात्रा की। इन यात्राओं से इन देशों में संविद्यत सघ के प्रति सद्गन्धना में वृद्धि हुई।

दशम् संविद्यत सघ की नीति शान्ति की नीति रही। विश्व में शान्ति और सद्गन्धना की स्थापना करने में संयुक्त राष्ट्र सघ की महत्ता को भी संविद्यत सघ द्वारा मान्यता दी गई। निस्सन्देह निखाइल गेर्बार्थेव एक युग प्रवर्तक थे और उन्होंने अपनी विदेश नीति और राजनय को नई दिशा प्रदान की। लेकिन उनके कार्यकाल में ही संविद्यत सघ का न केवल विश्व की महारक्ति के रूप में घटन हुआ अपितु राष्ट्र के रूप में भी अस्तित्व सम्पन्न हो गया।

सन् 1917 से 25 दिसम्बर 1991 ई. तक अर्थात् संविद्यत सघ के विघटन तक के राजनय के इतिहास को देखने पर निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ सामने आती हैं—

प्रथम यूरोपवादी देशों द्वारा संविद्यत सघ की स्थापना से ही उसका विरोध करने की नीति ने उसके राजनय को अविश्वसनीय तथा बटोर बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

द्वितीय स्वयं संविद्यत सघ और पूर्वी यूरोप के देशों में सम्मन्धी सत्ता को सुरक्षित रखना उसके राजनय का मुख्य उद्देश्य रहा है।

तृतीय विश्व के देशों में सम्मन्धी विघटन का प्रचार प्रसार करना भी संविद्यत सघ का प्रमुख लक्ष्य विश्व में सम्मन्धी का प्रचार प्रसार करना रहा।

चतुर्थ संविद्यत सघ ने भी सहयोग के राजनय का खुलकर सहारा लिया। असलान और विकासशील देशों को इस सहयोग के राजनय के मध्यम से प्रभावित करने का प्रयत्न किया गया। संविद्यत सघ ने मध्यस्थता के राजनय का भी प्रयोग किया।

पञ्चम् संविद्यत सघ द्वारा शिखर सम्मेलन के राजनय का भी सहारा लिया गया। इससे संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ सबंधों को सुधारने में व्यपक रूप से सहयोग मिली तथा शक्तिशाली का सम्बन्ध कम हुआ।

षष्ठम् संविद्यत सघ द्वारा गेर्बार्थेव के शासन के पूर्व तक शक्ति के राजनय का भी सहारा लिया गया। पूर्वी यूरोप के उन देशों में सैनिक हस्तक्षेप किया गया जिनमें संविद्यत सघ विरोधी शक्तियाँ सिर उठा रही थी। हंगरी चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड में इसी आधार पर हस्तक्षेप किया गया।

ब्रिटिश राजनय (British Diplomacy)

ग्रेट ब्रिटेन का क्षेत्रफल लगभग 94,507 वर्गमील है जो संयुक्त संघर्ष की स्थलीय क्षेत्र का लगभग 0.2 प्रतिशत है। यह फ्रांस का दो पंद्रहवाँ, अमेरिका का 30वाँ, तथा संविद्यत संघ का 80वाँ भाग है। ब्रिटिश राजनय के प्रारम्भिक काल में उसका राजनय उसकी विरोध नीतिके नियति समुद्र की शक्ति तथा व्यपार से प्रभावित रहा और आज भी ये तत्व उसकी विदेश नीति तथा उसके राजनय के निर्धारण में महती प्रभाव रखते हैं। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के नये परिदेश ने ब्रिटिश विदेश नीति और राजनय को नयी दिशा दी है। ब्रिटेन के राष्ट्रमण्डलीय स्वरूप अमेरिका के साथ उसके विरोध सम्बन्ध परम्परा

अस्त्रों की दौड़, विश्व शक्ति के रूप में उसके पराभव आदि ने ब्रिटिश विदेशनीति तथा राजनय को गम्भीर रूप से प्रभावित किया है। पर मूल रूप में ब्रिटिश विदेश नीति और राजनय ने अपनी ऐतिहासिक विरासत का परित्याग नहीं किया है।

ब्रिटेन घाटों ओर समुद्र से घिरा हुआ देश है अतः अपनी रक्षा के लिए नौविक शक्ति पर आज भी वह पूरा ध्यान दिये हुए है। अतीत में 'समुद्र की रानी' (Queen of the Seas) होने के कारण ही ब्रिटेन एक सुविशाल साम्राज्य स्थापित कर सका था जिसके साथ उसके घनिष्ठ व्यापारिक और वाणिज्यिक सम्बन्ध थे। साम्राज्य की रक्षा व्यापार की निरन्तर वृद्धि अपनी समृद्धि एवं शक्ति को बराबर बनाए रखने हेतु—ब्रिटेन ने एक नया आयाम अंगीकार किया और वह था—शक्ति सन्तुलन की नीति (Balance of Power)। अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए निर्मित इस नीति को ब्रिटेन ने आदर्शवादिता घुट देकर विश्व को यह बताया कि उद्देश्य सभी 'तेषु राष्ट्रों की स्वतन्त्रता की रक्षा करना है' जबकि वास्तव में उसका उद्देश्य किसी भी एक राज्य को अधिक शक्तिशाली नहीं बनने देना था। उसके राष्ट्रीय हित की यह भीम थी कि यूरोपीय महाद्वीप पर कोई भी राज्य इतना शक्तिशाली नहीं बन जाए कि उसकी शक्ति उसके राष्ट्रीय हितों तथा उसके व्यापार को चुनौती दे।¹ यदि कोई राज्य शक्तिशाली बनता भी था तो ग्रेट ब्रिटेन उसके विरुद्ध अन्य राष्ट्रों के साथ गुटबन्दी करके शक्ति सन्तुलन स्थापित कर देता था। लुई 16^{वें} तथा नेपोलियन बोनापार्ट के समय फ्रांस तथा हिटलर के समय जर्मनी जब शक्तिशाली हो गए तो ग्रेट-ब्रिटेन ने इसी प्रकार की नीति का अनुशीलन किया। इस नीति के अनुसार ब्रिटेन ने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता एवं शत्रुता के सम्बन्ध गतिशील बनाए रखे। यह कहा जाता है कि इंग्लैण्ड का कोई स्थायी शत्रु या मित्र नहीं है केवल स्थायी स्वार्थ एवं उद्देश्य हैं। इनसे अनुकूलता रखने वाले राज्य उसके मित्र बन जाते हैं तथा प्रतिकूलता रखने वाले शत्रु बन जाते हैं। अपनी आवश्यकताएँ ब्रिटिश द्वीप की रक्षा साम्राज्य की सुरक्षा व्यापार एवं वाणिज्य की उन्नति तथा औद्योगिक विकास—ये सब अतीत में ब्रिटिश नीति के महत्वपूर्ण उद्देश्य थे और आज भी ब्रिटिश विदेश नीति विधायकों से नहीं बरन् राष्ट्रीय हितों से प्रेरित है। बिल्जे से लेकर बिल्सन और कैलेगर्हैन श्रीमति दीघर और जान मेजर तक के सभी प्रधानमन्त्री इसी सिद्धान्त पर कार्य करते रहे हैं। सभी विद्वान इस मत से सहमत हैं कि ब्रिटिश राजनय के पीछे सैकड़ों वर्षों का अनुभव है। यह विश्व का सर्वोच्च राजनय है जिसकी अपनी विशिष्ट परम्पराएँ हैं।² हैटर के अनुसार "अमेरिकी राजनय की भाँति यह घालाक ममभीत करने वाला और फूहड़ नहीं है। यह फ्रांसीसी राजनय से अधिक महत्वपूर्ण तथा कम औपचारिक है।"³

परम्पराओं पर आधारित होने के कारण ब्रिटिश राजनय रूढ़िवादी रहा है। इसका मौलिक आधार व्यापारिक सिद्धान्त है। एक प्रतिष्ठित व्यापारी की भाँति ब्रिटिश राजनय की साख है जो उनकी विनम्रता निष्कपटता तथा विश्वास के आधार पर जमी है। यह फ्रांस इटली अथवा जर्मनी की भाँति पूर्वाग्रहों से बचा नहीं है और न ही यह पूर्व योजना के आधार पर चलता है। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि यह तुरन्त कॉफी (Instant Coffee) की भाँति घटक-ओं की प्रतिक्रिया पर केन्द्रित है परन्तु यही उसके

12 डॉ एन पी राय वही पृष्ठ 199

3 Haydon Diplomacy p 42

लघीलेपन का भी कारण है। इस सन्दर्भ में सर चॉल्स ट्रेवेलियन का भी यही मत है कि "ब्रिटिश जनता किसी दुर्घटना के सम्बन्ध में तभी विचार करती है जब कोई दुर्घटना घटित होकर उसके समक्ष आए इससे पूर्व उस पर विचार नहीं किया जाता है।" हैटर इस मत से सहमत है। अवसरवादिता की इस नीति के बाद भी ब्रिटेन अपने हितों तथा अपनी स्थिति के प्रति पूर्ण रूप से सजग है। ब्रिटेन की EEC की सदस्यता इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। आर्थिक सहयोग के माध्यम से ब्रिटेन का राजनय विरवध्यापी है। आर्थिक सहायता और तकनीकी सहयोग इस राजनय के प्रमुख अंग हैं।¹

ब्रिटिश राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ बड़े योग्य और प्रतिभाशाली होते हैं। उनका राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत में महत्वपूर्ण स्थान है। ब्रिटिश राजनय कुलीनतन्त्रीय रहा है और ब्रिटिश राजदूतों को प्रायः सर्वत्र सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। ब्रिटिश राजनय शालीन और सयमी है। ब्रिटिश राजनयज्ञ आत्मरक्षाधीन न होकर प्रायः पर्दे के पीछे रह कर अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहते हैं और लोकतान्त्रिक आचरण तथा भाषा प्रसन्न करते हैं। निकल्सन का मत है कि ब्रिटिश दूतों को दो विरोधी दृष्टि से देखा जाता है। एक पक्ष इन्हें अकल्पनाशील अनविज्ञ अकर्मण्य और सुस्त मानता है दूसरा पक्ष इन्हें पूर्ण जानकारी विरवसनीय और सकट के समय शान्त मानता है। कुछ उन्हें कुटिल तो कुछ अन्य इन्हें नैतिकता का मूर्तरूप मानते हैं। इन विरोधी दृष्टिकोणों के बाद भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ब्रिटिश राजनय योग्य और कुशल राजदूतों के हाथों में है। इसका आधार आत्मनयम निष्कपट व्यवहार तर्क साध और मध्य मार्ग है। ब्रिटिश विदेशनीति और उसकी राजनयिक गतिविधियों व्यावहारिक रही हैं।²

ब्रिटिश विदेश नीति और राजनय में कम से कम दो क्षेत्र ऐसे हैं जो उसकी मूलभूत परिस्थितियों से निर्णायक रूप से प्रभावित होते हैं। नीति निर्माताओं को इन क्षेत्रों में वातावरण के प्रमुख तत्वों को ध्यान में रखते हुए निर्णय लेने होते हैं। ये दो क्षेत्र हैं—राष्ट्रीय सुरक्षा और आर्थिक कल्याण की देखभाल। प्रथम की दृष्टि से ग्रेट-ब्रिटेन नाटो सन्धि संगठन का सदस्य बना और संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ इसने विशेष सम्बन्ध स्थापित किए। ग्रेट-ब्रिटेन द्वारा विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों समस्याओं कठिनाइयों और सघर्षों के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण अपनाया गया उस पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटेन के बाह्य वातावरण ने उसकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एवं हितों पर गम्भीर रूप से प्रभाव डाला है। बाह्य वातावरण के प्रभाव से ग्रेट ब्रिटेन विश्व की महत्वपूर्ण समस्याओं में स्वयं भागीदार बनता है। यह भागीदारी पुनः उसके आन्तरिक साधनों स्रोतों से मर्यादित होती है।

वर्तमान में ब्रिटिश विदेश नीति और राजनय का एक मुख्य उद्देश्य अमेरिका के साथ विशेष सम्बन्ध बनाए रखना है। सन् 1991 के खाड़ी-युद्ध में ग्रेट-ब्रिटेन ने संयुक्त-राज्य अमेरिका का पूर्ण साथ दिया था। राष्ट्रीय सुरक्षा एवं राष्ट्रीय आर्थिक कल्याण की दृष्टि से ब्रिटिश सरकार पर पड़ने वाले दबावों ने उसे अमेरिका के साथ विशेष सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रेरित किया है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ब्रिटिश विदेश नीति में समय-समय पर असमरसता एवं असंगतियाँ भी दिखाई दी हैं। असंगति का एक उदाहरण यह है कि

1 डॉ. एम. पी. राय वही पृष्ठ 399

2 डॉ. एम. पी. राय वही पृष्ठ 400

एक ओर यह संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ यथासम्भव घनिष्ठ राजनीतिक और सैनिक सम्बन्ध रखता है तथा दूसरी ओर यूरोपीय आर्थिक समुदाय के सदस्यों के साथ इससे घनिष्ठ आर्थिक सम्बन्ध है। संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ ब्रिटेन के विशेष सम्बन्धों की एक विशेषता यह है कि ये सम्बन्ध अत्यन्त दीर्घकालीन हैं। दूसरे ब्रिटेन की दृष्टि से इन सम्बन्धों का मूल्य सैनिक प्रकृति का है और तीसरे यह इस प्रकार के सम्बन्ध हैं कि दोनों ही पक्ष द्वारा अर्थ अपनी दृष्टि से लगाते हैं। 19वीं शताब्दी के अन्त में जब अमेरिका की शक्ति बढ़ी तभी से उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध ब्रिटिश विदेश नीति और राजनय के मुख्य सिद्धान्त बन गए और संयुक्तराज्य के साथ सघर्ष को हर कीमत पर रोकने की चेष्टा की गई। द्वितीय विश्व युद्ध के समय जर्मनी के विरुद्ध अमेरिका से सन्धि तथा विश्व युद्ध के बाद विकसित श्रेष्ठता संधि के साथ सघर्ष आदि की स्थिति में यह स्पष्ट हो गया था कि अमेरिका और ब्रिटेन के बीच सन्धि सम्भव और आवश्यक है। ब्रिटेन अमेरिका के साथ बहुपक्षीय गठो सन्धि समूहों में शामिल हो गया और उसके बाद व्यापारिक आर्थिक और अन्तराष्ट्रिय दृष्टि से दोनों राज्यों के बीच गिराने सम्बन्धों का विस्तार हुआ। ब्रिटेन के साथ सहयोग में अमेरिका की रुचि व्यवहारवादी रही है। ब्रिटेन के राजनयिक और सैनिक क्षेत्रों में अमेरिका के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध ब्रिटिश विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य रहा है। इसी प्रकार पश्चिमी यूरोप के राज्यों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने में ब्रिटिश अधिकारियों की रुचि रही है।

ब्रिटिश राजनय के उपयोग का एक साधन राष्ट्रमण्डलीय व्यवस्था है। राष्ट्रमण्डलीय देशों के साथ ब्रिटेन के विशेष सम्बन्धों ने ब्रिटेन को एक ओर अपना प्रभाव बनाए रखने में तो दूसरी ओर समूचे विश्व के साथ निकट सम्पर्क रखने में सहायता दी है। राष्ट्रमण्डल की स्थापना के माध्यम से ब्रिटेन ने पुराने उपनिवेशों से सम्बन्ध (व्यापारिक और राजनीतिक) तथा अन्तराष्ट्रीय जगत में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाए रखा है। ब्रिटिश विदेश सेवा का एक भाग राष्ट्रमण्डलीय देशों के साथ सम्बन्धों को देखता है। ये सम्बन्ध व्यापक हैं—आर्थिक राजनीतिक सामाजिक सांस्कृतिक आदि। इसका दूसरा साधन है जासूसी। ब्रिटिश राजनय भी अमेरिका व रूस की भीति जासूसी का उपयोग कर सूचनाओं की प्राप्ति करता है। स्मरणीय है कि सभी देश जासूसी का उपयोग करते हैं।¹ कहा जाता है कि ब्रिटिश राजनय न्याय और कल्याण भावना को अपनाए हुए है। न्याय साख विरवास आत्म समन और मानव कल्याण पर आधारित ब्रिटिश राजनय अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल रहा है। इसने कभी भी अत्यधिक तीव्र कदम नहीं उठाए हैं। यह मध्यमार्ग में विश्वास करता है। जहाँ ब्रिटिश राजनय का विश्व राजनय में अपना मान सम्मान व प्रतिष्ठा का स्थान है वही इसमें दोष भी बताये जाते हैं। ब्रिटिश व्यक्तिगत चरित्र का मूल आधार व्यक्ति का अपने आप में सीमित रहना है। ब्रिटिश राजदूत सामाजिक नहीं है। सामाजिकता राजनय में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। किसी अन्तराष्ट्रीय समस्या पर ब्रिटिश रुख आदर्शवादिता से प्रेरित होकर शीघ्र यथार्थ धरातल व स्वार्थ का मार्ग अपना लेता है। स्वामाविरुद्ध है कि देशी नीति अविवेकी हो जायेगी तथा इसका अस्मरण हो जाना आश्चर्यजनक नहीं होगा।

राजनय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Diplomacy and International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून वे नियम हैं जिनके अनुसार सम्य स्वतन्त्र सार्वभौमिक और स्वशासी राज्य शान्तिकाल तथा युद्धकाल में एक दूसरे के साथ व्यवहार करते हैं। इनका अपना विशिष्ट स्थान है। राष्ट्रों के मध्य राजनीतिक शक्ति के लिए संघर्ष पर यदि कोई प्रतिबन्ध है तो केवल अन्तर्राष्ट्रीय कानून का। अन्तर्राष्ट्रीय कानून सार्वभौम राज्यों के आपसी सम्बन्धों का नियमन करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समाज में उनके अधिकारों और कर्तव्यों की व्याख्या करते हैं तथा उनके दायित्वों का स्पष्टीकरण करते हैं। ये कानून अन्तर्राष्ट्रीय समाज में व्यवस्था स्थापित करने का काम करते हैं।

राजनय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मध्य महत्वपूर्ण नेद हैं। राजनय विशुद्ध रूप से राष्ट्रीय हितों की अनिवार्यता का सधन है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय हित से परे अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यवस्था को महत्व देता है। राजनय वह कला और सधन है जिसका उपयोग विभिन्न राज्य अपने लक्ष्यों की प्राप्ति तथा विदेश नीति के क्रियान्वयन के लिए अपने राजनयिक प्रतिनिधियों अथवा राजदूतों की सहायता से करते हैं जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून वास्तव में उन नियमों या कानूनों का समूह है जो राज्यों के मध्य राजनीतिक अधिक व्यापक सांस्कृतिक अथवा सैनिक सम्बन्धों का निर्धारण करता है। राजनय द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को इसी अर्थ में सम्मान दिया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में व्यवस्था बनी रहे और राजनय क्रियरहित रह सके। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के कुछ मौलिक नियमों के अनुपालन से प्रत्येक ऐसी परिस्थितियों कायम रहने में सहायता मिलती है जिनमें राजनय समुचित रूप से क्रियरहित हो सके। अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा राज्यों के बीच परस्परिक विश्वास को प्रोत्साहन दिया जाता है जिससे राजनय का आचरण सम्भव बनता है। यदि राज्य किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून अथवा नियम या सदाचार की परवाह न कर राष्ट्रीय हितों की उपलब्धि के लिए पूर्णतः राजनय का प्रयोग करेंगे तो अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अराजकता की स्थिति पैदा हो जाएगी और संदेह युद्ध की आशंका बनी रहेगी।

राजनयिक प्रतिनिधियों के अधिकार और स्वतन्त्रताएँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय हैं। राजनयिक अधिकारों की नियुक्ति उनकी स्वीकृति, प्रत्यय पत्र, अधिकार श्रेणियाँ, उन्मुक्तियाँ आदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून से ही मर्यादित होती हैं। इस प्रकार जहाँ राजनय राज्यों के मध्य सम्बन्धों का नियमन और राष्ट्रीय हितों का संदर्शन करता है वहीं अन्तर्राष्ट्रीय कानून अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के नियमों का निर्धारण करता है। राजनय द्वारा राज्यों के आपसी सम्बन्धों को सुधारने के तरीकों एवं सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है। समुक्त राष्ट्रसंघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय हैं किन्तु समुक्त राष्ट्रसंघ में सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि जिस प्रकार कार्य करते हैं वह राजनय का विषय है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राजनय के सधन के रूप में भी उपयुक्त है। यह राजनयिक लक्ष्यों की उपलब्धि के लिए सधन प्रस्तुत करता है। राजनयिकों के लिए सन्तुष्टि भरा प्रक्रिया सम्बन्धी सुविधा, समझने बुझाने का तरीका, विवाद तय करने तथा समझौता करने के मर्यादों आदि की आवश्यकता रहती है जो उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा उपलब्ध होते हैं। इनके होने से सन्धि बलों सुगम बन जाती है। इन सन्धियों में अस्पष्टता रहती है वे

अपने लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर पाती। सन्धि-वार्ता की प्रक्रिया और रूप भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा तय किया जाता है। राजनय के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर आधारित तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं।

जब राजनय अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को तय करने का प्रयास करता है तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून अनेक प्रकार से उसका सहायक सिद्ध होता है। यह अन्य राज्यों में एक राज्य के अभिकरणों की रक्षा करता है उसकी प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा करता है अन्य राज्यों की नीति को प्रभावित करता है तथा राष्ट्रीय सम्पन्नता की अभिवृद्धि करता है। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को तय करने के सभी तरीकों में अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का अनुसरण किया जाता है। सारौंश में यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून राजनय का अत्यन्त उपयोगी साधन है। यह एक दृष्टि से राजनय का परिणाम भी है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अधिकाँश भाग रिवाजों पर आधारित है। यह कूटनीति द्वारा की गई सन्धि-वार्ताओं एवं समझौता वार्ताओं की परम्परा को अपने नियमों का आधार बनाता है। सम्मेलनीय राजनय (Conference Diplomacy) के निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सामान्यतः स्वीकृत अंग बन जाते हैं। कूटनीतिक पत्र व्यवहारों एवं औपचारिक घोषणाओं द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास किया जाता है। स्पष्ट है कि ये दोनों एक दूसरे के सहायक हैं।¹

राजनय की परम्पराएँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं। राजनयिक परम्पराओं से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में जो सहयोग मिला है उसे विभिन्न उदाहरणों सहित प्रस्तुत करते हुए डॉ. शील के आसोपा ने लिखा है—

“राजनय की नई तकनीकों एवं नए तरीकों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास को सम्भव बनाया है। वर्तमान शताब्दी के छठे एवं सातवें दशक में राजनय की नई तकनीकों का तेजी से विकास हुआ है। प्रथम महायुद्ध के बाद कान्फ्रेंस डिप्लोमेसी पर ज्यादा ध्यान दिया जाने लगा। युद्धोत्तरकाल में तो अनेक प्रमुख व्यवस्थाएँ अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के माध्यम से ही की गई हैं। पेरिस पीस सम्मेलन 1919, वॉशिंगटन सम्मेलन 1921, लोकार्नो सम्मेलन 1925 जेनेवा डिस्आरममेंट कान्फ्रेंस 1932 तथा 1937 एवं द्वितीय महायुद्ध के दौरान काहिरा सम्मेलन, तेहरान सम्मेलन 1943, याल्टा सम्मेलन, पोद्सडम सम्मेलन तथा 1945 में समुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के लिए सान फ्रांसिस्को सम्मेलन उल्लेखनीय हैं। इन सभी के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को व्यवस्थित किया गया तथा इनसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनेक नियमों का विकास हुआ।

युद्ध के दौरान ही व्यक्तिगत राजनय, सम्मेलनीय राजनय के साथ ही प्रारम्भ हुआ। यह शिखर वार्ता के माध्यम से प्रारम्भ हुआ। युद्ध सन्धी अनेक प्रमुख निर्णय ब्रिटिश प्रधान मन्त्री डिस्टन चर्चिल तथा अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट के बीच बातचीत के दौरान लिये गए। अटलाण्टिक चार्टर 1941, काहिरा सम्मेलन 1943, तेहरान सम्मेलन 1943, याल्टा सम्मेलन 1944, पोद्सडम सम्मेलन 1945, ये व्यक्तिगत राजनय की भूमिका ही प्रमुख रही। रूजवेल्ट, चर्चिल तथा स्टालिन ने तथा बाद में रूजवेल्ट, स्टालिन तथा एटली ने युद्धोत्तर राजनीति के बारे में अनेक फैसले किए जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को एक नई दिशा दी। सन्धियों की व्याख्या बाध्यकारिता राजनयिकों के अधिकार, युद्धबन्धियों सम्बन्धी व्यवस्थाएँ

युद्ध अपराधियों पर मुकदमें मानव-अधिकार, नर-संहार (जिनोसाइड) नियेधक आदि के विकास में राज्याध्यक्षों के बीच हुई इस व्यक्तिगत सहमति ने प्रमुख भूमिका निमाई।

राज्याध्यक्षों के व्यक्तिगत प्रतिनिधियों तथा पूर्णाधिकार प्राप्त प्रतिनिधियों ने व्यक्तिगत राजनय को और सुदृढ़ बनाया। रिचर्ड निक्सन के कार्यकाल में हेनरी कीसिंगर ने युद्ध को समाप्त करने साम्यवादी चीन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने, पश्चिम एशिया के युद्ध को समाप्त करने तथा अरब-इजरायल सन्धि-वार्ता करवाने में महत्वपूर्ण भाग लिया। भारत के दुर्गाप्रसाद धर पी एन हक्सर आदि ने भी बंगलादेश की स्थापना के दौरान, भारत-रूस सन्धि के दौरान प्रधान-मन्त्री के विशेष दूत की हैसियत से सम्पूर्ण कार्यवाही में भाग लिया और महत्वपूर्ण निर्णय किए। राजनयिकों के व्यवहार तथा उनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों को प्रयुक्त करने के ढंग से यह स्पष्ट होता है कि अमुक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के किन नियमों को मान्यता देता है तथा किन क्षेत्रों में नए नियमों के विकास की आवश्यकता को अनुभव करता है।

राजनयिक व्यवहार भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में सहयोगी है। राजनयिक वास्तव में समस्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रमुख अभिकर्ता एवं माध्यम है, वे अपने राज्य तथा दूसरे राज्य के मध्य सम्बन्धों को ठोस आधार प्रदान करते हैं। राजनयिक व्यवहार से स्वतः कानूनों का निर्माण नहीं होता वरन् उससे यह स्पष्ट होता है कि उसका राज्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के किस नियम के प्रति क्या दृष्टिकोण रखता है। इस प्रकार विभिन्न राजनयिकों के माध्यम से मौजूदा नियमों का निर्धारण होता है और प्रकट स्वीकृति के आधार पर उन्हें ठोस स्वरूप प्राप्त होता है। राजनयिकों को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का व्यावहारिक अनुभव होता है अतः उनके व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत बन जाते हैं। राजनयिकों के सस्मरणों से इस बात का भी पता चलता है कि जिन देशों में उन्होंने अपने राज्य का प्रतिनिधित्व किया है उन देशों का अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति क्या विचार अथवा दृष्टिकोण है। जार्ज एफ केनन, के एम पत्रिकर, जॉन फाआस्टर डलेस, आआइजनहावर, कैनेडी हेनरी कीसिंगर, रिचर्ड निक्सन रीगन आदि के सस्मरणों से हमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति उनके राज्यों के दृष्टिकोण की अच्छी झलक मिलती है।

राजनयिक अभिकर्ता और वाणिज्य दूत : श्रेणियाँ एवं उन्मुक्तियाँ; तृतीय राज्य के सन्दर्भ में स्थिति, राजनयिक निकाय, अग्रत्व का नियम, प्रत्यय-पत्र एवं पूर्णाधिकार

(Diplomatic Agents & Consuls . Their Classes and Immunities; Position in Regard to the Third State, The Diplomatic Body, Principle of Precedence, Credentials and Full Powers)

वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन में अभिकर्ताओं या प्रतिनिधियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। राजनयिक अभिकर्ताओं का अर्थ ऐसे व्यक्तियों से है जो अपने राज्य और स्वागतकर्ता राज्य के राजनीतिक सम्बन्धों का संचालन तय करते हैं। फ्रांस में इनको सार्वजनिक मन्त्री (Ministers Public) कहा जाता है। एक राजनयिक अभिकर्ता का यह कर्तव्य है कि वह अन्य राज्यों से अपने राज्य के अच्छे सम्बन्धों का तथा अपने देशवासियों के हितों को ध्यान रखे और सभी महत्वपूर्ण विषयों पर अपनी सरकार को प्रतिवेदन प्रस्तुत करें। इन अभिकर्ताओं की सहायता अनेक पदाधिकारियों द्वारा की जाती है। स्थायी निवास के अध्यक्ष के अतिरिक्त कभी कभी विशेष उद्देश्यों के लिए अन्य राजनयिक अभिकर्ता भी नियुक्त किए जाते हैं। ये शव यात्रा के समय अथवा किसी समारोह के समय अपने सम्प्रभु या शासनाध्यक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं।

स्थायी दूतावासी की स्थापना आधुनिक काल की देन है। मध्य युग में राज्यों के बीच आपसी सम्बन्ध बहुत कम थे और जो सम्बन्ध थे उनका संचालन विशेष कार्य के लिए भेजे गए प्रतिनिधि द्वारा किया जाता था। अपना कार्य समाप्त होने पर वह वापस आ जाता था। स्थाई राजदूत भेजने की प्रथा 14वीं शताब्दी में इटली गणराज्य में प्रारम्भ हुई। फ्रांस के लुई 11^{वें} ने अनेक राज्यों की राजधानियों में अपने स्थाई प्रतिनिधि भेजे। बाद में यातायात और संचार साधनों के विकास के फलस्वरूप राज्यों के आपसी सम्बन्धों का विस्तार हुआ और 17वीं शताब्दी तक प्रायः सभी राज्यों ने स्थायी दूत भेजने की परम्परा अपना ली। प्रो फेनविक के कथनानुसार आज कोई भी राज्य शेष सत्तार से सम्बन्ध विच्छेद कर अलग थलग नहीं रह सकता। उसे विश्व समाज में सहयोगपूर्वक रहना पड़ता है।

दूसरी श्रेणी में राजदूतों के अधिकार सीमित थे और तीसरी श्रेणी के राजदूतों को केवल सन्देश वाहक मात्र माना गया।

कामन्दक ने भी कौटिल्य द्वारा प्रस्तुत दूतों के वर्गीकरण को स्वीकार किया है। इन्होंने दूतों के कर्तव्यों का विस्तार से उल्लेख किया है। उनके मतानुसार दूत को अपने और दूसरे देशों के बीच सम्पर्क स्थापित करने चाहिए दूसरे राज्यों में अपने राजा के प्रभाव तथा गुणों का प्रचार करना चाहिए उसे अन्य राज्य के विभिन्न अंगों की वास्तविक शक्ति का परिचय प्राप्त करके अपने राजा को बताना चाहिए विदेशी राजा के असन्तुष्ट वर्ग को अपने साथ मिला लेना चाहिए आदि आदि।

पारम्परिक मत प्रो. औपेनहेम ने राजनयिक दूतों के दो प्रकारों का उल्लेख किया है—(1) वे दूत राजनीतिक सन्धि वार्ता के लिए भेजा जाता है और (2) वे दूत जो समारोहपूर्ण कार्यों के लिए अथवा अध्यक्षीय में परिवर्तन की सूचना देने के लिए भेजे जाते हैं। विभिन्न राज्य समय समय पर दूसरे राज्यों को विशेष दूत भेजते हैं जो राजतिलक शादी दाह क्रिया आदि में भाग लेते हैं। दोनों प्रकार के दूत एक जैसा स्तर रखते हैं। राजनीतिक दूतों को पुनः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(1) स्थाई और अस्थायी रूप से किसी राज्य में समझौता वार्ता करने के लिए भेजे गए दूत और (2) किसी कॉंग्रेस या सम्मेलन का प्रतिनिधित्व करने के लिए भेजे गए दूत। दूसरे प्रकार के राजनीतिक दूत यद्यपि जिस राज्य को भेजे जाते हैं उसमें बसते नहीं हैं किन्तु वे निश्चय ही राजनयिक दूत होते हैं और इस पद के सभी विशेषाधिकारों का प्रयोग करते हैं।

उल्लेखनीय है कि मध्यकाल तक राजदूतों की श्रेणियाँ नहीं थीं। उस समय अप्रत्यक्ष व्यवस्था थी और प्रत्येक देश का दूत अपनी सवारी और गाड़ी अन्य देशों के दूत से आगे रखने का प्रयत्न करता था। उस समय यह विश्वास किया जाता था कि किसी देश विशेष में प्राप्त अप्रत्यक्ष के आधार पर ही उनकी महत्ता तय की जाती है। इसलिए राजदूत श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने के लिए अपनी घतुराई शौर्य एवं ऐश्वर्य का प्रयोग करते थे। प्राथमिकता का निर्धारण सबसे पहले रोम के पोप द्वारा किया गया। उसके अनुसार स्वर्ग की राह दिखाने वाले पोप का स्थान सर्वोपरि था। उसके बाद रोम के सम्राट का स्थान था। सम्राट के उत्तराधिकारी तीसरी श्रेणी में रखे गए। इनके बाद प्राम्स एरागन और पुर्तगाल के शासकों का स्थान था। यह वर्गीकरण राज्यों द्वारा स्वच्छा से स्वीकार नहीं किया गया था अतः अनेक राजदूत आपस में इसी प्रश्न पर लड़ बैठते थे। ऐसे सघर्षों में कभी कभी द्वन्द्व युद्ध की स्थिति भी आ जाती थी। इस प्रकार दूतावास राजनीतिक कार्य कलापों का क्षेत्र न होकर द्वन्द्व युद्धों का अखाड़ा बन गए। सन् 1551 ई. में स्वीडन के नए राजदूत के लन्दन आने पर उसके स्वागत के समय गाडिर्डी आग फैलाने के विवाद को लेकर फ्रांस तथा स्पेन के राजदूतों में झगडा हो गया। फ्रांसीसी घालक गाडी से खींच लिया गया तथा दो घोड़े अगविहीन कर दिए गए। एक सैनिक की हत्या कर दी गई। लुई 14वे ने इस कार्य से रुष्ट होकर स्पेन से राजनयिक सम्बन्ध तोड़ दिए और यह धमकी दी कि यदि लन्दन स्थित स्पेन के राजदूत को दण्डित न किया गया और स्पेन न फ्रांस से क्षमा याचना नहीं की तो वह स्पेन के विरुद्ध युद्ध भी घोषणा कर देगा। स्पेन न कटुता समाप्त करने के लिए फ्रांस से क्षमा याचना करते हुए हतियारों को हटा दिया।

सब दिवसों का अन्त करने के लिए तथा दिवस के सभी वर्गों से व्यापक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तथा 1815 की दिवस कोंग्रेस ने तथा 1818 की एक्स लॉ (Aix La Chapelle) कोंग्रेस ने निम्न प्रकार के दूतों की तीन श्रेणियाँ तथा दलितों का इन निश्चय किया। दिवस कोंग्रेस ने दूतों की तीन श्रेणियों का उल्लेख किया। इन्होंने छोटे राज्यों के दूतों को कोई स्थान प्राप्त नहीं था। एक्स लॉ रैमल की कोंग्रेस ने अदालत मंत्री (Ministers Resident) की नई श्रेणी की रचना की। दूतों की ये निम्न श्रेणियाँ निम्नलिखित प्रकार हैं—

1 राजदूत (Ambassadors)

राजदूत को प्रत्येक-राज्य के सम्मुख एक प्रतिनिधि माना जाता है। प्रारम्भ में वेवल सभी सम्मान से युक्त राज्यों द्वारा ही राजदूत भेजे तथा स्वीकार किए जाते थे। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कुछ छोटे राज्य भी राजदूत नियुक्त करने लगे। अपने राज्य के सम्मुख का प्रतिनिधि होने के कारण राजदूत अनेक विशेषाधिकार सम्मान एवं मुहिमों प्रदान की जाती हैं। इसे स्वातन्त्र्य राज्य के अध्यक्ष से सीधे मिलने और बात करने का अधिकार होता है। राजन्यात्मक रक्षण व्यवस्था में राजदूत के ये अधिकार महत्वपूर्ण हैं। किन्तु आज की लोकन्यात्मक रक्षण व्यवस्था में मंत्रियों का महत्व बढ़ जाने से अधिकारिक राजनयिक कार्य विदेश दिग्ग स्वयं ही सम्पादित कर लिये जाते हैं। राजदूतों का अन्य अधिकार यह है कि उन्हें पास श्रेष्ठ (His Excellency) के रूप में सम्बोधित किया जाता है। इस शब्द का प्रयोग उस क्षण से ही किया जाता है जब ये राजदूत अपने राज के व्यक्तिगत प्रतिनिधि हुआ करते थे। राजदूत का स्थान पर श्रेष्ठ और अग्रज इन की दृष्टि से सर्वोपरि होता है। केवल प्रथम श्रेणी के राजनयिक अधिकारों को ही राजदूत का श्रेष्ठता है।

19वीं शताब्दी के अन्त तक अंतिम प्रत्येक पक्षों में केवल राजदूत शब्द का ही प्रयोग होता था किन्तु बाद में यह अनुपयोग और पूरा प्रतिष्ठान शब्दों का ही प्रयोग करने लगा। सन् 1891 से समुक्त राज्य अमेरिका राजदूत नाम के राजनयिक अधिकारों की नियुक्ति नहीं करता था और इसलिए दलितों में से लिये जाने वाले विदेशी राजनयिक अधिकारों की निम्न स्तर के होते थे।

2 पूर्ण अधिकारयुक्त मंत्री और असाधारण दूत

(Ministers Plenipotentiary and Envoys Extraordinary)

इन्हें दूसरी श्रेणी के राजनयिक अधिकार माना जाता है। ये अपने प्रत्येक राज्य के सम्मुख के व्यक्तिगत दूत नहीं होते इसलिए इन्होंने राजदूत की सम्मान और अधिकार प्राप्त नहीं होता है। ये राजदूतों की श्रेष्ठ शान्तिपूर्ण राज्य के अध्यक्ष से मिलने नहीं मिल सकते और न इन्होंने विशेष सम्मान मुद्रक अधिकार प्राप्त होते हैं। इन्होंने लोकों के कारण पास श्रेष्ठ रहकर सम्बोधित किया जा सकता है किन्तु दर राज अधिकार नहीं है। ये एक अन्तरनिर्णय सम्मेलन दूत इस श्रेणी में आते हैं।

दूतों में अन्तर्गत शब्दों के लिए भेजे जाने वाले दूतों के अन्य असाधारण शब्द का प्रयोग किया जाता था ताकि हमने तथा दूतों स्वयं नाम से बन्ने दान मन्त्रियों के बीच अन्तर

किया जा सके। बाद में इसके साथ पूर्ण अधिकारी शब्द का प्रयोग भी किया जाने लगा इन्हें प्रेषक राज्य समस्त शक्तियाँ प्रदान करता है।

3 आवासी मन्त्री (Ministers Resident)

यह राजनयिक अभिकर्ताओं की तीसरी श्रेणी है। 1818 के एक्स लॉ रीपल के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन से इस नए वर्ग का प्रारम्भ हुआ। व्यवहार में इनमें तथा द्वितीय श्रेणी के दूतों में विशेष अन्तर नहीं है। इनका अधिकृत्य यह था कि ग्रेट ब्रिटेन ऑस्ट्रिया फ्रांस आदि की महाशक्तियाँ यह चाहती थी कि उनके तथा निम्न शक्तियों के दूतों में अन्तर रहे तथा इनके दूतों को अधिक प्रतिष्ठा न दी जाए। इन दूतों को परमश्रेष्ठ के रूप में सम्बोधित करने की शिष्टता भी नहीं बरती जाती है। आजकल आवासी मन्त्री नियुक्त करने की प्रथा कम होती जा रही है।

4 कार्यदूत (Charge D'Affairs)

इस वर्ग के दूत उपर्युक्त दूतों की भाँति राज्य के अध्यक्ष द्वारा दूसरे राज्यों के अध्यक्ष के लिए नहीं भेजे जाते वरन् एक राज्य का विशेष मन्त्रालय दूसरे राज्य के विदेश मन्त्रालय के लिए भेजता है। फलतः इन दूतों को दूसरों की भाँति विशेष सम्मान विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ प्राप्त नहीं होती हैं। ये दूत अपनी नियुक्ति के प्रत्यय पत्र राज्य के अध्यक्ष को भेज कर विदेश मन्त्री के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। भारत में मैक्सिको भगोलिया और इथियोपिया आदि राज्यों के कार्यदूत होते हैं।

किसी देश में स्थित सभी दूतों को सामूहिक रूप से राजनयिक निकाय (Diplomatic Corps) कहा जाता है। इनमें वरिष्ठतम दूत को डायन (Doyen) अथवा दूत शिरोमणि कहा जाता है। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के सदस्य आपस में जिन दूतों का आदान प्रदान करते हैं उन्हें उच्चायुक्त (High Commissioner) कहते हैं। भारत में वाणिज्य दूतों के अलावा राजदूत उच्चायुक्त और दूतों की अन्य श्रेणियों विद्यमान हैं।

परम्परागत रूप से राज्य प्रायः सम्मान श्रेणी के राजनयिक दूतों का आदान प्रदान करते हैं। व्यवहार में इस नियम के अपवाद भी हैं। आजकल यह प्राचीन परम्परा टूट चुकी है जिसके अन्तर्गत केवल बड़े राज्यों द्वारा ही राजदूत भेजे जाते थे। अब किसी छोटे देश के लिए महाशक्ति द्वारा राजदूत भेजना एक प्रकार से छोटे राज्य के अहम् को सन्तुष्ट करना है।

राजदूत या मन्त्री के नीचे एक राजनयिक मिशन में सैकड़ों व्यक्ति कार्य करते हैं। आवश्यकता के समय मिशन के सरकारी और गैर सरकारी सदस्यों के बीच अन्तर किया जाता है। सरकारी सेवा वर्ग वह है जिसके सभी सदस्य प्रेषक राज्य के अध्यक्ष द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। गैर सरकारी सेवा वर्ग में रसोइया माली तथा मिशन के अधिकारियों के सेवक होते हैं। इनकी स्थिति के सम्बन्ध में पर्याप्त विवाद हैं। अनेक राज्यों में सौजन्य वशा ही इनको राजनयिक विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती हैं।

राजदूतों के अप्रवृत्त का क्रम उनके आगमन की सरकारी सूचना की तिथि से निर्दिष्ट होता है। यह नियम वियना कॉन्फ्रेंस में निर्धारित किया गया था। आजकल इस नियम का कई राज्य अनुसरण नहीं करते और वे राजदूतों की ज्येष्ठता उनके प्रमाणपत्र उपस्थित

किए जाने की तिथि से निर्धारित करते हैं। भारत में इसी परम्परा का पालन किया जाता है।

दूतों की नियुक्ति (Appointment of Envoys)

राजनयिक अधिकारियों की नियुक्ति करते समय उनकी आवश्यक योग्यता और गुणों का निर्धारण प्रेषक राज्य स्वयं करता है। वह ऐसे लोगों को दूत बनाकर भेजता है जो उसके राष्ट्रीय हितों की पूर्ति कर सकें। दूसरे राज्य को यह अधिकार है कि वह कारण बताए बिना ही अन्य राज्य के प्रतिनिधियों का स्वागत न करें। दूतों की नियुक्तियों के सम्बन्ध में कुछ निम्नलिखित उल्लेखनीय बातें महत्वपूर्ण मानी जाती हैं—

पूर्व स्वीकृति अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में कई ऐसे उदाहरण हैं जब एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के प्रतिनिधियों का स्वागत नहीं किया गया। सन् 1885 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने मि कीले (Mr. Keiley) को दूत बनाकर इटली भेजा किन्तु इटली सरकार ने उसका स्वागत नहीं किया क्योंकि 14 वर्ष पूर्व संयुक्त राज्य अमेरिका में एक आम सभा में बोलते हुए कीले ने पोप के प्रदेश के इटली में विलय का विरोध किया था। इस प्रसंग में पत्र-व्यवहार में ऑस्ट्रिया-हंगरी सरकार ने बताया कि दूसरे राज्यों को प्रतिनिधि भेजने से पहले उन राज्यों की स्वीकृति प्राप्त कर लेनी चाहिए। सन् 1893 में अमेरिकी विदेश मन्त्रालय ने राजदूत नियुक्त करते समय विदेशी सरकारों से पहले ही पूछ लिया कि क्या उनको प्रस्तावित नामजद व्यक्ति स्वीकार होगा। तब से यह व्यवहार एक स्वीकृत नियम बन गया है। वर्तमान में राजदूतों की नियुक्ति के पूर्व संबंधित देश से स्वीकृति प्राप्त कर ली जाती है।

महिला राजदूत : महिलाओं को राजनयिक नियुक्त करने के सम्बन्ध में विचारक एकमत नहीं है। इतिहास में महिला राजदूतों के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। सर्वप्रथम फ्रांस के लुई चौदहवें ने पोलैण्ड में महिला राजदूत की नियुक्ति की थी। 18वीं तथा 19वीं शताब्दियों में महिला राजदूतों की नियुक्ति का कोई उदाहरण नहीं मिलता। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद सोवियत संघ संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत ने महिला राजदूतों की नियुक्ति की। भारत की श्रीमति विजयलक्ष्मी पण्डित को सोवियत रूस (1948-49), संयुक्त राज्य अमेरिका (1949-51) और ग्रेट ब्रिटेन (1954-62) आदि देशों में राजदूत बनाकर भेजा गया था।

प्रत्यय-पत्र (Letter of Credence) : राजनयिक अधिकारियों की नियुक्ति करते समय राज्य के अध्यक्ष की ओर से प्रत्यय-पत्र दिया जाता है। इसमें यह सूचना रहती है कि अमुक व्यक्ति को अमुक देश का राजदूत बनाया जा रहा है। प्रत्यय-पत्र के दो रूप होते हैं—

(1) मूल प्रत्यय-पत्र जो एक मोहरबन्द लिफाफा होता है और (2) इसकी प्रतिलिपि जो खुली रहती है। दूसरे देश में पहुँचने पर प्रतिनिधि अपने आगमन की सूचना हेतु विदेश मन्त्रालय को अपने प्रत्यय-पत्र की प्रतिलिपि भेज देता है। मूल प्रत्यय-पत्र को एक विधिवत् समारोह में स्वागतकर्ता राज्य के अध्यक्ष को अर्पित किया जाता है। कार्यदूत को दिए गए प्रत्यय-पत्र पर विदेश मन्त्री के हस्ताक्षर होते हैं और इसे स्वागतकर्ता राज्य के विदेश मन्त्री को अर्पित किया जाता है।

स्थाई राजदूत को अपने साधारण कार्य व्यापार सम्पन्न करने के लिए प्रत्यय पत्र के अतिरिक्त अन्य किसी अभिलेख की आवश्यकता नहीं होती किन्तु जब उसे कुछ विशेष कार्य सौंपे जाते हैं तो उसे पूर्ण अधिकार पत्र (Full Power) प्रदान किया जाता है। ये शक्तियाँ सम्बन्धित कार्य के अनुसार सीमित अथवा असीमित हो सकती हैं। इस पर राज्य के अध्यक्ष के हस्ताक्षर होते हैं।

समुक्त राजदूत साधारणतः एक राज्य प्रत्येक राज्य के लिए अलग राजनयिक अभिकर्ता भेजता है किन्तु कुछ परिस्थितियों में एक ही व्यक्ति को कुछ राज्यों में दूत कर्म करने का उत्तरदायित्व सौंपा जाता है। उदाहरण के लिए, भारत स्थित अमेरिकी राजदूत नेपाल में भी अमेरिकी राजदूत के कर्तव्य का पालन करता है। इसी प्रकार लन्दन में भारत का उच्चायुक्त आयरलैण्ड और स्पेन के लिए दूत का कार्य करता है। यूगोस्लाविया स्थित भारतीय राजदूत यूनान तथा बल्गारिया के लिए भी दूत का कार्य करता है। इसी तरह स्वीडन में स्थित भारतीय राजदूत डेनमार्क और फिनलैण्ड के लिए मैक्सिको का पनामा के लिए और इटली का अल्बानिया के लिए दूत का कार्य करता है।

प्रारम्भ में राज्य विदेशों में अपने एक से अधिक प्रतिनिधि नियुक्त करते थे। वर्तमान में भी ऐसा किया जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय ग्रेट ब्रिटेन ने समुक्त राज्य अमेरिका में राजदूत के अतिरिक्त मन्त्री स्तर के एक या अधिक व्यक्ति भी नियुक्त किए। ऐसी स्थिति में एक को वरिष्ठ बनाया जाता है और अन्य उसके अधीनस्थ कार्य करते हैं।

विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ

(Privileges and Immunities)

वर्तमान में राजनयिक प्रतिनिधियों को अपने कार्य एवं दायित्वों को सम्पन्न करने के लिए अनेक विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती हैं। ये विशेषाधिकार रिवाजी एवं अमिसमयात्मक कानूनों पर आधारित होते हैं। राजदूतों के स्वतन्त्र कार्य संचालन के लिए ही ऐसी व्यवस्था की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मुख्य विचारक ओपेनहीम के कथनानुसार "राजनयिक प्रतिनिधि राज्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनका गौरव होता है। वे अपने कार्यों को पूरी तरह तभी सम्पन्न कर सकेंगे जब उन्हें विशेषाधिकार प्रदान किए जाएँगे।" आजकल सामान्यतः निम्नलिखित विशेषाधिकारों एवं उन्मुक्तियों को उचित माना जाता है—

व्यक्तिगत अनतिक्रम्यता (Personal Inviolability)

राजनयिक अभिकर्ताओं को उतना ही पवित्र माना जाता है जितना राज्य के अध्यक्ष को। अतः उनको जीवन-रक्षा की विशेष सुविधा दी जाती है तथा उन्हें स्वागतकर्ता राज्य के कानूनी क्षेत्राधिकार से अलग रखा जाता है। राजदूत पर किया गया आक्रमण उसके राज्य पर किया गया आक्रमण माना जाता है जो युद्ध का कारण बन जाता है। राजदूत को दी गई सुरक्षा बिना शर्त अथवा पूर्ण नहीं होती। यदि राजनयज्ञ कोई गैर कानूनी कार्य करता है तो स्वागतकर्ता राज्य आत्म रक्षा के लिए कदम उठा सकता है।

प्राचीन भारतीय विचारकों ने दूत को शारीरिक क्षति पहुँचाना मारना अथवा बन्धन में रखना निन्दनीय कार्य बताया है। कौटिल्य के अनुसार दूत चाण्डाल होने पर भी अवध्य

है। महामारत के शान्तिपर्व में ग्रीष्म ने युधिष्ठिर को बताया कि दूत को मारने वाला नरकगामी और भ्रूण हत्या के पाप का भागी होता है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय कानून और न्यायालयों के निर्णयों द्वारा यह सुस्थापित हो चुका है कि किसी राजदूत को बन्दी बनाना तथा उसका माल जप्त करना अवैध है यहाँ तक कि शत्रु राज्य के दूत को हानि पहुँचाना भी उचित नहीं है। यदि उत्तेजना में किसी दूतावास को क्षति पहुँचाई जाती है तो सम्बन्धित राज्य को इसकी क्षतिपूर्ति करनी चाहिए।

स्पष्ट है कि दूत की अव्ययता का अर्थ उसे पूर्ण सुरक्षा प्रदान करना है। यही अनतिक्रम्यता होती है। इसके अनुसार दूत का शरीर इतना पवित्र माना जाता है कि कोई व्यक्ति हिंसा या उपद्रव द्वारा उसकी क्षति नहीं कर सकता है। न्यायालय उस पर मुकदमा चला कर दण्डित नहीं कर सकते। दूत के सहयोगी व्यक्तियों और वस्तुओं को सुरक्षा प्रदान की जाती है। उसका परिवार अनुचर वर्ग गाड़ियों पत्र व्यवहार आदि अनतिक्रम्य सम्झे जाते हैं। देश का दण्ड विभाग उस पर लागू नहीं होता है। इस सन्दर्भ में राजदूत का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह आत्मनियन्त्रण से काम ले और स्वागतकर्ता देश के कानून का आदर करे। लॉर्ड मेहोन के कथनानुसार, “यदि कोई दूत स्वागतकर्ता राज्य की सरकार के विरुद्ध षडयन्त्र करता है तो वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करता है। उसके विशेषाधिकारों की शर्त यह है कि वह अपने कर्तव्यों की सीमा का उल्लंघन नहीं करेगा। यदि उसने ऐसा किया तो स्वागतकर्ता राज्य अपनी सुरक्षा के लिए आवश्यक कार्यवाही कर सकता है। यदि कोई राजदूत स्वयं ही आग में कूद पड़े तो अनतिक्रम्यता का दावा नहीं कर सकता। यदि वह अपने को अनियन्त्रित भीड़ में डाल दे तो उसके अधिकारों की रक्षा नहीं की जा सकती।

2 राज्य क्षेत्र बाह्यता (Extra Territoriality)

राजदूत एवं उनके परिवार के सभी सदस्यों को स्वागतकर्ता राज्य के क्षेत्राधिकार से बाहर रखा जाता है। उन्हें स्थानीय क्षेत्राधिकार से उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती हैं। यह अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में एक नया विकास है प्राचीन विचारकों के लिए यह अज्ञात था। पहली बार इसे ग्रीशियस की रचनाओं में स्पष्ट किया गया। प्रो ओपनहैम के मतानुसार राज्य क्षेत्र बाह्यता एक कल्पना मात्र है क्योंकि राजनयज्ञ यथार्थ में स्वागतकर्ता राज्य के प्रदेश में रहता है। वह राज्य के कानूनी दायित्व से मुक्त नहीं होता किन्तु वहाँ के न्यायालय के क्षेत्राधिकार से मुक्त रहता है। अनेक मापतों में यह सिद्ध हो चुका है कि राज्य क्षेत्र बाह्यता केवल साहित्यिक अर्थ में महत्व रखती है। सन् 1934 में बर्लिन स्थित अफगान राजदूत की हत्या हो गई। इस मामले में जर्मन न्यायालय ने यह तर्क स्वीकार नहीं किया कि अफगान दूतावास में घटित यह घटना जर्मन प्रदेश से बाहर है।

3 निवास की उन्मुक्ति (Immunity of Domicile)

राजदूत को निवास स्थान सम्बन्धी उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती हैं। स्वागतकर्ता राज्य की पुलिस न्यायालय तथा न्यायालय का कोई कर्मचारी इसमें प्रवेश नहीं कर सकता। यदि इस क्षेत्र में कोई अपराधी प्रवेश कर जाए तो दूतावास के अधिकारियों का कर्तव्य है कि वे उसे राज्य सरकार को सौंप दें। अपन इस विशेषाधिकार का दुरुपयोग कर दूतावास अपराधियों का अड्डा नहीं बनन दिए जा सकते। ऐसा होने पर राज्य आवश्यक कार्यवाही

कर सकता है। घुड़साल एव मोटर गैरेज को निवास स्थान का भाग माना जाता है। निवास क्षेत्र में राज्य के अधिकारियों का प्रवेश दूतावास के अधिकारी की अनुमति से ही होता है। अनेक बार दूतावास शरण पाने के इच्छुक अपराधियों को शरण देता है। यदि राज्य न्यायिक कार्यवाही के लिए उस अपराधी की माँग करे तो दूतावास का कर्तव्य है कि सरकार को सौंप दे। यदि राजदूत ऐसा न करे तो स्वागतकर्त्ता राज्य उसे शारीरिक हानि पहुँचाने के अतिरिक्त कोई भी कार्यवाही कर सकता है।

4 विदेरी दूतावास में शरणदान (Asylum Foreign Legations)

दूतावास में राजनीतिक अपराधियों को शरण देने के सम्बन्ध में विभिन्न देशों में अलग-अलग व्यवस्थाएँ प्रचलित हैं। प्रारम्भ में अधिकाँश राज्यों के दूतावासों में ऐसी शरणदान परम्परा थी। आजकल यह केवल दक्षिण अमेरिका के राज्यों में है। दूसरे राज्यों में दूतावासों को यह विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है कि वे अपनी इमारतों में राजनीतिक अपराधियों को शरण दे सकें। यदि कोई राजदूत ऐसा करता है तो स्थानीय सरकार शक्ति का प्रयोग कर अपराधी को पकड़ सकती है। मानवीय दृष्टि से ऐसे लोगों को दूतावास में शरण दी जा सकती है जो उत्तेजित भीड़ या गैर कानूनी कार्य करने वालों के आक्रमण से मयमीत हों। राजनीतिक अपराधियों को इस प्रकार की शरण दी जा सकती है।

5 फौजदारी क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति

(Exemption from Criminal Jurisdiction)

राजनयिक अभिकर्ताओं को स्वागतकर्त्ता राज्य के फौजदारी क्षेत्राधिकार से पूर्ण उन्मुक्ति प्रदान की जाती है। कानून और व्यवस्था के नाम पर उनको बन्दी नहीं बनाया जा सकता और न पुलिस द्वारा उनको पकड़ कर उन पर मुकदमा चलाया जा सकता है। इनसे यह आशा की जाती है कि अपराध न करें और स्वागतकर्त्ता राज्य के कानून का स्वच्छा से पालन करें। ऐसा न करने पर उन्हें प्रेषक राज्य को वापिस भेजने तथा उनके देश द्वारा दण्ड की व्यवस्था की जा सकती है। राजा या राज्य के विरुद्ध बह्मन्त्र में शामिल होने वाले दूतों को स्वदेश वापिस जाने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

6 दीवानी क्षेत्राधिकार उन्मुक्ति

(Exemption from Civil Jurisdiction)

दूतावासों के सदस्यों पर कोई दीवानी कार्यवाही नहीं की जा सकती है। उन्हें ऋण न चुकाने पर बन्दी नहीं बनाया जा सकता और न ही उनकी गादियों, घोड़ों तथा साज समान को जब्त किया जा सकता है। ग्रोशियस का कहना था कि "राजदूत की व्यक्तिगत सम्पत्ति ऋणों की अदायगी या बुराई के लिए न्यायालय या सम्प्रभु राजा के आदेशों से जब्त नहीं की जा सकती।" यह विशेषाधिकार राजदूत को धिन्तामुक्त रहकर कार्य करने के लिए दिया जाता है। ग्रेट ब्रिटेन में 1708 में एक कानून बनाया गया जिसके अनुसार यदि राजदूत कर्ज अदा नहीं करता है तो उसके विरुद्ध सम्मन जारी नहीं किया जा सकता। समुक्त राज्य अमेरिका में कॉंग्रेस के कानून द्वारा राजदूत के विरुद्ध की गई कार्यवाही को असांविधानिक घोषित किया गया है। दीवानी क्षेत्राधिकार से मुक्ति के कुछ अपवाद भी हैं।

7. गवाही देने से उन्मुक्ति (Exemption from Witnessing)

राजदूत को किसी मामले में गवाही देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। उसे गवाही के लिए न तो किसी न्यायालय में बुलाया जा सकता है और न ही घर जाकर कोई अधिकारी उसकी गवाही ले सकता। यदि वह स्वयं गवाही देने के लिए सहमत हो तो न्यायालय उसकी सखी का तान उठा सकते हैं। सन् 1881 में अमेरिकी राष्ट्रपति गारफील्ड की हत्या के समय देनेजुरा का राजदूत वहाँ उपस्थित था। वह अपनी सरकार से अनुमति प्राप्त करके गवाह बन गया। राजदूत चाहे तो गवाह देने की प्रार्थना को ठुकरा सकता है। सन् 1856 में हालैन्ड के राजदूत ने एक नर-हत्या काण्ड देखा था, किन्तु अदालत में इसकी गवाही देने से इन्कार कर दिया।

8. पुलिस से उन्मुक्ति (Exemption from Police)

राजदूत को स्वागतकर्ता राज्य की पुलिस के क्षेत्राधिकार से बाहर रखा जाता है और वहाँ की पुलिस के आदेश एवं नियम उस पर बाध्यकारी नहीं होते। दूसरी ओर जिन दिश्यों पर पुलिस नियन्त्रण रखती है उन पर राजदूत मनमानी नहीं कर सकता है। यह आशा की जाती है कि राजदूत उन सभी आज्ञाओं एवं नियमों का पालन करेगा जो उसके मार्ग में बाधक नहीं हैं और समाज की सामान्य सुरक्षा एवं व्यवस्था के लिए उपयोगी हैं। यदि राजदूत ऐसा न करे तो प्रेषक सरकारों से उसे दण्डित बुलाने की प्रार्थना की जा सकती है।

9. करों से उन्मुक्ति (Exemption from Taxes)

स्थानीय सरकार राजदूत पर आयकर या दूसरे प्रत्यक्ष कर नहीं लगा सकती। वह स्वागतकर्ता राज्य की सम्प्रभुता का विषय नहीं बनाया जा सकता। उससे मकान, बिजली, सफाई, नल आदि सेवाओं का मूल्य लिया जा सकता है। कुछ देशों से सौजन्यदश वह भी नहीं लिया जाता। दूसरे प्रकार के अप्रत्यक्ष कर लिए जा सकते हैं। दिवना अनिसमय में दूतों को करों से मुक्त रखने का सिद्धान्त स्वीकार किया गया था। वहाँ इन पर लगू होने वाले करों को सूची बनाई गई। राजदूत एवं उसके परिवार के सदस्य व्यक्तिगत उपयोग के लिए जो चीजें मँगते हैं उन पर कोई सीमा-शुल्क अथवा घुँगी नहीं ली जाती है।

10. धार्मिक अधिकार (Right of Religion)

राजदूत को धार्मिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है। वह अपने विश्वास के अनुसार पूजा और उपासना कर सकता है। उसका धर्म स्थानीय धर्म और विश्वास से भिन्न हो सकता है। वह अपनी उपासना के लिए राजदूतावास परिसर में ही मन्दिर, गिरजाघर, मस्जिद आदि का निर्माण करा सकता है।

11. पत्र-व्यवहार की स्वतन्त्रता (Freedom of Communication)

राजनयिक दूत को अपनी सरकार के साथ पत्र व्यवहार करने की पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। स्थानीय सरकार द्वारा उसके पत्र-व्यवहारों का निरीक्षण नहीं किया जाता।

12. व्यावसायिक कार्य (Business Activities)

कुछ लेखकों के मतानुसार राजदूतों को व्यापारिक कार्यों की उन्मुक्ति नहीं देनी चाहिए। यदि राजदूत के पास उसके कार्यालय और निवास के अतिरिक्त कोई वास्तविक सम्पत्ति है

तो इस पर कर लगाया जा सकता है। एक राजदूत द्वारा निजी व्यवसाय किए जाने पर अभियोग घटाया जा सकता है। अनेक विचारक इस मत का समर्थन करते हैं किन्तु समस्या यह है कि राजदूत की व्यक्तिगत सम्पत्ति और उन्मुक्ति के बीच अन्तर किस प्रकार किया जाए।

13 अनुधर वर्ग के लिए उन्मुक्तियाँ (Immunities for Retinue)

राजदूत को जो विशेषाधिकार सौंपे जाते हैं वे एक सीमा तक उसके अनुधर वर्ग को भी प्राप्त होते हैं। इनमें दूतावास में बाम करने वाले कर्मचारी दूत के व्यक्तिगत सेवक उसके परिजन तथा नौकर घाकर शामिल होते हैं। राजदूत द्वारा अपने अनुधर वर्ग की पूरी सूची स्वागतकर्ता राज्य के विदेश मन्त्रालय को सौंपी जाती है। इस सूची के अलावा किसी व्यक्ति को कोई राजनयिक विशेषाधिकार नहीं दिया जाता है।

राजदूत की पत्नी या पति को उक्त सभी विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं। यदि राजदूत चाहे तो उसके पारिवारिक सदस्यों के विशेषाधिकार को निरस्त भी किया जा सकता है। दूतावास में काम करने वाले कर्मचारी परामर्शदाता सचिव तथा सहचारी इत्यादि को दीवानी तथा फौजदारी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्ति प्रदान की जाती है। राजदूत के निजी नौकरों के सम्बन्ध में कोई सुनिश्चित नियम नहीं है किन्तु उन्हें प्रायः दीवानी उन्मुक्ति और सीमित फौजदारी उन्मुक्ति प्राप्ता होती है। राजदूत के सन्देशवाहकों को पूर्ण दीवानी और फौजदारी उन्मुक्ति प्रदान की जाती है।

तृतीय राज्य के सन्दर्भ में राजनयिक अभिकर्ता की स्थिति (Position of Diplomatic Agent in Regard to Third State)

प्रत्येक राजनयिक अभिकर्ता को पद ग्रहण के लिए जाते समय या अपनी सरकार को प्रतिवेदन देने के लिए लौटते समय तीसरे राज्य की सीमाओं में होकर जाना पड़ता है। अतः प्रश्न यह उठता है कि इस तीसरे राज्य में राजदूत की स्थिति क्या होनी चाहिए। राजदूत को न केवल रास्ता पाने के लिए तीसरे राज्य से सम्बन्ध रखना पड़ता है वरन् अन्य दो स्थितियों में भी यह आवश्यक बन जाता है—

(1) यदि राजदूत एक ऐसे युद्ध प्रवृत्त राज्य में है जहाँ अन्य राज्यों द्वारा सैनिक अधिकार किया जा चुका है (2) यदि तीसरे राज्य द्वारा उसके कार्य में हस्तक्षेप किया जाता है। तीसरे राज्य ने इन राजनयिक अभिकर्ताओं की स्थिति से सम्बन्धित निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

शान्तिकाल में निर्दोष गमन (Passage in time of Peace)

जब एक राजनयिक अभिकर्ता अपने राज्य से जाते समय या अपने राज्य को आते समय तीसरे राज्य में होकर गुजरता है तो उसकी स्थिति एवं अधिकार कैसे होंगे इस सम्बन्ध में विचारकों ने मित्र मत प्रकट किए हैं। स्मेलज़िंग (Schmelzing) के कथनानुसार “राजदूत केवल उसी राज्य के प्रदेश में समस्त राजनयिक विशेषाधिकारों का उपयोग करता है जिसमें उसे भेजा गया है। अपनी यात्रा के दौरान वह जिन राज्यों में होकर गुजरता है उनमें वह अनतिश्रम्भता या अन्य विशेषाधिकारों का दावा नहीं कर सकता जब तक कि वहाँ के सम्प्रभु को अपना प्रत्यय पत्र न दिखाए। तीसरे राज्य में से यात्रा करने वाला

राजपक्ष एक सचराय्य बल की संज्ञा होता है। परन्तु यह अनुसार नहीं है कि राजपक्ष राजदूत द्वारा किसी देश के मन्त्रिपरिषद् के लिये राज से गुजर सकते हैं तथा कुछ समय दिवस भी ले सकते हैं। उनमें नियमित राजदूत की संज्ञा काट कर कुछ विशेषधिकार प्रदान किए जाते हैं। यह एक राजनयिक सौजन्य है कोई राजनयिक दायित्व नहीं है।

अन्ततः सभी राज्यों इस बात से सहमत हैं कि उनके राजनयिक प्रतिनिधि अन्य मन्त्रिपरिषद् के मन्त्रियों राज्यों में होकर सम्मेलनपूर्वक एक विषय को जान सकें। उन्हें सभी समुक्त सुविधाएँ और सौजन्य प्रदान किया जाए। राजदूत को प्राप्त एक सम्मेलन होना चाहिए जिसमें समस्त देश परिचित दिए गए हों। ऐसी राज के होना चाहिये कि राजनयिक दृष्टि से इन तीन स्थितियों में अन्तर दिया जा सकता है—

(1) जब एक देश अपने देश से अपने सम्बन्ध या देश के लिए अपने सम्बन्ध लिये राज से गुजरता है (2) जब वह सम्मेलनपूर्वक लिये राज से गुजरता है और (3) जब वह अपनी मन्त्रिपरिषद् से लिये राज से गुजरता है। अन्तिम स्थिति में राजदूत को कोई सम्मेलन नहीं दी जाती।

युद्धकाल में मन का अधिकार (Passage in time of War)

एक राजदूत युद्धकाल में लिये राज से होकर मन कर सकता है अथवा नहीं इस प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित परिस्थितियों के अनुसार दिया जाता है—

1. जब प्रत्येक राज्य लिये राज से गुजरने का अधिकार नहीं देता। वह उसे रोककर युद्ध बन्दी बना लेता है। ऐसा करके वह किसी अन्तराष्ट्रीय कानून या सम्मेलन नहीं करता। रिवियर (Rivier) के सम्मेलनानुसार यदि दो राज्यों के बीच युद्ध है तो राजदूत को सुझाव दी दृष्टि से बन्दी बनाया जा सकता है। हार्स (Hays) के सम्मेलनानुसार यदि युद्धग्रस्त राज्य का राजदूत लक्ष्य राज्य के जहाज में यात्रा कर रहा हो तो उस जहाज को रोककर कैदी बनाया जा सकता है। सम्मेलनानुसार यदि राजदूत युद्ध में शामिल हो गया तो वह देश बन गया। जब फ्रांस के राजदूत ने बर्लिन जाते हुए जर्मनी में होकर गुजरना चाहा तो उसे उसके साथ सहित युद्ध बन्दी बना लिया गया। कुछ स्थितियों में उन्हें बन्दी बना रखा गया। सन् 1917 में जब समुक्त राज्य अमेरिका युद्ध में शामिल हो गया तो अमेरिकन स्थित जर्मन राजदूत को जर्मनी वापस आना पड़ा। उसकी मन्त्रिपरिषद् को युद्ध का प्रत्यक्ष समुक्त राज अमेरिका की प्रार्थना पर मित्र राज्यों ने किया। इस सम्मेलन ने दृष्टि लाना और मित्र राज्यों के बीच संपर्क या किन्तु अमेरिकन कानून के अनुसार राजदूत को युद्ध बन्दी नहीं बनाया।

2. जब सम्मेलनानुसार राज्य का तृतीय राज्य से युद्ध हो सन् 1917 में जब फ्रांस और जर्मनी के बीच युद्ध छिड़ गया तो स्वीडन उन दोनों जर्मनी सम्मेलन के फ्रांस के प्रधान ने गुप्त रूप से युद्ध बन्दी बना लिया गया। जब फ्रांस की सरकार ने इसका विरोध किया तो जबकि यह दृष्टि लाना कि राजदूत को प्राप्त सम्मेलन होना चाहिए था।

स्वागतकर्ता राज्य पर तीसरे राज्य की सशस्त्र सेनाओं का आक्रमण होने की स्थिति में दो बातें उल्लेखनीय हैं—(i) यदि आक्रान्त राज्य की सरकार राजधानी से अपना देश के किसी अन्य कस्बे में घटती जाए तो प्रश्न यह उत्पन्न है कि क्या राजनीतिक अभिकर्ता को भी अपना निवास उसी कस्बे में बदल लेना चाहिए अथवा राजधानी में ही बना रहना चाहिए। इसका निश्चय यह स्वयं और उसकी सरकार करेगी। (ii) यदि स्वागतकर्ता राज्य पर तीसरे राज्य की सेनाओं का अधिकार हो जाए तो राजदूत का यह दायित्व है कि उस नगर को छोड़ दे। तदर्थ राज्यों के राजदूतों को भी ऐसी स्थिति में हटना पड़ेगा जब तक कि उनकी सरकार नई सरकार से स्वीकृति प्राप्त न करले। सन् 1914 में जब जर्मनी की सेनाओं ने लज्जमबर्ग पर अधिकार कर लिया तो जर्मन सरकार ने लज्जमबर्ग में आए फ्रांस और बेल्जियम के राजदूतों को वापस जाने को कहा। जब 1914 में जर्मनी की सेनाओं ने बेल्जियम के अधिवास भाग पर कब्जा कर लिया तो बेल्जियम की सरकार फ्रांसीसी प्रदेश में घटती गई और वहाँ स्थित अन्य विदेशी राजदूतों ने भी उसका अगुमन किया।

सामान्य बातें (General Considerations)

एक राज्य को भेजा गया राजनीतिक अभिकर्ता अपनी सरकार की अनुमति के बिना उस राज्य तथा अन्य राज्य के विवादों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं रखता है। यदि वह बोलता है तो स्वागतकर्ता राज्य या अन्य राज्य अथवा दोनों उसकी स्वयं की सरकार से शिकायत कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त वे राजनीतिक विशेषाधिकारों और उन्मुक्तियों की सीमा के अन्तर्गत रहकर आवश्यक कार्यवाही कर सकते हैं। जब राजदूत अपने स्वागतकर्ता राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में दखल देने लगता है तब तीसरे राज्य के सम्बन्ध में उसका कोई विशेषाधिकार नहीं रहता है। सन् 1734 में पोलैण्ड स्थित फ्रांसीसी राजदूत ने पोलैण्ड तथा रूस के युद्ध में सक्रिय भाग लिया था। उसे रूसियों ने युद्ध बन्दी बना लिया और फ्रांस द्वारा विरोध किए जाने पर भी 1736 तक नहीं छोड़ा गया।

राजनीतिक निकाय

(The Diplomatic Body)

राजनीतिक निकाय एक देश के सभी राजनीतिक प्रतिनिधियों का सामूहिक नाम है। इसमें मिशनो के सभी अध्यक्ष पार्षद सचिव और सहकारी शामिल होते हैं। इसके अतिरिक्त राजनीतिक कार्यालय से सम्बन्धित सभी कर्मचारी भी इसके भाग होते हैं। कुछ देशों में राजनीतिक निकाय की सूची समय समय पर प्रकाशित की जाती है। इसमें मिशन के सदस्यों की पत्नियाँ और वयस्क पुत्रियाँ भी शामिल किया जाता है।

राजनीतिक निकाय का अध्यक्ष वरिष्ठतम राजदूत होता है जिसे डोयन या डीन (Doyen or Dean) कहते हैं। डोयन अथवा डीन का यह कर्तव्य है कि राजनीतिक मिशन और अन्य निकायों के विशेषाधिकारों तथा उन्मुक्तियों की रक्षा करे। इस पदाधिकारी के कार्य सीमित तथा मुख्यतः औपचारिक होते हैं। वह सार्वजनिक अवसरों पर अपने साधियों का अभिवादन होता है तथा राजनीतिक निकायों के विशेषाधिकारों तथा उन्मुक्तियों की रक्षा करता है। वह उत्सवों के समय दूसरे राजनीतिक मिशनो के अध्यक्षों को सन्देश देता है। वह अपने राजनीतिक निकायों के सभी रिकार्ड्स रखने के लिए उत्तरदायी होता है और अपने साधियों की ओर से जो कुछ भी कहता है या लिखता है उसके सम्बन्ध में पहले उनसे विचार विमर्श

का स्वीकृति प्राप्त कर लेता है। एक राजनयिक नियम का अर्थ यह है कि प्रत्येक देश पर समुक्त वर्तमानों में बदल रही स्थिति होती है जब तककी सरकार उसे अनुमति प्रदान कर देती है।

द्वितीय राजनयिक प्रतिनिधि की पत्नी को डेपूटी कहा जाता है। इसका कार्य स्वागतकर्ता राज्य के सम्मुख राजनयिक नियम की महिलाओं को परिचय देना होता है। जिस राजनयिक नियम का अर्थ यह होता है कि उसकी महिलाओं के सम्पर्क में डेपूटी का यह कार्य विशेष महत्व रहता है। जिन राज्यों में राजनयिक नियम के सदस्यों की संख्या अधिक होती है तथा जहाँ संयुक्त के सम्पर्क में डेपूटी द्वारा राजनयिक नियम की प्रत्येक महिला का सम्पर्क करने की परम्परा है वहाँ डेपूटी का यह महत्वपूर्ण बन जाता है। नैतिकता की परम्परा के अनुसार किसी राजनयिक नियम के अर्थ की न्यायपूर्ण पत्नी का वहाँ के विदेश मंत्री की पत्नी तथा राजनयिक नियम की अन्य महिलाओं से परिचय कराने का कार्य डेपूटी कर देती है।

अग्रत्व का नियम (Principle of Precedence)

अग्रत्व का अर्थ (The Meaning of Precedence)

अग्रत्व का अर्थ यह प्रथम नियम से है जिसका अर्थ किसी देश के राज्य-प्रमुख राजकीय तथा सैनिक सम्बन्धों का राजनयिक परिषदों अदि में एक देश में निम्न विदेशी राजनयिक प्रतिनिधियों के स्थान प्रदान के रूप में समझा जाता है। यह सिद्धान्त प्रत्येक देश में अधिक महत्वपूर्ण माना जाता था। उस समय प्रत्येक राजदूत अपने राजनयिक के सम्पर्क और गौरव का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता था। अतः व्यवहार में एक राजदूत के रूप में स्वयं राजनयिक ही विदेश में सम्मिलित रहता था। इसके अलावा अन्य अग्रत्व के सिद्धान्त ने उन्मूलन किया। राज्य के सैनिक सम्बन्धों में प्रत्येक राजनयिक प्रतिनिधि को सबसे राजनयिक की श्रेष्ठता के अनुसार ही स्थान दिया जाता था। इस प्रकार सबसे अधिक दक्षिण की ओर प्रतिष्ठित राज्य के राजदूत को सबसे पहले स्थान और सबसे कम दक्षिण तथा गौरव वाले राज्य के राजदूत को अन्तिम स्थान दिया जाता था। ऐतिहासिक दृष्टि से यह नियम श्रेष्ठ तथा समुक्त था। किन्तु व्यवहार में यह सम्भव सम्मिलित होती थी कि किसी राज्य की दक्षिण गौरव तथा सम्मान की श्रेष्ठता को करने का कार्य हीन को और किस प्रकार करे। उस कार्य में ऐसी कोई अन्तराष्ट्रीय सत्ता नहीं थी जिसके मत को सभी राज्य मान्यता देने की तैयार होते। इस प्रसंग पर सब समय एक ही लिखित समझौता या समझौता भी नहीं था। यद्यपि अग्रत्व के प्रसंग पर राज्यों के बीच कुछ दिन विवाद होते रहते थे। कभी-कभी यह विवाद सप्ताह सम्पर्क के रूप में भी समाप्त हो जाते थे।

इतिहास में अग्रत्व (Precedence in History)

विषय वस्तु यह कि ईसाई राज्यों के लिए अग्रत्व का निर्णय लेना हुआ किया जाता था। यह इस दृष्टि से स्वयं की गलत प्रदान मान पर रोमन साम्राज्य के समुद्र की द्वितीय स्थान पर तथा रोमनों के राज्य की गलत द्वितीय स्थान पर करता था। रोम के इस वर्तमान से भी राज्य समुक्त नहीं थे। अनेक बार उनके बीच गम्भीर विवाद उठ जाते थे। 16वीं

और 17वीं शताब्दियों के राजनयिक इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। उस समय अग्रत्व के नियम के दो अन्य उल्लेखनीय परिणाम भी होते थे—

1 राजदूत को अपने सम्प्रभु के यौरव तथा सम्मान की दृष्टि से तड़क भड़क प्रदर्शित करने में पर्याप्त व्यय करना पड़ता था। यह सब उसके स्वयं की जेब से होता था। फलतः जब वे सेवामुक्त होते थे तो उन पर कर्ज का अत्यधिक भार हो जाता था।

2 अपनी बनावटी शान शौकत के कारण राजदूत हिम स्तर के राजकर्मचारियों और दूसरे गैर सरकारी व्यक्तियों से मिलकर अपने सम्मान और शोभा के विपरीत माते थे। वे आवश्यक सामग्री का सकलन केवल विरघत स्त्रोतों से ही कर पाते थे।

सन् 1815 की वियना कोंग्रेस में अग्रत्व के सन्दर्भ में कुछ निर्णय लिए गए थे। इसके अनुसार राजनयिक वर्ग को कई श्रेणियों में विभाजित किया गया। विभिन्न राज्य द्वारा निर्धारित श्रेणियों के अनुसार अपने अग्रत्व का निर्धारण करने लगे। सोवियत सघ ने इस व्यवस्था से मित्र जून 1918 में अपनी सभी राजनयिक दूतों को एक ही श्रेणी प्रदान कर दी और उन्हें पूर्ण सत्तापारी प्रतिनिधि कहा जाने लगा। यह एक अकेली व्यवस्था होने के कारण यल नहीं सकी और सोवियत सघ को धीरे धीरे पुराना वर्गीकरण अपनाना पड़ा।

वियना कोंग्रेस में यह निर्धारित हुआ कि अग्रत्व की दृष्टि से राजनयिक प्रतिनिधियों की चार श्रेणियाँ अपने क्रम से स्थापन पाएँगी और प्रत्येक वर्ग के राजनयिक प्रतिनिधियों में पहले नियुक्त होने वाले को अग्रत्व पहले और बाद में नियुक्त होने वाले को बाद में प्रदान किया जाएगा।

किसी राजदूत की मृत्यु, स्थानान्तरण और त्याग पत्र की स्थिति में उसके अग्रत्व का प्रश्न अधिक जटिल बन जाता है। इस प्रश्न का समाधान अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सहायता से किया जा सकता है। जब अग्रत्व का निर्णय नियुक्ति की तिथि के आधार पर करते हैं तो सबसे पुराने राजदूत को सबसे अधिक सम्मान दिया जाता है। उस देश में स्थित सभी राजनयज्ञों में वरिष्ठ होने के कारण उसे वरिष्ठ दूत या डोयन (Doyen) की उपाधि प्रदान की जाती है। आजकल अग्रत्व के नियम का भ्रष्ट पूर्ववत् नहीं है। यह परिवर्तन मुख्यतः दो कारणों से हुआ है—

(क) सन् 1806 में पवित्र रोमन साम्राज्य का अन्त हो गया तथा विश्व राजनीति में प्रभुतासम्बन्ध राष्ट्रीय राज्यों का विकास होने लगा। अब कोई राज्य किसी से श्रेष्ठ या हीन नहीं माना जाता किन्तु प्रत्येक राज्य की स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता का आदर किया जाता है तथा छोटे बड़े और धनी निर्धन सभी राज्यों को समानता प्रदान की जाती है।

(ख) वियना कोंग्रेस के बाद से संधियों पर हस्ताक्षर करने के लिए विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा एकौत्तरता (Alicrntale) का नियम व्यवहार में लाया जाने लगा। तदनुसार किसी सन्धि की जिस प्रति पर कोई राजदूत हस्ताक्षर करता था वह उसे दूसरे पक्ष को देता और दूसरे राजदूत द्वारा हस्ताक्षर की गई प्रति को अपने पास रखता था। इस प्रकार राज्यों के बीच समानता का विचार घनपने लगा। इतने पर भी समारोहों तथा सम्मेलनों आदि में आज भी राजदूत अमात्य आदि को उनके अग्रत्व का ध्यान रखकर ही स्थान दिया जाता है। इस सम्बन्ध में प्रत्येक देश की अपनी परम्परा व नियम होते हैं। जिन्हें दूसरे देश के राजनयज्ञ स्वीकार करते हैं।

राजनयिक अधिकारों की विभिन्न श्रेणियाँ होती हैं तथा प्रत्येक श्रेणी में अग्रत्व का निश्चय राजनयिकों के अपने की राजकीय सूचना के आधार पर किया जाता है। कहे गए लेखकों के मतानुसार अग्रत्व या दक्षिणता का निश्चय उस दिशि के अग्रत्व पर किया जाता है। जब राजनयिक/दूत अपने प्रत्यय-पत्र प्रस्तुत किए गए हों।

जब प्रत्येक स्वतन्त्र राज्य के सम्प्रभु का स्वर्गदास हो जाता है या सरकार बदल जाती है तो राजनयिकों की नए प्रत्यय-पत्र जारी किये जाते हैं। इनके राजनयिकों के तब में आने की दिशियों निम्न-निम्न होती हैं। अब यह समस्या सट्टी है कि क्या इसके आधार पर राजनयिकों के अग्रत्व या दक्षिणता में अन्तर किया जाए। इस सम्बन्ध में विचारकों के मतभेद हैं। इस सम्बन्ध में 8 मार्च 1818 में एक विवाद उत्पन्न हुआ था। मन्त्रालय यह था कि वेनिस राज्य में जो राजनयिक 'वेनिस' था उसके राज्य की सरकार बदल गई और इसलिए उसको नए प्रत्यय पत्र भेजे गए इस पर उसके कुछ सचिवों ने यह मत प्रकट किया कि अब उसकी दक्षिणता समाप्त हो गई तथा उसका पद उसके सचिवों के बद हो गया है परन्तु बहुमत की राय इस मत के विरुद्ध थी। सन् 1830 में राजनयिक नियमों के अध्यायों ने वेनिस में यह स्वीकार किया कि नए प्रत्यय-पत्र प्रसारित करने की दिशि यह कुछ भी हो, उनकी दक्षिणता अग्र-दिव रहेगी। यही व्यवस्था 1848 तथा 1852 में भी की गई। आजकल इसी मत का आदर किया जाता है।

अग्रत्व के सम्बन्ध में प्रत्येक राज्य के सम्प्रभु के अपने नियम होते हैं। यदि वहाँ स्थित विदेशी राजनयिक कोई निम्न नियम स्वीकार कर ले तो सम्प्रभुता के नियम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। यदि अग्रत्व के सम्बन्ध में कभी कोई सन्देह उत्पन्न होता है तो ऐसी स्थिति में स्वतन्त्र राज्य का निर्णय मान्य माना जाता है।

जब राजदूत और राजनयिक नियमों के अन्य अध्यायों को अग्र-निम्न किया जाता है तो उन्हें उनके सम्प्रभु के अग्रत्व पर ध्यान प्राप्त होता है। स्थान का निश्चय स्थानीय नियमों के आधार पर किया जाता है। उत्तरी और सन्तरेहों में सम्मिलित होने या न होने की बात संपादन है किन्तु यदि किसी राजदूत को उत्तर में बुलाया नहीं जाता तो इसे गम्भीर दिवस माना जाता है और अतीतकाल में इसके प्रति-स्वतन्त्र राज्यों के बीच कटुता भी पैदा हुई। सन् 1750 में वलिन स्थित रुसी राजदूत को किसी सम्मेलन में अग्र-निम्न किए गए व्यक्तियों की सूची से छोड़ दिया गया था, क्योंकि अनुमति था कि वह उस समय राजधानी में नहीं था। इस घटना का सभी सरकार द्वारा घोर विरोध किया गया और दोनों राज्यों के राजनयिक सम्बन्ध लम्बे काल तक निरिदत रहे। राजदन्त-रूप देशों में राजनयिक नियम का स्तर राज-परिहार के सदस्यों के बाद रखा जाता है। गणराज्यों में उनका अग्रत्व स्पष्ट नहीं रहता है। अक्सर में राजनयिक नियम का स्थान सैनिक और द्वितीय सदन के अध्यायों के बाद रहता है। अमेरिका में यह संसद-प्रणति के बाद आता है।

राज्य के किसी सम्मेलन में राजनयिक की अनुमति को कभी-कभी पर्यटन राजनयिक महत्व दिया जाता है। सन् 1818 में फ्रांस के राजा के जन्मदिन-सम्मेलन में पेरिस के राजदूत की अनुमति की उम्मीद में पर्यटन पर्यट रही तथा यह अनुमति लपटा गया कि दोनों सरकारों के बीच मतभेद हैं। एक राज्य की सरकार अपने राजदूत को यह निर्देश

भेजती है कि वह अमुक समारोह में भाग ले। सन् 1823 में ब्रिटेन ने अपने पेरिस स्थित राजदूत को पेरिनसुला में फ्रांस की विजय के समारोहों में भाग लेने से शोक दिया था। जब राजदूत स्वागतकर्ता राज्य के सम्प्रभु से व्यक्तिगत बैठकों में मिलते हैं तो भी अग्रत्व के क्रम का ध्यान रखा जाता है।

प्रत्यय-पत्र एवं पूर्णाधिकार (Credentials and Full Powers)

जब राजनयिक अभिकर्ता की नियुक्ति की जाती है तथा वह स्वीकृति योग्य प्रमाणित होता है तो उसे अनेक प्रमाण-पत्र दिए जाते हैं। इनमें प्रत्यय-पत्र (Letter of Credence) सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। इसमें यह बताया जाता है कि सम्बन्धित व्यक्ति मान्य प्रतिनिधि है। इस पर प्रेषक राज्य की मुख्य कार्यपालिका के हस्ताक्षर होते हैं तथा स्वागतकर्ता राज्य के अध्यक्ष को सम्बोधित होता है। कार्यवाहक दूत (Charges D' Affairs) के सन्दर्भ में इस पर विदेश मन्त्री के हस्ताक्षर होते हैं तथा वह विदेश मन्त्री को सम्बोधित किया जाता है। प्रत्यय-पत्र में दूत का परिषय होता है। उसमें उसके मिशन के सामान्य लक्ष्य का उल्लेख होता है। उसमें प्रेषक राज्य अपना पूरा विश्वास प्रकट करता है तथा स्वागतकर्ता राज्य से प्रार्थना की जाती है कि वह भी राजनय में पूर्ण विश्वास प्रकट करे। राजनयज्ञ के मिशन का औपचारिक कार्य तब प्रारम्भ होता है जब वह अपना प्रत्यय-पत्र स्वागतकर्ता राज्य के अध्यक्ष को अर्पित कर देता है। इस सम्बन्ध में विभिन्न देश अलग अलग प्रक्रिया अपनाते हैं किन्तु एक सामान्य व्यवहार यह है कि प्रत्यय पत्र स्वागतकर्ता राज्य के अध्यक्ष द्वारा एक समारोह में ग्रहण किए जाते हैं। जब एक राजदूत या असाधारण दूत नियुक्त होकर अन्य राज्य में आता है तो वह आते ही स्वागतकर्ता राज्य को अपने आगमन की सूचना तथा राज्याध्यक्ष को अपना प्रत्यय-पत्र अर्पित करने की अभिलाषा व्यक्त करता है। तत्पश्चात् विदेश मन्त्रालय राज्याध्यक्ष के सचिवालय से बात करके इस कार्य के लिए तिथि समय तथा प्रक्रिया का उल्लेख कर देता है। स्वागतकर्ता राज्य का विदेश मन्त्री या अन्य अधिकारी अपने राज्याध्यक्ष को राजदूत से परिचित कराता है।

राजतन्त्रात्मक राज्य को भेजे जाने वाले राजदूत वहाँ के राजा की मृत्यु अथवा सरकार बदलने पर पद से हट जाते हैं तथा उन्हें नए प्रत्यय-पत्र जारी किए जाते हैं। गणतन्त्रात्मक राज्य में ऐसा करना जरूरी नहीं होता है। वहाँ सम्प्रभुता जनता में निहित रहती है और इसलिए राष्ट्रपति या प्रधानमन्त्री के बदलने पर नए प्रत्यय-पत्र जारी करना आवश्यक नहीं माना जाता है।

आवासी राजनयज्ञ (Resident Diplomat) को दिए गए प्रत्यय-पत्र में पूर्ण शक्तियाँ अथवा सन्धि-वार्ता का अधिकार शामिल होता है। पूर्ण शक्तियाँ (Full Powers) द्वारा उन सीमाओं को परिभाषित किया जाता है जिनके अन्तर्गत राजनयज्ञ सन्धि वार्ता करने की क्षमता रखता है तथा उसके कार्यों को उसकी सरकार द्वारा बाध्यकारी समझा जाता है। प्रेषक राज्य अपने राजनयज्ञ के कार्यों के अनुसमर्थन का अधिकार अपने पास ही सुरक्षित रखता है। विशेष दूत के लिए उसके प्रत्यय-पत्र के साथ पूर्णशक्ति सूचक एक अन्य पत्र (Letter of Patent) भी दिया जाता है। जब एक दूत अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने

के लिए किसी राज्य में भेजा जाता है तो उसे अपना शक्ति सूचक पत्र वहाँ की सरकार को प्रस्तुत नहीं करना पड़ता बल्कि प्रतिनिधि परस्पर ही आदान प्रदान कर लेते हैं।

राजनयज्ञों को प्रेषक राज्य द्वारा कुछ निर्देश और अनुदेश भी दिए जाते हैं ताकि उनके निशान का सही मार्गदर्शन हो सके। इसमें समय समय पर वृद्धि एवं परिवर्तन भी किया जाता है। वे परिस्थिति के अनुसार सामान्य अथवा विशेष लिखित अथवा मौखिक गुप्त अथवा सार्वजनिक हो सकते हैं। सामान्य ये लिखित एवं गुप्त होते हैं तथा दूत अपनी सरकार की अनुमति के बिना इनको प्रकाशित नहीं कर सकता। कभी कभी दूत को दो प्रकार के निर्देश दिए जाते हैं। कुछ निर्देश गुप्त होते हैं तथा अन्य अगोपनीय होते हैं जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में सभी दूतों तथा स्वागतकर्ता राज्य को बताया जा सकता है।

राजदूत को स्वदेश से स्वागतकर्ता राज्य तक पहुँचने के लिए पैसे दे दिए जाते हैं। इसके अतिरिक्त पर मार्ग में आने वाले राज्य उसकी विशेष स्थिति से परिचित हो जाते हैं। वे उसे सुरक्षा एवं अन्य सुविधाएँ भी प्रदान करते हैं। पैसे राजदूत के साथ साथ उसके परिवार के सदस्यों को भी प्रदान करते हैं। राजनयज्ञ को कुछ अन्य कागजात एवं अनिलेख भी दिए जाते हैं जिनसे वह स्वदेश एवं विदेशों के विदेश मन्त्रालयों के सगठन तथा कार्य का ज्ञान प्राप्त कर सके और अपने दायित्वों का सही निर्वहण कर सके।

राजनयिक मिशन की समाप्ति (Termination of Diplomatic Mission)

राजनयिक मिशन सरकार की भूमि नहीं होते जिनका कानूनी अस्तित्व व्यक्तियों के बदलने पर भी बना रहता है। वास्तव में प्रत्यय पत्र व्यक्तित्व आलेख होते हैं। इसलिए राजनयिक मिशन की समाप्ति सम्बन्धित राजदूत के मर जाने पर या स्वदेश की सरकार द्वारा उस वापस बुला लिए जाने पर हो जाती है और उसके उत्तराधिकारी द्वारा नया प्रत्यय पत्र जारी किया जाता है। यह निर्धारित करने के लिए सुस्थापित नियम नहीं हैं कि विदेशी सरकार ने किस प्रकार के परिवर्तन मिशन की औपचारिक समाप्ति का कारण बन जाते हैं विदेशी सम्प्रदाय की मृत्यु के बाद सम्भवतः नए प्रत्यय पत्रों की भूमिका हो जाती है। आजकल संविधानिक राजतन्त्र या प्रजातन्त्र व्यवस्था की स्थापना के कारण स्थिति में परिवर्तन आ गया है।

प्रो ओपेनहीम के अनुसार निम्नलिखित कारणों से दायित्व अथवा राजनय की समाप्ति होती है

1 मिशन का उद्देश्य पूरा होने पर दूत मण्डल को जिस उद्देश्य के लिए भेजा गया है उसके पूरा होने पर वह समाप्त हो जाता है। कई बार दूत किसी सप्ताह में भाग लेने के लिए भेजे जाते हैं जैसे शरीर दाह संस्कार राजनितिक सरकार के अध्यक्ष बदलने की सूचना देने सम्मेलनों या कॉंग्रेसों में राज्य का प्रतिनिधित्व करने इत्यादि। यह कार्य सम्पन्न होते ही राजनयिक मिशन समाप्त हो जाता है किन्तु घर लौटने तक राजदूत के विशेष अधिकार बने रहते हैं।

2 प्रत्यय पत्र की अवधि समाप्त होना यदि राजनयज्ञ को सीमित काल का प्रत्यय पत्र दिया गया है तो उसका मिशन समय समाप्त होते ही समाप्त हो जाएगा। उदाहरण के

लिए एक राजदूत को वापस बुलाने और नया राजदूत नियुक्त करने के अन्तराल में राजनयिक रूप से राज्य का प्रतिनिधित्व करने के लिए अस्थाई तौर पर किसी व्यक्ति को नियुक्त किया जा सकता है।

3 वापस बुलाना राजदूत को भेजने वाला राज्य उसे वापस भी बुला सकता है। इसकी विधि यह है राजनयज्ञ अपने राज्य के अध्यक्ष से वापस बुलाने (Recall) का प्रत्यय पत्र प्राप्त करता है। इसे वह स्वागतकर्ता राज्य के अध्यक्ष को अर्पित करता है। यदि वह कार्यदूत है तो यह पत्र उसे विदेश मन्त्री द्वारा दिया और लिया जाएगा। इस पत्र से सम्बन्धित राजनयज्ञ को वापसी का पारपत्र (Passport) मिल जाता है। उसके विशेषाधिकार धर

वापसी का कारण राजदूत का त्याग तब उसकी पक्षि या प्रथम एव ग्रहणकर्ता राज्य के बीच मनमुटाव और तनाव की वृद्धि आदि कुछ भी हो सकता है। वापस बुलाने का एक कारण राजनयज्ञ का दुराचरण भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में स्वागतकर्ता राज्य अपनी प्रार्थना करता है कि राजनयज्ञ को वापस बुला लिया जाए। यदि स्वागतकर्ता राज्य अपनी प्रार्थना पर जोर दे और प्रेषक राज्य राजनयज्ञ के कार्य को दुराचरण न माने तो उससे उत्पन्न तनाव के कारण राजनयिक सम्बन्ध टूट जाते हैं।

4 दूत की पदोन्नति जब एक राजनयज्ञ अपने पद पर रहते हुए ही उच्चतर श्रेणी पर पदोन्नत कर दिया जाता है तो उसका मिशन एक प्रकार से समाप्त हो जाता है और उसे नया प्रत्यय पत्र प्राप्त करना पड़ता है।

5 पद विमुक्ति यदि स्वागतकर्ता राजनयज्ञ को पद से हटा दे तो उसका मिशन समाप्त हो जाता है। इसका कारण राजनयज्ञ का दुराचरण अथवा प्रेषक एव ग्रहणकर्ता राज्य के बीच उत्पन्न विवाद हो सकता है।

6 पारपत्र की माँग वापस न बुलाए जाने पर भी एक राजनयज्ञ स्वागतकर्ता राज्य के व्यवहार से दुखी होकर स्वयं पारपत्र की माँग कर सकता है। इसके परिणामस्वरूप राजनयिक सम्बन्ध टूट भी सकते हैं और नहीं भी।

7 युद्ध छिड़ना यदि प्रेषक और स्वागतकर्ता राज्य के बीच युद्ध छिड़ जाता है तो दोनों देश अपने राजदूतों को वापस बुला लेते हैं। वापसी पर रास्ते में उनके विशेषाधिकार बने रहते हैं।

8 सौविधानिक परिवर्तन यदि प्रेषक एव स्वागतकर्ता राज्य का अध्यक्ष सम्प्रभु है तो उसके मरने या पद से हट जाने के कारण उसके द्वारा भेजा गया या स्वीकार किया गया राजनयिक मिशन समाप्त हो जाता है तथा सभी राजनयज्ञों को नए प्रत्यय पत्र प्राप्त करने होते हैं। उस समय तक उन्हें विशेषाधिकार प्राप्त रहेगे तथा उनकी वरिष्ठता यथावत् बनी रहेगी।

9 सरकार में क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रेषक अथवा स्वागतकर्ता राज्य में क्रान्तिकारी आन्दोलन के परिणामस्वरूप यदि नई सरकार बन जाए तो राजनयिक मिशन समाप्त हो जाता है। सभी राजनयज्ञों को नए प्रत्यय पत्र प्राप्त करने होते हैं। उसकी वरिष्ठता यथावत् बनी रहती है। ऐसा भी हो सकता है कि क्रान्ति के परिणाम जानने के लिए न तो नए

प्रत्यय पत्र भेजे जाएँ और न ही राजनयज्ञों को वापस बुलाया जाए। ऐसी स्थिति में राजनयज्ञ अन्तर्राष्ट्रीय परम्परा के अनुसार सभी विशेषाधिकारों का उपभोग करते हैं।

10 राज्य का विलय यदि प्रेषक अथवा ग्रहणकर्ता राज्य का अन्य किसी राज्य में विलय हो जाता है तो उसके राजनयिक मिशन समाप्त हो जाते हैं। यदि विलय ग्रहणकर्ता राज्य का हुआ है तो विलयकर्ता राज्य सभी राजनयज्ञों को प्रदेश छोड़ने के लिए कहेगा। ये राजनयज्ञ अपने साथ अपनी सम्पत्ति ले जाएँगे। यदि विलय प्रेषक राज्य का हुआ है तो समस्या यह पैदा होती है कि दूतावास की सम्पत्ति किसे सौंपी जाए। यह राज्यों के उत्तराधिकार की समस्या है।

11 राजनयज्ञ की मृत्यु मिशन की समाप्ति का एक अन्य कारण राजनयज्ञ की मृत्यु है। ज्योंही राजदूत की मृत्यु होती है उसके कागजातों पर तुरन्त मोहर लगा देनी चाहिए। यह कार्य स्वर्गीय राजदूत के दूतावास के ही किसी सदस्य द्वारा किया जाएगा। स्थानीय सरकार द्वारा विशेष प्रार्थना न की जाए।

यद्यपि राजनयज्ञ की मृत्यु के साथ मिशन समाप्त हो जाता है किन्तु उसके परिवार के सदस्यों और दूतावास के अन्य कर्मचारियों के विशेषाधिकार उनके प्रस्थान करने तक बने रहते हैं। उनके प्रस्थान के लिए एक समय निश्चित कर दिया जाता है। स्वागतकर्ता राज्य के न्यायालयों का राजदूत की सम्पत्ति और व्यक्तियों पर क्षेत्राधिकार नहीं होता। उससे मृत्यु कर की मँग भी नहीं की जा सकती।

12 जासूसी के कारण जब दूतावास के कर्मचारी अपनी स्वतन्त्रता और उन्मुक्तियों का दुरुपयोग कर गुप्तचर का कार्य करते हैं और स्वागतकर्ता राज्य की गुप्त सैनिक सूचनाएँ अपने राज्य को भेजते हैं तो उन्हें वापस बुलाने की मँग की जा सकती है।

1 राजनयिक मिशनों की समाप्ति के उदाहरण

(Some Examples of Termination of Diplomatic Missions)

उपर्युक्त कारणों में से किसी भी एक अथवा अधिक कारणों से राजनयिक मिशन समाप्त हो जाते हैं। कुछ उदाहरणों द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है।

1 दक्षिण अफ्रीकी संघ ने वहाँ बसे हुए भारतीयों के साथ जातीय भेदभाव और फसपत की नीति बरती। भारत सरकार ने इसके विरुद्ध शिकायत की और 1946 में वहाँ से उच्च आदुक्त को वापस बुला लिया तथा उसका कार्य एक छोटे पदाधिकारी को सौंप दिया। वस्तुस्थिति उग्र होने पर 1954 में भारत सरकार ने वहाँ अपना दूतावास बन्द कर दिया।

2 जुलाई 1953 में भारत ने लिस्बन से अपना दूत वापस बुला लिया क्योंकि पुर्तगाल सरकार ने गोदा के प्रश्न पर समझौते की बात करना बन्द कर दिया था।

3 सन् 1809 में अमेरिकी सरकार ने वार्शिंगटन स्थित ब्रिटिश दूत जेक्सन की वापसी की मँग की क्योंकि उसने एक मोज के समय कुछ आपत्तिजनक बातें कही थीं। ब्रिटिश सरकार ने उसे वापस बुला लिया।

4 सोवियत संघ ने 1952 में अमेरिकी राजदूत जॉर्ज केनन को वापस बुलाने की मँग की क्योंकि उसने बर्लिन में समाचारपत्रों के सवाददाताओं को कुछ ऐसे दृष्ट्य दिए थे जो सोवियत सरकार के प्रतिकूल थे। अमेरिका ने वापसी के कारणों को पर्याप्त नहीं समझा।

केनन को यद्यपि वापस बुला लिया गया किन्तु कोई नया दूत उसके स्थान पर नहीं भेजा गया। दूतावास का परामर्शदाता ही यह कार्य करता रहा।

5 सोवियत सघ ने 27 जून 1963 को पीकिंग से मास्को स्थित चीनी दूतावास के तीन कर्मचारियों को वापस बुलाने की माँग की क्योंकि उन्होंने चीनी साम्यवादी दल के उस पत्र को रूस में वितरित किया जिसके प्रकाशन पर सोवियत सरकार ने प्रतिबन्ध लगा रखा था। 30 जून को ये चीनी अपने देश को वापस चले गए।

6 अक्टूबर 1954 में सोवियत सघ की गुप्त पुलिस ने अमेरिकी दूतावास की कुछ स्त्रियों को पकड़ा जो मास्को में गुण्डागर्दी कर रही थीं। अमेरिका के विरोध पर सोवियत सघ ने माँग की कि अमेरिकी दूतावास के सहचारी की पत्नी श्रीमती सोमरलेट को वापस बुला लिया जाए। यह माँग मनोरंजक होने के साथ साथ अभूतपूर्व भी थी।

7 2 जनवरी 1961 को क्यूबा के राष्ट्रपति फिडेल कास्त्रो ने अपने एक भाषण में कहा कि 300 कर्मचारियों में से 80 प्रतिशत गुप्तचारी का कार्य कर रहे थे। अतः यह माँग की गई कि इनकी सख्या घटाकर 11 कर दी जाये। शेष कर्मचारी 48 घंटे के अन्दर वापस बुला लिए जाएँ। समुक्त राष्ट्र अमेरिका ने यह अनुमति दिया कि इतने कम कर्मचारियों से दूतावास नहीं चल सकता अतः उसने क्यूबा से राजनयिक सम्बन्ध तोड़ दिया।

8 कोपीनियान गणराज्य ने वेनेजुएला के राष्ट्रपति की हत्या के प्रयास में (24 जून 1960) सहयोग दिया था इसलिए अमेरिकी राज्यों के संगठन की विदेश मन्त्रियों की बैठक में यह निश्चय किया गया कि अमेरिकी महाद्वीप के सभी राज्य इससे अपने राजनयिक सम्बन्ध तोड़ दें और इसका आर्थिक बहिष्कार करें। फलतः सभी अमेरिकी राज्यों ने इससे अपने दौत्य सम्बन्ध तोड़ लिए।

9 इंडोनेशिया और फिलीपाइन दोनों राज्य मलेशिया सघ के निर्माण के विरुद्ध थे इसलिए इस सघ की स्थापना होते ही उन्होंने इससे अपना दौत्य सम्बन्ध तोड़ लिया।

वाणिज्य दूत (Consuls)

वर्तमान में राज्यों द्वारा की गई सन्धियों व्यापारिक हैं। ये प्रायः द्विपक्षीय होती हैं जिनसे राज्य एक दूसरे को अधिक से अधिक व्यापारिक सुविधाएँ देने का प्रावधान रखते हैं। इसी छद्म से राज्य एक दूसरे देशों में वाणिज्य दूतावास (Consular office) खोलते हैं। आज राजदूतों का एक मुख्य कार्य व्यापारिक गतिविधियों में अविरुधि प्रदर्शित करना है। एक राजदूत का तो यहाँ तक कहना है कि एक समय था जब राजदूत राजाओं के साथ घूमा फिरा करते थे परन्तु आज हम चीजे बेचने वाले (Carpet begging salesmen) व्यक्ति बन कर रह गये हैं। राजनय के प्रारम्भिक काल में जबकि राजदूत राजा के व्यक्तिगत प्रतिनिधि होते थे वे व्यापार की वार्ताओं से दूर रहते थे। व्यापारिक काम करने में अपना अपमान समझते थे। यह वास्तव में इतिहास की ओर लौटना हो गया है क्योंकि वर्तमान वेनिस की द्वितीय व्यवस्था का प्रारम्भ व्यापार से ही हुआ था।¹

दण्डिय दूत सम्मता की लंबे न्यून युग में निरहित है। इटली स्पेन और फ्रांस के व्यावहारिक नगरों में व्यापारिक गुरुद्वारा बनाने सचियों में से एक या दो व्यापारियों को व्यापारिक विदेशों में पद नियुक्त कर देते थे। इनको दण्डिय दूत कहा जाता था। 15वीं शताब्दी में हॉलैंड तथा लन्दन में इटली के दण्डिय दूत थे और ब्रिटेन के दण्डिय दूत इटली हॉलैंड डेनमार्क नई अदि राज्यों में भी दण्डिय दूत थे। बाद में यह प्रथा कम हो गई। 17वीं शताब्दी में स्पानीश दूतदलों की स्थापना के साथ-साथ दण्डिय दूतों के कार्य पर्यटन पर गए। राष्ट्रीय सम्मता की सम्मता का विकास होने के साथ ही इन दण्डिय दूतों को अपने देशवासियों पर दीवानी एवं फौजदारी क्षेत्रधिकार का प्रयोग करने की अनुमति नहीं दी गयी। 18वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नौवहन एवं जहाजरानी का विकास हुआ। फ्लोट साधारण को दण्डिय दूतों की सम्मता का महत्व और नौवहन सम्मता में आने लगे। रीप्र ही इनके विदेशों में गैर-राजनयिक कार्यों का सहायक बन जाते लगे। इसके बाद इस सम्मता का विस्तार हुआ। आज सत्तर में विभिन्न श्रेणियों के हजारों दण्डिय दूत (Consuls) पदे लगे हैं। दण्डिय दूत राजनयिक सेवा का अन्तिम अंग है और उनका उद्देश्य ही महत्व है जिसका राजनयिकों का। आज के युग में अर्थिक राजनय (Economic Diplomacy) अन्तर्राष्ट्रीय सम्मता का एक अनिवार्य और महत्वपूर्ण अंग है तथा लगभग प्रत्येक देश के विदेश मन्त्रालयों में अर्थिक व्ययस्था से सम्बन्धित विशेष विभाग खोल लगे हैं। मधुक्त राज्य अमेरिका में प्लान्कन समिति (Plan for Commerce) का हो यह न्यून था कि प्रत्येक राजदूत का व्यापारिक क्षेत्र में भी कार्य करने का अनुमति होना चाहिए।¹

दण्डिय दूतों का कानूनी स्तर और श्रेणियाँ (Legal Status and Classification of Consuls)

दण्डिय दूत अपने देश के दूसरे देश में नियुक्त दूत होते हैं। परन्तु वे राजनयिक प्रतिनिधि नहीं होते हैं।² इन दूतों का कार्य अपने राष्ट्र के दण्डिय-सम्बन्धी कार्य करना तथा दण्डिय-विदेशों का महत्त्व करना होता है। क्योंकि इनका मुख्य कार्य अपने देश के दण्डिय-विदेशों की मुद्रा करना होता है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत इन्हें राजनयिक प्रतिनिधि नहीं माना जाता। वे दूत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बहुत महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। दण्डिय-दूतों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का संहिताकरण 1963 के विदेश-अभिन्नेय (Vienna Convention of 1963) में किया गया था।

यद्यपि राजनयिक एवं दण्डिय अधिकारों मूल रूप से भिन्न होते हैं तथा उनकी कानूनी प्रकृति में पर्याप्त भिन्नता रहती है किन्तु भी अनेक राज्यों ने इन दोनों कार्यों को एक ही व्यक्ति में मिलाने का प्रयत्न किया है। राजनयिक अधिकारियों को दण्डिय दूत की कुछ शक्तियाँ सौंप दी जाती हैं और दण्डिय दूतों को सीमित रूप में राजनयिक अधिकारियों के कार्य दिए जाते हैं। यह प्रबन्ध हम राज्य की सहायता से किया जाता है जिसमें अधिकारी को भेजा जा रहा है। दोनों प्रकार के कार्य सम्पन्न करने वाले अधिकारियों का स्तर एक करने के सम्बन्ध में सम्मता सह सकती है।

1. Plan for Commerce Report, pp. 55-63

2. J. G. Sorel: An Introduction to International Law, p. 449

सन् 1963 के वियेना अभिसमय के अनुच्छेद 9 के अनुसार वाणिज्य-दूतों को निम्नलिखित 4 श्रेणियों में बाँटा गया है

(1) कौंसल्स जनरल (Consuls-General) प्रथम श्रेणी के वाणिज्य दूतों को कौंसल्स जनरल कहते हैं तथा यह मुख्य वाणिज्य-दूतावास के प्रधान होते हैं।

(2) कौंसल्स (Consuls) इस प्रकार के वाणिज्य दूत दूसरी श्रेणी में आते हैं तथा कुछ नगरों में ये भी अपने दूतावास के प्रतिनिधि होते हैं। परन्तु ये कौंसल्स-जनरल के नीचे होते हैं।

(3) वाइस कौंसल्स (Vice-Consuls) ऊपर वाली दो श्रेणियों के नीचे होते हैं तथा बहुतों ये कौंसल्स-जनरल तथा कौंसल्स के सहायक होते हैं। कुछ राज्यों में इनकी नियुक्ति कौंसल्स-जनरल द्वारा की जाती है।

(4) कौंसलर्स एजेन्स (Consular's Agents) कौंसलर्स एजेन्स सबसे निम्न श्रेणी के वाणिज्य-दूत होते हैं तथा इनकी नियुक्ति कौंसल्स जनरल या कौंसल्स के द्वारा की जाती है।

वाणिज्य-दूतों की नियुक्ति बहुतों राष्ट्रों के अध्यक्ष द्वारा की जाती है तथा ग्रहण करने वाले राज्य उन्हें एक अनुमति पत्र जारी करके स्वीकार करते हैं।¹

वाणिज्य दूतों के कार्य (Functions of Consuls)

वाणिज्य दूतों द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले कार्यों का निम्नलिखित प्रकार से उल्लेख किया जा सकता है

(1) अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्तर्गत प्रेषक राज्य एवं उसके राष्ट्रिकों के हितों की ग्रहणकर्ता राज्य में रक्षा करना।

(2) दोनों देशों के बीच व्यापार को प्रोत्साहन करना और आर्थिक, सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक सम्बन्धों का विकास करना।

(3) प्रेषक राज्यों की सरकार के लिए ग्रहणकर्ता राज्य के आर्थिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक जीवन के विकास की परिस्थितियों के सम्बन्ध में प्रतिवेदन देना। रुचिशील व्यक्तियों एवं फर्मों के लिए भी इसकी सूचना देना।

(4) प्रेषक राज्यों के राष्ट्रिकों का पारपत्र एवं यात्रा सम्बन्धी कागज प्रसारित करना और उस राज्य की यात्रा के इच्छुक लोगों को बीसा तथा ऐसे ही दूसरे आलेख सौंपना।

(5) प्रेषक राज्य के राष्ट्रिकों की सभी वैध तरीकों से पूरी-पूरी सहायता करना।

(6) लिखित पत्रों को प्रमाणित करने वाले एवं नागरिक पंजीकरणकर्ता के रूप में कार्य करना तथा कुछ प्रशासनिक कार्य सम्पन्न करना। ग्रहणकर्ता राज्य के प्रदेश में प्रेषक राज्य के राष्ट्रिकों के उत्तराधिकार सम्बन्धी हितों की रक्षा करना।

(7) ग्रहणकर्ता राज्य के न्यायालयों एवं अन्य अधिकारियों के सामने प्रेषक राज्य के उन राष्ट्रिकों का प्रतिनिधित्व करना जो किसी कारणवश अपने अधिकारों की रक्षा करने में असमर्थ हैं। इस प्रकार ग्रहणकर्ता राज्य के कानून के अनुसार इन अधिकारों की प्राविधिक रूप से रक्षा की जा सकती है।

1. एस के कपूर अन्तर्राष्ट्रीय विधि, पृष्ठ 283-84

(8) प्रेषक राज्य के न्यायालयों के लिए प्रमाण देने हेतु न्यायिक आलेखों अथवा कार्यकारी आदेशों के रूप में स्थित सन्धियों या ग्रहणकर्ता राज्य के कानूनों के अनुसार कार्य करना।

(9) प्रेषक राज्य की राष्ट्रीयता वाले जलपोतों उस राज्य में पंजीकृत यनों एवं पनडुब्बियों का ग्रहणकर्ता राज्य के कानूनों एवं विनियमों के अन्तर्गत पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण करना जहाज के दायजों की परीक्षा करना तथा उन पर मोहर लगाना, जल यंत्रों के दौरान घटने वाली किसी भी घटना की जाँच पड़ताल करना, जहाज के मालिक, नौकरों एवं नदियों के झगड़ों को म्यासम्बन्ध प्रेषक राज्य के कानून के अनुसार तय करना।

कनी कनी प्रेषक राज्य एक दानिज्य दूत को तीसरे राज्य में अपने कार्य सम्पन्न करने की शक्ति भी सौंप देता है। यह अन्य दोनों राज्यों की सहमति के बाद ही किया जाता है। दानिज्य दूतों का कार्यक्षेत्र निरन्तर बढ़ता जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि के साथ-साथ दानिज्य दूतों के अधिकार और कर्तव्य महत्वपूर्ण बनते जा रहे हैं। दानिज्य दूत स्वतन्त्र राज्य की अधिक स्थिति उसे देश में उपलब्ध आर्थिक अवसरों, सधर एवं यथावत जहाजरानी कीमतों व्यवहारिक प्रतिदेगितलों दानिज्य तथा औद्योगिक सत्पानों आदि की सूचनाएँ एकत्र कर अपने देश की सरकार को भेजता है। सरकार यह रिपोर्ट अपने देश के व्यापारियों को देती है जिससे कि वे अपने आयात-निर्गत के आधारक निर्णय ले सकें। दानिज्य दूतों का कर्तव्य है कि वे अपने देश की व्यापारिक वृद्धि के लिए नए बाजारों की प्रप्ति हेतु प्रयास करते रहें। उन्हें देखना होता है कि उनके देश के साथ की गई व्यापारिक सन्धियों का ठीक प्रकार से पालन हो रहा है या नहीं। किसी भी दानिज्य दूत का यह अत्यन्त आवश्यक और महत्वपूर्ण कार्य है कि वह देश के व्यापार को प्रोत्साहित करे। अपने देश की कम्पनियों तथा स्थानीय और विदेशी कम्पनियों के मध्य व्यापारिक झगड़ों के समधान में भी दानिज्य दूत की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। राजदूत के अतिरिक्त दानिज्य दूत विभिन्न रूपों में अपने देश के नागरिकों को सहायता तथा सल्लाह देता है—जैसे हस्तक्षर को प्रमणित करना, उन्हें शपथ दितवाना, उनके विवाहों का पंजीकरण करना, जन्म और मृत्यु का पंजीकरण करना आदि। दानिज्य दूत उनके प्रवक्ता तथा पारिवारिक डॉक्टर व दक्तील की भूमि है जो उन्हें समय समय पर परामर्श देता रहता है। बल्क का मत है कि विदेश में अपने देश का अकेला प्रतिनिधि होने के कारण उसका जन सम्पर्क का कार्य महत्वपूर्ण हो जाता है। न्यूनधिक रूप में यदि उसे 'जन-सम्पर्क अधिकारी' कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। वह विदेश में अपने देश के नागरिकों का मित्र दारानिक और नगदर्शक (Friend, Philosopher and Guide) होता है। इस प्रकार कान्सल में उन सब कार्यों को करने की योग्यता होनी चाहिए जो एक व्यापारी नागरिकता प्रदान अधिकारी, आग्रहजन अधिकारी योग्य प्रशासक रिपोर्टर, सूचना दितरक दर्ताकार, दक्तील आदि में होती है। फ्रांस् स्टुअर्ट के मत में कान्सल 'Master as well as a jack of all trades' होना चाहिए।¹

दानिज्य दूतों के साथ-साथ उनकी पत्नियों को भी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना पड़ता है। उन्हें एक पदवी की भूमि घर आर नुसुबत के मरों की दहली सुननी पड़ती

है बीमारों की देखभाल करनी पड़ती है आर दिन लोगों के झगड़ों का निपटारा करना पड़ता है पर्यटकों आदि की समस्याओं का समाधान निकालना पड़ता है। उनका व्यवहार हर समय मुश्किलाने वाली 'स्वागतवर्त्ता' स्त्री (Receptionist) की भाँति होता है।¹

वाणिज्य दूतों के विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियों (Privileges and Immunities of Consuls)

वाणिज्य दूतों की स्थिति राजनयिकों जैसी नहीं होती है। व्यवहार में कई राज्य विदेशी वाणिज्य दूतों को राजनयिकों जैसे विशेषाधिकार नहीं सौंपते। इनको विदेशी राज्य द्वारा नियुक्त किया जाता है तथा ग्रहणकर्त्ता राज्य स्वीकार करता है। ये नियुक्तकर्त्ता राज्य के एजेन्ट माने जाते हैं। वाणिज्य दूत अपने प्रेषक राज्य का सभी अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में प्रतिनिधित्व नहीं करते। इनको केवल सीमित कार्य सौंपे जाते हैं जिनका उद्देश्य केवल स्थानीय होता है। उनकी सार्वजनिक प्रकृति के कारण वे जनसाधारण से मित्र माने जा सकते हैं। यद्यपि कानूनी रूप से वे किसी विशेषाधिकार का दावा नहीं कर सकते किन्तु जनसाधारण से वे मित्र होते हैं।

वाणिज्य दूत अपने राज्य के सरकारी अधिकारी होते हैं। वे उसके व्यापारिक और आर्थिक हितों की रक्षा करते हैं। रिवाज के अनुसार उन्हें विशेष सुरक्षा प्रदान की जाती है ताकि वे अपने कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न कर सकें। उनका कार्यालय तथा आलेख कुछ सीमा तक अनतिक्रम्यता रखते हैं। उपद्रव तथा अशान्ति के समय वाणिज्य दूत पर किया गया आघात उस राज्य के लिए अपमानजनक माना जाता है। यदि वाणिज्य दूत राजनयिक एजेन्ट भी है तो इसके लिए मुआवजे की माँग की जाती है।

वाणिज्य दूतों के विशेषाधिकारों का आधार कानून न होकर अन्तर्राष्ट्रीय राजन्य है। वाणिज्य दूतों के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों में की जाने वाली सन्धियों में भी इनके विशेषाधिकारों का उल्लेख कर दिया जाता है। इनके सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें महत्वपूर्ण हैं—

1 व्यावसायिक और गैर व्यावसायिक वाणिज्य दूतों के बीच प्रायः भेद किया जाता है। प्रथम श्रेणी वालों को अधिक विशेषाधिकार सौंपे जाते हैं।

2 वाणिज्य दूतों को स्थानीय दीवानी और फौजदारी क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त नहीं किया जाता किन्तु व्यावसायिक वाणिज्य दूतों पर फौजदारी क्षेत्राधिकार प्रायः गम्भीर प्रकृति के अपराधों तक सीमित रहता है।

3 अनेक सन्धियों में यह प्रतिपादित किया जाता है कि वाणिज्य दूतों के कागज पत्र अनतिक्रम्य होंगे और उनको जीव नहीं की जाएगी। वाणिज्य दूतों को अपने कार्यालय के आलेख और पत्र व्यवहार अपने निजी कागजों से अलग रखने चाहिए।

4 वाणिज्य दूत का भवन भी अनतिक्रम्य माना जाता है। स्थानीय पुलिस न्यायालय आदि का कोई भी अधिकारी वाणिज्य दूत की विशेष अनुमति के बिना इन भवनों में प्रवेश नहीं कर सकता। वाणिज्य दूत का यह कर्त्तव्य है कि इन भवनों में शरण लेने वाले अपराधियों का समर्पण कर दे।

5 पारम्परिक दण्ड्य दूतों को प्रचुराणी प्रकार के वस्त्रों और धुँगियों से सुसज्जित रखा जाता है। वे गृहस्थ के मध्य में न्यायालय में उपस्थित होने के लिए बाध्य नहीं हैं। वे अपने प्रमाणों को या तो लिखित रूप में प्रेषित करते हैं अथवा किसी आयोग द्वारा उनके मध्य में गवाही ली जा सकती है।

6 सभी प्रकार के दण्ड्य दूत अपने मध्य के दादाजे पर नियुक्तिकर्ता राज्य के हृदयपर रख सकते हैं और मध्य पर राष्ट्रीय ध्वज फहरा सकते हैं।

7 पारम्परिक ऐलेन्टों की सभी दण्ड्य दूतदस के अधिकारियों को प्रमाणकर्ता राज्य द्वारा विशेष सुरक्षा प्रदान की जाती है और उन्हें आदर की दृष्टि से देखा जाता है। उनके शरीर, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति पर होने वाले अक्रमण को रोकने के लिए सभी उचित कदम उठाए जाते हैं। दण्ड्य दूतदस के सदस्य उनके परिवार और सैदी वर्ग को प्रमाणकर्ता राज्य के नियमों तथा कानूनों में सुसज्जित रखा जाता है। निवास की अनुमति, विदेशियों का परीक्षण और कार्य की अनुमति से सम्बन्धित नियम उस पर लागू नहीं होते हैं।

8 सन्तान काल में पारम्परिकों को अनेक विशेषाधिकार और अनुमतियाँ प्राप्त होती हैं किन्तु दण्ड्य दूतों की स्थिति अस्पष्ट है। विदेशी अन्तराष्ट्रीय कानून का कोई नियम ऐसा नहीं है जो तीसरे राज्य को अपने प्रदेश में होकर दण्ड्य दूतों को निवास की अनुमति देता हो। यह विशेषाधिकार अब स्वीकार कर लिया गया है।

दण्ड्य दूतों के सम्बन्धित अधिकार के वर्णन के मध्य यह जानना समझना है कि इनका सम्पन्न करने वाले दण्ड्य दूतदस के सभी सदस्यों का यह मौलिक धर्म्य है कि प्रमाणकर्ता राज्य के नियमों और कानूनों का आदर करें। दण्ड्य दूतदस के प्रदेश का प्रयोग ऐसे रूप में नहीं करना चाहिए जो दण्ड्य दूत के कार्य से अक्षम हो। विशेषाधिकारों और अनुमतियों का सम्पन्न करने वाले दण्ड्य दूत अधिकारियों और दूसरे लोगों को प्रमाणकर्ता राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

दण्ड्य दूतदस की समाप्ति

(Termination of Consular Office)

दण्ड्य दूत का कार्यालय अनेक कारणों के समुत्त हो सकता है। इनमें से कुछ कारण सन्देहस्पष्ट हैं जबकि दूसरे कारण सन्देहहीन हैं। सन्देहहीन कारणों में सम्भवतः दो मुख्य हैं—दण्ड्य दूत की मृत्यु, वरिष्ठ बुला लेना या पद से हटा देना। नियुक्तिकर्ता एवं स्वागतकर्ता राज्य के बीच युद्ध प्रिड जाता अदि। जब दण्ड्य दूत की मृत्यु हो जाए अथवा दोनों देशों के बीच युद्ध प्रिड जाए तो उसके प्रमाणकर्ता (Artines) को राष्ट्रीय अधिकारियों द्वारा नहीं छोड़ा जाना चाहिए। वे या तो दण्ड्य दूतदस के किसी सम्बन्धी की देख-रेख में रहें अथवा दूसरे राज्य के दण्ड्य दूत को सम्पन्न दिए जाएं, जब तक कि उसका समरधिकार न आ जाए अथवा शक्ति सम्पन्न न हो जाए।

कुछ ऐसी परिस्थितियाँ एव कारण भी हैं जिनके उपस्थित होने पर दण्ड्य दूत का कार्यालय बन्द भी हो सकता है और नहीं भी। जब सम्बन्धित राज्य कानूनी विरोध या अक्रमण के कारण दूसरे राज्य में निज या उसके अधिकार में हस्त जाए तो दण्ड्य दूत

के कार्यालय का रहना या न रहना निश्चित नहीं होता। सामान्यतः वह समाप्त ही हो जाता है क्योंकि नई सत्ता पुरानी सत्ता द्वारा स्वीकृत वाणिज्य दूत को प्रायः स्वीकार नहीं करती है।

राज्य का अध्यक्ष अथवा राजनीति व्यवस्था बदलने पर वाणिज्य दूत का कार्यालय समाप्त नहीं होता। न तो नई नियुक्तियाँ करनी पड़ती हैं और न नए प्रत्यय पत्र देने पड़ते हैं।

वाणिज्य दूतों के सम्बन्ध में 1963 का वियना अभिसमय अनेक नई व्यवस्थाएँ रखता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा के 18 दिसम्बर 1961 के प्रस्ताव पर वियना में 4 मार्च 1963 से 23 अप्रैल 1963 तक एक सम्मेलन बुलाया गया। इसमें पर्याप्त विचार विमर्श के बाद एक समझौता स्वीकार हुआ। यह वियना अभिसमय वाणिज्य दूतों की श्रेणियों विशेषाधिकारों उन्मुक्तियों उद्देश्यों एवं कार्यसंचालन आदि विषयों के सम्बन्ध में नियमन करता है।

राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि में राजनयज्ञों का योगदान

(Role of Diplomats in the Promotion of National Interest)

राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि को ध्यान में रखते हुए विदेश नीति के उद्देश्यों तथा राजनय के लक्ष्यों की प्राप्ति का मुख्य उत्तरदायित्व राजनयज्ञों पर होता है। राष्ट्रीय हित का संरक्षण और सर्वोत्तम बहुत कुछ इस पर निर्भर है कि उस देश के राजनयज्ञ कितने कुशल हैं। उनके कार्य और महत्व को स्पष्ट करते हुए आचार्य कौटिल्य ने अपने विख्यात ग्रन्थ अर्थशास्त्र में लिखा है— 'अपनी सरकार के दृष्टिकोण को दूसरी सरकार तक पहुँचाना सन्धियों को कायम रखना अपने राज्य के हितों की यदि आवश्यक हो तो डरा धमका कर भी रक्षा करना मित्र बनाना फूट डालना गुप्त सगठन बनाना गुप्तघरों की गतिविधियों के बारे में जानकारी करना जो सन्धियाँ अपने हित में न हों उन्हें निष्फल बनाना उस देश के (जिसमें वह नियुक्त हों) शासनाधिकारियों को अपने पक्ष में करना आदि राजदूत के कर्तव्य हैं।'

कौटिल्य ने राजदूत के जिन कर्तव्यों का उल्लेख किया है सामान्यतः वे सभी आधुनिक राजनयज्ञों के लक्ष्य हैं जिनसे राष्ट्रीय हित साधन होता है। हम उन्हें आधुनिक राजनयज्ञों में सम्मिलित कर सकते हैं—सरकार के अध्यक्ष विदेश सचिव तथा उनके विदेश अधिकारी दूसरे देशों में स्थित राजनीतिज्ञ कर्मचारी वर्ग अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कार्य करने वाले सैनिक तथा अन्य विशेषज्ञ सेवा वर्ग आदि। इनके अतिरिक्त अन्य लोग भी होते हैं जैसे भ्रमणशील राजदूत व्यक्तिगत प्रतिनिधि सैलानी लोग आदि। राजनय और राजनयज्ञों का आज स्थाई महत्व स्वीकार कर लिया गया है।

राज्य के नाम मात्र के अध्यक्ष जैसे ग्रेट ब्रिटेन के राजा या रानी भारत का राष्ट्रपति आदि विदेशी मामलों में मूलतः औपचारिक योगदान करते हैं। वे जब विदेश भ्रमण पर जाते हैं तो उनका उद्देश्य मुख्यतः सद्भावना की अभिवृद्धि होता है। सरकारों के अध्यक्ष अपने देश के राजनय में व्यक्तिगत रूप में भाग लेते हैं।

राजनयज्ञ के क्षेत्र में सर्वाधिक सक्रिय कार्यकर्ता विदेशी मामलों के राज्य सचिव होते हैं। विदेश सम्बन्ध उनका मुख्य कार्य है। वे जीवन भर राजनयिक वार्ताएँ करते हैं अन्य

देशों के दौरे करते हैं सम्मेलनों में उपस्थित होते हैं तथा महत्वपूर्ण सौदेबाजियों की तैयारी करते हैं। वे अपने राज्याध्यक्षों को परामर्श देने के लिए उत्तरदायी होते हैं तथा विदेशी मामलों के सम्बन्ध में उनको सूचित करते रहते हैं। अपने विदेश कार्यालय एवं विदेश सेवा की बहुत बड़ी नौकरशाही पर शासन करना भी उनका उत्तरदायित्व है। वे मन्त्रिमण्डल तथा अन्य नीति सम्बन्धी बैठकों में उपस्थित होते हैं। समुक्तराज्य अमेरिका के विदेश सचिवों ने 1945 के बाद अपना अधिकांश समय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में उपस्थित रहने में व्यतीत किया। अनुमानतः यह कहा जाता है कि जॉन फास्टर डुलेस (John Foster Dulles) ने अपने पाँच वर्ष के कार्यकाल में प्रति वर्ष एक लाख हवाई मील से भी अधिक यात्रा की। इतनी लम्बी यात्रा करके वे घाद तक जाकर वापस आ सकते थे। यही सारी यात्रा उन्होंने दुनिया के अन्य नेताओं के साथ बातचीत के लिए की। विदेश सचिव डीन रस्क ने स्वयं अधिक यात्रा करने की अपेक्षा यह उचित समझा कि दूसरे लोग ही वाशिंगटन आएँ। भूतपूर्व विदेश मन्त्री डॉ. हेनरी कीसिंगर ने भी परिधमी एशिया में कैम्प डेविड समझौता कराने में अथक भागदौड़ की। उनके राजनय को 'शटल राजनय' की सजा दी जाती है। वर्तमान अमेरिकी विदेशमन्त्री जेम्स बेकर ने भी खाड़ी युद्ध के पश्चात् अरबों और इजरायलियों में शान्ति स्थापित करने की दिशा में अथक प्रयास किया। परिणामस्वरूप सन् 1991 का मेड्रीड सम्मेलन सफल हुआ। जनवरी 1992 में वाशिंगटन में फिलीस्तीनियों और इजरायलियों के बीच होने वाली बातों में भी विदेशमन्त्री की चस्लेखनीय भूमिका है।

आज राजनय में सलग्न अनेक लोग ऐसे हैं जिनको हम व्यावसायिक विशेषज्ञ कह सकते हैं। इनमें हम नागरिक सेवकों एवं विशेषज्ञों को सम्मिलित करेंगे जो विदेश दूतावासों एवं देश में विदेश कार्यालय में कार्य करते हैं। ६ अधिकारी विदेशी सम्बन्धों के प्रचलित पहलुओं को सम्पादित करते हैं। वे अध्ययन प्रतिवेदन एवं निर्देशन तैयार करते हैं। दूसरे देशों के अधीनस्थ अधिकारियों के साथ विचार करते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में जाने वाले प्रतिनिधि मण्डल के स्टाफ का काम करते हैं। उनके कार्य मुख्य रूप से दो प्रकार के हैं—प्रथम यह कि अपने मालिकों के काम को सम्पन्न करें और दूसरा यह कि वे दूसरों के कामों का पता लगाएँ। व्यावसायिक विशेषज्ञों का यह एक दल एक दिन में सगठित नहीं हो जाता। आज के युग की परिस्थितियों में एक योग्य विदेश सेवा के विकास के लिए पर्याप्त समय एवं अनुभव की आवश्यकता होती है।

सरकारें समय समय पर विशेष गुप्त दूत (Emissary) नियुक्त करती हैं जो महत्वपूर्ण अवसरों पर विशेष समझौते करते हैं तथा सरकार का प्रतिनिधित्व करते हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति फ्रैंकलिन रूजवेल्ट ने हेरी हॉपकिंस (Harry Hopkins) को अपना विश्वास प्रदान किया और राज्य सचिव तथा सम्बन्धित राज्याधिनियों के राजदूतों की अवहेलना करके कई बार घर्षित और स्टालिन के पास गुप्त बातों के लिए भेजा। इसी प्रकार राष्ट्रपति आइज़नहावर ने अपने भाई मिल्टन आइज़नहावर को अनेक विशेष अवसरों पर प्रयुक्त किया। राजदूत एवरल हैरीमैन (Averell Harriman) को राष्ट्रपति ट्रूमैन, कैनेडी और जॉनसन द्वारा अनेक विशेष अवसरों पर नियुक्त किया गया। ये सारी नियुक्तियाँ राज्य के अध्यक्ष के विशेषाधिकार हैं। यह तो हो सकता है कि कुछ देशों को प्रभावित करने वाले देश की किसी विशेष समस्या में गुप्त दूत राजदूत की अपेक्षा अधिक कुशल हो किन्तु फिर भी सम्भावना यह रहती है

कि वह उस देश के राजदूत के प्रभाव एवं सम्मान को कम कर देगा और ऐसी स्थिति में इस तकनीक का प्रयोग सावधानी के साथ किया जाना चाहिए ।

आज के जटिल वातावरण में राज्यों के आपसी सम्बन्ध राजनीतिक आर्थिक सुरक्षात्मक एवं वैज्ञानिक अनेक विषयों से युक्त हो गए हैं । ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि सरकारों के विभिन्न विभागों के सेवीवर्ग को राजनयिक सम्बन्धों में तथा नीति निर्माण में भाग लेने का अवसर दिया जाए अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में सर्वाधिक सक्रिय भाग लेने वालों में सशस्त्र सेनाओं एवं सुरक्षा सस्थानों के सदस्य होते हैं । नाटो देशों के सुरक्षा सचिव तथा उनके अधीनस्थ अधिकारी जब नाटो की बैठकों में नए सुरक्षा प्रबन्धों पर विचार करते हैं तो एक प्रकार से राजनय में उत्तम जाते हैं । इसी प्रकार जब जन स्वास्थ्य अधिकारी विश्व स्वास्थ्य संगठन (W H O) की बैठक में भाग लेते हैं या राजकोष के प्रतिनिधि विश्व बैंक की बैठक में भाग लेते हैं तो वे भी राजनय में उत्तम जाते हैं । इसी प्रकार से पारस्परिक सुरक्षा सांस्कृतिक सम्बन्ध आर्थिक एवं तकनीकी सहायता कार्य आदि भी किसी न किसी प्रकार से राजनय से सम्बन्ध रखते हैं ।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि में राजनयिक प्रतिनिधियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है ।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन और कार्य-सम्पादन (International Meetings and Transactions)

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राजनयिक प्रक्रियाओं का विशेष महत्व है। शान्ति प्रयत्नकारी और समुदाय निर्मात्री राजनयिक प्रक्रियाओं के माध्यम से ही अन्तर्राष्ट्रीय सघर्षों का शमन और विश्व शान्ति की स्थापना सम्भव है। राजनयिक प्रक्रियाओं से आशय अन्तर्राष्ट्रीय वार्ता के उन सभी मॉडलों से है जिनसे राज्य पारस्परिक विवादों को सुलझाने आपसी सहयोग को बढ़ाने और सामान्य उद्देश्यों के लिए आपसी सूझ-बूझ उत्पन्न करने को प्रयत्नशील रहते हैं। राजनयिकों को प्रायः सचि-वार्ताकार कहा जाता है जो अपनी वार्ताओं के माध्यम से विश्व के विभिन्न देशों के बीच सामुदायिक भावना जाग्रत करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन राजनयिक प्रक्रियाओं का ही मॉडल है और इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि इन सम्मेलनों के माध्यम से कितनी ही बार सघर्षों को रोका गया है। विश्व-शान्ति को आगे बढ़ाया गया है। विभिन्न महत्वपूर्ण सामान्य निर्णयों पर पहुँचा गया है और कई दृष्टियों से मानव-जाति की समृद्धि का मार्ग प्रशस्त किया गया है। द्वितीय महायुद्ध के बाद आयोजित शान्ति सम्मेलनों में विश्व के राजनीतिक मानचित्र और तनावपूर्ण स्थिति को समाप्त करने की दिशा में जो प्रभाव डाला वह सर्वविदित है। अन्तर्राष्ट्रीय कार्य-सम्पादन के दो मोटे रूप हैं—सामान्य राजनयिक मार्ग एवं विशिष्ट राजनयिक कार्य के लिए प्रायः सभी देश विश्व के दूसरे देशों की राजधानियों में अपने स्थायी राजनयिक अधिकर्ता रखते हैं। दोनों पक्षों के बीच राजनयिक आदान-प्रदान इन्हीं स्थायी राजनयिक अधिकर्ताओं के माध्यम से किया जाता है। स्थायी सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क का दूसरा मुख्य स्रोत वाणिज्य दूत होते हैं। वाणिज्य दूत सेवा यद्यपि राजनयिक सेवा का ही एक रूप है किन्तु यह राजनीतिक स्तर की सेवा नहीं है। फिर भी अनेक राज्यों ने इन दोनों कार्यों को एक ही व्यक्ति में मिलाने का प्रयास किया है। राजनयिक अधिकारों को वाणिज्य दूत की कुछ शक्तियाँ सौंप दी जाती हैं और वाणिज्य दूतों को सीमित रूप में राजनयिक अधिकारियों के कार्य दिए जाते हैं। यह प्रदग्ध उस राज्य की सहमति से किया जाता है जिसमें अधिकारी को भेजा जा रहा है। दोनों प्रकार के कार्य सम्पन्न करने वाले अधिकारी का स्तर तय करने के सम्बन्ध में समस्या उत्पन्न हो सकती है। इसके बादजुद भी वर्तमान समय की जटिल अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए सामान्य स्थायी राजनयिक मार्ग या सूत्र अपर्याप्त सिद्ध हुए हैं अतः कुछ विशिष्ट राजनयिक मार्ग भी खोजे गए हैं यथा—सम्मेलन, यात्राएँ आपसी पत्र-व्यवहार सन्धियों की वार्ताएँ आदि। हम यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों पर विशेष रूप से प्रकाश डालेंगे।

काँग्रेस तथा सम्मेलन (Congress and Conference)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से काँग्रेस और सम्मेलन में मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों में उच्चाधिकार प्राप्त प्रतिनिधि अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर विचार विमर्श और समाधान के लिए मिलते हैं। दोनों में राजनीतिक प्रश्नों पर निर्णय लिया जाता है और सामाजिक तथा आर्थिक प्रश्नों का समाधान किया जाता है। काँग्रेस शब्द का प्रयोग अतीत काल में उच्चाधिकारियों की ऐसी सभाओं के लिए किया गया था जो प्रादेशिक बैठकें व शान्ति स्थापना के लिए आयोजित की गई थीं। उदाहरण के लिए वियना काँग्रेस (1814-15), पेरिस काँग्रेस (1856), बर्लिन काँग्रेस (1878) का नाम लिया जा सकता है जो क्रमशः नेपोलियन के युद्ध क्रिमियन युद्ध तथा रूसी टर्की युद्ध के बाद आयोजित की गई थीं। अब अवसरों पर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए सम्मेलन आयोजित किए जाते हैं जैसे—लन्दन सम्मेलन (1830-33) लन्दन सम्मेलन (1912-13), पेरिस शान्ति सम्मेलन (1919 तथा 1946-47) आदि।

काँग्रेस तथा सम्मेलन में नाम के साथ साथ कुछ अन्य सूक्ष्म अन्तर भी होता है जैसे—

1 प्रारम्भ में काँग्रेस का आयोजन प्रायः तटस्थ प्रदेश में किया जाता था। इसकी अध्यक्षता मध्यस्थों द्वारा की जाती थी। सन् 1806 में पवित्र रोमन साम्राज्य के पतन के बाद से पूर्व सम्राट का मुख्य प्रतिनिधि ही काँग्रेस की अध्यक्षता करता था। 19वीं शताब्दी में काँग्रेस का आयोजन किसी सम्बन्धित राज्य में ही किया जाने लगा तथा उस राज्य के विदेश मन्त्री द्वारा कार्यवाही की अध्यक्षता की जाने लगी।

सम्मेलन के रूप में सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन यूनान सम्बन्धी विषयों पर लन्दन में (1827-32) आयोजित किया गया। सम्मेलनों का आयोजन इसमें भाग लेने वाली किसी महाशक्ति के प्रदेश में किया जाता है तथा उसकी अध्यक्षता वहाँ के विदेश मन्त्री द्वारा की जाती है।

2 काँग्रेस में भाग लेने वाले पूर्ण अधिकार प्राप्त प्रतिनिधि (Plenipotentiaries) निर्णायक होते हैं तथा विचाराधीन समस्याओं पर वे स्वयं निर्णय लेते हैं। दूसरी ओर सम्मेलन केवल परामर्शदाता समूह का होता है। आर्गिल के ड्यूक (The Duke of Argyle) के मतानुसार “काँग्रेस भूलतः समझौता कराने वाला एक न्यायालय है। यह एक ऐसी सभा है जिसमें विवादपूर्ण विषयों को विचार विमर्श तथा आपसी समझौता द्वारा सुलझाया जा सकता है।”

आजकल काँग्रेस तथा सम्मेलन शब्दों का अन्तर समाप्त हो गया है। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय मिलन को सम्मेलन (Conference) का नाम दिया जाता है तथा इनमें विभिन्न प्रश्नों पर विचार विमर्श कर निर्णय लेने का प्रयास किया जाता है।

सम्मेलन का स्थान (The Place of Conference)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित करने के लिए स्थान का चयन अनेक तरीकों से किया जाता है। कभी इन्हें सम्मेलन का सुझाव देने वाले राज्य की राजधानी में और कभी समस्या से सम्बन्धित राज्य में बुलाया जाता है। कभी इस हेतु एक ऐसा केन्द्रीय स्थान चुना जाता

है जहाँ सभी पक्ष सुविधापूर्वक एकत्रित हो सकें अथवा जहाँ निष्पक्षतापूर्ण और शान्त वातावरण में विचार विनिमय किया जा सके। जब किसी बहुपक्षीय सन्धि में परिदर्शन के लिए सम्मेलन आयोजित किया जाता है तो उसके स्थान का निर्णय पहली बैठक के स्थान के आधार पर या सन्धि में उल्लिखित प्रावधान के आधार पर या पूर्व सन्धि में व्यक्त सामान्य धारणा के आधार पर किया जाता है।

सम्मेलन की तैयारियाँ

(Preliminary Ground-work for Conference)

कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन केवल तभी आयोजित किया जाता है जब कोई ऐसी समस्या या विवाद उत्पन्न हो जाए जिसे सम्बन्धित पक्षों के आपसी विचार-विमर्श द्वारा सुलझाया जाना उचित हो। उदाहरण के लिए 1864 में जेनेवा सम्मेलन इसलिए आयोजित किया गया था ताकि युद्ध में घायल सैनिकों की स्थिति के सम्बन्ध में कुछ सामान्य सिद्धान्त निरूपित किए जा सकें। स्विटजरलैण्ड ने इस सम्मेलन की व्यवस्था का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया। इस सम्मेलन में स्वीकृत सिद्धान्तों एवं समाधानों में आवश्यकता एवं परिस्थितियों के अनुसार क्रमशः 1864, 1906, 1929 तथा 1949 में संशोधन किए गए।

सम्मेलन के लिए राज्यों को आमन्त्रित करने से पूर्व सम्बन्धित सरकारें आपस में विचार विमर्श करती हैं। यदि सम्मेलन का आयोजन युद्धोपरान्त शान्ति स्थापना हेतु किया जा रहा हो तो पहले युद्धरत राज्यों के बीच युद्धविराम होता है। सम्मेलन से पहले ही यह निश्चित करने का प्रयास किया जाता है कि इसमें किन किन समस्याओं पर किस सीमा पर विचार किया जाएगा। यदि किसी प्रश्न पर सहमति न हो सके तो उस पर प्रारम्भिक विचार विमर्श द्वारा समझौतापूर्ण दृष्टिकोण अपनाया जाता है। यह प्रारम्भिक तैयारी अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि कोई भी औपचारिक विचार-विनिमय उस समय तक फलदायक नहीं हो सकता जब तक कि उसमें भाग लेने वालों के विचार परस्पर मिलते न हों।

सम्मेलन के लिए विभिन्न राज्यों को निमन्त्रण प्रायः उस राज्य की सरकार द्वारा दिया जाता है, जहाँ यह आयोजित किया जा रहा है अथवा जिसके तत्वावधान में आयोजित किया जा रहा है। कभी कभी निमन्त्रण की औपचारिकता का निर्वाह अन्य राज्य सरकार भी कर देती है। 1864 के हेग शान्ति-सम्मेलन का प्रस्ताव रूस के सम्राट ने रखा था किन्तु निमन्त्रण नीदरलैण्ड की सरकार द्वारा प्रसारित किए गए। सन् 1906 के अल्जीयर्स के सम्मेलन के निमन्त्रण मोरक्को के सुल्तान द्वारा भेजे गए थे जबकि इसका आयोजन स्पेन में किया गया था। सम्मेलनों का आयोजन सदुत्तराज्य सघ के अर्थों या विशेष अनिकरणीय द्वारा किया जाता है। ये सम्मेलन सघ के मुख्य कार्यालय में अथवा अन्यत्र हो सकते हैं। सन् 1946 में अर्थिक और सामाजिक परिषद् द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य-सम्मेलन का आयोजन किया गया था। सन् 1951 में महासभा के प्रस्ताव के आधार पर शरणार्थियों और राज्यहीन लोगों के सम्बन्ध में एक सम्मेलन बुलाया गया था।

सम्मेलन के प्रतिनिधि

(Representatives of Conference)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में राजनयिक प्रतिनिधियों को प्रमुख शक्तिसम्पन्न प्रतिनिधि नियुक्त किया जाता है जिनकी सहायता के लिए अन्य अधिकारियों की व्यवस्था की जाती है।

अवसर और विचारणीय विषय के महत्व के आधार पर ही एक प्रमुख प्रतिनिधि के सहयोगियों की संख्या निर्धारित की जाती है। इन सहयोगियों में आवश्यक कानूनी या तकनीकी योग्यता सम्पन्न अधिकारी सचिव अनुवादक आदि सम्मिलित होते हैं। प्रत्येक राज्य के पूर्णाधिकार प्राप्त प्रतिनिधि और उसके सम्पूर्ण स्टाफ को उस राज्य का प्रतिनिधि मण्डल कहा जाता है। ये सभी एक साथ एक समूह के रूप में बैठते हैं। कभी कभी एक राज्य एक से अधिक पूर्ण अधिकार प्राप्त प्रतिनिधि भी नियुक्त करता है।

पूर्ण अधिकार प्राप्त प्रतिनिधियों को जैसा कि इनके नाम से विदित होता है इनकी सरकार द्वारा पूर्ण अधिकार प्रदान किए जाते हैं। ये सम्मेलन के सदस्यों से सन्धि वार्ता कर अन्तिम समझौता कर सबसे हैं। जब कोई राज्य एक से अधिक पूर्ण अधिकार प्राप्त प्रतिनिधि नियुक्त करता है तो यह उस सभी को पूरी शक्तियाँ प्रदान करता है जिनका प्रयोग वे पृथक् रूप से अथवा सामूहिक रूप से करते हैं। इन्हें ग्रहणकर्ता राज्य द्वारा विशेषाधिकार सौंपे जाते हैं। प्रेषक राज्य पहले से ही ग्रहणकर्ता राज्य को इनके नाम भेज देता है। यदि इनकी यात्रा के बीच में कोई अन्य राज्य भी पड़े तो उस राज्य की सरकार को भी मिशन के उद्देश्य की सूचना दे दी जाती है।

सम्मेलन की भाषा

(Language at Conference)

प्रथम विश्वयुद्ध से पहले अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में सामान्यतः फ्रॉंसीसी भाषा का प्रयोग किया जाता था किन्तु दो विश्वयुद्धों के बीच अंग्रेजी भाषा का प्रयोग भी सामान्य हो गया। सन् 1919 के पेरिस शान्ति सम्मेलन और 1921-22 के वाशिंगटन सम्मेलन में अंग्रेजी और फ्रॉंसीसी भाषा का अधिकृत प्रयोग किया गया था। राष्ट्रसंघ के सम्मेलनों में भी इन दोनों भाषाओं का प्रयोग होता था। जब कुछ राज्यों का सम्मेलन किया जाता था तो उसके लिए उन्हीं में से किसी राज्य की भाषा को कार्यवाही के लिए अपना लिया जाता था। आजकल सम्मेलनों में मुख्यतः अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता है। वैज्ञानिक साधनों की सहायता से भाषणों का दूसरी भाषाओं में भी तुरन्त अनुवाद हो जाता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मेलनों में अंग्रेजी फ्रॉंसीसी रूसी चीनी तथा स्पेनी आदि भाषाओं का प्रयोग किया जा सकता है। उनके अमिलेख इन भाषाओं में तैयार किए जाते हैं। सन् 1854 के लन्दन सम्मेलन में अंग्रेजी फ्रॉंसीसी और जर्मन भाषा का प्रयोग किया गया था। पान अमेरिकी सम्मेलनों में स्पेनी भाषा का प्रयोग किया जाता है किन्तु अमिलेख फ्रॉंसीसी स्पेनी और अंग्रेजी भाषाओं में रखे जाते हैं।

सम्मेलन का अध्यक्ष

(President of Conference)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का अध्यक्ष प्रायः उस राज्य का मुख्य प्रतिनिधि होता है जहाँ सम्मेलन का आयोजन होता है और वह राज्य उसमें भाग लेता है। यह प्रतिनिधि प्रायः उस राज्य का विदेश मन्त्री होता है। वियना कॉंग्रेस (1814-15) में पूर्ण अधिकार प्राप्त फ्रॉंसीसी प्रतिनिधि के प्रस्ताव पर ऑस्ट्रेलिया के काउण्ट मेटरनिख को अध्यक्ष चुना गया। सन् 1856 की पेरिस कॉंग्रेस में ऑस्ट्रिया के प्रतिनिधि के प्रस्ताव पर फ्रॉंस के विदेश मन्त्री ने अध्यक्षता

की। सन् 1878 की बर्लिन काँफ़्रेस में राजकुमार बिस्मार्क को अध्यक्ष चुना गया। किन्तु सम्मेलन में एक से अधिक व्यक्तियों को भी क्रमिक रूप से अध्यक्ष चुना जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के अध्यक्ष का मुख्य कार्य यह है कि सम्मेलन के प्रारम्भ में सम्मेलन-संरक्षकों तथा लक्ष्यों पर प्रकाश डालते हुए कार्यदली प्रारम्भ करे अपने सचिवान्तर्गत के सदस्यों का निरूपण करे और सभी प्रतिनिधियों से औपचारिक रूप से विचार-विमर्श कर उनका मत जाने। यह सम्मेलन के दौरान सद-विवाद को निर्दिष्ट व नियन्त्रित करता है। अन्तिम बैठक में अध्यक्ष के कार्य और सदस्यों के लिए सदस्यों द्वारा सम्मेलन का प्रस्ताव प्रस्तुत किया जाता है।

अग्रत्व (Precedence)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में अध्यक्ष की दृष्टि से अंग्रेजी दर्जनना के क्रम को अग्रत्व दिया जाता है। परम्परागत रूप से उनके बैठने का स्थान अध्यक्ष के दाहिने तथा बाईं ओर होता है। आमतौर पर सम्मेलन व्यवहार यह है कि सभी प्रतिनिधियों अपने दर्जनना के क्रम के अनुसार बैठते हैं। अध्यक्ष के निकट बैठने वाले व्यक्ति का स्थान या तो किसी एक से निर्णय लिया जाता है अथवा उनके लिए लॉटरी डाली जाती है। रशिया-सम्मेलनों में मुद्रात राज्यों के प्रतिनिधियों को विशेषी बलों के रूप में बैठते हैं।

सम्मेलनों की प्रक्रिया (The Procedure of Conferences)

सम्मेलनों में कार्यदली की प्रक्रिया पहले विचारणीय विषय के अनुसार निर्धारित की जाती है। प्रक्रिया के निम्न प्रारम्भ में ही निर्धारित कर लिए जाते हैं। कभी-कभी सम्मेलन में विशेष मुद्दों पर विचार-विमर्श करने के लिए अलग-अलग समितियों की नियुक्ति की जाती है। समितियाँ अपने सम्मेलन में होती हैं और कार्यदली के निम्न बनती हैं। विचार-विमर्श के बाद वे अपना प्रतिवेदन सम्पूर्ण विषय के सम्मुख प्रस्तुत करती हैं। आमतौर पर के सम्मेलन में अपनी समितियों का ही ध्यान देती हैं वे अपना मूल प्रतिवेदन समिति को प्रस्तुत करती हैं। समिति में एक प्रतिवेदक (Rapporteur) नियुक्त किया जाता है जो समिति में होने वाले विचार-विमर्श को एक प्रतिवेदक के रूप में संहित-कृत करता है। यह समिति के निर्णयों को सम्मेलन के सम्मुख प्रस्तुत करने वाला एक मुख्य प्रवक्ता का रूप धारण कर लेता है।

सम्मेलन अपने कार्य के अनुसार समय-समय पर बैठकें करता रहता है। प्रथम बैठक परिचालन प्रकृति की होती है। इसके मुख्यतः अध्यक्ष का प्रस्ताव, समितियों की नियुक्ति, सचिव का मनोरक्षण आदि कार्य सम्पन्नित होते हैं। इसके बाद समितियों के प्रतिवेदन प्राप्त करने तथा उन पर विचार करने के लिए समय-समय पर बैठकें होती हैं। यदि सदस्यों के बीच समितियों के प्रतिवेदन पर अधिक मतभेद नहीं होता तो समिति सचिवों को अन्तिम सचिव में सम्मिलित कर लिया जाता है। यह सचिव सम्मेलन की बैठकों में तीन वक्ताओं में होकर गुजरती है। प्रथम वक्ता में सचिव का प्रारम्भ विचार किया जाता है। दूसरे वक्ता में सचिव सम्मेलन प्रस्तुत किए जाते हैं और यदि आवश्यक हो तो उस प्रारम्भ को पुनः

समिति के पास भेजा जाता है। तीसरा वाचन औपचारिक प्रकृति का होता है तथा उसमें सन्धि को अन्तिम रूप से पूर्ण अधिकार प्राप्त प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर हेतु प्रस्तुत किया जाता है।

सभी महत्वपूर्ण सम्मेलनों में कार्यवाही का अभिलेख रखने पर विशेष ध्यान दिया जाता है। प्रत्येक बैठक के समय सचिव या सचिवों द्वारा बैठक की तिथि समय स्थान पूर्ण अधिकार प्राप्त प्रतिनिधियों के नाम तथा भाग लेने वाले राज्यों के नाम आदि का उल्लेख करते हुए कार्यवाही का अभिलेख तैयार किया जाता है। इस पर सभी उपस्थित प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर कराये जाते हैं तथा अध्यक्ष एवं सचिवों के भी हस्ताक्षर होते हैं। इसी प्रायः अगली बैठक में पढ़ा और स्वीकार किया जाता है। जब अन्तिम रूप से सन्धि स्वीकृत हो जाती है तो उसकी मूल प्रति उस राज्य की सरकार के पास रखी जाती है जहाँ सम्मेलन होता है तथा प्रतिलिपियाँ भाग लेने वाले पूर्ण अधिकार प्राप्त प्रतिनिधियों में वितरित कर दी जाती हैं। आजकल अभिलेख रखने का कार्यक्रम औपचारिक तथा कम नियमित हो गया है। सम्मेलन के प्रारूप घोषणाओं आदि को सम्मेलन के अभिलेखों के रूप में वितरित किया जाता है।

सन्धियों पर हस्ताक्षर का क्रम अंग्रेजी वर्णमाला के क्रम में रहता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इटली के साथ की गई शान्ति सन्धि पर पहले पाँच महाशक्तियों (क्रमशः सोवियत संघ ब्रिटेन संयुक्तराज्य अमेरिका चीन तथा फ्राँस) ने हस्ताक्षर किए तथा उनके बाद अंग्रेजी वर्णमाला के क्रम में सभी मित्र राज्यों एवं सहयोगी राज्यों ने तथा सबसे अन्त में इटली ने हस्ताक्षर किए।

प्राचीन काल में सम्मेलन के कार्य का अधिकांश भाग अग्रत्व और औपचारिकताओं से सम्बन्धित रहता था। उसमें यह निर्णय करना होता था कि सन्धि वार्ताएँ लिखित हों अथवा मौखिक हों कुछ राज्यों को शामिल किया जाए अथवा नहीं किया जाए कुछ सम्प्रदायों की पद्धतियों को मान्यता दी जाए या नहीं दी जाए आदि। इतिहास साक्षी है कि निजमेगेन (Nijmegen) की कांग्रेस (1676-79) में फ्राँस और स्पेन के बीच शान्ति सन्धि पर हस्ताक्षर के लिए सन्धि की दो प्रतियाँ तैयार की गई थीं—एक फ्राँसीसी भाषा में दूसरी स्पेनी भाषा में। उन्हें अंग्रेज मध्यस्थ के निकट भेज पर रख दिया गया। तीन फ्राँसीसी पूर्ण अधिकार प्राप्त प्रतिनिधियों ने एक दरवाजे से प्रवेश किया और उसी क्षण दूसरे दरवाजे से स्पेन के तीन अधिकार प्राप्त प्रतिनिधियों ने प्रवेश किया। वे एक साथ एक जैसी कुर्सियों पर बैठे और एक ही समय अलग अलग प्रतिलिपियों पर दोनों ने हस्ताक्षर किए।

सम्मेलन में किन राज्यों को भाग लेना चाहिए यह प्रश्न प्रायः उठाया जाता है। 1919 के पेरिस शान्ति सम्मेलन के सम्बन्ध में प्रो. एम्परली ने लिखा है कि प्रथम प्रश्न तो इससे सम्बन्धित था कि किन राज्यों को सम्मेलन में प्रतिनिधित्व दिया जाए। अन्तः यह निर्णय लिया गया कि इसमें वे सभी राज्य भाग लें जिन्होंने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की थी अथवा उससे सम्बन्ध रखते थे, जिन्होंने युद्ध के लिए श्रेष्ठ, तत्काल राज्यों को भी उन बातों विवादों में शामिल होने के लिए आमन्त्रित किया गया जिनके विशेष हित प्रभावित होते थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एक सम्मेलन की रचना का प्रश्न अनेक बार उठा है। 18 फरवरी 1954 की बर्लिन वार्ता में जेनेवा सम्मेलन की रचना के लिए विस्तृत प्रवचन किए गए।

सम्मेलन का सचिव (The Secretary of Conference)

सम्मेलन में प्रमुख सचिव प्रायः उस देश का अधिकारी होता है जहाँ सम्मेलन का आयोजन किया जाता है। यद्यपि कि वह राज्य स्वयं भाग ले रहा हो। सचिवस्य सम्मेलन के अध्यक्ष के नियन्त्रण के अधीन कार्य करता है। यद्यपि इसका मुख्य कार्य सम्मेलन का अनिलेख तैयार करना तथा सचिवों द्वारा अन्य कार्य भी सम्पन्न करना है। यह भाषणों और अनिलेखों के अनुवाद करता है तथा प्रेस से पत्र-व्यवहार भी सम्पन्न करता है। जब एक सम्मेलन सदुक्त राष्ट्रसंघ या उसके तत्त्वस्थान में आयोजित किया जाता है तो सचिवस्य सेवा सदुक्त राष्ट्रसंघ या विशेष अधिकारन के सचिवस्य द्वारा प्रदान की जाती है। ये कार्य जिस व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं वह अध्यक्ष और उप-अध्यक्ष के निर्देशन में कार्य करता है तथा सम्मेलन के महसुबद्वारा उसकी सहायता की जाती है। सम्मेलन की कार्यवाही में सचिव की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के कुछ उदाहरण (Some Examples of International Conferences)

यह उदाहरण होगा कि हम अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों और उनके कार्य सम्पन्न को कुछ प्रमुख उदाहरणों के परिचय में समझें।

विन्ना काँग्रेस (The Vienna Congress, 1815)

नेपोलियन बोनपार्ट के उद्घाटन के जर्मन काल में जिस प्रकार उसके कार्यों का यूरोप के सभी राष्ट्रों पर गम्भीर प्रभाव पड़ा, उसी प्रकार उसके पतन का भी उन सब पर गहरा प्रभाव पड़ा। नेपोलियन के पतन ने यूरोप में जिन विविध सनस्यारों और प्रलों को जन्म दिया, उसकी प्रकृति में अस्तिव्य की राजधानी विन्ना में यूरोपीय राष्ट्रों का वह महत्वपूर्ण सम्मेलन (1815) में सम्पन्न हुआ जो विन्ना काँग्रेस के नाम से विख्यात है। एक ओर तो रूस के युद्ध में 1815 को नेपोलियन को अन्तिम रूप से पराजित कर दिया गया और दूसरी ओर इस युद्ध से कुछ दिन पूर्व ही काँग्रेस ने अपने निर्णय ले लिए जिन पर 9 जून 1815 को निम्न राज्यों ने हस्ताक्षर कर दिए। विन्ना काँग्रेस के इन्हीं निर्णयों से 19वीं शताब्दी की यूरोपीय राज्य-व्यवस्था (State System) की नींव रखी गई।

सम्मेलन के प्रतिनिधि : इतिहास में इससे पहले कभी प्रमुख नेताओं का इतना बड़ा सम्मेलन नहीं हुआ था। इस सम्मेलन में टर्की के अतिरिक्त यूरोप के अन्य सभी देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। राज, महाराज, राजकुमार, सेनापति, कूटनीतिज्ञ, राजनीतिज्ञ, कवि, सैन्य, प्रमुख व्यक्ति इसमें सम्मिलित हुए। इसके अतिरिक्त सैनिकों की संख्या में पत्र-प्रतिनिधि, वैज्ञानिक, प्राध्यापक, धर्मार्थ कवि भी सम्मेलन में शामिल हुए। विन्ना सम्मेलन में बार-बार नेहरू के ऊपर केवल अस्तिव्यन सरकार का ही लगभग 8 लाख पौन्ड व्यय हुआ। विन्ना सम्मेलन में कुल मिलकर 90 बड़े महाराज और 68 राज या उनके प्रतिनिधि इकट्ठा हुए थे। अस्तिव्य का समस्त प्रभुत्व प्रथम करने योग्य प्रथम मंत्री नेपोलियन के साथ इस काँग्रेस का सम्पूर्ण प्रभाव कर रहा था। उस का उद्देश्य अनेकानेक प्रथम करने मंत्री नेपोलियन तथा जर्मनी के दिव्यत नेता स्टार्न के साथ सम्मिलित था।

प्रशा का राजा फ्रेडरिक विलियम तृतीय हार्डबर्ग और पोन्टुकोल्ड्स को साथ लेकर आया था। पोप का प्रतिनिधि कार्डिनल साल्वे प्रीस का मंत्री रोलेरी इगलेण्ड का विदेश मंत्री रैसलरे तथा सहायिता वेलिंग्टन आदि सम्मेलन में उपस्थित थे।

वियना काँग्रेस की प्रमुख समस्याएँ वियना काँग्रेस के सम्मुख कुछ भयानक गम्भीर समस्याओं के सम्पादन के निमित्तस्थित प्रश्न सामने थे।

1. नेपोलियन की सहायता करी जाने यूरोपीय राजाओं को किस प्रकार का दण्ड दिया जाए ?

2. नेपोलियन के मुद्दों के यूरोप के माध्यात्र को ही बदल दिया था।

3. तीसरी समस्या ब्रासि की भाषा की थी। यद्यपि प्रीस की ब्रासि सामान्य हो चुकी थी नेपोलियन का पता हो गया था फिर भी स्वतन्त्रता सामान्यता भावुक्य और राष्ट्रीयता के सिद्धान्त लगभग सारे यूरोप में फैल चुके थे। सम्मेलन के प्रतिनिधियों के सम्मुख यह दिक्कत समस्या थी कि नई प्रवृत्तियों को किस प्रकार रोकें जाए ? ये प्रतिनिधि और राजनीतिज्ञ अत्यन्त प्रतिद्विषावादी थे। ये पुरातन व्यवस्था को फिर से वापस करना चाहते थे। यह कार्य असम्भव था लेकिन वे अपने प्रयत्नों से बाज नहीं आए।

4. सम्मेलन के प्रमुख धार्मिक और धरातरी सम्बन्धित राजाओं की सम्पत्ति का भी प्रश्न था। नेपोलियन ने चर्च को एक राजकीय समस्या बना दिया था। नेपोलियन के पता के बाद अब चर्च की समस्या फिर उपस्थित हुई। निरवस्था शासन की पुनर्स्थापना के साथ ही धरातरी सम्बन्धित समस्याओं और पोप की शक्ति की पुनर्स्थापना भी आवश्यक थी।

5. काँग्रेस के सम्मुख एक गम्भीर प्रश्न यूरोप में शासि स्थापित करना और मुद्दों की सम्पादनाओं को रोकने का उपाय खोजना था।

वियना काँग्रेस की कार्य प्रणाली यद्यपि वियना काँग्रेस एक महान सम्मेलन था जिसमें यूरोप के भाग्य का निर्धारण किया जाता था लेकिन इसकी कोई निश्चित कार्य प्रणाली नहीं थी। तो कोई प्रस्ताव पेश होते थे और न ही इस पर मतदान कराये जाते थे ही कोई व्यवस्था थी। भाषणों में राज्यों की सीमाएँ तय हो जाती थीं। भाग्य तमामो देखते हुए दावों खाते हुए राज्यों को बढ़ाते या घटाते का फैसला हो जाता था। गम्भीर से गम्भीर राजनीतिक मामले सामानों और समीत सम्मेलनों में तय कर लिए जाते थे। किसी ने इसी मजाल में कोई बात कही यदि वह औरों को पराजित आ गई तो मान ली गई। इस सम्बन्ध में जाता की इच्छा अधिका की किसी को परवाह नहीं थी। इसी कारण किसी ने काँग्रेस को पशुओं का वार्षिक मेला कहा था। सर्वसाधारण जनता के साथ ऐसा व्यवहार किया गया था मानो वे पशु हों तथा जिसका प्रत्य विप्रत्य हो रहा हो।

सम्मेलन में कुरा आरिद्र्या प्रशा और इग्लैण्ड के शक्तिशाली प्रतिनिधि जो चाहते थे हो जाता था। ये राज्य ही अधिक से अधिक झूट का मात स्वयं हड़प जाते का प्रयत्न कर रहे थे। नीतिवत्ता के सिद्धान्त ताक पर रख दिए गए थे। विजयी राष्ट्र अपने स्वार्थ में लिपि ले छोटे राज्यों का कोई सम्मान नहीं था। विचारों के आदान प्रदान का कोई महत्त्व नहीं था। काँग्रेस का कोई निश्चित सभापति नहीं था। मेटर्निय ही सम्मेलन के प्रधान और मंत्री दोनों का कार्य करता था। यह जिस ढंग से चाहता कार्य करता था। आरिद्र्या प्रशा कुरा और रिटो इग चार मुख्य राज्यों ने आपस में गुप्त फैसला कर लिया था कि

सब मामलों पर वे पहले आपस में निश्चय कर लेंगे और कॉंग्रेस के सम्मुख पेश करेंगे। केवल फ्रांस का प्रतिनिधि तेलेरा ही एक ऐसा था जिसे निर्बल राष्ट्रों की चिन्ता थी। वह एक पराजित देश का प्रतिनिधि था इसलिए ऐसा होना स्वाभाविक भी था। वह इन छोटे राज्यों की सहायता से अपने देश के हितों की रक्षा करना चाहता था। उसका आग्रह था कि कॉंग्रेस का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार होना चाहिए पर प्रशा का फानहुम्बोल्ड्स उसे जवाब देता था जिसकी लाठी उसकी रीस। वास्तव में विजयी राज्यों के प्रतिनिधि अपनी ताकत के बल पर मनमानी करने पर तुले हुए थे पर उनके स्वाधों में टकराहट थी और तेलेरों इन मतभेदों से लाभ उठाने में लगा हुआ था। उसने बड़े राज्यों को छोटे राज्यों के बारे में मनमाने निर्णय लेने के अधिकार की मर्त्सना की और उनको आठ राज्यों की एक समिति बनाने के लिए राजी किया। ये आठ राज्य थे ब्रिटेन, रूस, फ्रांस, आस्ट्रिया, स्पेन, प्रशा, पुर्तगाल और स्वीडन। इसके अतिरिक्त विविध समस्याओं पर विचार करने के लिए दस उप समितियों का भी गठन हुआ। इसमें अलग अलग राज्यों के विवादों को सुलझाने के लिए अलग अलग उप समितियाँ थीं। किन्तु फिर भी बड़े राज्य उप समितियों और आठ राज्यों के निर्णयों की उपेक्षा कर मनमानी करते रहे।

वियना कॉंग्रेस की इस दशा के कारण ही यह कहा गया है कि "वियना कॉंग्रेस कोई कॉंग्रेस नहीं थी उसके सिद्धान्त असंगत थे और उसकी व्यवस्था परिस्थिति को अस्त व्यस्त बनाने वाली थी।" कॉंग्रेस का न कोई औपचारिक उद्घाटन समारोह हुआ था, न प्रतिनिधियों का विधिवत् स्वागत। एक साथ सभी प्रतिनिधि कभी मिले भी नहीं। उनके बीच अनेक सन्धियाँ हुई थीं और बाद में उन सबको मिलाकर 1815 की अन्तिम सन्धि हो गई थी। यही कॉंग्रेस के कार्यों का 'संग्रह' था।

कॉंग्रेस के मार्गदर्शन का सिद्धान्त सम्मेलन की कोई निश्चित कार्यविधि न होने के कारण अवसरवादी लाभ उठाकर अपने ढंग से काम कर रहे थे। आस्ट्रिया प्रशा और इंग्लैण्ड इस ताक में थे कि जटिल विषयों का जाल बिछाकर अपने स्वाधों की सिद्धि करें। फ्रांस का तेलेरों अपने शिष्ट स्वभाव की आद में कुटिल नीति छिपाए हुए था। मेटर्निख बड़ी सावधानी से घलें घल रहा था जिससे आस्ट्रिया की सीमाओं का विस्तार हो सके। प्रशा इंग्लैण्ड तथा रूस भी घात लगाए बैठे थे। इस तरह आदर्शवादी नीति और अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की आद में कूटनीति और सकीर्ण राष्ट्रीय स्वाधों के खेल खेले जा रहे थे। सभी अपना उल्लू सीधा करने में लगे थे और अपने कार्यों को न्यायोचित बताते थे।

ऐसे वातावरण में काफी विचार विनियम के बाद भी जब यूरोप के राष्ट्र किसी निर्णय पर न पहुँच सके तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि सम्मेलन असफल हो जाएगा और यूरोपीय आकाश में फिर से युद्ध के बादल महराने लगेंगे। ऐसी स्थिति की सम्भावना दिखाई देने पर अन्त में सभी राज्यों ने विचारणीय सिद्धान्तों पर निर्णय किया। अपने स्वाधों को नियन्त्रित करते हुए अपने मौलिक सिद्धान्तों की एकता स्वीकार की। वियना कॉंग्रेस के इस प्रकार तीन मार्गदर्शक सिद्धान्त बने। प्रथम सिद्धान्त था न्याय्यता अथवा वैधता (Legitimacy) का द्वितीय सिद्धान्त था विजयी राष्ट्रों को पुरस्कार तथा पराजितों को दण्ड देने का तथा तृतीय सिद्धान्त था यूरोप में शक्ति सन्तुलन स्थापित करने का। इन सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए कॉंग्रेस ने विभिन्न देशों के लिए अलग अलग निर्णय लिए अथवा प्रादेशिक व्यवस्थाएँ कीं।

मूल्योक्त वियना सम्मेलन ऊँचे आदर्शों और पवित्र उद्देश्यों की घोषणाओं के साथ आरम्भ हुआ। सम्मेलन का आयोजन इसलिए किया गया था कि यूरोपीय समाज का पुनर्निर्माण हो, यूरोप की राजनीतिक व्यवस्था में सुधार लाया जाए और प्रदेशों के न्यायपूर्ण विभाजन द्वारा स्थानीय शान्ति की स्थापना की जाए। लेकिन यह सब केवल दिखावे या कहने के लिए ही ठीक था, अन्यथा वास्तविकता इसके विपरीत थी। कॉंग्रेस के सचिव के ही शब्दों में 'कॉंग्रेस में बड़े बड़े शब्दों का प्रयोग उसे प्रतिष्ठित स्थान देने के लिए किया गया था किन्तु वास्तव में वियना में एकत्र राजनीतिज्ञों का मुख्य उद्देश्य विजित प्रदेशों का आपस में बँटवारा करना था। वास्तविक अर्थ में यह सम्मेलन यूरोप के शक्तिशाली सम्राटों का झमेला ही था। उन्हें अपने स्वार्थों का ध्यान था। अपनी स्वार्थ सिद्धि के आगे जन साधारण के हितों और अधिकारों की उन्हें कोई परवाह नहीं थी।

अनेक गम्भीर कमियों और आरोपों के यह भी मानना पड़ेगा कि वियना कॉंग्रेस से अनेक लाभ भी हुए। यूरोप के इतिहास में कॉंग्रेस का जो महत्व है उसे कम करके नहीं आँका जा सकता। युद्धों से बुरी तरह थके हुए यूरोप में शान्ति स्थापित करने में यह कॉंग्रेस सफल हुई। वियना कॉंग्रेस का महत्व इस बात में भी है कि यूरोप के इतिहास में यह पहला अवसर था जब यूरोप के सम्पूर्ण राज्यों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए थे। इससे कम से कम राज्यों को यह तो अनुभव हुआ कि परस्पर मिलकर और बातचीत करके भी किसी समझौते पर पहुँचा जा सकता है। ऐलिसन फिलिप्स ने लिखा है कि 'वियना सम्मेलन के निर्णयों से 1815 से 19वीं शताब्दी का राजनीतिक प्रभाव आरम्भ हुआ और सम्पूर्ण यूरोप के प्रमुख शासकों का नवीन समाज के निर्माण के लिए एकत्रित होना नवीन परम्परा का घोटक था। जर्मनी और इटली के एकीकरण की दिशा में भी वियना कॉंग्रेस ने कुछ महत्वपूर्ण कार्य अनजाने ही कर डाले। इस तरह कॉंग्रेस ने 19वीं शताब्दी के यूरोप के नव निर्माण की आधारशिला रखी जो इसकी एक महान् सफलता थी। वियना कॉंग्रेस ने एक ऐसी व्यवस्था (यूरोपीय व्यवस्था Concert of Europe) का निर्माण किया जिससे युद्ध रोका जा सके। इस यूरोपीय व्यवस्था को प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कह सकते हैं। इसकी आधारशिला पर ही आगे चलकर राष्ट्रसंघ का निर्माण हुआ। इस संगठन के कारण ही यूरोपीय राज्यों में सहयोग की भावना का विकास हुआ जो बहुत समय तक चलती रही। वियना कॉंग्रेस पर यह आरोप लगाया गया कि उसके निर्णय स्थायी नहीं हुए। इस आलोचना का उत्तर देते हुए प्रो. हार्नशा ने लिखा है कि 'वियना सम्मेलन के प्रतिनिधि ईश्वर के अवतार नहीं थे। जितना स्थायित्व मानव शक्ति में निहित है उतना ही स्थायित्व उन्होंने (वियना के निर्णयकों ने) देने का प्रयत्न किया था। अन्त में यह कहा जा सकता है कि वियना सम्मेलन के साथ पुराने युग का अन्त और नए युग का आरम्भ हुआ।

पेरिस का शान्ति सम्मेलन 1919

(Peace Conference of Paris 1919)

28 जुलाई 1914 से प्रारम्भ होने वाले प्रथम महायुद्ध का अन्त मित्रराष्ट्रों की विजय में हुआ। 11 नवम्बर 1918 को युद्धविराम सन्धि पर जर्मन प्रतिनिधियों और मित्रराष्ट्रों की सेनाओं के जनरल मार्शल फीच द्वारा हस्ताक्षर हुए। शस्त्रों का युद्ध तो समाप्त हो गया किन्तु कूटनीतिक दाव पेचों का युद्ध शुरू हुआ। अब सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण प्रश्न शान्ति

है भाई व्यर्थ करना है। जहाँ कुछ मर जा रहा है समझ हुआ, वहाँ मित्र देते हैं साथ रहने सक्षम करने में 5 दिन का समय लग गया।

समान, प्रतिनिधि और जनसदस्यें, कुछ मन्त्र होने पर प्रान्त की राजधानी नीति को रूढ़ि-मन्त्रों के लिए, संसदों में नए नए कानूनों ने कुछ में स्थिति में लेना उनमें के कानूनों का प्रतिनिधि करने में बड़ी सहायता दी। यह सब सब समान दिया गया। रूढ़ि मन्त्रों में बहुत निराशा हो ही गयी थी। यह सब सब कुछ इस कुछ में परिलक्षित हुआ कि सब नहीं हुआ। उनकी कानूनन केवल ही कुछ ही जगह रूढ़ि मन्त्रों का हलफ करने का अधिकार था। संविधान में सब कुछ ही समान हो चुका था। सभी धर्मों पर (जहाँ कहीं) से सब कुछ ही लिया था, यह सब सब प्रतिनिधि नहीं दिया गया। समान का नया धर्म, अविरोध 15 जनवरी 1919 को बना हुआ। इनमें 32 राज्यों के 70 प्रमुख प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इनमें सिद्ध के विरुद्ध राजनीति के दो ही नए ही नए कानूनों परिलक्षित, 11 जनवरी और 12 विदेश मंत्री भी थे। प्रत्येक देश ने अपने प्रतिनिधि मन्त्रों के साथ अपने अपने, सहायक और मानविकता में थे। अन्य प्रतिनिधि मन्त्रों की राजधानी में थी।

ਦਾਇ-ਸ਼ਾਮਲਨ ਨਾ ਕਰਦੇ ਹਨ ਤੁਸ ਹੁਣ ਹਾਂ ਕਰਨੇ ਵਾਲੇ ਅਜੇਹੇ ਸਮਾਜ ਦੇ ਸਿਰਜਣ

1. यह मन्त्र लट्ट उठे हैं कि कृषि प्रगति होनी चाहिए, कपड़ा बनाने ?

2. सम्मेलन में इतने प्रतिनिधि आए थे कि सम्मेलन के कार्य का सुचारु रूप से चंवन सम्भव नहीं था। अतः पहले 10 सदस्यों की एक परिषद् (Council of Ten) बनाई गई, लेकिन बाद में मार्च, 1919 में चार व्यक्तियों की परिषद् (Council of Four) बनी। ये चार व्यक्ति अमेरिकी राष्ट्रपति विल्यम वी. विल्सन, ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉर्ड जॉर्ज, फ्रांस का प्रधानमंत्री क्लेमेंटो और इटली का प्रधानमंत्री कालेंडे थे। इन्हें जॉर्ज, फ्रांस का प्रधानमंत्री क्लेमेंटो और इटली का प्रधानमंत्री कालेंडे थे। इन्हें चार बड़े (Big Four) कहा गया। अतः, 1919 में कालेंडे एक नए राज हेतु लौट गए थे जिन्होंने एक नए विल्यम लॉर्ड जॉर्ज और क्लेमेंटो—इस त्रिभुज का नाम।

3 समीप के निरुपेक्षित दुर्गम दुर्गम है। मैं हीन के हृदय में "सिद्धि" एक निरुपेक्षित है और वहीं पर प्रवेश कर रहा हूँ। समीप के हृदय के हृदय, धृष्ट, समीप के हीन से समीप है।"

4. मैक्स का टर्नि-टन्मेंट्स क्लब वीजेस क्लब (Victor's Club) थी। इसने फरवरी १९४० के प्रतिद्वंद्वियों को जग नहीं देने दिया गया। इसने टूर्नामेंट में अच्छे खराबों को बैठा रखा है।

5. देश के शक्ति-सम्पन्न बच्चे बहोतलों का समुदाय बना सकते हैं। वे अपने कर्म से बच्चे-बच्चे देश के निर्दोष बनने दें, जो बहोतलों के मन्दिर से उगन रहे हैं, समुदाय बना सकते हैं। बट समेतन में बच्चे नें टकल्लुस रही।

6 हमें इनके करने दोई इतिहास और कुछ देखना नहीं दी।

7 सम्मेलन का सगठन बड़ा दोषपूर्ण था। इसकी कार्य पद्धति भी बहुत अपूर्ण थी। सम्मेलन के सभी महत्वपूर्ण निर्णय 'त्रिमूर्ति' (विल्सन क्लेमेंसो लॉयड जॉर्ज) द्वारा किए जाते थे। पूर्ण सम्मेलन का कार्य केवल इन निर्णयों पर मोहर लगाना मात्र था।

8 अन्तिम कठिनाई वैयक्तिक तत्व (Personal Element) थी। विल्सन लॉयड जॉर्ज क्लेमेंसो और आरलेण्डों में किसी प्रकार की समानता न थी। अपनी अपनी दृष्टि अपने अपने राग वाली बात थी। पेरिस सम्मेलन के चारों कर्णधारों के विरोधी व्यक्तित्व और स्वभाव से शान्ति सम्मेलन में बड़ी बाधाएँ उपस्थित हुईं। सम्मेलन में आदर्शवाद और भौतिकवाद में सघर्ष चलता रहा। ऐसे वातावरण में किसी एक पक्ष की पूर्ण विजय सम्भव न थी अतः दोनों पक्षों ने ही समन्वय की भावना अपनाई। फिर भी विल्सन के आदर्शवाद की अपेक्षा क्लेमेंसो का भौतिकवाद अधिक विजयी हुआ।

शान्ति सम्मेलन के मूल आधार शान्ति सम्मेलन का अधिवेशन आरम्भ होने पर यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि शान्ति रचना अर्थात् विभिन्न शान्ति सन्धियों का आधार क्या हो? सम्मेलन पर एक ओर तो विल्सन के आदर्शवाद का प्रभाव था तथा दूसरी ओर यूरोपीय राजनीतिज्ञ राष्ट्रीय हितों को प्रधानता देकर राजनीतिक मध्यार्थवाद का प्रतिपादन करने पर तुले हुए थे। ऐसे वातावरण में शान्ति रचना के एक से अधिक आधार निरूपित हुए और उन्होंने अपनी अपनी भूमिका अपने ढंग से अदा की। शान्ति रचना के ये मूल आधार जिन्होंने शान्ति निर्माताओं के निर्णयों को प्रभावित किया निम्नलिखित छह थे

(क) अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन और जर्मनी का यह मत था कि शान्ति सन्धियों का आधार वे सिद्धान्त होने चाहिए जो विल्सन ने युद्धकाल में प्रतिपादित किए थे। युद्धकाल में विल्सन ने चार बार सह राष्ट्रों के युद्धोद्देश्यों की व्याख्या की थी। पहली बार 8 जनवरी 1918 को कांग्रेस के सम्मुख भाषण करते हुए उसने अपने चौदह सूत्री कार्यक्रम को पेश किया था। इसके बाद 11 फरवरी 1918 को कांग्रेस के ही सभने उसने अपने चार सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इसके उपरान्त 4 जुलाई 1918 को उसने 4 लक्ष्यों की घोषणा की और फिर 27 सितम्बर को 5 व्याख्याओं की स्थापना की।

(ख) इंग्लैण्ड फ्रांस इटली आदि मित्रराष्ट्र युद्ध के समय ही की गई गुप्त सन्धियों के आधार पर शान्ति समझौते की रूपरेखा निर्धारित करना चाहते थे।

(ग) शान्ति निर्माताओं द्वारा प्रतिपादित नियमों को रूस की साम्यवादी क्रान्ति ने भी बड़ा प्रभावित किया। वे रूस को अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में बहिष्कृत तथा अधूत रखना चाहते थे। सम्मेलन के प्रत्येक निर्णय पर रूसी क्रान्ति का अज्ञात भय छाया हुआ था।

(घ) स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्रीयता की भावना का विकसित होना भी समझौते का एक महत्वपूर्ण आधार रहा। राष्ट्रीयता की भावना ने इस सम्मेलन के अनेक निर्णयों को प्रभावित किया।

(ङ) अमेरिका ब्रिटेन फ्रांस और इटली के राष्ट्रीय हितों ने सम्मेलन पर निश्चित रूप से अमिट छाप छोड़ी।

(च) अन्त में ब्रेस्ट लिटोवस्क की सन्धि का भी पेरिस सम्मेलन पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

अध्यक्ष और समितिधाय सम्मेलन का अध्यक्ष क्लेमेंसो को चुना गया। यह एक औपचारिकता थी कि जिस देश में सम्मेलन हो उस देश का प्रधानमन्त्री या अधिकारी को

सम्मेलन का अध्यक्ष चुना जाता है। इसके अलावा क्लेमेंसो का व्यक्तित्व बहुत ही प्रभावशाली था। अतः उसी की अध्यक्षता में शान्ति सम्मेलन का सारा कार्य सम्पादित हुआ। महत्वपूर्ण विषयों की जाँच के लिए तथा प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए अनेक समितियाँ बनाई गईं। इन समितियों में अनिवार्य रूप से ब्रिटेन, संयुक्तराज्य अमेरिका, फ्राँस और इटली के प्रतिनिधि रहते थे। इनके अलावा इनमें अन्य देशों के भी प्रतिनिधि सम्मिलित थे। इन विशेष समितियों की संख्या 52 तक हो गई थी। मुख्य समितियाँ युद्ध के उत्तरदायित्व, क्षतिपूर्ति की समस्या, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विधान, जर्मनी के उपनिवेशों का बँटवारा, बन्दरगाहों, जल मार्गों तथा रेल मार्गों के निदर्शों के निर्माण से सम्बन्धित थीं। साथ ही राष्ट्रसंघ की रूपरेखा क्या होगी इस सम्बन्ध में भी एक समिति बनाई गई। इस समिति का अध्यक्ष स्वयं अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन था। इनके अलावा अन्य अनेक समितियाँ अपनाई गईं जो सन्धि के विविध विषयों से सम्बन्धित थीं। इनका प्रतिवेदन काफी महत्वपूर्ण होता था। इससे शान्ति सम्मेलन का कार्य बहुत ही सफल हो गया।

मूल्यौकन पेरिस के शान्ति सम्मेलन द्वारा शान्ति की शर्तें पाँच सन्धियों में रखी गईं जिनके नाम इस प्रकार हैं— वसाय की सन्धि, आस्ट्रिया के साथ सेण्ट जर्मन की सन्धि, बल्गेरिया के साथ न्यूइली की सन्धि, हंगरी के साथ ट्रियनो की सन्धि और टर्की के साथ सेव्र की सन्धि। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जर्मनी के साथ सन्धि ही प्रस्तावित शान्ति सम्मेलन की महत्वपूर्ण सफलता थी।

पेरिस के शान्ति सम्मेलन ने युद्धों को समाप्त करने के लिए लड़े जाने वाले युद्ध के बाद विभिन्न सन्धियों द्वारा शान्ति स्थापित करने का प्रयास किया। लेकिन मानव जाति का यह दुर्भाग्य था कि यूरोप का राजनीतिक वातावरण निरन्तर विस्फोटक होता गया। राष्ट्रीय विद्वेष की अग्नि सुलगती रही। अल्पसंख्यकों के हितों के लिए की गई सन्धियों की शर्तों के प्रति कोई ध्यान नहीं निभाया गया और अन्ततः 1938 में सत्तार को द्वितीय महायुद्ध की विनीपिका का शिकार बनना पड़ा। पेरिस की शान्ति सन्धियों इसलिए सफल नहीं कि प्रथम तो सम्बन्धित पक्षों ने सन्धि की शर्तों के पालन का उत्तरदायित्व नहीं निभाया। द्वितीय फ्राँस में क्लेमेंसो सरकार का पतन हो गया और उग्रवादी पोर्ऑकार सरकार सत्तारुढ़ हुई जिसने प्रारम्भ से ही ऐसी नीति अपनाई कि जिसके फलस्वरूप सन्धि की शर्तें बेकार हो जाएँ और फ्राँस को खुलकर जर्मनी से बदला लेने का मौका मिले। दास्तव में फ्राँस की राजनीति में पोर्ऑकार का पुनः प्रदेश यूरोप के लिए अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ। इस सम्बन्ध में शान्ति सन्धियों से अमेरिका का सम्बन्ध विच्छेद भी बड़ा घातक सिद्ध हुआ। सन्धियों को सत्तार के एक महान्तम् देश के समर्थन से दबित हो जाना पड़ा और उनको कार्यान्वित करने का भार केवल उन्हीं लोगों पर रह गया जो प्रतिशोध की आग में जल रहे थे। यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि यदि सन्धि की शर्तों का सही पक्षों की ओर से उचित पालन हुआ होता तो पेरिस की शान्ति सन्धियों की यह दुर्दशा न होती जो बाद में हुई।

सैनफ्रांसिस्को सम्मेलन, 1945

5 मार्च 1945 को संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस, ब्रिटेन तथा चीनी गणतन्त्र की ओर से याल्टा सम्मेलन के निर्णय के अनुसार 45 अन्य राष्ट्रों को आमन्त्रित किया। पोलेण्ड को

आमन्त्रित नहीं किया गया क्योंकि चार प्रस्तावक राष्ट्र उसे मान्यता प्रदान करने के प्रश्न के विषय में सहमत नहीं हो सके। आमन्त्रित करते समय सम्बन्धित राष्ट्रों को सूचित भी कर दिया गया था कि प्रस्तावित सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र के निर्माण के सम्बन्ध में याल्टा सम्मेलन के निर्णयों पर विचार किया जाएगा। साथ ही आमन्त्रित राष्ट्रों से अपने विचार भी मेजने का आग्रह किया गया था। सम्मेलन 25 अप्रैल 1945 को रीनक्रॉसिस्को में प्रारम्भ हुआ। सम्मेलन में 50 राष्ट्रों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए और इसकी बैठक 25 अप्रैल से लेकर 26 जून 1945 तक चलती रही। ई पी वेज ने इस सम्मेलन को सबसे महान् अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बताया है। जैसा न तो कभी हुआ था न ही भविष्य में होने की सम्भावना थी।

सम्मेलन की कार्यवाही, राष्ट्रों का राजनय रीनक्रॉसिस्को सम्मेलन के कार्य निष्पादन सम्मेलन में बड़े तथा छोटे राज्यों के राजनय और सम्मेलन के परिणाम आदि पर डॉ। रामसखा गीतम ने अच्छा प्रकाश डाला है।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर का निर्माण करने के सम्मेलनों के उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक समितियाँ एवं आयोगों का गठन किया गया। सम्मेलन में भाग लेने वाले सभी राष्ट्रों को अपने विचार प्रकट करने एवं अपने सुझाव प्रस्तुत करने का पूरा अवसर प्रदान किया गया। अन्त में निर्णय एक विशेष बहुमत द्वारा लिए गए जिससे यह आभास हुआ कि सम्मेलन द्वारा बड़े राष्ट्रों की भी उपेक्षा की जा सकती है। यहाँ पर यह बात अवश्य ही स्पष्ट की जानी चाहिए कि कोई भी निर्णय रूस ब्रिटेन अमेरिका चीनी गणतन्त्र एवं फ्रांस की इच्छा के विरुद्ध सम्भव ही नहीं था। रूस एवं अमेरिका को विशेष स्थान प्राप्त हो गया था। इस सम्मेलन में अनेक कठिन समस्याओं का समाधान हो सका। सुरक्षा परिषद् में मतदान पद्धति (निषेधाधिकार) अधिक महत्वपूर्ण विषय बन गया था। छोटे राष्ट्रों ने इस विशेष अधिकार को रोकने का बहुत कठिन असफल प्रयास किया। छोटे राष्ट्रों का मत था कि विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने के लिए एव चार्टर में सशोधन करते समय निषेधाधिकार का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। रूस याल्टा मतदान पद्धति में लेखमात्र परिवर्तन स्वीकार करने की स्थिति में नहीं था। रूस का विचार था कि चार्टर में सशोधन के लिए कठोर पद्धति ही अधिक हितकर होगी। रूस तो यहाँ तक कहता था कि किसी महत्वपूर्ण विषय पर विचार विमर्श करने के लिए वीटो का प्रयोग होना चाहिए परन्तु ब्रिटेन फ्रांस अमेरिका तथा चीन चार्टर को इतना कठोर नहीं होने देना चाहते थे। उन्होंने यह भी बहुत ही कठिनाई से स्वीकार किया कि केवल निर्णयों पर ही निषेधाधिकार का प्रयोग किया जाए। इस समस्या का अन्तिम समाधान अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रूमैन एवं मार्शल स्टालिन के सहयोग से ही सम्भव हो सका।

महासभा की शक्तियों के सम्बन्ध में भी कठिन विवाद था। रूस का विचार था कि महासभा, जो, विश्व की गुरुता से सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार करने का अधिकार नहीं प्रदान किया जाना चाहिए। वह चाहता था कि उक्त कार्य का उत्तरदायित्व केवल सुरक्षा परिषद् को ही सौंपा जाए। राष्ट्रपति ट्रूमैन इस विषय पर मार्शल स्टालिन से विचार विमर्श करना चाहते थे परन्तु राष्ट्रपति ट्रूमैन के विचार से सहमत होकर रूस के विदेश मंत्री मोलोटोव ने अमेरिका का यह विचार स्वीकार कर लिया कि महासभा को भी सुरक्षा सम्बन्धी विषयों

पर विचार करने का अधिकार प्रदान किया जाए। न्यास क्षेत्रों के प्रश्न पर भी अनुरोधित हैं। मूल के प्रतिनिधियों का विचार था कि कुछ समय के उपरान्त उपनिवेशों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाए परन्तु ब्रिटेन एवं अमेरिका स्वयं अपने स्वयंसेवक से अधिक नहीं चाहते थे। अन्त में निम्न यह हुआ कि उपनिवेशों को अन्तर्राष्ट्रीय पूर्ण स्वायत्तता या स्वयंसेवक सम्मान प्रदान किया जाए। छोटे छोटे राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को अधिकार सौंपकर देने पर उत्तर दे रहे थे। अमेरिका भी इस मुद्दे के अनुकूल था। छोटे राष्ट्र यह भी चाहते थे कि बर्तन में ऐसा सौंपन सम्भव हो जाए ताकि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को बर्तन के निर्वादन का अधिकार मिल सके। छोटे राष्ट्रों को अपने इस प्राप्तिशील प्रयत्न में असफल होना पड़ा। शरीर प्रयोगों के सम्बन्ध में सम्बन्धित राज्यों को व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से अल्प-सुखा का अधिकार प्राप्त हो गया।

सुखा परिषद् में बड़ी शक्तियों की मजबूत स्थिति ने छोटे राष्ट्र प्रसन्न नहीं थे। छोटे राष्ट्रों ने यह प्रयत्न भी किया कि सुखा परिषद् की सदस्य मज्जा 11 में अधिक होने चाहिए एवं वे अस्थायी सदस्यों की संख्या में वृद्धि के पक्ष में भी थे। बड़े राज्यों के लिए यह विचार बिल्कुल स्वीकार योग्य नहीं था। सम्भवतः उनका अनुमान था कि उन्हें बर्तन के अन्तर्गत जो विशेष अधिकार प्राप्त हो चुके हैं उनमें किसी भी तरह के पुनर्विचार से उनकी स्थिति में परिवर्तन हो सकता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि छोटे राज्यों ने बर्तन में संप्रदान परिवर्तन अवश्य करा लिए जिन्होंने बर्तन में उनकी स्थिति कुछ सुधरा हो सकी। सम्बन्ध में बड़े राष्ट्र छोटे राज्यों की चुल्लूक संज्ञा भी नहीं कर सकते थे। एक बात यह भी है कि सभी बड़े राष्ट्रों में भी सभी प्रश्नों पर मतभेद नहीं था जिसके फलस्वरूप छोटे राज्य या राष्ट्र महत्त्व की शक्ति को बनाए रख सकें क्योंकि उनको यह आशय हो गया था कि बड़े राष्ट्रों ने सुखा परिषद् पर नियंत्रित करने के कारण सम्पूर्ण अधिकार कर लिए हैं। छोटे राज्यों के प्रयत्न से अधिक एवं सामूहिक परिषद् को छोटे राज्यों के लिए अधिक उपयोगी बनाया जा सके। यह निर्विवाद मता है कि छोटे राज्यों के सम्पूर्ण निवेद्य के कारण ही सुखा परिषद् के निर्माण को पूर्णतया बाधक नहीं बनाया जा सका। सुखा परिषद् अपने अधिकारों में निरतुल्य नहीं हो सकी एवं वह अपने निर्णयों को बाधक नहीं बनाने में सक्षम नहीं बन सकी। यद्यपि छोटे राष्ट्र सुखा परिषद् पर कुछ अधिकार ला सकते हैं परन्तु वे उनके पास बड़े राष्ट्रों के नियंत्रित करने की शक्ति में सुखा परिषद् के अधिकारों के प्रयोग में उनके विरोध के अधिकारों को चुनौती नहीं दी जा सकती। छोटे राज्यों ने बर्तन को हथ से स्वीकार कर लिया था। उनको विश्वास था कि बड़े राष्ट्र छोटे राज्यों के हितों का विशेष ध्यान रखेंगे। सम्भवतः उन दिनों यह सम्मान भी नहीं ही जा सकती थी कि समस्त राष्ट्र का पूरा सम्मान बड़े राष्ट्र अपने हितों की रक्षा हेतु करेंगे एवं छोटे राज्यों की पूर्णतया संज्ञा कर दी जायगी।

संयुक्त राष्ट्र के घोषणा पत्र (बर्तन) को जिन संशोधनों में संशोधन किया गया था, 26 जून 1945 को उस सम्मेलन में स्वीकार करने वाले सभी 51 राज्यों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर करके स्वीकार कर लिया। बर्तन के अनुच्छेद 110 में यह कहा गया था कि मूल ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका, चीनी गणराज्य तथा सोवियत राज्यों के अधिकार राज्यों की मतभेदों

द्वारा स्वीकृति प्रदान करने के उपरान्त चार्टर लागू माना जाएगा। 24 अक्टूबर 1945 तक यह शर्त सम्पन्न हो गई एवं इसी तिथि को संयुक्त राष्ट्र का प्रादुर्भाव हुआ। संयुक्त राष्ट्र चार्टर ने जिस संगठन को जन्म दिया वह राष्ट्र-संघ से बहुत अधिक मित्र तो नहीं था परन्तु अनेक कारणों से विश्व के सभी देश राष्ट्र-संघ को स्मरण ही नहीं करना चाहते थे। राष्ट्र-संघ के साथ असफलता का कलक जुड़ा था जिससे सभी सम्बन्धित राष्ट्रों ने एक नए विश्व संगठन का शुभारम्भ करना ही श्रेयस्कर समझा। दो महत्वपूर्ण शक्तियाँ रूस एवं अमेरिका जिनका सहयोग विश्व सन्स्था की सफलता हेतु अत्यन्त आवश्यक माना जाता था एक नए विश्व संगठन के निर्माण के पक्ष में थीं। अमेरिका को यह भी भय था कि राष्ट्र-संघ की पुनरावृत्ति होने पर अमेरिकी सीनेट उसे अस्वीकार कर सकती थी। रूस भी जिससे राष्ट्र-संघ की सदस्यता से वंचित होना पड़ा था राष्ट्र-संघ की भावना मात्र से अशुभ का अनुभव कर रहा था। यद्यपि पुराने राष्ट्र-संघ के अनुभवों का उपयोग कर सम्मेलनों का समय बचाया जा सकता था परन्तु पूर्णतया नया विचार एवं नया संगठन अधिक शुभ माना गया।¹

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सैंफ्रांसिस्को सम्मेलन ने संयुक्तराष्ट्र-संघ की नींव डाली जो बाद के वर्षों में विश्व में शान्ति-स्थापित करने की दिशा में एक महान् संगठन सिद्ध हुआ।

सन्धियाँ एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीय समझौते,
अविप्रतिपत्ति सन्धि, अतिरिक्त धाराएँ,
अन्तिम अधिनियम, प्रामाणिक विवरण,
अनुसमर्थन, सहमिलन आदि

(Treaties and Other International Compacts,
Concordat, Additional Articles, Final Act,
Process Verbal, Ratification, Accession etc.)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन के लिए राज्यों के बीच अनेक सन्धियाँ एवं समझौते किए जाते हैं। इनके द्वारा राज्य अपनी स्वीकृति से अपने लिए कानूनी अधिकार व कर्तव्य निश्चित कर लेते हैं। संधियाँ और समझौते अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं।

सन्धि एवं अभिसमय
(Treaties and Convention)

सन्धियाँ राज्यों के बीच होने वाली सविदाएँ हैं। इन्हें ऐसे समझौते कहा जा सकता है जिनके द्वारा राज्य आपस में कानूनी सम्बन्धों की स्थापना का प्रयास करते हैं। प्रो ओपेनहीम के अनुसार “अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ वे परम्पराएँ या सविदाएँ हैं जो दो अथवा दो से अधिक राज्यों के बीच पारस्परिक हित के विभिन्न विषयों से सम्बन्ध निर्धारित करने के लिए ही जाती हैं।” हार्वर्ड ड्राफ्ट कन्वेंशन की धारा 1 में सन्धि को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि “सन्धि समझौते का एक ऐसा औपचारिक रूप है जिसके द्वारा दो या अधिक राज्य आपस में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधीन सम्बन्ध स्थापित करते हैं।” एमर प्लिस्के (Elmer Plischke) के कथनानुसार “सन्धि राज्यों के बीच सम्बन्ध या सम्पर्क है जो पारस्परिक अधिकारों एवं आपसी दायित्वों को स्थापित करने परिवर्तित करने या समाप्त करने के लिए की जाती है।” ये सन्धियाँ सामान्यतः लिखित रूप में की जाती हैं किन्तु राज्यों द्वारा किए जाने वाले सभी वायदों का लिखित होना आवश्यक नहीं है। यदि दोनों पक्ष सहमत हों तो वे मौखिक रूप से भी अनेक दायित्वों में बद्ध हो सकते हैं। इतिहास में ऐसे मौखिक समझौतों के भी अनेक उदाहरण हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने ऐसे अनेक मौखिक समझौते किए थे।

मोटे तौर पर अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों की विशेषताओं के बीच होने वाले समझौतों की समरूपता रखती है। सन् 1829 में अमेरिका के मुख्य न्यायाधीश जॉन मार्शल ने कहा था कि 'सन्धि अपनी प्रकृति के अनुसार राष्ट्रों के बीच होने वाला एक समझौता है।' यह कथन अधिकतर द्विपक्षीय समझौतों पर विशेष रूप से लागू होता है।

शाब्दिक दृष्टि से सन्धि शब्द के अंग्रेजी रूपान्तर ट्रीटी (Treaty) को ट्रेटर (Traiter) शब्द से लिया गया है जिसका अर्थ है समझौता करना। राजनय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के साहित्य में सन्धि शब्द का प्रयोग व्यापक तथा सीमित दोनों अर्थों में किया जाता है। 'सन्धि' की प्रकृति बाध्यकारी होती है। आजकल बाध्यकारी अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों का उल्लेख करने के लिए विभिन्न शब्द प्रयोग में लाए जाने लगे हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों का एक अन्य महत्वपूर्ण प्रकार अमिसमय (Convention) है जिसे लैटिन भाषा के शब्द कन्वेंशियो (Conventio) से लिया गया है। इसका अर्थ है समझौता। यह पद प्रायः उस समझौते के लिए प्रयोग में आता है जिसमें भाग लेने वाले अनेक देश होते हैं और प्रायः कानून निर्माण की प्रकृति के होते हैं। आजकल अनेक विषयों पर बहुपक्षीय अमिसमय सम्पादित हुए हैं जैसे सक्षरता और औद्योगिक सम्पत्ति की रक्षा तेल से समुद्र का दूषण वृषि सफाई मोटर यातायात गमन की स्वतन्त्रता नागरिक उड्डयन समुद्र पर जीवन की स्वतन्त्रता अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनीयों आदि।

सन्धि और अमिसमय दोनों शब्द बहुत कुछ समानार्थक हैं इसलिए दोनों पर एक साथ विचार करना सुविधाजनक होगा। दोनों पक्षों की परिभाषा इस प्रकार नहीं की जा सकती कि दोनों में वास्तविक अन्तर दिखाया जा सके अतः इन दोनों का बहुत कुछ समान अर्थ है। सन्धियाँ अपने सीमित अर्थ में औपचारिकता का साधन होती हैं। प्रारम्भ में सन्धियाँ राज्य के अध्यक्षों द्वारा की जाती थीं किन्तु आजकल ये राज्य तथा सरकारों के बीच की जाती हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ऐसी सन्धियों के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

सन्धियों के उद्देश्य (Objects of Treaties)

सन्धियों का उद्देश्य राज्यों के हित से सम्बन्धित कोई भी विषय हो सकता है। सन्धियों द्वारा राज्यों को वतिपय अधिकार और कर्तव्य प्राप्त होते हैं। इन दायित्वों की प्रकृति सन्धि के औचित्य का आधार होती है। अनुचित दायित्व ढालने वाली सन्धि अवैध मानी जाती है। सन्धि के उद्देश्यों की दृष्टि से निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

1. एक सन्धि इसमें सम्मिलित राज्यों को ही दायित्व सँपती है तथा इन्हीं पर ये दायित्व बाध्यकारी रूप से लागू होते हैं। ये राज्य दूसरे राज्यों को भी कुछ कार्य करने के लिए प्रेरित कर सकते हैं।

2. सन्धियाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अंग होती हैं क्योंकि सामान्य एवं विशेष दोनों प्रकार की सन्धियों द्वारा राज्यों पर बाध्यकारी आधरण के नियम आरोपित किए जाते हैं। कोई पक्ष सन्धि के दायित्वों का उल्लंघन नहीं कर सकता। यदि नवीन सन्धि के दायित्व पूर्वस्थित सन्धि के दायित्वों से भिन्न या विपरीत होते हैं तो सम्बन्धित राज्य उसका विरोध कर सकते हैं। सन् 1878 में रूस ने टर्की के साथ सानस्टीफेनो की शान्ति सन्धि की। यह सन्धि पेरिस की सन्धि 1856 और लन्दन अमिसमय 1871 के विपरीत थी इसीलिए ग्रेट ब्रिटेन ने इसका विरोध किया।

3 सन्धि के उद्देश्य समुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के दायित्वों के विरोधी नहीं होने चाहिए। यदि दोनों के बीच विरोध होगा तो चार्टर की धारा 103 के अनुसार चार्टर की धारें मन्त्र होंगी। इस प्रकार चार्टर के दायित्व उच्चतर हैं।

4 सन्धि का लक्ष्य प्राप्त किए जाने योग्य हो। असम्भव दायित्वों को सन्धि का लक्ष्य नहीं बनाया जा सकता है। यदि ऐसा किया जाता है तो कोई भी पक्ष सन्धि का उत्पन्न कर सकता है। कानूनी रूप से ऐसी सन्धि करता है तो वह बाध्यकारी मानी जा सकती है। यह सच है कि इस प्रकार की अनेक सन्धियाँ अतीतकाल में की गई हैं किन्तु ये सन्धिकर्ता पक्ष पर बाध्यकारी नहीं हो सकती। राष्ट्रीय द्वारा बहुधा इनका उत्पन्न किया जाता है।

सन्धियों का वर्गीकरण (Classification of Treaties)

अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों को उद्देश्यों की दृष्टि से अनेक भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। ओपेनहैम ने सन्धियों को दो वर्गों में विभजित किया है—(1) विभिन्न राज्यों के आचरण के सामान्य नियमों को निर्धारित करने वाली सन्धियाँ। इन्हें कानून निर्माता सन्धि भी कहा जाता है। (2) इस वर्ग में उन सन्धियों की गणना होती है जो किसी अन्य उद्देश्य के लिए की जाती हैं। सन्धियों का यह वर्गीकरण सैद्धांतिक रूप से गलत किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

भारतीय राजशास्त्र के विद्वान् कामन्दक ने अपने ग्रन्थ कामन्दकीय नीतिसार में 16 प्रकार की सन्धियों का उल्लेख किया है। ये हैं—द्रव्य सन्धि, सन्तान सन्धि, कपाल सन्धि, उपग्रह सन्धि, मित्र सन्धि, हरिय सन्धि, भूमि सन्धि आदि। कौटिल्य के मतानुसार सन्धियों के चल और स्थान दो वर्ग होते हैं। चल सन्धि में शपथपूर्वक उसके पालन का व्रत लिया जाता है किन्तु स्थान सन्धि में उनके पालन के लिए किसी की उम्मानत ली जाती है।

प्रसिद्ध विद्वान् हलैड ने विषय की दृष्टि से सन्धियों को पाँच भागों में विभजित किया है—राजनैतिक सन्धियाँ, व्यापारिक सन्धियाँ, सामाजिक सन्धियाँ, दीवानी न्याय सम्बन्धी सन्धियाँ एवं फौजदारी न्याय विषयक सन्धियाँ। सन्धि के इन रूपों के अतिरिक्त वास्तविक व्यवहार में निम्नलिखित रूप भी प्रचलित हैं—

1 द्विपक्षीय सन्धियाँ जब कोई दो राज्य आपस में सन्धि करते हैं तो वह इस श्रेणी में आती है। ऐसी सन्धियाँ निजी समझौता होने के कारण प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिधि में नहीं आतीं तो भी उन विषयों पर नियमन की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं जिनके बारे में अन्तर्राष्ट्रीय कानून मौन है।

2 बहुपक्षीय कानून निर्माता सन्धियाँ ऐसी सन्धियाँ हैं अनेक राज्य भाग लेते हैं। ये सन्धियाँ दो प्रकार की होती हैं—राज्यों के आर्थिक व सामाजिक हितों पर दिवार करने वाली सन्धियाँ व कानून निर्माता सन्धियाँ। ऐसी सन्धियाँ राज्यों के अधिकारों व कर्तव्यों को परिमार्जित करती हैं तथा उनके विरोधी दावों के बीच सामंजस्य स्थापित करती हैं। उदाहरण के लिए 1815 की वियना कांग्रेस का अन्तिम अधिनियम (Final Act) राष्ट्र ही समस्त यूरोप का कानून बन गया। सन् 1899 और 1907 के हेग सम्मेलन भी कानून निर्माता सन्धियाँ थीं। राष्ट्रसंघ का घोषणा पत्र और समुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थापन के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं।

3 शान्ति सन्धियाँ युद्ध समाप्त होने पर शान्ति सन्धियों की जाती हैं। प्राचीन काल में यह परम्परा थी कि हारा हुआ राज्य विजेता राज्यों द्वारा तय की गई शर्तों पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य होता था। ग्रीसियस ने इन सन्धियों को उचित बताया है। बेटिल के मतानुसार ये सन्धियाँ तभी सार्थक हो सकती हैं जब उन पर राज्यों का विश्वास हो। शान्ति सन्धि एक प्रकार से हारे हुए राज्य द्वारा जीते हुए राज्य को दिया गया युद्ध का हर्जाना है। इस सन्धि में वसाय की सन्धि का उदाहरण गिनाया जा सकता है।

4 गारण्टी देने वाली सन्धियाँ सन् 1920 में राष्ट्रसंघ की स्थापना से पहले विचारकों ने ऐसी सन्धियों की वृद्धि की समस्या पर विचार किया था। इन सन्धियों द्वारा विरोध राजनीतिक स्थिति स्थापित की जाती है। कुछ राज्यों को ऐसी सन्धियों द्वारा तटस्थता की गारंटी दी जाती है। सन्धि के सभी पक्ष सम्बन्धित राज्य की तटस्थता का सम्मान करते हैं।

सन्धियों के प्रभाव (Effects of Treaties)

अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का व्यापक प्रभाव होता है। ये केवल सन्धिकर्ता पक्षों को ही नहीं वरन् दूसरे पक्षों को भी प्रभावित करती हैं। सन्धियों से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून दोनों ही प्रभावित होते हैं। सन्धियों के प्रभाव को निम्नलिखित रूप से दिश्लेषित किया जा सकता है—

1 समझौता करने वाले पक्ष सन्धियों का प्रत्यक्ष प्रभाव समझौता करने वाले पक्षों पर पड़ता है। ये सन्धि के प्रावधानों से बाध्य हो जाते हैं और उन्हें यथावत् क्रियान्वित करते हैं। क्रियान्विति की दृष्टि से सन्धि के महत्वपूर्ण तथा गौण भागों में अंतर किया जाता है। सन्धि की बाध्यकारी शक्ति उसके सभी भागों पर समान रूप से लागू होती है अतः इसे सद्भावना के साथ क्रियान्वित किया जाना चाहिए। यदि सन्धि का कोई पक्ष उसकी किसी धारा विरोध के सम्बन्ध में हस्ताक्षर करते समय सहमत न हो तो उस पर वह धारा लागू नहीं होती।

2 सन्धिकर्ता राज्यों की जनता अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों राज्यों के बीच होती हैं और इसलिए वे राज्यों पर ही लागू होती हैं। राज्यों की जनता से उनका सीधा सम्बन्ध नहीं होता। किसी किसी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि में राज्य के न्यायालयों अधिकारियों आदि के सम्बन्ध में भी प्रावधान होते हैं। सम्बन्धित राज्यों को इन प्रावधानों को अपने राष्ट्रीय कानून के अनुसार क्रियान्वित करना चाहिए। इसका सहीका प्रत्येक राज्य का पृथक होता है।

3 सरकार के परिवर्तन का सन्धियों पर प्रभाव सन्धियाँ केवल समझौता करने वाले पक्षों पर ही बाध्यकारी होती हैं। यदि किसी सन्धि से सम्बन्धित राज्य की सरकार बदल जाए तो नियमानुसार सन्धि की बाध्यकारी शक्ति नवगठित सरकार पर भी प्रभाव रखेगी। इसी प्रकार जब साविधानिक सरकारों के मन्त्रिमण्डल बदल जाते हैं तो पूर्व मन्त्रिमण्डल द्वारा की गई सन्धियाँ प्रभावी रहती हैं। यदि कोई नई सरकार पूर्ववर्ती सरकार द्वारा की गई अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का उल्लंघन करती है तो अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में उसकी सख्त गिर जाती है। इसलिए सरकार का रूप पदाधिकारी सिद्धान्त अथवा नीति बदल जाने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का प्रभाव यथावत् कायम रहता है। जिन सन्धियों में सरकार के एक विशेष रूप की अनिवार्यता होती है वे प्रायः सरकार बदलने पर प्रभावहीन हो जाती हैं।

4 तीसरे राज्यों पर प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय कानून में स्पष्टतः यह निर्धारित करने वाला कोई नियम नहीं है कि दो या अधिक राज्यों के बीच की गई सन्धि उन राज्यों पर क्या प्रभाव डालेगी जो समझौते में शामिल नहीं हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अनेक सन्धियों में तीसरे पक्ष को लाभान्वित करने का लक्ष्य स्पष्ट कर दिया गया था। उनमें यह भी प्रावधान था कि तीसरे इच्छुक राज्य मूल सन्धि के सदस्य बन सकते हैं। ऐसा होने पर उन्हें समस्त कानूनी अधिकार प्राप्त हो सकते थे।

नियमानुसार सन्धि का सम्बन्ध केवल समझौता करने वाले पक्षों से होता है। तीसरे राज्यों पर केवल विशेष परिस्थितियों में ही सन्धि अपना प्रभाव डाल पाती है। तीसरे राज्य अपनी स्पष्ट या अस्पष्ट स्वीकृति प्रदान कर सन्धि के दायित्वों और अधिकारों में बन्ध जाते हैं। सन् 1903 में संयुक्तराज्य अमेरिका और पनामा के बीच एक सन्धि सम्पन्न हुई जिसके अनुसार पनामा नहर को सभी राज्यों के व्यापारिक जहाजों एवं युद्धपोतों के लिए खुली रखने का प्रावधान किया गया था। यह सन्धि यद्यपि दो राज्यों के बीच की गई थी किन्तु इसने तीसरे राज्यों को भी प्रभावित किया।

जिस प्रकार साधारणतः सन्धियाँ तीसरे राज्यों को लाभ अधिकार नहीं देती उसी प्रकार उनके ऊपर कोई दायित्व भी नहीं डालती। समय के अनुसार इस नियम में परिवर्तन आता जा रहा है। राष्ट्रसंघ के घोषणा पत्र में संघ को अधिकार दिया गया था कि वह गैर-सदस्यों के बीच होने वाले दिवादों के सम्बन्ध में अपने प्रभाव का प्रयोग करे। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की धारा 2 में स्पष्ट उल्लेख है कि संघ को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे गैर-सदस्य राज्य भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए संघ के सिद्धांतों के अनुसार कार्य कर सकें। इस प्रकार सामान्य हित की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ और समझौते तीसरे पक्ष को भी प्रभावित कर सकते हैं।

5. अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर प्रभाव : विभिन्न सन्धियों के महत्वपूर्ण प्रावधानों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून में भी स्वीकार कर लिया जाता है और वे उसके अंग बन जाते हैं।

सन्धियों की रचना एवं व्याख्या

(Construction and Interpretation of Treaties)

अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों की रचना का रूप सदस्य-राज्यों के दृष्टिकोण एवं लक्ष्यों द्वारा निर्धारित होता है। सन्धि के लक्ष्य और अभिप्रायों की जानकारी के लिए समय-समय पर उसकी व्याख्या की जाती है। जहाँ सन्धि की शर्तें विशेष और स्पष्ट होती हैं वहाँ व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं रहती और सम्बन्धित राज्य उन्हें स्वीकार कर लेते हैं। यदि सन्धि के किन्हीं प्रावधानों पर कोई सन्देह या उनमें अस्पष्टता होती है तो उसकी व्याख्या की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में सन्धियों की व्याख्या के लिए अनेक नियमों का विकास हुआ है। कुछ सन्धियों में तो व्याख्या के तरीके का भी उल्लेख कर दिया जाता है अन्यथा मान्य नियमों के आधार पर व्याख्या होती है। व्याख्या के कुछ नियम निम्नलिखित हैं—

1 सन्धि के प्रावधानों को साहित्य और व्याकरण के नियमों के अनुसार बनाया जाना चाहिए। यदि सन्धि की भाषा अस्पष्ट या सन्देहजनक हो तो उसकी सही व्याख्या के लिए आन्तरिक और बाह्य परिणामों के मापदण्ड की सहायता ली जानी चाहिए। सन्धि की तर्कपूर्ण अर्थ देने वाली व्याख्याएँ ही मान्य हो सकती हैं।

2 सन्धि की व्याख्या का उद्देश्य उसके रचनाकारों के अभिप्राय का पता लगाना है। अतः जब शब्दों की व्याख्या की जाए तो सन्धि के उद्देश्य तथा प्रसंग को ध्यान में रखना चाहिए। सन्धि की व्याख्या समय के अनुरूप की जानी चाहिए। केवल एक भाग को अन्य भागों से पृथक् करके देखना अनुपयुक्त है।

3 व्याख्या करते समय तकनीकी शब्दों का तकनीकी अर्थ लिया जाए और साधारण शब्दों को सन्धिकर्ताओं की आकांक्षाओं के आधार पर समझा जाए।

4 सन्धि की व्याख्या इस प्रकार की जाए ताकि सम्बन्धित पक्षों की स्वतन्त्रता बनी रहे और उन पर कम से कम दायित्व पड़े।

5 दो उपयुक्त व्याख्याओं में से उसे प्राथमिकता दी जाए जो सम्बन्धित पक्षों के लिए लाभदायक हों। सन्धि की व्याख्या ऐसी की जाए जो उसके किसी भाग को अर्थहीन सिद्ध न कर दें।

6 सन्धि की व्याख्या करते समय उन राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को ध्यान में रखना चाहिए जिसके अन्तर्गत सन्धि की गई है।

7 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के मन में सन्धि की व्याख्या करते समय इस तथ्य पर बल दिया जाना चाहिए कि सन्धि की शर्तें प्रभावशाली एवं उपयोगी सिद्ध हों।

8 सन्धि की उदार दृष्टि से व्याख्या की जानी चाहिए।

9 सन्धि को जिस देश में लागू किया जाये वहाँ के स्थानीय प्रयोग सन्धी व्याख्या को स्वीकार किया जाना चाहिए।

10 सन्धि की न्यायपूर्ण और निष्कपट व्याख्या की जानी चाहिए।

सन्धि की धारारें (Clauses in a Treaty)

प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि में मुख्यतः निम्नलिखित बातें होनी चाहिए-

1 भूमिका-इसमें सन्धिकर्ता राज्यों के अध्यक्षों अथवा सरकारों के नाम होते हैं और सन्धि का उद्देश्य तथा सन्धिकर्ताओं के सकल्य का उल्लेख होता है।

2 सन्धि की प्रमुख धारारें।

3 तकनीकी अथवा औपचारिक विषय या सन्धि की क्रियान्विति से सम्बन्धित औपचारिक धारारें जैसे-लेख की तारीख, समय, भाषा, विवादों का समाधान, सशोधन, पंजीकरण और मूल लेख की रक्षा आदि।

4 हस्ताक्षर तथा उनके स्थान एवं दिनांक को औपचारिक रूप से प्रमाणित करना।

सन्धि रचना के चरण (Stages in a Treaty)

अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ अपनी रचना और क्रियान्विति की दृष्टि से अनेक सोपानों में होकर गुजरती हैं। इसकी एक लम्बी प्रक्रिया होती है। उचित प्रक्रिया को अपनाने के बाद ही एक सन्धि के प्रावधानों को बाध्यकारी माना जाता है। प्रोफेसर स्टार्क ने सन्धियों के प्रमुख चरण निम्नलिखित रूप से गिनाए हैं—

1 सन्धिकर्ताओं की नियुक्ति (Accrediting of Negotiators) : सन्धि करने वाले राज्य इस हेतु अपने प्रतिनिधि नियुक्त करते हैं। इन प्रतिनिधियों की शक्तियों का स्पष्ट उल्लेख कर दिया जाता है। राज्य का अध्यक्ष अथवा विदेश मन्त्री सन्धि-वार्ता में भाग लेने

दत्ते प्रतिनिधि को एक औपचारिक लेख प्रदान करता है जिमें प्रतिनिधि के स्तर और शक्तियों का स्पष्ट उल्लेख होता है। उसे पूर्ण शक्तियों का लेख कहा जाता है। प्रचीन परम्परा के अनुसार सन्धि दत्त करने वाले प्रतिनिधियों को बख्शवारी सम्झौता करने की शक्तियाँ दी जाती थीं। उस समय राजा का निर्णय अन्तिम होता था और राजा का प्रतिनिधि होने के नाते सन्धिकर्ता को पूर्ण शक्तियाँ प्राप्त होती थीं। उस समय यदायत और मघर के देने सपन थे इसलिए प्रतिनिधि अपनी सरकार से निकट सम्पर्क नहीं रख पाता था। इस समय और परिस्थितियों बदलने के कारण अब स्थिति में परिवर्तन आ गया है। प्रतिनिधियों के नियम अन्तिम नहीं होते और अनुसमर्थन की परम्परा दालदिक बन गई है।

2 सन्धि वार्ताएँ (Negotiations) सन्धि का दूसरा चरण सन्धिकर्ता राज्यों के प्रतिनिधियों के बीच होने वाला होता है। द्विपक्षीय सन्धियों के सम्बन्ध में दोनों पक्षों में स्थान पर मिलकर की जा सकती है किन्तु बहु पक्षीय सन्धि के लिए दार्ज करके सम्पूर्ण राज्यदिक सम्मेलन बुलाना अनिवार्य होता है। सन्धि दत्त के समय प्रतिनिधियों का यह कर्तव्य होता है कि वे हमेशा अपनी सरकारों से सम्पर्क बनाए रखें और उनका निर्देशानुसार ही कार्य करें। सन्धियों के प्रारम्भ की परीक्षा के लिए कभी कभी समितियों की नियुक्ति की जाती है तथा सम्मेलन की सहजता के लिए एक प्रतिवेदक नियुक्त किया जाता है। सम्मेलन की बैठकें आदरयकानुसार विभिन्न स्थानों पर की जा सकती हैं। प्रतिनिधियों के बीच सन्धि दत्तारे उस समय तक चलती रहती हैं जब तक कि वे प्रस्तावित सन्धि के सभी प्रसंगों से सहमत न हो जाएँ। सन्धि सम्पादन में इस चरण को बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

3 हस्ताक्षर (Signatures) प्रतिनिधियों की सहमति के बाद जब सन्धि का अन्तिम प्रारूप तैयार हो जाता है तो उस पर दत्त करने वालों के हस्ताक्षर लिए जाते हैं। सभी प्रतिनिधियों को एक समय और स्थान पर एक-दूसरे की उपस्थिति में हस्ताक्षर करने चाहिए। हस्ताक्षर होने के बाद कुछ सन्धियाँ प्रस्तावित बन जाती हैं किन्तु अन्य में संधि करने वाले देशों की व्यावहारिकताओं के अनुसमर्थन की आवश्यकता रहती है। सन्धियाँ और अनिसमर्थन प्राप्त मेहर बढ़ रहते हैं किन्तु यह तथ्य अधिक महत्व नहीं रखता। कुछ सन्धियों को अनुसमर्थन से पहले प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर होने पर अस्थायी रूप से लागू कर दिया जाता है। एक राज्य की सरकार अपने प्रतिनिधि के हस्ताक्षर हो जाने के बाद भी किसी सन्धि को अस्वीकार कर सकती है। उदाहरण के लिए, संयुक्तराज्य की सीनेट ने राष्ट्रपति विलसन के हस्ताक्षरों के बाद भी दसवें संधि को अस्वीकार कर दिया था। परिणतस्तर संयुक्तराज्य अमेरिका संयुक्तराष्ट्रिय का मतस्य नहीं बन सका था।

4 अनुसमर्थन (Ratification) एक सन्धि या अनिसमर्थन पर हस्ताक्षर करने के बाद सन्धिकर्ता प्रतिनिधि उसे अपनी सरकार के अनुसमर्थन के लिए स्पदेश भेजते हैं। जिन सन्धियों में वेदत हस्ताक्षर पर्यंत माने जाते हैं उन पर यह अनुसमर्थन वेदत औपचारिकता होती है किन्तु यह औपचारिकता आकल सन्धि रचना का एक स्वीकृत भाग बन गई है। यदि कोई राज्य सन्धि का अनुसमर्थन प्रदान न करे तो अन्य राज्य उसे सन्धि की शर्तों से बाध्य नहीं रह सकते। अनुसमर्थनों की शर्तों के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों

की सांविधानिक प्रक्रियाएँ अलग अलग हैं। यह मुख्यतः कार्यपालिका का निर्णय होता है और इसके लिए वह व्यवस्थापिका के दोनों सदनों से स्वीकृति प्राप्त करता है। ग्रेट ब्रिटेन का मंत्रिमण्डल किसी सन्धि का अनुसमर्थन करने से पूर्व ससद की स्वीकृति लेता है और अमेरिकी राष्ट्रपति सीनेट के दो तिहाई बहुमत का समर्थन प्राप्त करता है। अनुसमर्थन सन्धि वा अत्यन्त महत्वपूर्ण माग होता है। इसकी विस्तृत व्याख्या के लिए निम्नलिखित तथ्य उल्लेखनीय हैं—

अनुसमर्थन का औचित्य किसी सन्धि का अनुसमर्थन कई कारणों से उचित माना जाता है। यह सत्य है कि जब तक किसी सन्धि को देश के संविधान के अनुसार उचित सत्ता द्वारा स्वीकार न किया जाए तब तक उसमें औपचारिक वैधता का अभाव रहता है। सन्धि पर हस्ताक्षर करने और अनुसमर्थन करने के बीच कुछ समय रखा जाता है ताकि उस पर भली प्रकार विचार किया जा सके। इस काल में ससद और जनमत की राय भी स्पष्ट ज्ञात हो जाती है। अनुसमर्थन का औचित्य इसलिए है क्योंकि—(क) एक राज्य को उन लेखों पर पुनर्विचार का अवसर मिलना चाहिए जिनके द्वारा उस पर अनेक दायित्व डाले जा रहे हैं। (ख) सम्प्रभु होने के नाते किसी सन्धि में शामिल होने या न होने का अन्तिम निर्णय राज्य द्वारा ही लिया जा सकता है। (ग) कुछ सन्धियाँ राष्ट्रीय कानून में संशोधन आवश्यक बना देती हैं अतः उन पर ससद की स्वीकृति अनिवार्य हो जाती है। (घ) प्रजातन्त्रात्मक सिद्धांत के अनुसार सरकार को सन्धि बद्ध होने से पूर्व ससद अथवा जनता का समर्थन प्राप्त कर लेना चाहिए। यदि जनमत किसी सन्धि को ठुकरा देता है तो राज्य द्वारा उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। अनुसमर्थन की प्रक्रिया सन्धिकर्ता देशों पर सकारात्मक उत्तरदायित्व डाल कर उन्हें मर्यादित आचरण करने के लिए बाध्य करते हैं।

पूर्णतः आवश्यक नहीं प्रत्येक सन्धि के लिए अनुसमर्थन जरूरी नहीं होता। यद्यपि आजकल अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मान्य नियम के अनुसार सन्धियों का नियमित रूप से अनुसमर्थन किया जाना चाहिए तथापि इस नियम के कुछ अपवाद भी हैं जैसे—(क) यदि सन्धिकर्ता प्रतिनिधि अपने राज्य का उच्चशक्ति प्राप्त अधिकारी है तो वह सन्धि हस्ताक्षर होते ही लागू हो जाती है। (ख) राज्य के अध्यक्षों द्वारा जब ऐसे विषय पर सन्धि की जाए जिस पर कोई सांविधानिक प्रतिबंध नहीं है तो उस पर अनुसमर्थन की आवश्यकता नहीं होती। (ग) यदि समझौता करने वाले राज्य सन्धि में स्पष्टतः उल्लेख कर दे कि इसकी क्रियान्विति तुरन्त की जाए तो अनुसमर्थन आवश्यक नहीं होता है। उल्लेखनीय है कि अनुसमर्थन से छूट अधिकार प्राप्त अधिकारियों द्वारा ही उचित मानी जा सकती है।

अनुसमर्थन के लिए समय इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून मौन है। यदि सन्धिकर्ता पक्षों ने कोई समय निर्धारित नहीं किया है तो परस्पर बातचीत द्वारा उपयुक्त समय तय किया जा सकता है। यदि समय बीतने के बाद भी अनुसमर्थन न किया जाए तो सन्धि को अस्वीकार समझा जाता है। अधिकांश सन्धियों में अनुसमर्थन के लिए अपेक्षित समय स्पष्ट कर दिया जाता है।

अनुसमर्थन की अस्वीकृति किसी सन्धि का अनुसमर्थन करना एक राज्य का आवश्यक दायित्व नहीं है। कुछ लेखक नैतिक आधार पर अनुसमर्थन को आवश्यक बताते

है किन्तु कानून विरोधी नैतिक दायित्व का मूल्य अंकना कठिन है। एक राज्य द्वारा इन कार्यों से अनुसमर्थन अस्वीकार कर दिया जाता है प्रतिनिधियों द्वारा उनके अधिकारों का अतिक्रमण प्रतिनिधियों को किसी तथ्य के सम्बन्ध में जानदूझकर धोखे में रखा जाना सन्धि का पालन असम्भव होना और सन्धि की कुछ शर्तों के बारे में प्रतिनिधि की असहमति। व्यवहार में अनुसमर्थन पूर्णतः एक राज्य की इच्छा पर निर्भर करता है। ब्रायली के कथनानुसार अपने पूर्वाधिकारियों द्वारा हस्तक्षर की गई सन्धि का अनुसमर्थन करना राज्य का कानूनी अथवा नैतिक कर्तव्य नहीं है। यह एक अत्यन्त गंभीर कदम है और इसे हल्केपन से नहीं लेना चाहिए।

अनुसमर्थन का रूप अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा अनुसमर्थन का कोई रूप नियमित नहीं किया गया है। यह व्यक्त अथवा अव्यक्त किसी भी रूप में दिया जा सकता है। जब एक राज्य अनुसमर्थन किए बिना ही किसी सन्धि को क्रियान्वित करने लगता है तो यह अव्यक्त अनुसमर्थन कहा जाता है। व्यक्त अनुसमर्थन के अन्तर्गत सम्बन्धित राज्य के अध्यक्ष और विदेश मन्त्री के हस्ताक्षर युक्त एक आलेख तैयार किया जाता है। सभी सन्धिकर्ता पक्ष आलेख का परस्पर आदान प्रदान करते हैं। आलेख में कभी कभी सम्पूर्ण सन्धि को अक्षरशः लेखबद्ध कर दिया जाता है और कभी केवल शेषक भूमिका सन्धि की शर्तों और हस्तक्षरकर्ता प्रतिनिधियों के नाम ही दिए जाते हैं।

अनुसमर्थन आंशिक अथवा सार्वत्रिक नहीं होता अनुसमर्थन की प्रकृति के अनुसार यह या तो दिया जाएगा अथवा अस्वीकार किया जाएगा। आंशिक अथवा सार्वत्रिक अनुसमर्थन देना अर्थात् हीन है। यदि राज्य अनुसमर्थन के समय सन्धि का रूप बदलने की चेष्टा करता है तो यह अनुसमर्थन न देने के समान है। यदि दिए गए सुझाव दूसरे पक्ष द्वारा भी स्वीकार कर दिए जाएं तो यह एक नई सन्धि हो जाएगी अनुसमर्थन नहीं होगा। जब सभी पक्ष एक सन्धि को स्वीकार कर रहे हैं और कोई विरोध राज्य उसे अंगीकार स्वीकार कर रहा है तो यह स्थिति समतुल्यता बन जाती है। ऐसी स्थिति में सन्धि तो अपने पूर्ण रूप में ही स्वीकार होती है किन्तु उस विरोध समस्या का दायित्व सम्बन्धित राज्य पर नहीं होता।

अनुसमर्थन का आदान प्रदान अनुसमर्थन के लेख पर सन्धि के पक्षों द्वारा हस्ताक्षर करना तथा मोहर लगाना ही उसे बध्यकारी नहीं बना देता वरन् उसे या तो किसी निश्चित स्थान पर जमा करना चाहिए अथवा सम्बन्धित पक्षों के बीच उसका आदान प्रदान किया जाना चाहिए।

अनुसमर्थन का प्रभाव अनुसमर्थन द्वारा ही एक सन्धि मान्य बनती है। यदि एक पक्ष सन्धि को स्वीकार करते और दूसरा पक्ष स्वीकार न करे तो सन्धि समाप्त समझी जाती है। अनुसमर्थन ही सन्धि को बध्यकारी बनाता है इसलिए अनुसमर्थन के बाद से ही उसे प्रभावशाली माना जाएगा। इस प्रकार से सन्धि के क्रियान्वयन की दृष्टि से अनुसमर्थन का सर्वाधिक महत्व है।

5 सहमिलन और अनिमिलनता (Accession and Adhesions) इन दो तरीकों से ऐसे राज्य भी सन्धि में शामिल हो जाते हैं जिन्होंने सन्धि दस्तावे में भाग नहीं लिया था। ये दोनों शब्द बहुत कुछ समानार्थक हैं। यदि एक राज्य किसी सन्धि की सभी शर्तों एवं व्यवस्थाओं को स्वीकार करता है तो इसे सहमिलन कहा जाता है किन्तु यदि वह केवल

कुछ शर्तों को ही स्वीकार करता है तो यह अमिलग्नता कही जाती है। प्रो ओपनहीम के मतानुसार दोनों का यह अंतर केवल सैद्धांतिक है और राज्यों के पारस्परिक व्यवहार में इसका समर्थन नहीं मिलता। सर अर्नेस्ट साटो के रचनानुसार आज इन शब्दों के बीच कोई अन्तर नहीं रह गया है।

सन्धि दाता में भाग लेने वाले राज्य सहमिलन द्वारा केवल तभी उसमें शामिल हो सकते हैं जब सन्धि में ऐसा प्रावधान हो। कभी कभी सन्धि में यह व्यवस्था की जाती है कि सहमिलन तभी समभव हो सकेगा जबकि सभी मौलिक पक्ष उसी आमन्त्रित करें। 4 अप्रैल 1949 ई. को की गई नाटो (NATO) सन्धि की धारा 10 में संयुक्तराज्य अमेरिका को इसमें शामिल होने के लिए आमन्त्रित किया गया था। कभी कभी सहमिलन बिना किसी निमन्त्रण अथवा बिना अन्य राज्य की सर्वसम्मति स्वीकृति के भी हो जाता है। उदाहरण के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की धारा 4 में उल्लेख है कि "संयुक्त राष्ट्रसंघ में सदस्यता उन सभी शान्तिप्रिय राज्यों के लिए खुली हुई है जो वर्तमान चार्टर के दायित्वों को स्वीकार करते हैं और इन दायित्वों को पूरा करने के लिए इच्छुक तथा योग्य हैं।"

जब एक राज्य सहमिलन द्वारा किसी सन्धि में शामिल होता है तो उसे वे सभी कर्तव्य तथा अधिकार प्राप्त हो जाते हैं जो मौलिक सदस्यों को प्राप्त हैं। सहमिलन किसी भी समय समभव है यह माना जाता है कि सन्धि के प्रभावशील होने के बाद सहमिलन हो सकता है किन्तु आज ऐसा कोई नियम नहीं है। अनेक बहुपक्षीय अमिलग्न सहमिलन की व्यवस्था होने के कारण ही सार्थक बन पाते हैं।

6 सन्धि का लागू होना (Coming into Force) - सन्धि स्वीकृति से सम्बन्धित सभी औपचारिकताएँ पूरी होने के बाद वह उसी दिन से लागू हो जाती है जिस दिन उस पर हस्ताक्षर किए जाते हैं। ऐसा प्रायः उस रिधिति में होता है जब अनुसमर्थन करना आवश्यक न हो और अनुसमर्थनों का आदान प्रदान न किया गया हो। कोई-कोई सन्धि किसी घटना के घटित होने पर लागू होती है। ऐसी भी व्यवस्था की जा सकती है कि एक राज्य में सन्धि को तब लागू किया जाए जब वहाँ आवश्यक व्यवस्थापन हो जाए। सन्धि लागू होने की आवश्यक शर्तों का सन्धि में उल्लेख कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए लोकार्नो सन्धि (1925) में यह शर्त थी कि राष्ट्रसंघ में जर्मनी के प्रवेश पाने पर ही इस सन्धि को लागू किया जाए।

7. पंजीकरण और प्रकाशन (Registration and Publication) सन्धि के पंजीकरण एवं प्रकाशन की आवश्यकता गुप्त सन्धियों तथा विरोधी दृष्टिकोणों के कारण अनुभव की गई। राष्ट्रसंघ के घोषणा पत्र की धारा 19 में यह कहा गया था कि "संघ के सदस्य-राज्यों द्वारा इसके बाद की गई प्रत्येक सन्धि को अन्तर्राष्ट्रीय सचिवालय में पंजीकृत किया जाएगा और इसके द्वारा यथासमय शीघ्र ही प्रकाशित किया जाएगा। इस प्रकार पंजीकृत किए बिना कोई भी सन्धि बाध्यकारी नहीं होगी।" इस धारा के अन्तर्गत 1944 तक 4822 सन्धियाँ एवं अन्तर्राष्ट्रीय समझौते पंजीकृत किए गए। ये प्रायः ये सन्धियाँ थीं जो संघ के सदस्यों द्वारा संघ के दूसरे सदस्यों या गैर सदस्यों के साथ की गई थीं। इनका प्रकाशन राष्ट्रसंघ की सन्धि श्रृंखला के अन्तर्गत किया गया जो 1920 से प्रारम्भ हुई थी। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने इस विषय में राष्ट्रसंघ का अनुगमन किया है। इसके अनुसार सभी सन्धियाँ एवं समझौते

हा सवित्रहृद में मज्जीकृत रहत एव उन्हें प्रकीर्त कन्त अनिरुद्ध हो गए है। त्रि सवित्रहृद को मज्जीकृत नहीं किए गए उन्हें कोई भी प्रह नहीं है दुःख रहता है। वर के पुत्र में मुक्त मज्जीकृत हा प्रदन्न नहीं है। उन्हें विद्वद्वि के निरु छलतक मन्त्र ज्ञात है। वज्जीकृत सवित्रहृद को सन्तुष्ट रहस्य के विहीन का के समुद्र प्रदन्न के रूप में प्रस्तुत नहीं किए जा सकता है।

8. **अप्रतिष्ठा (Application)** - यदि क निम्न प्रकार के कठिन प्रश्न उत्तर देना चाहते हैं। इसके लिए उन्हें अपने अपने प्रश्नों के उत्तरों में अपने के अनुमान प्रस्तुत करना पड़ेगा। कठिन प्रश्नों में उत्तर देने वाले को अपने उत्तरों में अपने अनुमान के रूप में उत्तर देना पड़ेगा।

9. यदि एक कर्मचारी को दोषी ठहराया जाये तो उसे नुकसान भुगतान करना पड़ेगा। यदि कोई कर्मचारी अपने काम में लापरवाही ब्रूना तो उसे नुकसान भुगतान करना पड़ेगा।

ਸਮਝੌਤਿਆਂ ਦੀ ਰਦੀ (Termination of Treaties)

• कर्नाटकीय सिद्धि अनेक प्रकार से प्रदर्शित हो जाती है। जिसमें कुछ सिद्धि वही समिति या प्रदर्शित होने के तरीकों को दो नामों में वर्गीकृत किया गया है, जिन के तरीके जो सिद्धि का रज्य के कार्य से सम्बन्धित हैं तथा विविध वे तरीके जिनमें कर्नाटकी प्रमाण अन्तर्गत होती है। दोनों प्रकार से या होने वाली सिद्धि के कारण व उन्मुख दिशा प्रकाशित हो सकता है—

1. समय की समाप्ति (Expiration of time) : यह समझा जाता है कि किसी वस्तु की समाप्ति तब होती है जब वह वस्तु समाप्त हो जाती है। कुछ वस्तुओं में यह समाप्ति होती है कि कुछ वस्तुओं के समाप्ति में यह समाप्त होती है। यह समाप्ति होती है कि कुछ वस्तुओं के समाप्ति में यह समाप्त होती है।

2. **लक्ष्य प्राप्त होने पर (Fulfillment of the Object) :** कुछ समर्थक यह निर्दिष्ट करना चाहते हैं कि यह लक्ष्य प्राप्त करने का दायित्व नहीं लगे दो समर्थक बनते हैं। यह समर्थक का लक्ष्य प्राप्त होने की स्थिति है। अतः लक्ष्य प्राप्त होने के लिए ही यह समर्थक पर ही यह दायित्व लागू होती है।

3. **पारस्परिक सहमति द्वारा (By Mutual Consent) :** कर्तव्यनिष्ठ नृपति की सदि पारस्परिक सहमति द्वारा समाप्त हो जाती है। इसके लिए सम्यक् रूप से दोनों की रजामन्गी है। नम्रि की सन्धि उस सम्यक् की हो जाती है जस सदि के स्य रत्न सौर्य के लिए कोई न्यून सदि कर लेते हैं। नम्रि उस सम्यक् की समाप्त हो जाती है जस कोई स्य सदि के वर्जन करने अधिकृत क तत्प्रा कर देता है।

4. अस्मादन की घोषणा (Denunciation) : हमारे देश के लोगों को यह बताना है कि वे अस्मादन की घोषणा उनके अपने देशियों को करता कर दें। इस घोषणा के अन्तर्गत एक राज्य हमारे देश के दूसरे देशों को यह सूचना देता है कि वह हमारे देश से पृथक् होना चाहता है। आमतौर पर हमारे देश ने इनके लिए प्रयत्न नहीं किया है। उल्टेपक्षी है कि ये लोग अस्मादी प्रकृति की हमारे देशों को ही इस प्रकार छोड़ जा सकते हैं। आधुनिक दृष्टि ऐतिहासिक स्थिति, इस प्रकार की होती है। आधुनिक भारतीय विचारकों में यह

अवसायन की घोषणा से सम्बन्धित धारा होती है। कुछ समय के बाद कोई भी राज्य उसे त्याग सकता है। इसके लिए प्रायः एक वर्ष की सीमा रखी जाती है। जब किसी सन्धि के अवसायन की घोषणा एक के बाद एक पक्ष करता घता जाता है और उसका पालन करने वाले राज्यों की संख्या निरन्तर घटती जाती है तो सन्धि प्रभावहीन बनकर स्वतः समाप्त हो जाती है।

5 आवश्यक शर्तों का अभाव (Lack of Certain Essential Conditions) कुछ सन्धियों में पक्षों को यह अधिकार दिया जाता है कि मूलभूत परिस्थितियाँ न रहने पर वे अवसायन की घोषणा कर दें। यदि उन शर्तों का अनुपालन न हो तो सन्धि समाप्त हो जाएगी।

6 राज्य की समाप्ति (Dissolution of State) यदि द्वि पक्षीय सन्धि करने वाले पक्षों में से कोई भी एक पक्ष समाप्त हो जाए या हार जाए अथवा दूसरे राज्यों में विलीन हो जाए तो यह सन्धि समाप्त हो जाएगी। उदाहरण के लिए संपुक्तराज्य अमेरिका ने 1805 में ट्रिपोली के साथ सन्धि की। 1911 में इटली ने ट्रिपोली का अपने राज्य में विलय कर लिया। फलतः यह सन्धि समाप्त हो गई।

7 सन्धि की परिस्थितियों में परिवर्तन (Rebus Sic Stantibus) इस सिद्धांत के अनुसार जब सन्धि करते समय की परिस्थितियाँ बदल जाती हैं तो सन्धि समाप्त हो जाती है। प्रत्येक सन्धि में यह एक निहित शर्त रहती है कि वह यथावत् परिस्थितियाँ रहने तक ही लागू रहेगी। यदि किसी कारणवश परिस्थितियाँ गम्भीर रूप से बदल जाएँ तो सन्धि प्रभावहीन बन जाएगी। कोई भी राज्य इस आधार पर सन्धियों के दायित्वों से छुटकारा पा सकता है। परिस्थितियों में इतना गम्भीर परिवर्तन प्रायः कम ही होता है।

8 उत्तरासीन निरर्थकता (Subsequent Violence) एक सन्धि उचित होते हुए भी कुछ परिस्थितियों में कालान्तर में अनुचित बन सकती है। ये परिस्थितियाँ हैं—(A) जब एक राज्य का अन्य राज्य में विलय हो जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार सन्धि के दायित्व उत्तराधिकारी राज्य पर नहीं आते। सन्धि अपना कानूनी प्रभाव खो देती है। (B) जब सन्धि के दायित्वों को सम्पन्न करना असम्भव बन जाए तो सन्धि अवैध मानी जाती है। यदि यह असम्भवता अस्थायी है तो सन्धि काममें रहेगी। (C) जब सन्धि का उद्देश्य उसे पूरा किए बिना ही प्राप्त किया जा सकता हो तो सन्धि अवैध बन जाती है। (D) यदि सन्धि का उद्देश्य (Object) ही समाप्त हो जाता है तो सन्धि अवैध बन जाती है। उदाहरण के लिए यदि सन्धि किसी द्वीप के बारे में की गई है और वह द्वीप लुप्त हो जाता है तो सन्धि भी अपना प्रभाव खो देगी।

9 रद्द हो जाना (Cancellation) कोई भी सन्धि कुछ विशेष परिस्थितियों में रद्द की जा सकती है। ये परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं—(i) अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रगतिशील है अतः यह समझ है कि एक सन्धि जब की गई थी तब वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुरूप थी किन्तु कुछ समय बाद असंगत बन जाए। स्थिति की यह असंगति सन्धि को रद्द करने का आधार बन सकती है। (ii) जब सन्धि का एक पक्ष उसका उत्तराधन करे तो दूसरे पक्ष की इच्छा होती है कि वह उसको रद्द कर दे। यह इच्छा उपयुक्त समय में प्रयुक्त की जानी चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो यह अधिकार छिन सकता है। प्रोसियस का मत था कि सन्धि का उत्तराधन चाहे कितना ही अल्प हो वह दूसरे हस्ताक्षरकर्त्ताओं को यह अधिकार

देता है कि वे सम्पूर्ण संधि का बहिष्कार कर दें। (iii) यदि संधि में सम्मिलित किसी एक राज्य के मूल में अन्तर आ जाता है तो यह संधि रद्द हो जायगी। यदि राज्य अपनी प्रमुखता को दे और सम्मिलित राज्य बन जाय तो उसने सम्मिलित संधि सम्मत् हो जायगी। (iv) दो देशों के बीच कुछ छिह जाने पर उनकी संधिमें बहुत कुछ सम्मत् हो जाती है।

घोषणाएँ (Declarations)

अंग्रेजों के व्यवहारानुसार घोषणा रद्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों के लिए किया जाता है। इसका प्रथम अर्थ बाध्यकारी प्रवृत्ति का सूचक है और इसे दूसरे बाध्यकारी सम्झौतों से पृथक् करना चाहिये है। सदस्यों के लिए 1856 की पेरिस की सम्झौती पर नियम से सम्मिलित घोषणा रद्दना ही बाध्यकारी सम्झौता है जिसमें एक संधि या अनिश्चित शर्त का कोई भी सम्झौता हो सकता है। दोनों के मध्य अन्तर की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जहाँ संधि या अनिश्चित रूप विशेष अन्तराष्ट्रीय कानून के नियमों की रचना की जाती है वहीं घोषणा द्वारा केवल ऐसे नियमों को मान्यता प्रदान की जाती है।

अंग्रेजों के अनुसार घोषणा का दूसरा अर्थ एकलपक्षीय घोषणाओं से है जो दूसरे राज्यों के अधिकारों और कर्तव्यों को रद्दना करती है। ऐसी घोषणाओं में कुछ की घोषणा, युद्धमान राज्यों द्वारा विरुद्ध शत्रुओं की घोषणा, दृष्टीय राज्यों द्वारा दृष्टव्य राष्ट्र बने रहने की घोषणा, इत्यादि को सम्मिलित किया जा सकता है। इसका तीसरा अर्थ ऐसी घोषणाओं से लिया जाता है जिसमें कोई राज्य अपने अंतर के व्यवहार का स्वीकारण पर अनिश्चित दूसरे राज्यों के सम्मुख प्रकट करता है अथवा कुछ दिनों पर अपने दृष्टिकोण या अनिश्चित को स्पष्ट करता है। इनमें से दूसरे और तीसरे प्रकार की घोषणाएँ संधिओं के सम्मत् नहीं मानी जा सकती।

संयुक्त राष्ट्रों द्वारा की घोषणाएँ कभी अन्तराष्ट्रीय सम्झौते नहीं होती थी और उनके साथ कोई संधि या अनिश्चित को भी जोड़ दिया जाता था अथवा घोषणाओं को किसी संधि या अनिश्चित का मग बना दिया जाता था। 24 जुलाई, 1923 को टर्की के मध्य की गई लेमनो की संधि के साथ इस घोषणाएँ की गई जिसका सम्मत् युनान में मुस्लिम सन्धि, मध्य-प्रान्त और मर्याद अदि से था। 16 जुलाई, 1926 को ग्रेट ब्रिटेन और युनान के बीच दमिस्त और मर्याद की संधि के साथ ही एक घोषणा संयुक्त की गई। अमेरिलेन (Amelien) विवाद में अन्तराष्ट्रीय न्यायालय की यह सम्झौता थी कि यह घोषणा से सम्मिलित संधि का ही प्रमाण है और इसलिए इसके सम्मत् में संलग्न विवाद न्यायालय के क्षेत्राधिकार में है।

घोषणा रद्द का प्रयोग कभी-कभी सरलार्थ द्वारा लिए गए छोटे-छोटे सम्झौतों के लिए भी किया जाता है। पूर्व विमत अनिश्चित का अर्थानु प्रत्यक्ष-पक्षों की द्विपक्षीय तथा मध्य मूलन का विम्वन करने के लिए ऐसी घोषणाएँ की जाती हैं। इनका अनुसम्मान अनिवार्य नहीं होता है। मई 1925 की अलग-थूनी घोषणा का अनुसम्मान नहीं किया गया था क्योंकि ग्रेट ब्रिटेन की पर. 1 के अनुसार घोषणा पर अनुसम्मान अनिवार्य नहीं है और अनुसम्मान न होने पर भी वह बाध्यकारी है।

समझौता (Agreement)

जिस प्रकार 'घोषणा' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है उसी प्रकार समझौता शब्द भी विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। सामान्य अर्थ में यह दो दिलों के मिलने का प्रतीक माना जाता है। इस सन्दर्भ में दो या दो से अधिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों (राज्यों) का मिलना 'समझौता' होता है। समझौते बाध्यकारी और अबाध्यकारी दोनों ही प्रकार के होते हैं। मर्यादित अर्थ में 'समझौता' शब्द सम्बन्धित पक्षों को कानूनी अधिकार और कर्तव्य सौंपता है और बाध्यकारी प्रकृति का होता है किन्तु सन्धि की अपेक्षा प्रायः कम औपचारिक होता है। सन्धियों की भांति समझौता भी राज्य के अध्यक्षों, राज्यों अथवा सरकारों के बीच किया जा सकता है। राज्य के अध्यक्षों के बीच होने वाले समझौते का उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन और यूरोपीय सुरक्षा समुदाय के बीच 13 अप्रैल 1954 के समझौते को माना जा सकता है। इनका अनुसमर्थन नहीं किया गया था। 19 जून 1951 को उत्तरी अटलांटिक सन्धि के देशों की सेनाओं के स्तर सम्बन्धी समझौता राज्यों के बीच होने वाला समझौता था जबकि 10 जून 1951 को किया गया आग्ल फ्रांसीसी समझौता सरकारों के बीच किए गए समझौते का उदाहरण था। अपनी सामान्य एवं व्यापक प्रकृति के कारण समझौता शब्द राज्यों के मध्य स्थित बाध्यकारी प्रकृति की सहमति को अभिव्यक्त करता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ और उसके विरोध अभिकरणों के बीच तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ और उसके सदस्यों के बीच भी इस प्रकार की सहमति हो जाती है। 14 दिसम्बर 1946 को संयुक्त राष्ट्रसंघ एवं यूनेस्को के बीच ऐसा ही समझौता हुआ था। 15 दिसम्बर 1947 को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन एवं यूनेस्को के बीच तथा 21 नवम्बर 1947 को संयुक्तराज्य अमेरिका और संयुक्त राष्ट्रसंघ के बीच समझौता हुआ।

समझौते को कभी कभी प्रबन्ध शब्द से भी सम्बोधित किया जा सकता है। यह समझौते का ही फ्रांसीसी रूपान्तर है। कुछ विचारकों के मतानुसार प्रबन्ध की अपेक्षा समझौता अधिक निश्चित है किन्तु सर और्ट साटो के मतानुसार यह विचार सही नहीं है। समझौते के लिए कुछ अन्य शब्द भी प्रयुक्त किए जाते हैं। कभी कभी समझौते दो राज्यों के सरकारी विभागों के बीच भी सम्पन्न होते हैं। ये अन्तर्विभागीय समझौते अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधीन भी बाध्यकारी होंगे अथवा केवल निजी कानून के समझौते मात्र रहेंगे यह बात परिस्थितियों पर निर्भर करती है। कुछ राज्यों का संविधान सरकारी विभागों को अन्तर्राष्ट्रीय समझौते करने की शक्ति देता है किन्तु प्रायः ये समझौते किसी सन्धि या अभिसमय का भाग होने पर ही बाध्यकारी होते हैं। उदाहरण के लिए 24 सितम्बर 1896 के आग्ल फ्रांसीसी डाक अभिसमय में यह व्यवस्था थी कि दोनों सम्बन्धित राज्यों के डाक कार्यालय ही आपसी सहमति से यह तय करेंगे कि पत्रों एवं मुद्रित कागजों का आदान प्रदान किस प्रकार होगा। फलतः दोनों राज्यों के पोस्टमास्टर जनरल एवं डाइरेक्टर जनरल में उसी वर्ष अन्तर्विभागीय सन्धि की। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अन्तर्विभागीय समझौतों की तुलना राष्ट्रीय क्षेत्र के प्रत्यायोजित व्यवस्थापन से की जा सकती है। समझौतों को जब व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता मिल जाती है तो वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अंग बन जाते हैं।

विदेशाधिकरण (Protocol)

विदेश-धिकरण के अंग्रेजी सम्बन्ध 'प्रोटोकॉल' को लैटिन तथा यूनानी भाषाओं से लिया गया है। इसका मूल अर्थ एक ऐसा रजिस्टर है जिसमें सरकारी अम्बिलेखों को रखा गया हो। राजनयिक दृष्टि से यह उस रजिस्टर का प्रतीक है जिसमें किसी सम्मेलन की कार्यवाही का विवरण रखा गया है। यह शब्द विदेश मन्त्री के सरकारी पत्र-व्यवहार में अन्तर्गुजाने वाले तरीके राजनयिक अम्बिलेखों जैसे—सन्धिपत्र, अनिसन्धिपत्र, घोषणाओं, अनुमन्त्रियों, प्रत्यक्ष-पत्रों आदि का प्रारम्भ निश्चय करना है। प्रातः में यह एक उपदिग्ग के रूप में है जिसका कार्य सम्बन्धित कागजों को सँभाल करन है। ग्रेट ब्रिटेन में यह कार्य विदेश-धिकरण और सन्धि एवं राष्ट्रीयता विभागों द्वारा मिलकर सम्पन्न किया जाता है।

सन्झौते की दृष्टि से 'विदेश-धिकरण' शब्द प्रायः ऐसे सन्झौतों का द्योतक है जो सन्धि या अनिसन्धि की अन्धेरा वन औनधरिक होते हैं। दर्शनन व्यवहार के अनुसार अधिक महत्व वाले अन्तराष्ट्रीय सन्झौतों ने इसी श्रेणी में सम्मिलित होते हैं। उदाहरण के लिए अन्तराष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना करने वाला 16 दिसम्बर 1920 का विदेश-धिकरण अध्या 2 अगस्त 1943 के बर्लिन-सम्मेलन की कार्यवाहियों का विदेश-धिकरण, आदि। अनेक बार यह उचित मना जाता है कि एक बहुज्तीय सन्धि या अनिसन्धि सम्पादित होने के बाद मूल घोषणाओं और सन्झौतों की मूल आनेख के साथ ही जोड़ दिए जाएँ तथा उन्हें अन्तिम विदेश-धिकरण में अम्बिलेखित कर दिया जाए और उसे सन्झौतों का भाग बना लिया जाए।

विदेश-धिकरणों द्वारा बहुज्तीय अन्तराष्ट्रीय सन्झौतों में संशोधन किया जाता है अथवा उनका समय बढ़ाया जाता है। राष्ट्रसंघ का घोषणा-पत्र विभिन्न विदेश-धिकरणों द्वारा संशोधित किया गया। इसी प्रकार द्वि-पक्षीय सन्धिपत्रों के साथ ही सन्धि की सहायता, संशोधन या शर्त स्पष्ट करने के लिए विदेश-धिकरण सलग्न किया जाता है। 16 जनवरी, 1953 को सन्झौत की भाषा पर आगस्त-द्वितीय अनिसन्धि के साथ विदेश-धिकरण सलग्न किया गया। गैर-विषयों से सम्बन्धित विदेश-धिकरण भी प्रायः सन्धिपत्रों के साथ सलग्न किए जाते हैं। 24 जुलाई, 1923 को टर्की के साथ की गई लेसने की सन्धि-सन्धि के साथ विभिन्न विषयों पर 6 विदेश-धिकरण सम्मिलित किए गए थे।

दो या अधिक सरकारों के बीच किसी विरोध विषय पर सहमति की कमी-कमी विदेश-धिकरण बहो जाती है। इस दृष्टि से युद्धविराम के लिए पूर्व स्थित सन्धि के प्रस्तावों की व्याख्या के लिए एक सीमा को सीमाबद्ध करने के लिए सीमा-आयोग के कार्य का अम्बिलेख रखने के लिए राजनयिक सम्झौतों की पुनः स्थगित करने के लिए एक सन्धि को जारी रखने के लिए तथा विदेशी सहायता सेनाओं पर अहिंसकारी क्षेत्र-धिकार के प्रयोग को निषिद्ध करने के लिए विदेश-धिकरणों का प्रयोग किया जाता है।

सम्पत्रों का विनिमय (Exchange of Notes)

सन्झौतों वाले समय विदेश मन्त्री औनधरिक रूप से आपस में सम्पत्रों का विनिमय करते हैं। ये अपनी सरकारों की ओर से पत्र-व्यवहार करते हैं। अन्धेरी राजनयिकों को

भी इस प्रकार का अधिकार होता है। दो राज्यों के बीच वी गई अधिकांश सन्धियों में इसी प्रक्रिया को अपनाया जाता है। सम्पत्रों का विधिमय करने के लिए पूर्ण शक्तिधारी होना अनिवार्य नहीं है और न ही सम्पत्रों के विधिमय हमेशा अनुसमर्थन का विषय होते हैं। कभी कभी अनुसमर्थन अनिवार्य मान लिया जाता है जैसे 15 जनवरी 1923 को जर्मनी और स्पेन के बीच लिए गए सम्पत्रों के विधिमय पर दोनों पक्षों का अनुसमर्थन जरूरी था।

सम्पत्रों का विधिमय साधारणतः विषय वस्तु पर मौलिक विचार विमर्श के बाद किया जाता है किन्तु कभी कभी यह ऐसे पत्र व्यवहार का परिणाम होता है जिसमें प्रस्ताव पर पहले से ही विचार कर लिया गया हो। सामान्यतः सम्पत्रों का विधिमय उसी दिन किया जाता है जिस दिन से समझौते का लागू किया जाना है। सम्पत्रों के विधिमय के रूप में लिए गए समझौते विभिन्न विषयों से सम्बन्धित होते हैं जैसे—वाणिज्य और भुगतान समझौतों में सहोपन या गिरनारता, पक्ष निर्णय या अन्य अभिसमयों का ज़वीनीकरण दोहरा करारोपण से छूट ट्रेड मार्ब की मायता इत्यादि। उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि सम्पत्रों के विधिमय अपेक्षाकृत कम महत्व के विषयों से सम्बन्धित नहीं होते। इनके द्वारा ओक प्रमुख प्रश्नों का नियमन किया जाता है। सम्पत्रों के विधिमय के कुछ उदाहरण ये हैं : (1) अप्रैल 1951 में सरकारी प्रकाशनों के विधिमय से सम्बन्धित फ्रांसीसी गणराज्य और ग्रेट ब्रिटेन की सरकारों के बीच सम्पत्रों का विधिमय किया गया। (2) 13 अप्रैल 1951 को दक्षिण रोडेशिया की सरकार की ओर से ग्रेट ब्रिटेन और इटली की सरकार के बीच सम्पत्रों का विधिमय हुआ। (3) 13 मई 1951 को ग्रेट ब्रिटेन और इजरायल की सरकारों के बीच सम्पत्रों का विधिमय हुआ।

अविप्रतिपत्ति सन्धि

(Concordate)

अविप्रतिपत्ति सन्धि राजा और पोप के बीच होने वाले समझौते को कहा जाता है। इसका उद्देश्य सम्बन्धित राज्य में रोमन कैथोलिक धर्म के हितों की रक्षा करना है। इन सन्धियों की न्यायिक प्रकृति विवादपूर्ण है। फौचिले (Fauchille) के मतानुसार अविप्रतिपत्ति सन्धि का रूप दूसरी सन्धियों से समता रखता है किन्तु उद्देश्य में उनसे भिन्न है।

अतिरिक्त धाराएँ

(Additional Articles)

अतिरिक्त धाराएँ वे धाराएँ हैं जिनमें किसी कम महत्व के विषय के सम्बन्ध में या एक प्रावधान की शर्त के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के साथ सलमन किया जाता है। इन पर मूल सन्धि के साथ हरताखर दिए जाते हैं। 9 जनवरी 1922 को संयुक्तराज्य अमेरिका और वेनेजुएला के बीच विधिविद्ध सन्धि के साथ अतिरिक्त धारा जोड़ी गई जो इस प्रकार थी— 'यह स्वीकार किया जाता है कि इस सन्धि की व्याख्या अथवा क्रियान्विति के सम्बन्ध में समझौता करने वाले पक्षों के बीच उत्पन्न सभी अन्तर्गत का निर्णय पक्ष फैसले द्वारा किया जाएगा।

कभी कभी अतिरिक्त धारा को परिशिष्ट के रूप में रखा जाता है किन्तु ऐसा कम किया जाता है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के अधिकार परिशिष्टों को समझौते का भाग

ही माना जाता है इसलिए इने सम्मेलन किया जाता है। अतिरिक्त धाराएँ कभी कभी सन्धि के बदली तय की जाती हैं और कभी सरकारों के सम्झौतों को भी अतिरिक्त धारा कह दिया जाता है। ऐसी स्थिति में इन पर अनुसंधान ऐच्छिक है। कभी कभी अतिरिक्त धाराओं की मात्रा इन संश्लेषों की प्रथि अनुसूक्त अनिसन्धों, सम्झौतों या विदेश-विकारों के अध्ययन में ही जाती है। जब कभी ठीक तरह या मंत्रीक सम्झौतों में परिदर्शन किया जाता है तो उनके लिए प्रायः अतिरिक्त धारा शब्द का प्रयोग किया जाता है।

अन्तिम अधिनियम

(Final Act)

अन्तिम अधिनियम प्रायः किसी कन्वेंस या सम्मेलन का औपचारिक दस्तावेज या संहिता माना होता है। इसमें उन सन्धियों या अतिरिक्तों का आशयक निगूहण के साथ उल्लेख होता है जो कन्वेंस या सम्मेलन द्वारा की जाती हैं। इस प्रकार के अधिनियम पर हस्ताक्षर करने का अर्थ यह नहीं होता कि इसमें उल्लिखित सन्धियों को स्वीकार कर लिया है। इसके लिए अलग से हस्ताक्षर करार जाते हैं। सन् १८९९ के हेग शान्ति सम्मेलन में इस बात पर विचार किया गया था कि कन्वेंस के अन्तिम परिणामों का उल्लेख करने वाले परिपत्रों को क्या कहा जाए। उस समय इसे अन्तिम अधिनियम कहना उचित माना गया था।

अन्तिम अधिनियम को एक अधिनियम या सन्धि के लिए अयोजित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की प्रक्रियाओं का उल्लेख कहा जा सकता है। इसमें सम्मेलन का संश्लेष, इसकी शक्तियाँ और सदस्यों के निर्णयों का उल्लेख रहता है। सम्मेलन में प्रस्ताव प्रस्तावों, निष्कर्ष निष्कर्षों और घोषणाओं का उल्लेख किया जाता है। इस पर गम लेने वाले प्रतिनिधियों का हस्ताक्षर होते हैं किन्तु उनके अनुसंधान की आवश्यकता नहीं होती।

सामान्य अधिनियम

(General Act)

सामान्य अधिनियम को एक सन्धि या अतिरिक्त में मूलतः अलग नहीं किया जा सकता। सन् १८९९ के हार्गो सम्मेलन के सामान्य अधिनियम में निम्न धाराओं को एक ही परिधि में शामिल कर दिया गया था और इसलिए इसे सामान्य अधिनियम कहा गया था। इसी प्रकार १८१५ ई. के वियना कन्वेंस के अन्तिम अधिनियम के परिपत्र में यह घोषणा की गई थी कि सम्मेलन सन्धियों और अतिरिक्तों यदि शब्दों में शामिल किए गए हैं तो सम्मेलन का भी सम्मिलित होने। मूलतः अन्तिम अधिनियम सामान्य अधिनियम बन गया।

प्रामाणिक विवरण

(Process Verbal)

इस पद का प्रयोग कन्वेंसों के औपचारिक उल्लेख के लिए किया जाता है। अन्तिम या अनुसंधान और प्रारम्भिक सम्झौतों के उल्लेखों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है। किसी कन्वेंस या सम्मेलन में पूरा शिष्टाचारों के अधिदेशन का दृष्टान्त प्राणिक विवरण के नाम से सम्बंधित किया जाता है। जब कभी किसी सन्धि या अतिरिक्त पर अनेक राज्य हस्ताक्षर करते हैं या अनुसंधान देते हैं तो उन कन्वेंसों का औपचारिक

अमिलेख तैयार किया जाता है। प्रामाणिक विवरण और विदेशाधिकरण में बहुत कम अन्तर होता है। सन् 1892 में इटली तथा स्विट्जरलैण्ड के बीच ज्यूरिक में हुए व्यापारिक समझौते को प्रामाणिक विवरण का उदाहरण माना जा सकता है। इसके लिए सामान्यतः अनुसमर्थन का आवश्यकता नहीं होती।

अस्थायी प्रणाली

(Modus Vivendi)

अस्थायी तथा प्राविधिक समझौतों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। ये समझौते कुछ समय बाद अधिक स्थायी एवं विस्तृत समझौतों में परिवर्तित हो जाते हैं। इनमें कभी कभी ऐसे समझौते भी शामिल होते हैं जिन पर दोनों पक्षों ने हस्ताक्षर किए हों अथवा जिन्हें अमिरामय कहा जा सके किन्तु प्रायः सम्पत्तियों के विनियम ही इनकी श्रेणी में आते हैं। अस्थायी प्रणाली पर अनुसमर्थन की आवश्यकता नहीं होती है।

16 अप्रैल 1930 को ग्रेट ब्रिटेन और सोवियत संघ के बीच ऐसा ही अस्थायी समझौता हुआ था।

विशेष समझौते

(Special Agreement)

ये ऐसे समझौते होते हैं जिनमें विवादपूर्ण विषयों को न्यायिक समझौते या पक्ष फैसले के लिए सौंपने की व्यवस्था होती है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सन्धि की धारा 40 (1) के अनुसार न्यायालय के सम्मुख ऐसे मामले प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनके सम्बन्ध में विशेष समझौते के अन्तर्गत विवादपूर्ण विषयों को न्यायालय के सम्मुख रखने की व्यवस्था की गई है। ऐसे विशेष समझौतों में यह भी उल्लेख कर दिया जाता है कि न्यायाधिकरण की नियुक्ति किस प्रकार की जाएगी उसे कौन कौन सी शक्तियाँ दी जाएँगी उसका स्थान कहाँ होगा उसमें कौनसी भाषा का प्रयोग होगा आदि। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग की सिफारिश (1953) के अनुसार पूर्व समझौते के अभाव में सम्बन्धित पक्षों को पक्ष निर्णय से युक्त विशेष समझौता करते समय यह उल्लेख करना चाहिए कि विवाद के विषय न्यायाधिकरण की रचना के तरीके पक्षों की संख्या न्यायाधिकरण का स्थान आदि क्या होंगे। इस समझौते में न्यायाधिकरण पर लागू होने वाले कानून उसकी शक्तियाँ प्रक्रिया गणपूर्ति फैसले की शर्त आदि बातों का भी उल्लेख किया जाना चाहिए।

राजनयिक सम्पर्क की भाषा एवं अभिलेखों का रूप

(Language of Diplomatic Intercourse and
Forms of Documents)

सभी राजनयिक सम्पर्कों में प्रयुक्त किए जाने वाले एक ही ढंग के दस्तावेजों का निर्देश ध्यान दिया जाना है। राजनयिक भाषा का एक निश्चित स्तर होता है। हेनरी निक्सन (Henry Nelson) के अनुसार राजनयिक भाषा के तीन अर्थ होते हैं—(क) यह भाषा निम्न प्रयोग राजनयिक करने के लिये एक ही ढंग के दस्तावेजों में करते हैं। यह भाषा लेटिन, फ्रेंच अथवा अंग्रेजी में से कोई भी हो सकती है, (ख) वे एक अर्थवादी ढंग से प्रयोग करने से निर्णय अर्थों में प्रयुक्त होने का रहे हैं तथा निम्न एक निश्चित अर्थ होता है और यह राजनयिक सम्पर्कों के अन्तर्गत का बन गया है, (ग) स्थिति का बहुत अर्थ अर्थों के लिये का दृष्टिकोण। इनके साथ ही राजनयिक भाषा में बहुत कुछ सह-सुन लेते हैं, जिससे जोड़े, स्पष्ट निर्देश एक अर्थवादी ढंग से प्रदान नहीं हो पाते। इनके द्वारा ऐसे दस्तावेजों का प्रयोग किया जाता है जो उन संस्थाओं के द्वारा बनाए जाते हैं जो निम्न निम्न हैं किन्तु निम्न राजनयिक भाषा की दृष्टि से अर्थवादी ढंग में लिखता है।¹

राजनयिक भाषा में भाषा का इतना मान है कि कुछ विचारकों ने राजनयिक भाषा की इसी अर्थ को मान्य करते हुए कहा है। यह अर्थवादी ढंग के अनुसार, राजनयिक भाषा राज्यों के बीच अन्तराष्ट्रीय सम्पर्कों के लिये, में बुद्धि और सहज का प्रयोग है। राजनयिक भाषा में राजनयिक भाषा (Diplomatic Language) का अर्थ ध्यान में रखकर भाषा अर्थवादी ढंग में लिखता है, किन्तु दस्तावेजों में वे अर्थवादी ढंग का दृष्टिकोण रखते हैं राजनयिक भाषा का भी।

राजनयिक भाषा : अंग्रेजी, लेटिन, फ्रेंच
(Diplomatic Language : English, Latin, French)

अन्तराष्ट्रीय भाषा में अन्तराष्ट्रीय तीन भाषाओं का निर्देश रूप से प्रयोग होता है—

1 "It is a word to describe that guarded understanding which enables diplomats and ministers to use a language that is to some extent artificial becoming a language of compromise."

लेटिन भाषा : यूरोपीय राजनय के प्रारम्भ से ही समस्त राजनयिक क्रियाओं में मुख्यतः लेटिन भाषा का प्रयोग किया जाता था। यह न केवल भौतिक विचार-विमर्श के लिए धैर्य लिखित सम्पर्क के लिए भी प्रयोग में लाई जाती थी। वार्तालाप और लिखित सम्पर्कों के प्रथम स्थान लेटिन भाषा का और द्वितीय स्थान फ्रेंच भाषा का था। 17वीं शताब्दी तक समझौते सन्धियों और अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क मुख्यतः लेटिन भाषा के माध्यम से होते थे। उदाहरण के लिए तीस वर्ष के युद्ध की समाप्ति पर सम्पन्न की गई वेस्टफेलिया की सन्धि (1648) का प्रारूप और हस्ताक्षर लेटिन भाषा में ही हुए। इसी प्रकार 1674 की ऑग्ल-डच सन्धि एवं 1670 की ऑग्ल-डेनिस सन्धि भी लेटिन भाषा में की गई थी। राजनयिक सम्पर्क में लेटिन भाषा का एकाधिकार 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक रहा।

फ्रेंच भाषा : उल्लेखनीय है कि 17वीं और 18वीं शताब्दी में ही फ्रेंच भाषा क्रमशः लेटिन की समता प्राप्त करती जा रही थी। उदाहरण के लिए 1677-78 की सन्धि फ्रेंच भाषा में की गई। रूस के पीटर महान् ने सभी राजनयिक सम्पर्कों के माध्यम के रूप में फ्रेंच भाषा को अपनाया। 18वीं शताब्दी के मध्य तक राजनयिक सम्पर्क में फ्रेंच भाषा को प्रमुख स्थान प्राप्त हो गया। इसके दो कारण थे—(i) फ्रेंच भाषा का शब्दकोष सम्पन्न था और (ii) यह भाषा सभी यूरोपीय देशों में पढ़ने लिखने में लोकप्रिय थी। एक्सलारोपेल की काँग्रेस में फ्रेंच भाषा को मान्यता प्राप्त हुई। इस समय तक फ्रेंच भाषा इतनी लोकप्रिय हो गई थी कि प्रत्येक यूरोपीय राज्य के नागरिक अपनी मातृ भाषा के साथ फ्रेंच भाषा के दो-चार शब्दों का टूटा-फूटा प्रयोग करना प्रशस्तनीय समझते थे। सम्मान और कुलीन व्यक्तियों के लिए फ्रेंच भाषा का पर्याप्त ज्ञान अनिवार्य समझा जाता था।

अंग्रेजी भाषा : ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार एवं ब्रिटेन के अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव तथा व्यापार में वृद्धि होने पर अंग्रेजी भाषा का भी भाग्योदय होने लगा। ग्रेट ब्रिटेन ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना प्रभुत्व बढ़ाने के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा का प्रभाव भी बढ़ाया। इस कार्य में वह काफी सफल हुआ। इस प्रकार अंग्रेजी भाषा का राजनयिक सम्पर्क के माध्यम के रूप में प्रभाव 19वीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ। प्रारम्भ में अंग्रेजी मुख्यतः ऑग्ल-स्कॉटलैण्ड सम्बन्धों में प्रयुक्त होती थी। सन् 1800 में लॉर्ड ग्रीन विले ने विदेशी दूतों से मिलने तथा पत्र-व्यवहार करने के लिए फ्रेंच भाषा के स्थान पर अंग्रेजी भाषा को अपनाया। उस समय के बाद से अंग्रेजी को राजनय में क्रमशः महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता गया। लॉर्ड कास्टलरी एवं लॉर्ड कैनिन राजनयिक उद्देश्यों के लिए अंग्रेजी भाषा के प्रयोग पर जोर देते थे। अंग्रेज राजनीतिज्ञों द्वारा विदेशी सम्प्रभुओं को लिखे गए पत्र एवं दूसरे कागजात मूलतः अंग्रेजी भाषा में होते थे तथा उनके साथ-साथ अन्य भाषा की मान्य प्रतिलिपि सलग्न की जाती थी। समुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा के विश्व सम्मेलन पर आने से राजनयिक सम्पर्कों में अंग्रेजी भाषा का महत्व बढ़ गया। सन् 1919 के पेरिस शान्ति सम्मेलन में अंग्रेजी को फ्रेंच भाषा के बराबर का अधिकार मिला। इस सम्मेलन की समस्त सन्धियाँ एवं घोषणा-पत्र अंग्रेजी और फ्रेंच भाषाओं में तैयार किया गए। ज्यों-ज्यों एशिया और अफ्रीका महाद्वीपों में ब्रिटेन तथा फ्रांस का प्रभाव बढ़ता गया त्यों त्यों राजनयिक सम्पर्क के लिए अंग्रेजी और फ्रेंच भाषा अनिवार्य बनती गई। साम्राज्यवादी काल में राजनयिक सम्पर्क के लिए अंग्रेजी

Government would feel bound carefully to reconsider their position) तब इसका आशय यह होता है कि मित्रता शत्रुता में परिवर्तित हो जाएगी।

4 यदि कोई राजनयज्ञ यह कहता है कि 'उसके देश को अमुक विषय में स्वतन्त्र कार्यवाही करने का अधिकार है' (To claim a free hand) तब उसका अर्थ होता है कि राजनयिक सम्बन्ध तोड़ दिए जाएँगे अथवा दूसरे पक्ष की नीति को असफल करने के लिए समुचित कदम उठाए जाएँगे।

5 यदि राजनयज्ञ यह कहता है कि "परिणामों का उत्तरदायित्व हम नहीं लेते" तो इसका अर्थ यह लगाया जाता है कि ऐसी घटना उभारी जा सकती है। जिसका परिणाम युद्ध का रूप धारण कर ले।

6 जब कभी कोई देश मन्त्रापूर्वक निवेदन करके यह स्पष्ट करता है कि अमुक परिपत्र का उत्तर एक निश्चित दिन तथा समय तक मिल जाना चाहिए तो इस कथन का अर्थ दूसरा देश अल्टीमेटम के रूप में लेता है। इसके ठुकराए जाने का परिणाम बहुधा युद्ध की घोषणा होती है।

7 जब सरकार द्वारा यह कहा जाए कि दूसरे राज्य के कार्य को वह अमैत्रीपूर्ण समझती है तो इसका अर्थ होता है कि इस कार्य का परिणाम युद्ध भी हो सकता है।

सक्षिप्त कथनों के लाभ (Advantages of Understatements)

सक्षिप्त कथनों का राजकीय आचरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान होता है। इनसे कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी शिष्टतापूर्ण एवं सौम्य वातावरण बनता है तथा जन-साधारण में अनावश्यक उत्तेजना नहीं फैलती। शिष्ट शब्दों में शान्तिपूर्वक एक राजनयज्ञ अपनी सरकार के अमैत्रीपूर्ण विचारों का प्रदर्शन कर देता है। ये सक्षिप्त कथन वातावरण को उत्तेजनापूर्ण बनने से रोकते हैं। प्रो निकल्सन के मतानुसार इस परम्परागत सभार व्यवस्था का लाभ यह है कि इसके द्वारा जो नरम वातावरण तैयार होता है उसमें एक राज्य बिना उत्तेजना के भी गम्भीर चेतावनी दे देता है। इससे राष्ट्रों को अपनी स्थिति के प्रति अन्य राष्ट्रों की प्रतिक्रिया का भी पता चल जाता है।

सक्षिप्त कथनों के दोष (Disadvantages of Understatements)

सक्षिप्त कथनों के अनेक दोष उजागर हुए हैं। इससे सकटपूर्ण स्थिति में भी इस प्रकार की उक्तियाँ सर्वसाधारण को भ्रम में डाल देती हैं। जनता यह समझने लगती है कि देश के सामने कोई गम्भीर सकट नहीं है तथा दूसरे राज्यों से उनके राज्य के सम्बन्ध स्नेहपूर्ण और मैत्रीपूर्ण हैं। जनतन्त्र में जनता की यह असावधानी खतरनाक बन जाती है। शब्दों को तोड़-भरोड़ कर कहने से उनके अर्थ के बारे में भी दुविधा उत्पन्न हो जाती है। कहा कुछ जाता है और वास्तव में उसका अर्थ कुछ और समझ लिया जाता है। असावधानी के कारण अनेक अर्थों का अनर्थ हो जाता है।

राजनयज्ञों की भाषा में सक्षिप्त कथनों का आधिक्य होने के कारण ही इसे छल और धोखे का कार्य समझा जाने लगा। जिसे हम आम व्यवहार में असत्य भाषण कहते हैं उसे राजनयिक व्यवहार में शिष्टता और सौजन्य कहा जाता है। लोकप्रिय कहावत के अनुसार एक राजनयज्ञ सम्भावित कार्य के लिए कहता है अवश्य हो जाएगा और असम्भव कार्य

के लिए कहता है 'हो जाय' किन्तु वह नहीं होगा शब्दों का प्रयोग कभी नहीं करता। यदि करता है तो वह राजनयज्ञ नहीं है। यह विष्टता और सचेत व्यवहार आजकल कम महत्व धरते जा रहे हैं। उनका द्वारा दिदेश नीति के सफलन में अधिक प्रिय रुचि लेने के कारण यह आश्चर्य हो गया है कि राजनयज्ञों के शब्दों और कार्यों में सम्बन्ध रहे। उनका ध्यान तो यह दिदेश होना चाहिए कि उनके दिदेश मन्त्री या राजनयज्ञ जो कुछ वास्तव में कर रहे हैं वही उनका अभिप्राय है तथा वही वे वास्तव में करेंगे।

स्पष्ट है कि आजकल सशस्त्र व्ययन की प्रथा को छोड़ जा रहा है और अतिरिक्तपूर्ण व्ययनों का चलन बढ़ता जा रहा है। इस परिवर्तन के अभिप्राय के सम्बन्ध में विचारक एकमत नहीं हैं। सशस्त्र व्ययनों की परम्परा के पक्षधरों का कहना है कि अशस्त्र, बहुत एव सत्तेजनपूर्ण शब्दों का प्रयोग वास्तविक रोक जाय चाहिए तथा इसके स्थान पर सम्बन्धन पत्रों एव अन्य सूक्ष्म सन्धियों द्वारा उनका को सशस्त्र व्ययनों के अर्थ से परिचित कराया जाय चाहिए ताकि इतनी बुराइयों को दूर किया जा सके।

राजनयिक शब्दावली (Diplomatic Phrases)

राजनयिक व्यवहार में व्यवहार के कारण अनेक मुद्दों तथा विरोध शब्दों का विकास हो गया है। अनेक प्रयोग के सन्दर्भ में इनका एक विशेष अर्थ होता है। प्राचीनकाल में इन शब्दों का प्रयोग अधिक होता था। आजकल यद्यपि इनका महत्व इतना नहीं रहा है किन्तु फिर भी कुछ ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग आज भी होता है। इनमें से कुछ सत्तेजनपूर्ण शब्द निम्नलिखित हैं—

1. सन्निधित्व (Accession) : अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों में सहमति की एक घण्टी जोड़ दी जाती है ताकि सन्धि दस्तावेज में शामिल न होने वाला राज्य भी बाद में उसमें शामिल हो सके।¹ तबुल राष्ट्रसंघ के दफ्तर के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्याय क्षेत्र विषयक प्रश्न को रूप के सन्धि सदस्यों ने स्वीकार नहीं किया है किन्तु जो राज्य ठीक समझता है वह अपनी सुविधा अनुसार उसे स्वीकार कर सकता है।

2. मेल (Accord) : एक महत्व के अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर सन्धि न कर सकने मेल द्वारा सुझा दिया जाता है। उदाहरण के लिए जन स्वास्थ्य पर मेल (Accord on public health) आदि।

3. अन्तिम निर्णय (Acte Final) : सम्मेलन या सम्मेलन के अन्त में प्रारंभ उत्तरी सम्मेलन कार्यवाही का लक्ष्य दिया जाता है। इसमें सहित लेख सम्मेलन की सहमति, हस्ताक्षरपत्र सन्धियों आदि शामिल होती हैं।²

4. अग्रे विचार्य (Ad Referendum) : जब किसी सन्धि दस्तावेज में राजनयिक प्रतिनिधि प्रस्तावों को स्वीकार कर लेता है किन्तु उन पर अन्तिम स्वीकृति न देकर अपनी सरकार

1 "Accession is the term given to the long recognised practice whereby a State which has not signed a treaty may subsequently become a party to it." —*See Ernest Sisson*

2 "Final act (Acte Final) is usually a formal statement or summary of the proceedings of a conference or conference summarizing the treaties or conventions drawn up at the result of its deliberations or votes deemed to be desirable." —*See Ernest Sisson*

की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख लेता है तो उसे अग्रे विधायक कहा जाता है। इस प्रक्रिया से सन्धि की अन्तिम स्वीकृति का अधिकार हाथ में आ जाता है।

5 समनुमोदन (Agreement) जब एक राज्य द्वारा विदेशों में अपना राजदूत नियुक्त किया जाता है तो उसके सम्बन्ध में सम्बन्धित राज्य की राय अनधिकृत रूप से जान ली जाती है। यदि विदेशी शासन को कोई आपत्ति नहीं होती तो सम्बन्धित व्यक्ति को समनुमोदन प्राप्त समझा जाता है।

6 राज प्रश्रय (Asylum) जब एक देश के राजनीतिक अपराधी अपने देश से भाग कर अन्य देश अथवा यहाँ के दूतावास में शरण ले लेते हैं तो उसे राज्य प्रश्रय या राज्य शरण भी कहा जाता है।

7 सहचारी (Attache) राजदूत के काम में हाथ बँटाने के लिए और सुविधा की दृष्टि से विशेष विषयों पर सलाह एवं सहायता देने के लिए विशेषज्ञ नियुक्त किए जाते हैं। उदाहरण के लिए व्यावसायिक सहचारी (Commercial Attache) जो व्यापारिक कार्यों में सहायता देता है प्रेस सहचारी (Press Attache) जो समाचार पत्रों में प्रकाशित बातों का अध्ययन करने एवं सूचना एकत्रित करने का कार्य करता है। प्रत्येक सहचारी को उसके कार्य के अनुसार नाम से सम्बोधित किया जाता है।

8 दूतावास प्रेस (Bag) राजदूत द्वारा अपने देश के लिए लिखित प्रतिवेदन तथा अन्य सन्देश भेजे जाते हैं। इनको विशेष सन्देशवाहक द्वारा विशेष डाक के धौले में भेजा जाता है। इस डाक धौले को कोई छोल नहीं सकता। जिस दिन यह धौला लाया अथवा भेजा जाता है उसे प्रणयावास में डाक दिवस (Bag Day) कहा जाता है।

9 यौद्धिक अधिकार (Belligerent Rights) युद्ध में सलग्न राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अर्थात् कुछ विशेष अधिकार और कर्तव्य सौंपे जाते हैं। इन्हें यौद्धिक अधिकार की सझा दी जाती है। इन अधिकारों की एक लम्बी सूची है। उदाहरणार्थ युद्धप्रवृत्त राज्य को यह अधिकार होता है कि वह अपने शत्रु के तटों एवं बन्दरगाहों पर घेरा डाल दे। इस प्रकार वह नाकेबन्दी करके शत्रु राज्य से व्यापारिक सम्बन्ध समाप्त कर देता है।

10 समर्पण सन्धि (Capitulations) ये वे सन्धियाँ हैं जिनके अन्तर्गत समर्पण की शर्तें निहित होती हैं। प्राचीनकाल में अनेक ईसाई धर्मावलम्बी गैर ईसाई राज्यों में बस गए थे। उनके हितों की रक्षा के लिए शक्ति सम्पन्न ईसाई राज्यों ने गैर ईसाई राज्यों से सन्धियाँ कीं। तदनुसार बलपूर्वक ईसाइयों के लिए अधिकार एवं उन्मुक्तियाँ प्राप्त कर लीं। उदाहरण के लिए ईसाइयों को स्थानीय न्यायालयों की परम्परा से मुक्त रखा गया। उन्हें जुरी एवं कारागार से मुक्ति दिलाई गई। इस प्रकार की सन्धियों को समर्पण सन्धि (Capitulation Treaty) की सझा दी गई। तदनुसार शक्तियों का उपभोग करने वालों को समर्पण शक्तियाँ (Capitulatory Powers) कहा गया तथा इस प्रणाली को समर्पण व्यवस्था (Capitulatory System) कहा गया।

11 युद्ध का कारण (Casus Belli) जब कोई राज्य किसी दूसरे राज्य के विरुद्ध उत्तेजनात्मक कार्यवाही करे और उसके आधार पर दूसरे राज्यों को युद्ध की घोषणा करने का न्यायपूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाए तो वह युद्ध कारण कहलाता है। पामर्सटन ने इसे

परिभाषित करते हुए उसे ऐसा मामला बताया है जिसके आधार पर युद्ध करना उचित हो। सन् 1991 में इराक की हथकड़ियों की नीति के कारण खाड़ी युद्ध अपरिहार्य बन गया था।

12. महायन्त्रालय (Chancelleries and Chancery) - प्रारम्भ में घोंसलर या महामन्त्र के सचिवालय को घोंसलरी कहा जाता था। आजकल इसका अर्थ वे मन्त्री तथा कर्मचारी हैं जो विदेश नीति को नियन्त्रित करते हैं अथवा उस सम्बन्ध में सलाह देते हैं। घोंसलरी किसी राजनयिक प्रतिनिधि के कार्यालय को कहा जाता है जिसमें प्रथम द्वितीय और तृतीय स्तर के सचिव तथा अन्य सहायक लिपिक शामिल होते हैं।

13. सम्मेलन और कॉंग्रेस (Conference and Congress) - अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इन दोनों ही शब्दों में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का प्रयोग अमेद रूप से किया जाता है। 'कॉंग्रेस' शब्द सम्मेलन की अपेक्षा अधिक व्यापकता का प्रतीक है, अन्यथा दोनों में विशेष अन्तर नहीं है। दोनों का आदेजन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार विमर्श एवं निर्णय के लिए किया जाता है।

14. कार्यदूत (Charge de Affairs) - कार्यदूत एक देश के विदेश विभाग द्वारा भेजा जाता है और दूसरे देश के विदेश विभाग द्वारा परिगृहित किया जाता है। कार्यदूतों को राजदूतों के समान सम्मान प्राप्त नहीं होता। अन्तराष्ट्रीय कार्य भार सम्भालने के लिए अन्तरिमकालीन कार्यदूत नियुक्त किए जाते हैं। इसके लिए परिगृहणकर्ता राज्य का सम्मनुमोदन प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती। जब एक राज्य दूसरे राज्य से अपना असन्तोष या रोष प्रकट करता है तो वह तन्त्रे समय तक अन्तरिमकालीन कार्यदूत को ही नियुक्त रहने देता है।

15. विवादधन सवित् (Compromis D' Arbitrage of Compromis) : जब दो राज्य अपने किसी विवाद को समझौते के लिए सौंप देते हैं तो इस समझौते की प्रक्रिया का जो नियम-पत्र तैयार किया जाता है उसे विवादधन सवित् कहते हैं।

16. अविप्रतिपत्ति सन्धि (Concordat) - जब पोप द्वारा किसी राज्य के सम्प्रभु से सन्धि की जाती है तो उसे अविप्रतिपत्ति सन्धि कहा जाता है।

17. अभिसमय (Convention) यह एक कम महत्व की सन्धि होती है जिसे राज्यों के सम्प्रभुओं के बीच सम्पन्न न किया जाकर शासकों द्वारा किया जाता है।

18. राजनयिक निकाय (Corps Diplomatic) : किसी राज्य की राजधानी में रहने वाले विभिन्न देशों के राजदूतावासों के राजनयिक कर्मचारियों के समस्त समूह को राजनयिक निकाय कहते हैं। इनका मुखिया दूरिष्ठतम राजदूत होता है और उसे दूत दूरिष्ठ (Docten) की सजा दी जाती है।

19. शब्दों में अथवा स्पष्ट भाषा में (En Clair) - यदि कोई राजनयिक तार सौकेतिक भाषा में न भेजकर साधारण भाषा में भेजा जाता है तो इसे स्पष्ट भाषा में भेजा गया तार मानते हैं।

20. कार्यानुमति (Exequatur) : जब एक देश द्वारा नियुक्त दूत को वहाँ के सम्बन्धित अधिकारी द्वारा स्वीकृति प्रदान की जाती है तो उसे कार्यानुमति कहते हैं।

21. प्रत्यर्पण (Extradition) : यह एक ऐसी सन्धि होती है जिसके अन्तर्गत कई राज्य आपस में यह समझौता करते हैं कि यदि एक राज्य का अपराधी दूसरे राज्य में प्रवेश

करेगा तो दूसरा राज्य उसे पहले राज्य को लौटा देगा। ये सन्धियाँ राजनीतिक और धार्मिक अपराधियों पर लागू नहीं होतीं।

22. पूर्ण शक्ति या पूर्णाधिकार (Full Powers) जब कोई राजनयिक प्रतिनिधि या अन्य अधिकर्ता किसी सम्मेलन या कांग्रेस में प्रतिनिधित्व करने के लिए भेजा जाता है तो उसकी सरकार उसे पूर्ण शक्ति प्रदान करती है जिसके अन्तर्गत वह किसी सन्धि या अभिसमय विरोध पर अपनी सरकार की ओर से हस्ताक्षर करने का अधिकारी बन जाता है। इस पूर्ण शक्ति का कोई निश्चित स्वरूप नहीं है।

23. सुसम्बन्ध प्रयोग (Good Offices) दो विरोधी राज्यों के मध्य समझौता कराने के लिए जब तीसरा राज्य दोनों पक्षों के साथ अपने अच्छे सम्बन्धों के कारण दोनों के बीच सन्देशवाहक का कार्य करता है तो उसके इस कार्य को सुसम्बन्ध प्रयोग कहा जाता है। इसमें और मध्यस्थता में यह अन्तर है कि मध्यस्थता में मध्यस्थ व्यक्ति या शासन को स्वयं सन्धि वार्ता में भाग लेना पड़ता है किन्तु सुसम्बन्ध प्रयोग में ऐसा नहीं किया जाता।

24. निर्बाध गमन (Laissez Passer) • जब एक राज्य के कर्मचारी राजकीय कार्य से दूसरे देश को जाते हैं तो उक्त देश के राजदूतावास से उनकी सुविधा हेतु अपने देश के चुगी अधिकारियों के नाम एक सिफारिशी पत्र लिखा जाता है ताकि सीमा प्रवेश के समय उसकी तलाशी न ली जाए। इस पत्र को निर्बाधगमन पत्र कहा जाता है।

25. टिप्पण (Notes) राजनयिक दूत द्वारा किसी शासन को लिखे गए औपचारिक सन्देश को टिप्पण कहा जाता है। ये टिप्पण तीन प्रकार के होते हैं—(क) सामूहिक टिप्पण (Collective Notes)—जब किसी विषय पर अनेक राज्यों के राजनयिक प्रतिनिधि समुक्त रूप से हस्ताक्षर करते हैं तो वह सामूहिक टिप्पण कहलाता है। प्रत्येक प्रतिनिधि पृथक् प्रतिलिपि पर अपने हस्ताक्षर करता है। इन सभी प्रतिलिपियों को मिलाकर सम्बन्धित शासन के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।¹ (ख) एकसमान टिप्पण (Identical Notes)—ऐसे टिप्पणों की सभी प्रतिलिपियों का एकता होना आवश्यक नहीं है किन्तु उनका सारांश एक जैसा होता है। उन्हें मित्र मित्र समर्थों पर प्रस्तुत किया जा सकता है। (ग) मौखिक टिप्पण (Verbal Notes)—इस टिप्पण पर हस्ताक्षर नहीं किए जाते किन्तु इसके अन्त में सौजन्य व्यक्त किया जाता है।²

26. विदेशाधिकरण (Protocol), प्रारम्भ में किसी समझौते के रिकार्ड को विदेशाधिकरण कहा जाता था। यह सन्धि अथवा अभिसमय से कम औपचारिक था। आजकल अनेक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय प्रसविदाएँ इसी रूप में तैयार की जाती हैं।

27. प्रतिवेदक (Rapporteur) जब किसी सम्मेलन की समितियाँ अथवा उपसमितियाँ किसी प्रतिनिधि को मूल सम्मेलन में उनका प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए

1 "This is one addressed by the representatives of several to a government in regard to some matter in which they have been instructed to make a joint representation on it involves close relations between the powers whose representatives sign it." — Sir Ernest Satow

2 "This is in the third person and is neither addressed nor signed. It should however terminate with a formula of courtesy. It is often used for the record of a conversation or in order to put a question." — Sir Ernest Satow

घुनती है तो उसे प्रतिवेदक कहा जाता है। यह अपने नान के अनुसार मूल सम्मेलन में समिति का प्रतिनिधित्व करता है।

28. होम गमन (Safe Conduct) एक व्यक्ति को उसके देश के शत्रु राज्य में होकर दिना किसी रोक टोक के गमन की सुविधा को होम गमन कहा जाता है। इसे निर्बंध गमन की भी संज्ञा दी जाती है।

29. अनैत्रीपूर्ण कार्य (Unfriendly Act) जब एक राज्य दूसरे राज्य के कार्य को युद्ध का कारण बनना है तो उस राज्य से अपना विरोध प्रकट करते हुए स्पष्ट कर देता है कि अमुक कार्य अनैत्रीपूर्ण है।

30. एकपक्षीय घोषणा (Unilateral Declaration) कभी कभी कुछ राज्य एक सैद्धान्तिक घोषणा द्वारा अपने अधिकारों या नीति की स्थापना करते हैं। इसकी सूचना बाद में अन्य राज्यों को भेजी जाती है। ऐसी घोषणा एकपक्षीय घोषणा कही जाती है।

31. अनिलबाएँ (Vocux) जब किसी सम्मेलन द्वारा अपनी सन्धि के साथ मादी मार्गदर्शन के लिए कुछ सिद्धांतों जेड दी जाती हैं तो उन्हें अनिलबाएँ कहा जाता है। 1899 के हेग शान्ति सम्मेलन ने ऐसी 6 अनिलबाएँ व्यक्त की थीं। सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले राज्य इनसे बाध्य नहीं होते क्योंकि आखिर ये अनिलबाएँ ही होती हैं।

32. राजनयिक अस्वस्थता (Diplomatic Illness) जब कोई राजदूत अथवा सन्धि दत्ता करने वाला किसी समा अथवा उत्सव में जाना नहीं चाहता तो वह बीमार होने का बहाना बना लेता है।

33. स्मरण पत्र (Memorandum) यह तथ्यों और उन पर आधारित तर्कों का टिप्पण जैसा ही योग होता है। यह टिप्पण से विशेष नित्र नहीं होता है। दोनों में अन्तर यह है कि इसके प्रारम्भ और अन्त में संज्ञान पूर्ण शब्दों की आवश्यकता नहीं होती और न ही इस पर हस्ताक्षरों की आवश्यकता होती है।

सम्प्रमुओं एवं राज्याध्यक्षों के बीच पत्र व्यवहार

(Correspondence between Sovereigns and Heads of States)

जब राज्यों के सम्प्रमु एक दूसरे को अधिकृत रूप से सम्बोधित करते हैं तो वे पुरुष के लिए Sir My Brother लिखकर सम्बोधित व्यक्ति के साथ स्थित अपने रत सम्बन्ध का उल्लेख करते हैं। किसी महारानी या सत्राङ्गी के लिए Madam My Sister सम्बोधन का प्रयोग किया जाता है। पत्र के मूल भाग में सम्प्रमु अपने आपको एकदमन के रूप में प्रकट करता है और अपने बराबर वालों को Majesty Altesse Royale इत्यादि पददियों से सम्बोधित करता है। पत्र का अन्त करते समय मैत्रीपूर्ण अनिव्यक्तियों का प्रयोग किया जाता है। कुछ देशों में ऐसे पत्रों पर सम्प्रमुओं के हस्ताक्षरों के साथ साथ किसी मन्त्री के भी हस्ताक्षर होते हैं। इस तरह के पत्र प्रायः राजदूतों के प्रत्यय पत्र या राजदूतों को बुलाने के पत्र अथवा अन्य सम्प्रमुओं को भेजी गई बख्शियाँ अथवा शोक सन्देशों के रूप में होते हैं।

जब सम्प्रमुओं द्वारा किसी गणराज्य के अध्यक्ष को पत्र लिखा जाता है तो यह अधिक औपचारिकता एवं सज्जद के साथ लिखा जाता है। इसका प्रारम्भ सम्प्रमु के नाम और

पद से होता है। सम्प्रभु इस प्रकार के पत्रों का लेखन साधारणतः राजदूतों या मन्त्रियों के प्रत्यय पत्र उन्हें वापस बुलाने भूतपूर्व सम्प्रभु की मृत्यु की घोषणा करने निर्वाचन पर बधाई देने आदि के लिए करते हैं। ऐसे पत्रों के अन्त में दोनों राज्यों के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बढ़ाने के मद्दत पर जोर दिया जाता है। इन पर प्रायः किसी मन्त्री द्वारा प्रतिहस्ताक्षर किए जाते हैं।

राजनयिक पत्र व्यवहार की अमान्यता

(Rejection of Diplomatic Communications)

राजनयिक सम्पर्क की भाषा के विवरण में एक उत्प्रेक्षणीय बात यह है कि एक राज्य कुछ अवसरों पर विशेष कारणों से दूसरे राज्य द्वारा भेजे गए पत्रों को अस्वीकार कर देता है। वह पत्र में दी गई बातों को बिना कारण बताए चुकरा देता है। इस स्थिति की साहित्यिक व्याख्या करते हुए इसे पत्र प्रेषक को पत्र लौटाना कहा जा सकता है। ऐसे अवसर प्रायः कम आते हैं जब किसी राज्य द्वारा दूसरे राज्य की हानि को अमान्य किया जाए। कभी कभी प्रेषित पत्र में आपत्तिजनक भाषा का प्रयोग किया जाता है तो प्राप्तिकर्ता राज्य उसे स्वीकार करने की अपेक्षा लौटा देने का निर्णय लेता है। इस निर्णय की दूसरी स्थिति यह है जब किसी पत्र द्वारा प्रेषक राज्य ने प्राप्तिकर्ता राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का प्रयास किया हो। राजनयिक इतिहास में पत्र अस्वीकार करने के ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। सन् 1943 में स्टालिन ने चर्चिल को एक टेलीग्राम भेजा था जिसके रूप और विषय वस्तु के आपत्तिजनक होने के कारण चर्चिल ने उसे स्वीकार करने से मना कर दिया और लन्दन स्थित सोवियत राजदूत को एक लिफाफे में रख कर लौटा दिया। सोवियत राजदूत मोनसीर गोसेव (Monieur Goussiev) ने इसे पहचानते हुए कहा कि मुझे यह आपको सौंपने के लिए दिया गया है। तब प्रधान मन्त्री ने उत्तर दिया कि "मैं मित्रतापूर्वक इसे अस्वीकार करता हूँ।"¹

¹ "I am not prepared to receive it in a friendly manner"

कुछ महान् राजनयज्ञ : मेटर्निख, कैसल-रे, बिस्मार्क,
विल्सन, तेलेराँ, के.मेनन, के.एम.पन्निकर,

राजनयज्ञों की बदलती हुई भूमिका

(Some Great Diplomats Metternich, Castlereagh,
Bismarck, Wilson, Tallaron, K Menon, K M Pannikar,
Changing Role of Diplomats)

राजनयज्ञ के दायित्वों को सम्पन्न करने के लिए राजनयज्ञ में कुछ विशेष गुणों का होना वैधानीय है। इसके अभाव में वह अपने कर्तव्यों व दायित्वों का समुचित निर्वह नहीं कर सकेगा। प्रस्तुत अध्याय में हम कुछ महान् राजनयज्ञों के राजनय और उनकी महत्वपूर्ण भूमिका पर प्रकाश डालेंगे और सच ही राजनयज्ञों की बदलती हुई भूमिका को भी देखेंगे। हम इस बात पर भी विचार करेंगे कि वैधानीय गुणों की दृष्टि से राजनयज्ञों के लिए उपयुक्त परामर्श क्या है।

मेटर्निख

(Metternich)

ऑस्ट्रियन चैंसलर एक महान् कूटनीतिज्ञ था। वह असधारण प्रशिक्षण का घनी था। नेपोलियन बोनपार्ट को पराजित करने में ऑस्ट्रिया (ऑस्ट्रिया हंगरी) ने महत्वपूर्ण भूमिका ली थी अतः यूरोप के पुनर्निर्माण के मामलों को तय करने के लिए 1815 में वियना में यूरोपीय राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ था और ऑस्ट्रियन चैंसलर मेटर्निख ने अपनी विलक्षण राजनयिक प्रतिभा से सबको प्रभावित किया था। यह मेटर्निख ही था जिसने ऑस्ट्रिया को इतना शक्तिशाली बना दिया कि यूरोप में पुनः उसका वर्चस्व स्थापित हो गया। ऑस्ट्रिया हंगरी पर 1792 से 1835 तक फ्रांसिस प्रथम और 1835 से 1848 तक फर्डिनेण्ड प्रथम ने राज्य किया। सम्पूर्ण यूरोप में ऑस्ट्रिया ही एक ऐसा राज्य था जिस पर 1789 की फ्रांसिसी क्रांति का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। साम्राज्य मरने में विशेषधिकारयुक्त कुलीनों और पादरियों का शासन एकदम निरकुश था। ऑस्ट्रिया में इतने कठोर प्रतिबन्ध थे कि वहाँ किसी प्रकार के उदार विचारों का प्रचार नहीं हो सकता था।

मेटर्निख का जन्म मई 1773 में ऑस्ट्रिया के वल्लेज नगर में हुआ था। उसका पिता पवित्र रोमन साम्राज्य का उच्चधिकारी और जर्मनी का जमींदार था। फ्रांस की

क्रान्ति के साथ आतंक राज्य और क्रान्तिकारी दलों के नृशंस कार्यों ने उसमें क्रान्ति के प्रति असीम घृणा उत्पन्न कर दी थी। बाद में नेपोलियन ने उसके पिता की जागीर छीन ली थी। इन कारणों से वह कट्टर प्रतिक्रियावादी और नेपोलियन का घोर विरोधी बन गया था।

रिश्ता समाप्त करने के बाद 1795 में उसका विवाह आस्ट्रिया के चौसठर प्रिन्स कोलिदज की पौत्री के साथ हुआ। इस विवाह से उसकी राजनीतिक और सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। सन् 1801 से 1806 तक उसने विभिन्न देशों में राजदूत के पद पर कार्य किया और वह इन देशों के शासकों व राजनीतिज्ञों के सम्पर्क में आया। सन् 1809 में आस्ट्रिया का चौसठर (प्रधान मन्त्री) बन गया और 1848 तक उसी पद पर कार्य करता रहा। नेपोलियन की बाटर्तू पराजय के बाद मेटरनिख यूरोप की राजनीति का सर्वसर्वा बन गया। उसने यूरोपीय राजनीति में इतनी प्रमुख भूमिका निभाई कि 1815 से 1848 तक के यूरोपीय इतिहास का काल 'मेटरनिख युग' के नाम से प्रसिद्ध है।

जहाँ नेपोलियन का युग अस्त्र शस्त्र का युग था वहाँ मेटरनिख का समय राजनय और मैत्री का युग था। मेटरनिख अपने युग का सबसे प्रतिभाशाली राजनीतिज्ञ था। नेपोलियन के पतन और यूरोपीय व्यवस्था के सगठन में उसका प्रमुख हाथ रहा था। उस युग के लगभग सभी शासक मेटरनिख के प्रभाव में थे। मध्य और पूर्वी यूरोप राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विधान मेटरनिख की नीति के अनुसार ही चलते थे। जर्मनी आस्ट्रिया और इटली उसकी ही छत्रछाया में थे। वास्तव में जिस तरह नेपोलियन ने सम्पूर्ण यूरोप पर 15 वर्ष तक अपनी धाक जमाए रखी उसी तरह मेटरनिख ने भी लगभग 40 साल तक यूरोप की राजनीतिक प्रगति पर अपना नियन्त्रण स्थापित रखा। वह बड़ा ही अहकारी व्यक्ति था जिसकी धारणा थी कि सत्ता का क्रम उसी के सहारे चल रहा है। वह कहा करता था—“मेरी स्थिति में यह विलक्षण बात है कि जहाँ भी मैं होता हूँ सबकी आशायें सबकी आँखें वहीं लगी रहती हैं। क्या कारण है कि असंख्य लोगों में केवल मैं ही विचार करता हूँ जबकि अन्य व्यक्ति कुछ भी नहीं सोचते केवल मैं ही कार्य करता हूँ जबकि अन्य लोग कुछ भी नहीं करते और मैं ही लिखता हूँ क्योंकि दूसरे इस योग्य नहीं हैं।” मेटरनिख का विश्वास था कि उसकी मृत्यु होने पर उसके रिक्त स्थान की पूर्ति कभी नहीं की जा सकती है।

मेटरनिख क्रान्तिकारी भावनाओं का कट्टर शत्रु था। फ्रांस की क्रान्ति के दो महत्वपूर्ण सिद्धान्तों राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र को वह बहुत भयानक रोग समझता था।

वह प्रायः कहा करता था—“क्रान्ति एक भयानक और विशाल दैत्य की भाँति है जो समस्त यूरोप की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को निगल सकती है।” मेटरनिख की दृष्टि में “क्रान्ति एक सड़े हुए दुर्गन्धयुक्त भाँस के टुकड़े से समान थी जिसको भस्म करने के लिए एक अत्यन्त गरम और लाल लोहे की आवश्यकता होती है।” मेटरनिख को क्रान्ति से अत्यन्त विद्रु थी। उसका राजनय इस दिशा में था कि सम्पूर्ण यूरोप में क्रान्ति से पूर्व की स्थिति पुनः उत्पन्न करके पुरातन राजनीतिक स्थिति की जाए। इस प्रकार से वह क्रान्ति का भयकर विरोधी था।

मेटर्निख अस्ट्रिया सत्ता के सुलझ करन अपना पवित्र कर्तव्य समझत था। यह तनी सम्मद था जब फ्राँसीसी क्रान्ति द्वारा प्रतिपदित सिद्धान्तों को कुचल दिया जाय। मेटर्निख जानता था कि अस्ट्रिया का साम्राज्य अनेक जगहों का सम्मिश्रण है और ऐसे साम्राज्य का शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्तों के अनुसार पर नहीं चलता जा सकता। उसे यह तनी बर्दाश्त नहीं थी कि सर्वसम्मत जनता राजनीतिक अधिकार प्राप्त करे और देश के शक्ति सन्तुलन में भाग ले। अब अस्ट्रिया सत्ता को क्रान्ति की लहरों से बचने के लिए मेटर्निख ने एक ऐसी पद्धति का सूत्रबन्ध किया जिसे 'मेटर्निख पद्धति' (Metternich's System) कहा जाता है। इसमें क्रान्ति का नहीं बल्कि राजनीतिक और राजनीतिक दृष्टि का महत्त्व दिया गया। यही वह प्रणाली है जो लॉर्ड क्लाइव ने सिद्ध की। इसलिए उसकी नीति को हमके नाम पर मेटर्निख प्रणाली का नाम दिया गया। इस मेटर्निख प्रणाली के दो स्तम्भ थे—

(i) अस्ट्रिया में एक ऐसी व्यवस्था स्थापन की जाय जिसमें क्रान्ति के विपक्षों का प्रचार अशक्य हो जाय। चूंकि जर्मनी और इटली पर अस्ट्रिया का प्रभाव था, अब वहाँ की क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार रोक दिया जाय।

(ii) यूरोप के किसी भाग में क्रान्ति के सिद्धान्तों का प्रचार न हो। प्रागतिरहित प्रवृत्तियों को ही भी सिर उठाने से उन्हें कुचल दिया जाय। इस उद्देश्य के लिए मेटर्निख ने विभिन्न कांग्रेस में यूरोपीय व्यवस्था की स्थापना कराई। वास्तव में यह व्यवस्था मेटर्निख पद्धति का एक अन्तर्भाग थी।

मेटर्निख ने अपने प्रधान मन्त्रिण्ड काल में प्रतिक्रिया और अनुदारता का अनुकरण करने की नीति अपनाई और उसके प्रभाव के कारण अस्ट्रिया का साम्राज्य यूरोप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन गया। अपनी नीति की व्याख्या करते हुए उसने एक बार इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री पर्सवैल को लिखा था कि "हम प्रतिरोधपूर्ण नीति इसलिए अपना रहे हैं कि हमें दमनकारी नीति अपनाने के लिए विवश न होना पड़े। हमारी यही निश्चित धारणा है कि सुधार की नीतियों को करना राज्य के लिए घटक होगा।"

मेटर्निख का विश्वास था कि गृह नीति और विदेश नीति को एक-दूसरे से जोड़ दिया जा सकता है। एक देश की घटनाओं का दूसरे देशों पर प्रभाव पड़ता है और किसी देश में घटित घटनाओं को कोई देश दूर तक की नीति नहीं देख सकता। उनको दबाने के लिए राज्य को सम्मिलित रूप से हस्तक्षेप करना चाहिए।

मेटर्निख ने सबसे पहली अपनी व्यवस्था को सबसे पहले अपने ही देश में लागू किया। 1815 से 1848 तक वह अस्ट्रिया का सर्वोच्चतम प्रधान मन्त्री रहा। इस अवधि में अस्ट्रिया ने दो सत्रों हुए—प्रधान मन्त्रिण्ड (1835 ई. तक) और फर्दिनेण्ड प्रधान (1835 ई. से 1848 ई. तक)। दोनों सत्रों को उसने एक ही नीति का पालन करने का परामर्श दिया वह थी 'सिस्टम' (System) बनाने की नीति। इसके अन्तर्गत उसने अस्ट्रिया सभी साम्राज्य के उदार विचारों के दमन और कठोर नियन्त्रण की नीति अपनाई। मेटर्निख एक बहुत दूरदर्शी राजनेता था। उसकी एकमात्र कमजोरी यही थी कि अस्ट्रिया यूरोप का नेतृत्व करे।

मेटरनिख नेपोलियन की बढ़ती हुई शक्ति से परिचित था। उसने एक बार कहा था अगर फ्रांस को जुकाम हो जाता है तो पूरा आस्ट्रिया छीकने लगता है। साथ ही वह यह भी जानता था कि रूस का जार भी आस्ट्रिया का शत्रु है अतः उसने ऐसी नीति अपनाई कि नेपोलियन और रूस परस्पर लड़कर नष्ट हो जाएँ ताकि आस्ट्रिया यूरोप का शक्तिशाली राज्य बचा रहे। मेटरनिख ने नेपोलियन को हराने के लिए रूस को आगे किया और स्वयं गुप्त रूप के शासक के दिरुद्ध दौड़ना शुरू बनाता रहा। नेपोलियन ने जब 1812 में रूस पर हमला किया तो मेटरनिख ने रूस के जार को विश्वास दिलाया कि वह किसी भी ओर से युद्ध में सक्रिय भाग नहीं लेगा पर दूसरी ओर उसने नेपोलियन की सहायता के लिए सेना तैयार रखी। वस्तुतः मेटरनिख उसी की सहायता के लिए तैयार था जिससे आस्ट्रिया को लाभ हो इसलिए उसने आस्ट्रिया की सेना को सदैव इस दृष्टि से तैयार रखा कि वह पिछड़ी दल का साथ दे सके। लिपजिग के युद्ध में उसने मित्र राष्ट्रों का साथ दिया और नेपोलियन को पराजित करने में मुख्य भाग लिया। अपनी दोहरी नीति द्वारा एक ओर तो उसने नेपोलियन को पराजित करने का श्रेय प्राप्त किया और दूसरी ओर दिग्गज व एग रूस को नहीं मिलने दिया। इसलिए वियना काँग्रेस में सब राष्ट्र मेटरनिख की मंत्री के आकाँक्षी रहे।

नेपोलियन के पतन के बाद यूरोप में कोई भी राजनीतिज्ञ ऐसा नहीं था जो मेटरनिख की बराबरी कर सकता। अतः वियना काँग्रेस में मेटरनिख ने आस्ट्रिया के गौरव को बढ़ाया। आस्ट्रिया का यह चौसलर वियना काँग्रेस का समापति बना। वियना काँग्रेस के निर्णयों पर मेटरनिख का सबसे अधिक प्रभाव रहा। नेपोलियन के पराभव के बाद भी उसके सिद्धान्तों का भय बना हुआ था। मेटरनिख समझता था कि यदि स्वतन्त्रता समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्तों का बोलबाला रहा तो आस्ट्रिया भी उनसे प्रभावित हो सकता है अतः इनके सम्भावित प्रसार को रोकने के लिए उसने वियना काँग्रेस में सक्रिय भूमिका निभाई। निरनुशात और न्याय्यता (Law & Justice) के सिद्धान्त पर बल देते हुए भी उसने यूरोपीय शान्ति सन्तुलन पर ध्यान रखा तथा ऐसी नीति अपनाई कि सभी बड़े राष्ट्रों के स्वार्थों की दृष्टासंगत पूर्ण हो सके। मेटरनिख समझता था कि बड़े राष्ट्रों में एकता बनाए रखने का यही मार्ग है। यह मेटरनिख की ही कूटनीति थी कि फ्रांस की शक्ति बहुत हद तक सीमित कर दी गई और आस्ट्रिया तथा फ्रांस के बीच ऐसी व्यवस्था कायम की गई कि फ्रांस के क्रांतिकारी विचार आस्ट्रिया में न घुस सके। मेटरनिख की कूटनीति का ही यह जादू था कि आस्ट्रिया को स्लोवाकिया, चेकोस्लाविया और हंगरी मिल गए। यूरोप के अनेक राज्यों की सीमाएँ पूर्ववत् कायम रही। प्राचीन राजवंशों की पुनर्स्थापना की तथा क्षतिग्रस्त राज्यों की क्षतिपूर्ति की व्यवस्था कराई। रूस के जार और प्रशासक के राजा पर उसका जादू छाया रहा। उसने जर्मन राज्य का संगठन किया किन्तु सघ का प्रधान आस्ट्रिया के राजा को बनाया गया। वास्तव में वियना काँग्रेस के उद्देश्य और निर्णय अधिकांशतः मेटरनिख की बुद्धि की उपज थे।

वियना काँग्रेस के निर्णयों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए मेटरनिख ने संयुक्त व्यवस्था की स्थापना की। चतुर्मुखी मंत्री को कार्यरूप में परिणत कर दिखाना उसकी ही अदम्य क्षमता थी। संयुक्त व्यवस्था के रूप में उसने एक ऐसे फायर ब्रिगेड का निर्माण करना चाहा था जो यूरोप में सर्वत्र क्रांति की ज्वालाओं को बुझा दे। इस व्यवस्था के

माध्यम से मेटरनिख ने नेपोलियन के युद्धों से जर्जरित यूरोप को शान्ति प्रदान करने की चेष्टा की। यह दूसरी बात है कि उसकी नीति से जो परिवर्तन हुए वे स्थायी न रह सके क्योंकि उनमें उदार और राष्ट्रीय भावनाओं का अभाव था फिर भी उसे यूरोप में 30 वर्ष तक शान्ति बनाए रखने में सफलता मिली।

नेपोलियन के युद्धों से जर्मनी क्षत विक्षत हो गया था फिर भी वियना कॉंग्रेस में उसने अपने समर्थकों की सहायता से जर्मनी में 39 राज्यों का एक सघ स्थापित किया। आस्ट्रियन सम्राट इसका अध्यक्ष बना। इसके साथ ही राज्य सघ में एक ससद (Diet) की स्थापना की गई जिसमें जर्मनी के सभी राजाओं द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि भाग ले सकते थे। यह व्यवस्था मेटरनिख की नीति के ही अनुकूल थी क्योंकि ससद सदस्य राजाओं के प्रतिनिधि होने के कारण निरकुश शासन और प्रतिक्रियावादी शासन के समर्थक थे। मेटरनिख ने इस व्यवस्था की सहायता से प्रजातन्त्र के समर्थकों को कठोर दण्ड दिलवाकर उनकी भावनाओं को कुचल दिया। उसने 1819 में ससद का अधिवेशन बुलाकर अपनी इच्छानुकूल दमनकारी कानून पारित कराके उन्हें सम्पूर्ण जर्मनी में लागू करा दिया। इन कठोर निर्देशों को कारण 1818 से 1849 तक जर्मनी में राजनीतिक सत्राट्टा छाया रहा। मेटरनिख के मय से जर्मनी के कुछ राज्यों के अतिरिक्त किसी भी राज्य में सौविधानिक शासन स्थापित न हो सका। मेटरनिख की दमनकारी नीति और कूटनीतिक चालों से जर्मनी में उपद्रव व आन्दोलन तो शान्त हो गए, लेकिन जर्मन जनता आस्ट्रिया से घृणा करने लगी।

मेटरनिख की दमनकारी नीति से जनता ऊपर से शान्त हो गई लेकिन भीतर ही भीतर क्रान्ति की आग सुलगती रही। प्रशा जर्मनी का एक शक्तिशाली राज्य था जो व्यापार और कला कौशल के क्षेत्र में आगे बढ़ा हुआ था। वहाँ मेटरनिख की दमनकारी नीति का प्रयोग विशेष फलदायक नहीं हो सका।

नेपोलियन की पराजय के बाद 1815 की वियना कॉंग्रेस ने इटली को फिर छोटे छोटे राज्यों में विभक्त कर दिया। अब वहाँ मेटरनिख की क्रूर स्वेच्छाचारी और निरकुश नीति का शासन स्थापित हो गया। जनता की राष्ट्रीय भावनाओं को कठोरतापूर्वक कुचला जाने लगा। पिड्मॉन्ट और नेपल्स में विद्रोह हुए किन्तु मेटरनिख ने रूस और प्रशा को अपनी ओर मिला लिया और ट्रोंपो सम्मेलन से अनुमति प्राप्त करके विद्रोहों को क्रूरतापूर्वक दबा दिया। क्रान्तिकारियों का दमन करके उसने पुनः निरकुश शासन स्थापित किया लेकिन क्रान्तिकारियों की कारबोनरी नामक गुप्त समिति अपना कार्य गुप्त रूप से करती रही। अवसर मिलने पर मोठेना टस्कनी बोलाना आदि में भयंकर विद्रोह हुए। इटली के अन्य भागों में मेटरनिख के प्रभाव के कारण शान्ति बनी रही। शनैः शनैः दमन नीति के कारण आस्ट्रिया का शासन इटलीवासियों के लिए असह्य हो गया। अतः आस्ट्रियन फौजों को वहाँ से निकालने के लिए आन्दोलन हुआ जिसे अन्ततः मेटरनिख दबा न सका।

स्पेन में भी मेटरनिख राजनय का खेल राष्ट्रवादी भावना को कुचलने का रहा। यूनानियों के स्वातन्त्र्य आन्दोलन के विरुद्ध भी मेटरनिख का घोर प्रतिक्रियावादी रुढ़ रहा। मेटरनिख के प्रभाव में आकर ही जार ने यूनानियों की सहायता नहीं की। यूरोप के दूसरे राज्यों ने भी यूनानी जनता को उनके स्वतन्त्रता सपर्ष में सहायता नहीं दी। मेटरनिख ने कहा "उपद्रव को चाहिए कि वह अपने को सम्यक्ता के दायरे से बाहर कर भ्रम कर

ले। प्रारम्भ में रूस का जार एलेक्जेंडर उदार विचारों से प्रभावित था किन्तु 1815 के बाद वह क्रमशः मेटर्निख के प्रभाव में आता गया और ट्रूपो सम्मेलन के समय उसने स्पष्ट रूप से कह दिया कि वह मेटर्निख का अनुयायी है। नेपोलियन को हराने में बड़े राष्ट्रों का जो सहयोग रहा था उसके फलस्वरूप इंग्लैण्ड के वैसलरे और आस्ट्रिया के मेटर्निख वियना सम्मेलन में सहयोगी रहे अतः यूरोप में 'यथार्थिणी' बनाए रखने के लिए चतुर्मुखी मैत्री अस्तित्व में आई। किन्तु जहाँ मेटर्निख ने सयुक्त व्यवस्था के सम्मेलनों में 'हस्तक्षेप के सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया वहीं इंग्लैण्ड ने निर्हस्तक्षेप के सिद्धान्त पर बल दिया।

मेटर्निख अपने सम्पूर्ण प्रधान मन्त्रित्वकाल में घोर प्रतिक्रियावादी बना रहा। उसने स्वयं को राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र का कट्टर शत्रु सिद्ध किया। क्रान्तियों को कुचलने के लिए और प्रगतिशील प्रवृत्तियों के दमन के लिए उसने यूरोप के देशों के आन्तरिक मामलों में खुलकर भाग लिया। लगभग 33 वर्ष तक वह सम्पूर्ण यूरोप में पुलिसमैन (Policeman) की भूमिका का निर्वहन करता रहा। जहाँ कहीं क्रान्ति हुई वह शुरन्त डण्डा लेकर पहुँच गया और क्रान्ति एवं नव चेतना को पूरी तरह दबा कर दी वहीं से लौटा। रूस का जार एलेक्जेंडर प्रथम और प्रशा का सम्राट फ्रेड्रिक आरम्भ में उदार मनोवृत्ति के शासक थे किन्तु मेटर्निख के प्रभाव में आकर ये शासक भी उसी की नीति अनुदार हो गए।

सन् 1815 से 1848 तक मेटर्निख क्रान्ति के तत्वों का दमन करता रहा परन्तु 1848 की क्रान्ति ने उसकी जड़ें हिला दीं। 1848 की क्रान्ति का समाचार सुनकर उसने कहा था—“मैं एक पुराना हबीम हूँ। मैं भली प्रकार जानता हूँ कि साध्य और असाध्य रोग में क्या अन्तर है? यह रोग प्राण घातक है।” उसका कथन ठीक ही था। मार्च 1849 में आस्ट्रिया की राजधानी वियना की सड़कें मेटर्निख का गारा हो के नारों से गूँजने लगीं। आस्ट्रिया के सम्राट ने घबराकर मेटर्निख को पदच्युत कर दिया। उसे जान बचाने के लिए इंग्लैण्ड भागना पड़ा। इस प्रकार त्रिकुश राजसत्ताधारी मेटर्निख का करुणाजनक पतन हो गया।

उसके कारुणिक पतन के बावजूद भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह तत्कालीन यूरोप का महानतम राजनीतिज्ञ था। उसके पतन के साथ ही यूरोपीय इतिहास का यह युग समाप्त हो गया जो वियना कांग्रेस के साथ प्रारम्भ हुआ था। यूरोपीय इतिहास का यह युग 'मेटर्निख युग' के नाम से जाना जाता है। इस सम्पूर्ण समय में मेटर्निख केवल आस्ट्रिया पर ही नहीं बल्कि सम्स्त यूरोप पर छाया रहा।

कैसलरे

(Castle-reigh, 1739-1822)

कैसलरे का जन्म 1739 में इंग्लैण्ड में हुआ। इंग्लैण्ड और आयरलैण्ड के मिलित क्षेत्रों में वह इंग्लैण्ड की ओर से आयरलैण्ड के लिए रोकटरी नियुक्त था। रिवल आदि देकर आयरलैण्ड के लोगों को आयरलैण्ड और इंग्लैण्ड के एकीकरण के लिए तैयार करवाने में उसका भी हाथ था। वह वैयक्तिक लोगों को कुछ असा तक धार्मिक स्वतन्त्रता देने के हक में था। वह कुछ समय के लिए युद्ध मन्त्री और फिर बस्तियों का मन्त्री रहा। सन् 1807 में उसने सेना का पुनर्संगठन किया परन्तु उसके द्वारा सेना का यह पुनर्निर्माण पुरानी सेना

के आधार पर ही किया गया था। सन् 1809 ई. में उसने अपने पद से त्याग पत्र दे दिया और कैनिंग से मुकाबला किया। 1812 ई. में वह विदेशी मन्त्री (Foreign Secretary) बन गया और 1822 ई. में आत्महत्या करने तक वह इसी पद पर रहा।

कैसलरे एक बहुत ही बुद्धिमान व्यक्ति था जिसे काल्पनिक विचार धोखा नहीं दे सकते थे और जो सीधे बात की तरह तक पहुँच जाता था। केवल राजनीतिक दृष्टि से नहीं वरन् व्यक्तिगत रूप में भी वह बड़ा दीर और साहसी था। उसने ही नेपोलियन के विरुद्ध मित्रराष्ट्रों को संगठित किया। मुख्यतः उसी के प्रयत्नों से 'राष्ट्रों का युद्ध' (Battle of Nations) आरम्भ हुआ। वाटरलू के मैदान में नेपोलियन को अन्तिम रूप से पराजित करने में ब्रिटिश सेना का निर्णायक हाथ रहा। पुनश्च नेपोलियन द्वारा आत्म समर्पण भी ब्रिटिश नौ सेना के समक्ष ही किया गया। इन घटनाओं से ब्रिटेन की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और 1814 ई. में यूरोप में होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में उसे वही स्थान मिला जो 1819 में सयुक्तराज्य अमेरिका को प्राप्त हुआ था। डॉ. विद्याधर महाजन ने लिखा है—

इंग्लैण्ड को ऊँचे स्थान पर पहुँचाने का श्रेय लॉर्ड कैसलरे को है जिसके उच्च आदर्शों ठोस व्यवहार बुद्धि और राजनीतिक कार्यों को करने की ईश्वरदत्त प्रतिभा ने उसे ऐसा करने में समर्थ किया। वह केवल अंग्रेजी पार्लियामेंट और मन्त्रिमण्डल के कार्य करने वाले अपने सह कर्मचारियों का ही विश्वासपात्र नहीं अपितु यूरोप भर के राजनीतिज्ञों की इच्छा सम्पत्तियों और विश्वास प्राप्त करने में सफल हुआ।

कैसलरे का यूरोप जाने और मित्र राष्ट्रों की राजधानियों की यात्रा करने का एकमात्र उद्देश्य इन चार बड़े बड़े राष्ट्रों को संगठित करके नेपोलियन के मुकाबले में खड़ा करना था। साथ ही साथ वह एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय सघ की स्थापना करना चाहता था जो यूरोप के राजनीतिज्ञों के सम्मुख उपस्थित समस्याओं को सुलझा सके। कैसलरे के विचार में राष्ट्रों की नीति में मतभेदों को दूर करने, युद्ध में विजय प्राप्त करने और इस प्रकार शान्ति स्थापित करने के लिए शत्रु के समने सामूहिक रूप में उपस्थित होने का सर्वोत्तम ढंग बड़े बड़े राष्ट्रों के प्रधान मन्त्रियों में विचारों का विश्वस्त और खुला आदान प्रदान था। बीसवीं सदी में तो अन्य राष्ट्रों से अपनी रक्षा करने के लिए कान्फ्रेंस बुलाकर योजनाएँ बनाने का विचार कोई नया नहीं प्रतीत होता परन्तु कैसलरे के समय में ऐसा विचार क्रान्ति मचा देने वाले किसी विचार से कम नहीं समझा जाता था। अपने इसी एक कार्य से कैसलरे इतिहास के एक महान् शान्ति स्थापित करने वाले व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

कैसलरे चार बड़े बड़े राष्ट्रों को परस्पर एक दूसरे के निकट लाने के उद्देश्य से ही यूरोप गया था और दो मास के अन्दर अन्दर की गई मार्च 1814 ई. की शामोन्ट (Chaumont) की सन्धि उसकी अत्यन्त महत्वपूर्ण और एक बड़ी भारी सफलता थी। इस सन्धि के द्वारा चारों राष्ट्रों ने युद्ध को तब तक जारी रखने की प्रतिज्ञा की जब तक फ्रेंस शान्ति का समझौता करने के लिए तैयार नहीं हो जाता। इन राष्ट्रों में से प्रत्येक राष्ट्र ने युद्ध के लिए राष्ट्र आदि देना भी स्वीकार किया। यह समझौता बीस वर्षों के लिए किया गया और मित्रराष्ट्रों ने बीस वर्षों तक फ्रेंस के द्वारा शान्ति के समझौतों की शर्तों को तोड़ने का प्रयत्न करने पर सामूहिक रूप से यूरोप की ओर से फ्रेंस के विरुद्ध लड़ने का दमन

दिया। इस सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर किए जाने के कुछ समय पश्चात् नेपोलियन को फ्रांस के सिंहासन से उतार दिया गया और अब पेरिस में समझौते की बातचीत आरम्भ हो गई।

वियना काँग्रेस में इंग्लैण्ड ने आस्ट्रिया, रूस और प्रशा के साथ मैत्रीपूर्ण भूमिका अदा की। इंग्लैण्ड को इतने ऊँचे स्थान पर पहुँचाने का श्रेय बहुत कुछ लॉर्ड कैसलरे को ही था जिसको न केवल ब्रिटिश ससद् और मन्त्रिमण्डल का विश्वास प्राप्त था बल्कि जिसे यूरोप के राजनीतिज्ञों का विश्वास प्राप्त करने में भी सफलता मिली। नवम्बर 1815 में शान्ति सन्धि को तैयार करने में कैसलरे ने बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया। ड्यूक ऑफ बैलिंग्टन, मेटरनिख तथा जार से उसे इस कार्य में विशेष सहायता मिली। इस सन्धि की एक छोटी धारा पर बाद विवाद के समय कैसलरे को अपनी योजना को क्रियात्मक रूप देने का अवसर मिल गया। इस प्रस्तावित धारा में यह उल्लेख था कि फ्रांस के बारे में विचार विमर्श करने के लिए यूरोप के राजनीतिज्ञों को समय समय पर मिलना चाहिए किन्तु कैसलरे ने इस धारा का स्वरूप ही बदल दिया और शब्दों तथा भावों की दृष्टि से उसे बहुत अधिक निखार दिया। अब धारा का नया रूप यह बन गया—

“इस सन्धि को कार्यान्वित करने के कार्य को सरल बनाने और इसकी रक्षा करने के लिए तथा ससार के लिए हितकर धारों राष्ट्री के मेल मिलाप को बढ़ाने वाले सम्बन्धों को और भी अधिक दृढ़ करने के लिए इस सन्धि में भाग लेने वाले मुख्य देश यह स्वीकार करते हैं कि वे नियत समय के बाद सम्मेलन बुलाते रहेंगे। अपने सामान्य हितों के बारे में विचार विमर्श करने के लिए और समयानुकूल आवश्यक तथा लाभदायक कदम उठाने के लिए तथा देशों को पुनः समृद्ध बनाने एवं यूरोप में शान्ति कायम रखने के लिए सम्मेलनों में या तो इन राष्ट्री के राजा अथवा उनके प्रतिनिधि भाग लेंगे।”

कैसलरे के प्रयत्नों से सन्धि में जो धारा रखी गई वह यूरोप में शान्ति स्थापित करने की दिशा में बड़ी देन थी। इसमें हमें राष्ट्रसभ और संयुक्त राष्ट्रसभ के घोषणा पत्रों की झलक मिलती है। यूरोप की संयुक्त व्यवस्था की स्थापना भी इसी धारा के आधार पर स्थापित हो सकी थी। दुर्भाग्यवश कैसलरे की यह आशा पूरी तरह साकार नहीं हो सकी कि यूरोप के विवादों को इस सन्धि की धारा के अनुसार नियन्त्रित किए गए सम्मेलन झुलझा लिया करेंगे और इस प्रकार यूरोप में शान्ति बनी रह सकेगी। सम्मेलनों द्वारा समस्याओं और विवादों का फैसला करने के महत्व को जितना अधिक कैसलरे समझ पाया था उतना अन्य कोई नहीं। संयुक्त व्यवस्था के सम्मेलनों में दूसरे राष्ट्रों से विशेषकर आस्ट्रिया से ब्रिटेन का मतभेद बढ़ता ही गया। जहाँ मेटरनिख की कूटनीति हर जगह इच्छानुसार हस्तक्षेप करने की होती थी वहीं इंग्लैण्ड की नीति यथासम्भव निर्विस्तक्षेप की थी। कैसलरे यद्यपि घतुर्मुखी मैत्री से अलग नहीं होना चाहता था किन्तु साथ ही वह इस बात पर भी दृढ़ प्रतिज्ञ था कि वह दूसरे राष्ट्रों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप की नीति को सफल नहीं होने देगा। अपनी मृत्यु के कुछ ही समय पहले वह बेरोना सम्मेलन में भाग लेने के लिए तैयार हो रहा था और यह निश्चय कर चुका था कि वह यूरोपीय राष्ट्रों को स्पेन में हस्तक्षेप करने से तथा फर्डिनेण्ड सप्तम को पुनः गद्दी पर बैठाने से रोकेगा। दुर्भाग्यवश सम्मेलन में भाग लेने से पूर्व ही उसने अलग हटकर चली किन्तु उसके उत्तराधिकारी लॉर्ड केनिंग ने उसके ही सिद्धान्तों पर अवधारण किया।

निसदेह कैसलरे यूरोप में स्थायी शान्ति स्थापित करने में तो सफल नहीं हुआ तथापि उसके सुझाव ही राष्ट्रसंघ के संविदा और संयुक्तराष्ट्रसंघ के चार्टर के आधार बने। कैसलरे की रचनाओं का बड़ी गम्भीरता से अध्ययन करने वाले इतिहास वैज्ञानिकों के द्वारा ही उसकी योग्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। 'कैसलरे की विदेश नीति' नाम की अपनी पुस्तक में दैब्लर ने कैसलरे को इंग्लैण्ड के इतिहास में सर्वश्रेष्ठ विदेश मन्त्री माना है। सीटन वाटसन (Seton Watson) ने कैसलरे को इंग्लैण्ड के इतिहास में हुए विदेश मन्त्रियों में से एक श्रेष्ठ और सम्बन्धों को बनाने वाला विदेशमन्त्री कहा है।

बिस्मार्क (Bismarck)

बिस्मार्क सम्राट विलियम प्रथम के शासनकाल में जर्मन साम्राज्य का भाग्य दिघता बना रहा और यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि कैसर विलियम द्वितीय (1888 से 1918 तक) के सत्तारुढ होने से पूर्व तक जर्मनी का शासक वास्तविक रूप से घाँसलर बिस्मार्क ही रहा। देश की गृह और विदेश नीति के निर्धारण में उसकी सत्ता और महत्ता असीमित रही।

सन् 1871 से बिस्मार्क के सम्पूर्ण राजनय का लक्ष्य नवनिर्मित जर्मन साम्राज्य को स्थायित्व और दृढ़ता प्रदान करना तथा यूरोप में जर्मनी के वर्चस्व को बनाए रखना था। जर्मनी का एकीकरण करके उसे एक सगठित और शक्तिशाली राज्य बनाने का स्वप्न वह पूरा कर चुका था और अब जर्मनी एक 'सुप्त' (Sleeping) राष्ट्र था अतः बिस्मार्क युद्ध की नीति को जर्मन साम्राज्य के लिए हितकर नहीं समझता था। इसलिए अपने शासनकाल में वह यूरोप में शान्ति बनाए रखने को प्रयत्नशील रहा। यद्यपि उसने जर्मनी का निर्माण सैनिक आधार पर किया लेकिन वह इसके लिए सशस्त्र नहीं बल्कि सभ्य था। बिस्मार्क चाहता था कि जर्मनी का एकीकरण स्थिर रहे और विकास के लिए पर्याप्त अवसर मिले। सन् 1871 से 1890 के अपने प्रधान मन्त्रित्वकाल में बिस्मार्क के राजनयिक सिद्धान्त मेटरनिख से मिलते जुलते थे। मेटरनिख के समान ही बिस्मार्क का भी प्रयत्न यही रहा कि यूरोप में स्थिर स्थिति बनी रहे वह यह भी जानता था कि यूरोप की शान्ति मुख्यतः दो कारणों से भंग हो सकती है—प्रथम फ्राँस की प्रतिशोध की मदना से एवं द्वितीय, बल्कन क्षेत्र में आस्ट्रिया तथा रूस की प्रतिद्वन्द्विता से। अतः बिस्मार्क का यह प्रयत्न रहा कि एक ओर तो फ्राँस के मित्रहीन बनाए रखा जाए और दूसरी ओर रूस तथा आस्ट्रिया से मैत्री स्थापित की जाए। अधिक स्पष्ट रूप से बिस्मार्क के राज के अथवा कूटनीति के मुख्य उद्देश्य या मूल सिद्धान्त निम्नलिखित थे—

1. सीना विलार की नीति का पालन करके यूरोप में शान्ति बनाए रखी जाए तब तक जर्मनी का ध्येय न होने जाए और उसे विकास का अवसर मिले।
2. फ्राँस को यूरोप के अन्य राज्यों से दिल्कुल अलग किया जाए।
3. यूरोप में 'स्थिर स्थिति' (Status-quo) बनाए रखी जाए।
4. जर्मनी को एक महाद्वीपीय (Continental) देश के रूप में प्रस्तुत किया जाए साम्राज्यवादी देश के रूप में नहीं।

- 5 इंग्लैण्ड आस्ट्रिया रूस और इटली—इन प्रमुख राज्यों से घनिष्ठता स्थापित की जाए, ताकि यूरोप में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखी जा सके।
- 6 फ्रांस को आन्तरिक रूप से भी निर्बल बनाए रखा जाए।
- 7 जर्मन विदेश नीति में पूर्वी समस्या को कोई महत्व न दिया जाए।
- 8 अल्तोस-लारेन से फ्रांस का ध्यान हटाने के लिए उत्तरी-अफ्रीका में फ्रांस की औपनिवेशिक आकांक्षाओं को प्रोत्साहित किया जाए।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जर्मनी को सुदृढ़ता प्रदान करने तथा उसका यूरोप में वर्चस्व स्थापित करने के उपर्युक्त उद्देश्यों से प्रेरित होकर बिस्मार्क ने अनेक उल्लेखनीय राजनयिक कदम उठाए, जिनमें प्रमुख थे—(1) तीन सम्राटों का सघ (Dreikaiserbund or Three Emperors' League), (2) द्वि-गुट निर्माण (Dual Alliance), (3) बर्लिन सन्धि एवं तीन सम्राटों के सघ को पुनर्जीवन (4) त्रि-गुट या त्रि-राष्ट्र सन्धि (Triple Alliance), (5) रूस के साथ मैत्री सम्बन्ध और पुनरावसन सन्धि (Re-insurance Treaty with Russia), (6) बिस्मार्क इंग्लैण्ड सम्बन्ध के प्रयत्न (7) आस्ट्रिया रूमानिया से मैत्री सन्धि और (8) यूरोपीय महाद्वीप तक सीमित दृष्टिकोण। तीन सम्राटों के सघ (1873) के कारण फ्रांस रूस और आस्ट्रिया का मित्र बनने में असमर्थ हो गया। यह बिस्मार्क की एक सफल कूटनीतिक चाल थी। प्रो. लैंगर के अनुसार तीन सम्राटों का यह सघ विस्तृत यूरोप में क्रान्तिकारी आन्दोलनों के विरुद्ध एक नवीन पवित्र मैत्री (Holy Alliance) थी¹ जबकि एरिख आयक के मत में इसको नवीन पवित्र मैत्री मानना अतिशयोक्ति है।² इस सघ का तात्कालिक स्वरूप जो भी रहा हो यह बहुत दिनों तक वैसा नहीं रह सका जैसा कि आरम्भ में था। 7 अक्तूबर, 1879 को आस्ट्रिया और जर्मनी के बीच जो रक्षात्मक सन्धि हुई उसे द्वि-गुट सन्धि कहते हैं। सन्धि पूर्णतः गुप्त रखी गई। वास्तव में यह सन्धि मुख्यतया रूस के विरुद्ध और गीण रूप से फ्रांस के विरुद्ध रक्षात्मक सन्धि थी। बिस्मार्क की नीति से अन्तर्राष्ट्रीय गुट-निर्माण का यह सिलसिला शुरू हुआ जो प्रथम महायुद्ध के आरम्भ तक यूरोपीय कूटनीतिक क्षेत्र में अपना विशेष प्रभाव जमाए रहा। 18 जून 1881 को बिस्मार्क के प्रयत्नों से एक बार फिर 'तीन सम्राटों के सघ' या त्रि-राज्य सघ को पुनर्जीवन मिला। इस सन्धि के सम्पन्न होने पर 1881 तक यूरोप में बिस्मार्क की स्थिति सुदृढ़ हो गई। सन्धि के तीन तात्कालिक परिणाम स्पष्ट दिखाई दिए—(1) यूरोप के क्रान्तिकारी आन्दोलनों के विरुद्ध तीन राजतन्त्रों में एकता स्थापित हो गई (2) आस्ट्रिया एवं रूस के बीच शान्ति सुरक्षित हो गई तथा जर्मनी अपने दो पड़ोसियों में से एक का चुनाव करने की कठिन स्थिति से बच गया एवं (3) रूस तथा फ्रांस के बीच मित्रता की सम्भावना समाप्त हो गई। 1885-87 के 'बल्गेरियन संकट' के समय इस 'त्रि-सम्राट सघ' का अन्त हो गया। 20 मई 1882 को आस्ट्रिया जर्मनी और इटली के बीच एक सन्धि हुई। इन तीनों देशों के गुट को त्रि-गुट सन्धि (Triple Alliance) कहा गया। यह बिस्मार्क के कूटनीतिक कमाल का सबसे बड़ा नमूना कहा जा सकता है। इसके द्वारा बिस्मार्क ने आस्ट्रिया और इटली जैसे परस्पर विरोधी राज्यों को आपस में मिलाए रखा और इस तरह फ्रांस को किसी भी राज्य

1 William Langer *European Alliances and Alignments* p. 25

2 Arich Eyck *Bismarck and the German Empire*, p. 191

सन् 1871 से लेकर 1890 तक बिस्मार्क यूरोपीय राजनीति पर छाया रहा लेकिन इस सम्पूर्ण समय में उसने यूरोप में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने का प्रयत्न किया। बिस्मार्क ने कहा था— 'जर्मनी पूर्ण रूप से एक सन्तुष्ट राष्ट्र है। यद्यपि युद्ध द्वारा जर्मनी को राष्ट्रीय एकता और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रधानता मिली है किन्तु यदि जर्मनी पुनः युद्ध का मार्ग ग्रहण करेगा तो उसकी सारी सफलताएँ नष्ट हो जाएँगी। युद्ध होने से यूरोप की सारी शक्तियाँ सम्मिलित होकर जर्मनी के विरुद्ध खड़ी हो जाएँगी और फलस्वरूप जर्मनी की आन्तरिक सुरक्षा भी जो उसके राजनीतिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है काफूर हो जाएगी। इसलिए जिस प्रकार कि आस्ट्रिया में 1815 के बाद मेटर्निख की यह नीति थी कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनी रहे उसी प्रकार 1870 से 1890 तक बिस्मार्क की भी यही नीति रही कि जर्मनी के हित में अन्तर्राष्ट्रीय यथास्थिति (Status quo) बनी रहे। बिस्मार्क ने विद्या में स्थापित शक्ति सन्तुलन में कई बार गड़बड़ की थी वही बिस्मार्क अब उस शक्ति सन्तुलन का सरसकट धा जो कनिग्रेज (Koniggratz) और सेडान (Sedan) में स्थापित किया गया था। बिस्मार्क को फ्रांस से डर था अतः फ्रांस को कूटनीतिक दृष्टि से अकेला करने के लिए और जर्मनी को सुरक्षित बनाने के लिए बिस्मार्क ने कुछ देशों के साथ विस्तृत कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किए और यह प्रयत्न किया कि जर्मनी के विरुद्ध किसी भी तरह का कोई गुट न बन सके। जर्मनी की शत्रुता फ्रांस से थी और बिस्मार्क की कूटनीतिक सफलता इसी में थी कि वह फ्रांस को कूटनीतिक रूप से अकेला कर दे। इस दिशा में उसने आस्ट्रिया से प्रगाढ़ मैत्री स्थापित की और इटली को भी अपनी ओर मिला लिया तथा रूस से भी मैत्री कर ली। उपर उसने ब्रिटेन से भी अच्छे सम्बन्ध बनाए रखे। फलस्वरूप बिस्मार्क अपने पतनकाल तक अपने छन उद्देश्यों की रक्षा कर सका जो नवीन जर्मन साम्राज्य का चौसलर बनते समय उसने अपने मन में सजोये थे।

बिस्मार्क ने जर्मनी के लिए एक गुल्मीदार सुरक्षा की व्यवस्था की जिसमें सन्धियों और सन्धियों के विरोध में नई सन्धियाँ थीं। बिस्मार्क ने बड़ी बुद्धिमत्ता से इसका ताना बाना बना फिर भी वह जानता था कि युद्ध को हमेशा के लिए नहीं रोका जा सकेगा अतः उसने जर्मनी की सैनिक शक्ति को खूब बढ़ाया और उसे यूरोप के एक सबसे शक्तिशाली राज्य के रूप में परिणत कर दिया। बिस्मार्क ने अपने पतन के समय तक जर्मनी के प्रभुत्व की रक्षा की अपनी सन्धि व्यवस्थाओं का संचालन किया अपने देश के विरुद्ध किसी शक्तिशाली गुट को उभरने नहीं दिया और यूरोप को स्थायित्व देते हुए अपनी पीढ़ी में शान्ति बनाए रखी।

यह सब कुछ होने पर भी बिस्मार्क की व्यवस्था में कुछ गम्भीर कमियाँ और दोष थे जिनका वर्णन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है—

(1) जर्मनी आस्ट्रिया और रूस के गुट परस्पर विरोधी तत्व थे अतः रूस जर्मनी से निरन्तर दूर होता गया और आस्ट्रिया तथा रूस में तो मित्रता बनी रहने की बात ही नहीं थी।

(2) बिस्मार्क की व्यवस्था की आधारशिला कमजोर थी। उसने इंग्लैंड को उतना अधिक महत्व नहीं दिया जितना देना चाहिए था। जर्मनी की सुरक्षा व्यवस्था में अथवा

जर्मनी की नैत्री सन्धियों में इंग्लैंड का कोई स्थान न होना जर्मनी के लिए दुःखपूर्ण सिद्ध हुआ।

(3) बिस्मार्क ने कुछ समय के लिए प्रान्स का पृथक्करण कर दिया लेकिन उसने न तो प्रान्स के हान को दूर करने की कोशिश की और न उसका निरास्तरीकरण ही किया। प्रान्स के साथ व्यवहार करने में बिस्मार्क ने उद्दरदर्शन से काम किया यदि उसने अल्पसंख्यक की प्रति प्रान्स के साथ ही उदारता का व्यवहार किया होता तो सम्भवतः प्रान्स सेठान की परजय भूल जाता। बिस्मार्क ने प्रान्स के विरुद्ध सन्धियों का जाल पकड़ कर दिया, उन्हें प्रान्स को ही अपने लिए पित्रों की छत्र कनी नहीं जिससे अन्तर्गत उनकी व मुक्तता पहुँच।

(4) बिस्मार्क ने इटली को अपनी व्यवस्था में सम्मिलित स्थान नहीं दिया।

(5) बिस्मार्क की सन्धियाँ सुश्रुतक थीं लेकिन एक दिस्पैटिक दायरा में दोनों पक्षों की सुश्रुतक सन्धियों का अन्तर्गतक सन्धियों में परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक था। सन्धियाँ और नैत्री दूतों में पहले से होती रहती थीं लेकिन फिरकर युद्ध के समय। राष्ट्र के समय एक देश को दूसरे देश के विरुद्ध तैयार करना अथवा किसी देश को एक ही और निरन्तर बनाना बिस्मार्क ने शुरु किया। परिवर्तन यह हुआ कि विदेशों ने बिस्मार्क की सन्धियों के विरुद्ध प्रति सन्धियों बना लीं और इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोप दो सैनिक विदेशों में विभाजित हो गया।

(6) गुप्त दूतनीति (Secret Diplomacy) और गुप्त सन्धियाँ (Secret Alliances) द्वारा बिस्मार्क ने यूरोप के राजनीतिक दायरा को आरक्षण, अनिश्चितताओं और सन्देहों से भर दिया।

जब तक बिस्मार्क जर्मनी का बतल रहा सब कुछ ठीक से चलता रहा लेकिन उसकी नीतियों को उसके उत्तराधिकारी मुश्किल रूप से नहीं चला सके। फल यह हुआ कि बिस्मार्क के छोड़ ही उसकी व्यवस्था ही छिन्न छिन्न होने लगी। बिस्मार्क के उत्तराधिकारी उसकी नीतियों का अनुसरण नहीं कर सके। इसका परिणाम यह निकला कि उस जर्मनी ने शुरु हो गया और प्रान्स के पक्ष में युद्ध गया। यह बिस्मार्क की प्रान्स को एक ही बना रखने और प्रान्स रुक गया। न होने देने के कारण ही दुःखदर्दी पराजय थी।

दुधरी विलसन

(Woodrow Wilson, 1913-21)

दुधरी विलसन एक मध्यमवर्गीय और अदरभूत होते हुए भी लिबन के बाद सबसे पहले अमेरिकी राष्ट्रपति और विश्व राजनीतिक नेता था।

विलसन राजनीति शस्त्र का प्रशिक्षण था। अतएव वह शिष्ट था। उसने अमेरिकी प्रान्स पर विरुद्ध ग्रन्थ लिखे थे। उसने पूर्व लिबन (O. J. Tappan) फोटो के 'दैनिक' नाम का पत्रिका के सम्पादक के रूप में काम किया था। लिबन की नीति यह समय के साथ अपने उत्तराधिकार के योग्य सिद्ध हुआ।

विलसन शान्ति के कारण में विश्वास करता था, सन्धियों को दर्ज के कारण द्वारा सुझाने का पक्ष था। वह अदरभूत था। वह दूसरी बार वह राष्ट्रपति चुना गया पर

उरो इस बात की गम्भीर चिन्ता थी कि विश्व की तनावपूर्ण स्थिति को देखते हुए अमेरिका को तटस्थता के पायदान पर नहीं रखा जा सकता था। विल्सन शान्ति का समर्थक था। वह अर्द्धी तरह जानता था कि विश्व युद्ध में अमेरिकी प्रदेश से अमेरिकियों की विचारधारा दर्शन एवं साहित्य पर युद्धप्रियता का गहरी प्रभाव पड़ेगा। विल्सन ने अमेरिकी प्रस्तावों को शान्ति के लिए प्रस्तुत किया जिन्हें यूरोपीय शक्तियों ने अस्वीकार कर दिया। अमेरिका ने तटस्थता की घोषणा की। 4 सितम्बर 1914 को कॉंग्रेस के नाम अपने राजनयिक सन्देश में विल्सन ने कहा कि— 'यह स्थिति हमारे द्वारा निर्मित नहीं है लेकिन यह हमारे सामने है। यह हमें प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है मानो हम उन परिस्थितियों के मागीदार हैं जिन्होंने इसे जन्म दिया। हम इसका भुगतान करेंगे यद्यपि हमने जानबूझकर इसे जन्म नहीं दिया है।' अमेरिका महायुद्ध से अछूता नहीं रह सकता था फिर भी 1914 में कोई अमेरिकी नहीं जानता था कि उन्हें युद्ध में सलग्न होना पड़ेगा। जब जर्मनी की यू बोटों (U Boats) ने अतियन्त्रित युद्ध शुरू कर दिया तो जर्मनी के विरुद्ध अन्तिम शक्तिशाली तटस्थ देश अमेरिका भी युद्ध में प्रविष्ट हो गया। 2 अप्रैल 1917 को विल्सन ने कॉंग्रेस को अपना प्रसिद्ध सन्देश भेजा जिसमें उसने अपने देश को सलाह दी कि यह युद्ध में प्रवेश करे और विश्व की लोकतन्त्रीय शक्तियों की रक्षा करे। उक्त सन्देश में उसने कहा "जिन सिद्धान्तों को हम द्वय से चाहते हैं उनकी रक्षार्थ हम अवश्य लड़ेंगे। हम लोकतन्त्र की रक्षा करेंगे। हम उन लोगों के अधिकारों की अवश्य रक्षा करेंगे जो किसी न्यायपूर्ण सत्ता का आदर करते हैं और इस प्रकार अनुशासन में रहकर अपने शासन में कुछ अधिकार चाहते हैं। हम सभी छोटे राष्ट्रों के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की आवश्यक रक्षा करेंगे। हम अवश्य चाहेंगे कि सारे संसार में स्वतन्त्र लोगों को न्यायपूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त रहे जिससे सभी देशों में शान्ति और सुरक्षा बनी रहे और इस प्रकार का सारा विश्व स्वतन्त्र रहे। आज अमेरिका के साम्राज्य से वह दिन आ गया है जबकि हमारे नागरिक अपना रक्त और अपनी शक्ति उन सिद्धान्तों की रक्षार्थ व्यय करेंगे जिनके आधार पर अमेरिका का जन्म हुआ था जिनके आधार पर अमेरिका को सुख और समृद्धि प्राप्त हुई थी तथा वह अमूल्य शान्ति प्राप्त हुई जिसे वह अत्यन्त महत्व की दृष्टि से देखता आया है।"

शान्तिप्रिय विल्सन विवश था। अमेरिका के भविष्य के लिए यह अत्यन्त महत्व की बात थी कि उसे ऐसा व्यक्ति राष्ट्रपति के रूप में मिला था जिसने इस युद्ध के आधार को नोक्स और सुधार की सझा में परिणत कर दिया। 17 जनवरी 1917 के भाषण का एक अंश उसकी सम्पूर्ण मान्यता के प्रति संवेदनशील विचारों को अभिव्यक्त करता है—

"बिना किसी पक्ष की विजय के शान्ति प्रत्येक जाति के लिए आत्म निर्णय का सिद्धान्त सामुद्रिक स्वतन्त्रता अस्त्र शस्त्रों का परिसीमन उत्खनन वाली सन्धियों का उन्मूलन तथा आक्रमण की रोक के लिए सामुहिक सरक्षण की व्यवस्था।"

2 अप्रैल को विल्सन ने कॉंग्रेस के सामने उपस्थित होकर युद्ध की घोषणा करने की अनुमति माँगी। "इस महान् शान्तिपूर्ण जनता को युद्ध की ओर—जो सबसे अधिक भयानक और विध्वंसक युद्ध है—ले जाना भयावह बात है। सम्यता स्वयं भी सकट के पलड़े में झूल रही है किन्तु न्याय शान्ति की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् है और हम ऐसी वस्तुओं के

लिए लड़ेंगे जो हमें अत्यधिक प्रिय रही हैं। लोकमन्त्र के लिए ऐसे लोगों के अधिकारों के लिए जो शासन का इसीलिए मान करते हैं कि अपनी सरकार में उनकी सुनवाई हो, छोटे राष्ट्रों के अधिकारों और स्वतन्त्रता के लिए लोगों को ऐसे संगठनों द्वारा विश्व के न्याय शासन के लिए जो सभी राष्ट्रों को शान्ति और सुरक्षा दिलाए और अन्त में सर्व विश्व को स्वतन्त्र बना सकें। ऐसे ही लोग कार्य को अपना जीवन और अपना सर्वस्व समर्पित कर सकते हैं। इस उन्मिदन के साथ कि वह दिन आ गया है जब अमेरिका को अपना रक्त और अपनी शक्ति अपने सिद्धान्तों के लिए जिन्होंने उसे जन्म और सुख-शान्ति दी है जिसे उसने सुरक्षित रखा है खर्च करनी चाहिए यदि ईश्वर की कृपा रही तो वह इसके अतिरिक्त और कुछ कर भी नहीं सकता।”

युद्ध के पराजय, बड़े दित्तन को पराजय का सामना करना पड़ा हो और बड़े मन्त्र के दाल्दिकतावादियों ने उसकी बहुत आलोचना की हो उसका मन्त्र अमेरिकी इतिहास एवं राजनीति को मोड़ देने वाला था। उसका हृदय से निकलने वाले शब्द इतने मर्मिक थे कि सारा राष्ट्र उसकी आवाज पर तन रहा। पर प्रजातन्त्र की बर्बरता पर सम्झना की विजय के लिए युद्ध में क्रूर पड़ा। समुद्र पार के देशों में वह न केवल एक अद्वितीय महपुरुष के रूप में प्रकट हुआ बल्कि एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में पहचाना जाने लगा, जो विश्व में शक्तिशाली सुखद व व्यदस्थित जीवन की रक्षा के लिए अवतरित हुआ हो।¹

नेविन्स एवं वॉनेजर के शब्दों में—“शक्ति अधिक शक्ति शक्ति बिना किसी स्वायत्त या सीमा के वह वचन राष्ट्रपति विलसन ने दिया था और राष्ट्र इस वचन की पूर्ति के लिए अदिलम्ब कार्यरत हो गया। इसके पूर्व की किसी सरकार ने युद्ध में इससे अधिक बुद्धिमानी और कार्यक्षमता नहीं दिखाई थी। इसके पूर्व अमेरिका वसियों ने भी ऐसी सूर्य सम्पन-सम्पन्नता और अदिक्रूर बुद्धि का प्रदर्शनी प्रदर्शन नहीं किया था।” बिना विजय की शान्ति युद्ध का नारा बन गया था।²

युद्ध-विजय सन्धि के पराजय विलसन जब अपने सचिव की सलाह न मानकर दिसम्बर, 1918 में पेरिस शान्ति सम्मेलन में पहुँचा तो उसका ‘शान्ति के मसीहा’ के रूप में स्वागत हुआ। यूरोप में उस समय यह मन्त्रन दिव्यमान थी कि वेदल विलसन ही ऐसा व्यक्ति हैं जो विभिन्न राष्ट्रों के रंग द्वेष और उनकी ईर्ष्या-मन्दन से ऊपर उठा हुआ एवं मन्दता का रसक है। अतः जब यह दार्शनिक राजा अपने सिद्धान्तों की पुष्टि रूप में लेकर सैनिक शक्ति से लैस सन्धि की शर्तें निर्धारित करने आया तो यूरोप के सभी देशों में उसका अमूल्य स्वागत हुआ। जब वह पेरिस पहुँचा तो प्रसिद्धि उसे देखकर आनन्द-विभोर हो उठे। सबको पर ऊपर उन सन्धियों ने उनकी स्तुति की और ऊपरतों ने उसके गुणान विर। सम्भव है सभी की आँखें उसकी ओर लगी थीं। विजयी न्याय की दिशि दय की और सम्मन्य जन शक्ति की आका करते थे।

विलसन इस सम्मेलन में शान्ति का दीप बनकर आया था। वह नहीं चाहता था कि पेरिस सम्मेलन 1815 के विजय वॉनेज जैसे निहित स्वार्थों का गढ़ बन जाए।

1 डॉ. वॉनेज - पृष्ठ 243

2 *Neutrality Conference* 1918 and related documents, p. 21-22

3 *नेविन्स एवं वॉनेजर* सन्ध्या 1920 का इतिहास पृ. 243

विल्सन ने अपने विचारों को प्रसिद्ध 14 सूत्रों (Fourteen Points) के रूप में प्रस्तुत किया जिन्हें आधार पर न्यायपूर्ण और स्थायी शान्ति स्थापित हो सकती थी। विल्सन खुले राजनय का पक्षधर था और उसके 14 सूत्रों में प्रथम सूत्र यही था कि—शान्ति के समझौते सार्वजनिक रूप से किए जाएंगे, कोई गुप्त समझौता नहीं होगा। इन सिद्धान्तों की मित्रराष्ट्रों के राजनीतिज्ञों ने भी सराहना की थी। उनके पास युद्धोत्तर समस्याओं का समाधान करने के लिए उपरोक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त और क्या था? और पराजित राष्ट्रों ने भी इन सिद्धान्तों के प्रति अपनी सहमति प्रकट की परन्तु अदरॉ एव सिद्धान्तों की अन्ततः शान्ति पूजक राष्ट्रों के सामने कुछ न चल सकी। इस सम्मेलन में भी राष्ट्रवादी विचारों व्यक्तिगत स्वार्थों का बोतबाला रहा जिनका विद्यमान कॉंग्रेस (1815) में भी प्राधान्य रहा था। फ्रांस का क्लेमेन्सो और इंग्लैंड का जॉर्ज लॉयड दोनों ने ही विल्सन पर अपनी हठबद्धता को धोपने में सफलता प्राप्त की। इस सम्मेलन में विल्सन अकेला पड़ गया था। विद्यमान कॉंग्रेस के परधत्त यूरोप में इस प्रकार इतने विशाल पैमाने पर विश्व स्तर का कोई सम्मेलन नहीं हुआ था।

मिन्सटन में राजनीति दर्शन का यह मूलपूर्व प्रोफेसर एक प्रतिभाशाली वक्ता तथा आदर्शवादी विचारक था। वह कठोर विश्वासों का व्यक्ति था जिसमें राजनीतिक दूरदर्शिता तो उच्च कण्ठ की थी लेकिन इतनी कूटनीतिक योग्यता नहीं थी कि वह अन्य प्रतिनिधियों को पराजित राष्ट्रों के साथ उदार व्यवहार के लिए तैयार कर सके। स्ट्रेज़ार्ड बेकर के शब्दों में “जिस किसी ने भी उसको (विल्सन को) काम करते देखा उसकी कभी हिम्मत नहीं हुई कि वह विल्सन के रामक्ष अथवा उसकी पीठ पीछे निन्दा करने का साहस करता।” विल्सन का यह विश्वास था कि राष्ट्रसंघ की स्थापना से ही मानव जाति की रक्षा हो सकती है अतः वह इसे सब शान्ति साधियों का अनिवार्य अंग बनाना चाहता था। किन्तु वह मानसिक दृष्टि से लॉयड जॉर्ज तथा क्लेमेन्सो के समान कुशाग्र नहीं था और अपने पूर्व निर्धारित विचारों पर विशेष रूप से भरोसा रखता था अतः वह कूटनीति के क्षेत्र में और राजनीतिक सौदेशिकी के नौ सिखिया के रूप में सिद्ध हुआ। उसके आदर्शवाद और राष्ट्रसंघ की स्थापना के अत्यधिक उत्साह का दूसरे देशों ने पूरा लाभ उठाया। अन्य देश राष्ट्रसंघ के निर्माण की बात मान ले इसके लिए विल्सन सब कुछ त्यागने के लिए तैयार था यहाँ तक कि राष्ट्रसंघ के लिए वह अपने 14 सूत्रों के अनेक सिद्धान्तों की अपहेलना करने के लिए भी तैयार हो गया। पॉल बर्ड्सल (Paul Birdsall) के कथनानुसार वह क्षतिपूर्ति की समस्या के अतिरिक्त अन्य प्रश्नों पर ब्रिटेन, फ्रांस और जापान विल्सन से राष्ट्रसंघ के नाम पर प्रायः अपनी अधिकांश बातें मनवाने में सफल हुआ। चीनी जनता द्वारा बास हुआ शाण्डुङ्ग का प्रदेश विल्सन के आत्म निर्णय के सिद्धान्त के आधार पर चीन को मिलना चाहिए था किन्तु विल्सन ने राष्ट्रसंघ की स्थापना के लिए अन्य महारक्तियों का सहयोग प्राप्त करने की इच्छा से इसे जापान को देने का निर्णय किया। यह निर्णय स्वयमेव विल्सन द्वारा अपने सिद्धान्तों पर कुठारघात था। फिर भी पेरिस सम्मेलन में यदि पराजितों के साथ थोड़ी नरमी बरती गई तो वह विल्सन के कारण ही। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि विल्सन सम्मेलन में न होता तो लॉयड जॉर्ज और क्लेमेन्सो न जाने क्या से क्या कर देते।

विल्सन ही उनकी असीम आर्कोटाओं घर अकुरु लगाता रहा । यदि विल्सन न होता तो फ्रांस जर्मनी का नामोनिशान मिटाकर ही दम लेता ।

विल्सन के दो उद्देश्य थे प्रथम न्यायपूर्ण समझौता जिसके अनुसार आत्म निर्णय के सिद्धान्त पर राष्ट्रों की सीमाओं का निर्धारण हो ताकि परस्पर शान्ति स्थापित हो सके । द्वितीय राष्ट्रसंघ की स्थापना । पहले उद्देश्य में वह सफल नहीं हुआ क्योंकि जो शान्ति की गई वह थोपी हुई शान्ति थी न कि आत्म निर्णय के आधार पर या समझौता वार्ता की शान्ति । परन्तु उसे दूसरे उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुई । राष्ट्रों के संघ का विचार मौलिक नहीं था और कई देशों में कई लोगों ने इस विचार को स्पष्ट करने में योगदान दिया था किन्तु जिस राष्ट्रसंघ (League of Nations) की अन्तिम रूप से स्थापना की गई थी वह विल्सन की ही सृष्टि थी और उसके आदर्शों का मन्दिर था ।¹

कुछ विद्वानों का विचार है कि विल्सन ने स्वयं पेरिस में आकर एक भारी भूल की। यदि वह वार्शिंगटन में रहकर ही अमेरिकन प्रतिनिधियों को आदेश देता रहता तो बहुत सम्भव था कि उसका प्रभाव अधिक व्यापक होता, पर विल्सन को सर्वाधिक विन्ता राष्ट्रसंघ की थी और उसकी अनिलाशा थी कि विश्व सन्ध्या के दिग्गज का निर्माण वह स्वयं करे। लेकिन अमेरिकन सीनेट ने विल्सन के राष्ट्रसंघ की सदस्यता के प्रस्ताव को नहीं माना। सन् 1918 में काँग्रेस के चुनावों में विल्सन विरोधी रिपब्लिकन दल को काँग्रेस के दोनों सदन में बहुमत प्राप्त हो गया और सीनेट ने राष्ट्रसंघ के दिग्गज एव दसराय की सन्धि को स्वीकार करने के मतविदे को रद्द कर दिया। यह मानवता के एक महान् पैगम्बर का दुःखमय परामर्श था।

तेल्लेरी

(Tallaron 1724 1838)

फ्रांस में उत्पन्न अग्रणी चतुर व्यक्तियों में तेलेरी का स्थान प्रथम पक्ति में लिया जाता है। वह क्रान्तिकाल (1788-99) में बहुधर्चित प्रमुख व्यक्तित्व था। वह नेपोलियन के राज्य में तथा सम्राट के आसीन होने पर किसी न किसी पद पर काम करता ही रहा। वह समस्त वर्ग का था और धर्म का सदस्य भी था। एडे सिकार ने जिस निष्पक्षता से 1789 के पदासीन ।। दिशों का मूल्य-कन किया है उनमें से केवल 15 को उसने सदाशरी धर्माधिकारियों में गिनाया है और रेहन डीएन तथा तेलेरी जैसे बड़े बड़े धर्माधिकारियों की उसने निन्दा की है। अनेक निष्पक्ष लेखकों ने एडे सिकार के मूल्य-कन से सहमति व्यक्त की है।

तेलैरों बहुत घतुर और चलाक व्यक्ति था। राजनय का कुशल खिलाडी था और परिस्थितियों के अनुसार चलाकी से अपनी स्वनिर्णय दबल लेता था। वह अवसरवादी राजनय में दिखस करता था। क्रान्तिकाल में राष्ट्रीय सभा (नेशनल असोसिएशन) के निर्माण के बाद जब 14 जून 1949 को पदरियों ने दृष्टीय स्टेट के साथ मिल जाने का फैसला किया तो आर्क दिशाप तेलैरों ने क्रान्ति को अपने पक्ष में मोड़ने का असफल प्रयास किया। प्रो. बलकृष्ण पन्नी ने लिखा है—

“19 जून को उग्र विचार विमर्श के बाद पादरियों ने 137 के विरुद्ध 149 के बहुमत से जिनमें छ बिशप एव आर्क बिशप थे जन साधारण के साथ बैठने का फैसला किया। 19 जून क्रान्ति के इतिहास की निर्णायक तिथि कही जा सकती है क्योंकि इसी दिन पादरियों ने क्रान्ति की ओर मुड़ने वाला ऐतिहासिक कदम उठाया। कुलीनों में अभी भी प्रतिक्रियावादी तत्वों का प्रभाव अधिक था लेकिन उनमें फैली अव्यवस्था और फूट स्पष्ट होने लगी थी। एक दूसरे को घेतावणियों और धमकियों दी गईं और कुछ ने अपनी म्यानों से तलवारे तक निकाल लीं। इस तनावपूर्ण स्थिति में आर्क बिशप तेलेरी ने क्रान्ति को अपने पक्ष में मोड़ने का असफल प्रयास किया। क्रान्ति के इतिहास में तेलेरी जैसा भ्रष्ट एव अवसरवादी कोई अन्य चरित्र नहीं ढूँढा जा सकता। टैनिक कोर्ट की ऐतिहासिक राय की पूर्व रात्रि (19 जून) को यह मारल (जहाँ इस समय राजपरिवार रह रहा था) आया तथा राजा से गुप्त मुलाकात की प्रार्थना की। घूँक राजा उसे पसन्द नहीं करता था अतएव उसने उसे अपने भाई की ओर भेज दिया। कोर्ट दे आरतुआ ने विस्तर में होने पर भी उससे मुलाकात की। तेलेरी ने ‘समा के कार्यों को मूर्खतापूर्ण खतरनाक राजतन्त्र विरोधी तथा गैर कानूनी बताया और उसने उसे सलाह दी कि सरकार को दृढ़ता का परिचय देते हुए एता जेनेरो (स्टदस जनरल) को भग कर देना चाहिए। तेलेरी ने अपने समर्थकों के साथ मिलकर नया शासन स्थापित करने का प्रस्ताव भी दिया। परिवर्तित मताधिकार द्वारा नए निर्वाचन की योजना भी उसने बताई। उसने इस बात पर रोष और खेद प्रकट किया कि निर्बल व्यवस्था ने राष्ट्र को सिए के हाथों में फँक दिया है। कोर्ट दे आरतुआ ने तुरन्त लुई 16वें के कक्ष में जाकर सारी योजना उसके सामने रखी परन्तु राजा ने साफ इन्कार कर दिया। तेलेरी ने निराश होकर लौटते हुए इतना सकेत अवश्य कर दिया कि हर व्यक्ति को अपने हितों के अनुकूल परिवर्तित होने की स्वतन्त्रता है। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तेलेरी पर अवसरवादिता का आरोप लगाया जाता है।

तेलेरी गुप्त और नाटकीय राजनय में कुशल था। उसका व्यवहार बड़ा नाटकीय और कभी कभी प्रमादशाली भी होता था। वह पक्का अवसरवादी था और घूर्ततापूर्ण घालाकी के कारण वह लगभग 50 वर्ष तक फ्रांस की राजनीति से सम्बन्धित रहा। क्रान्ति काल में तेलेरी ने ‘सशोधित धर्म का पिता बनना स्वीकार कर लिया और 24 फरवरी 1791 को उसका अन्य सौविधानिक बिशपों का शुद्धि संस्कार बड़े ठाठ श्राव के साथ किया गया। एक राजनयज्ञ और एक आध्यात्मिक अधिकारी गुरु—दोनों ही रूपों में तेलेरी ने अपना राजनयिक कौशल दिखाया। जब 14 जुलाई 1790 को वास्तील के पतन की वर्षगाँठ मनाई गई तो एक विशाल घल समारोह का आयोजन किया गया और तिरगे लबादे तथा सफेद बस्त्र धारण किए सैकड़ों पुजारियों ने नए धर्म के पिता तेलेरी के साथ धार्मिक गीत गाए। 14 जुलाई 1797 की पुनर्गठित मन्त्रि परिषद् में तेलेरी ने विदेश मन्त्री पद प्राप्त कर एक कुशल राजनयज्ञ के रूप में अपने को प्रतिष्ठित किया।

फ्रांस के महान् राजनयज्ञ तेलेरी और फ्रांस के राजनय पर टिप्पणी करते हुए डॉ. राय ने लिखा है—

रिशालू और कैलियर्स ने जहाँ राजनय के सिद्धान्तों की स्थापना की वहीं तेलेरी ने फ्रांस की क्रान्ति तथा नेपोलियन के बाल में राजनय का वास्तविक प्रयोग किया। तेलेरी

राज्य शिल्प का विशेषज्ञ था। यह उसकी राजनयिक योग्यता का ही परिणाम था कि उसने यूरोपीय राज्य व्यवस्था का पुनर्निर्माण कर समुक्त यूरोप की स्थापना की। तैलेरों एक कुशल एवं निष्ठावान वार्ताकार था। वह समस्या के समाधान के लिए अपनी सम्पूर्ण योग्यता व शक्ति लगा देता था। यह तैलेरों की राजनयिक योग्यता कुशलता और निपुणता ही थी कि उसने ब्रिटेन और आस्ट्रिया को रूस तथा प्रशा का डर बैठकर फ्रांस के हितों को आग बढ़ाया। यूरोपियन समत्व को बनाए रखने के लिए उसने यूरोपीय व्यवस्था का जो नया चित्र खींचा वह 'राजनयिक इतिहास की बहुत तानकारी उपलब्धि है। नेपोलियन महान् तैलेरों का प्रशंसक था। आज भी तैलेरों द्वारा लिखित सामग्री का अध्ययन किया जाता है। कुछ लोग तो सकल राजनय और तैलेरों को समानार्थक मानते हैं।

इस प्रकार रिशलू से लेकर फ्रांस की क्रान्ति के काल तक फ्रांस का राजनय यूरोप का पथ-प्रदर्शक रहा है। निक्ल्सन के शब्दों में "फ्रांसीसी राजनय शिष्ट और सम्माननीय था।" यह सत्परी और अनुक्रमिक था। यह नैतिकता प्रधान था। यह ज्ञान और अनुभव को महत्व देता था। इसने दयार्थ को महत्व दिया। इसके अतिरिक्त इसने सद्भाव, स्पष्टता और परिशुद्धता को किसी भी दिग्दर्शक वार्ता के लिए आवश्यक बताया। इस काल में सन्धि-वार्ता ने कला का रूप धारण कर लिया था। इस प्रकार एक लम्बे समय की राजनयिक परम्पराओं ने फ्रांसीसी राजनय को यूरोपीय तथा विश्व राजनयिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान देने में सहायता दी। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के विश्व राजनय को फ्रांस द्वारा ही दिशा दी गई थी। निरन्तर प्रयासों के फलस्वरूप फ्रांस ने एक केन्द्रीय विदेश व्यवस्था की स्थापना की जिसके माध्यम से राज्य को अपने उद्देश्य प्राप्ति में सहायता मिली।

वी.के. कृष्ण मेनन

(V. K. Krishana Menon)

प्रधानमंत्री नेहरू के समय भारत के विख्यात विदेश मंत्री वी के कृष्ण मेनन अपने समय के महान् राजनयज्ञ थे जो आवश्यकतानुसार गुप्त और खुले राजनय का प्रयोग करते थे और जिनके भाषण की भूमि प्रायः वाद विवाद प्रतियोगिता वाली होती थी। डॉ. पुष्पेश पन्त ने भारत और पाक राजनयिक शैलियों के टकराव का चित्र उपस्थित करते हुए मेनन और मुद्रो के राजनय को प्रकट किया है।¹

सुरक्षा परिषद में घण्टों बोलते-बोलते बेहोश हो जाने के बाद कृष्ण मेनन रातों-रात करोड़ों भारतीयों के लालते बन गए थे। श्री वी के कृष्ण मेनन की दिव्य वक्तृता पर फिर मुद्रो की नटकीय और टीखेपन पर कुछ विश्लेषणात्मक टिप्पणियाँ डॉ. पुष्पेश ने दी हैं जो इस प्रकार हैं—

। मेनन ने मानते के कानूनी पक्ष पर ज़ोर दिया। जैसा कि कृष्ण मेनन की जीवनी लेखक टी जे एस जॉर्ज ने लिखा है—“कुछ लोगों का मानना है कि मेनन कानूनी बाल की छाल निकालने लगे थे पर करनर के साथ कानूनी पक्षों इस तरह जुड़े थे कि किसी ने उन्हें धुनौती नहीं दी।”

2 अपने मन्त्रा के दौरान कृष्ण मेनन सभा के नियमनुसार आचरण करते रहे। जब परिषद् के अध्यक्ष ने उनके मन्त्रा को जारी रखने में अरुचि दिखाई तो मेनन ने चार्टर के अनुच्छेद 32 का हवाला देते हुए व्यक्तिगत नौक-झँक तो करी पर अध्यक्ष की अनुमति के लिए खड़े रहे।

3 मेनन की मन्त्रा अग्रणी दल विवाद की अदरों परम्परा के अनुसार सूक्ष्म व्यापकज्ञान से भरी रहती थी। यह उदाहरण काफी है—

“मैं यही सोच सकता हूँ कि मुझे सुनने की शक्ति के कारण वे लोग यह भ्रम नहीं सुन पाए जो मैंने उठाया था ‘या मैं ही पीयरसन डिक्सन (ब्रिटिश एंटीनेथि) से अनुरोध करूँगा कि वे राष्ट्रकुल के अन्य सदस्यों के साथ सम्बंधित व्यवहार करें—कम से कम सार्वजनिक मंचों पर

4 मेनन के मन्त्रा की छवि दल विवाद एंटीनेथि दली थी—

“हमने युद्ध विराम रेखा के पार लोगों के उत्पीड़न और पविस्त्रता अधिकारियों के अपराधों के खिलाफ दलों के लोगों की स्वतंत्रता के लिए कोई आवाज क्यों नहीं सुनी? हमने यह क्यों नहीं सुना कि इन लोगों ने 10 वर्षों से मतदान पत्र नहीं देखे हैं? आदि।”

5 अपने विरोधी की बहुल अलंघन करते हुए मेनन ने एक टेलीविजन सभासार में इसका मर कहा था ‘आक्रमक’ियों को आक्रमण का फल नहीं मंगाने दिया जा सकता।”

मेनन राजनय में झूठ का सहारा लेने के पक्ष में नहीं थे। उन्हें ब्रिटिश प्रधान मंत्री ईडन के व्यक्तिपरक राजनय से अरुचि थी। कृष्ण मेनन का स्पष्ट मत था कि ‘साथ और विश्वास झूठ और धोखे से नहीं अधिक उपदेगी है। सत्य बर्तनों और सम्बन्धों में सुविधा उत्पन्न करता है जबकि झूठ उसे निरक्षय बनाता है। वास्तव में राजदूत का नैतिक प्रभाव ही उसकी सबसे प्रमदकारी योग्यता है।

मेनन का विश्वास था कि राजनयज्ञ की अपने राज्य के प्रति अदृष्ट स्थिति होने चाहिए और राजदूत को इस बात का विश्वास होना चाहिए कि उसके देश की विदेश नीति सही और नैतिक है। उसे अपनी सरकार द्वारा भेजी गई आज्ञाओं के अनुसार कार्य करना चाहिए, भले ही वे उसके व्यक्तिगत विचारों से कितनी ही भिन्न क्यों न हों। राजनय में व्यक्तिगत विचारों का कोई महत्व नहीं है। एक राजनयज्ञ का प्रधान कर्तव्य अपने देश की सरकार का सही प्रतिनिधित्व करना है भले ही उसके व्यक्तिगत विचार कैसे ही क्यों न हों।

कीसिंगर राजनय कैसे और क्या ?

समुक्त राज्य अमेरिका के भूतपूर्व विदेशमन्त्री डॉ हेनरी कीसिंगर अपने विदेश मन्त्रित्वकाल में विदादासाद व्यक्ति रहे हैं। लोगों के अनुसार वह बहुत गूढ़ थे रहस्यमय थे उनके दिमाग में क्या चल रहा है और बाहर वह किस प्रकार आचरण कर रहे हैं दोनों में तालमेल बिठाना काफी मुश्किल था। कुछ राजनीतिक प्रेम्क तो यहाँ तक कहते हैं कि पहले निकसन और बाद में फोर्ड प्रशासन के दौरान विदेश नीति के केवल यही प्रवक्ता थे वियतनाम युद्ध की समाप्ति आदिवासी हथियारों पर नियन्त्रण के बारे में रूस से दस्तावेजों और अमेरिका में सम्बन्ध पश्चिमशिया में शान्ति और रोडेशिया के मसले पर कालों और

गीरों के बीच वार्ता की शुरुआत कराने का श्रेय निस्सन्देह डॉ. हेनरी कीसिंगर को जाता है। इन समस्याओं पर वार्ता करने या वार्ताओं का प्रबन्ध कराने की उनकी कैसी कार्यशैली हुआ करती थी इस पर तरह-तरह की प्रतिक्रियाएँ और टिप्पणियाँ होती रही हैं। परिचयेशिया की उनकी लगातार यात्राएँ तथा मिस्त्र से इजरायल सीरिया से इजरायल के बीच उनकी दौड़भूप और अन्ततः दोनों में बातचीत कराने की उनकी राजनयिक सूझबूझ को राजनयिक कार्यकुशलता का प्रतीक माना जाता है। जब 1969 में रिचर्ड निक्सन वाइट हाउस में आ गए तो एक दिन डॉ. हेनरी कीसिंगर विदेश मन्त्रालय के स्वागत कक्ष में खड़े थे। वियतनाम के बारे में जॉनसन प्रशासन के प्रमुख परामर्शदाता एवरेल हैरीमैन से उनकी यहाँ मुलाकात हो गई। हैरीमैन ने घूटते ही पूछा आपके ख्याल में वियतनाम समस्या कब तक निक्सन प्रशासन सुलझा लेगा? कीसिंगर का बड़ा ही आरवस्त उत्तर था कम से कम 6 महिने तो लग ही जाएंगे। इस आश्वासन को देखकर हैरीमैन चकित रह गए थे। यह बात दीगर है कि यह समस्या सुलझाने में चार वर्ष लग गए अर्थात् 1972 के चुनाव से कुछ पहले ही यह समस्या सुलझा पाए।

सन् 1972 का वर्ष राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन और डॉ. हेनरी कीसिंगर दोनों के लिए महत्वपूर्ण था। इसी साल उन्होंने चीन और रूस की यात्राएँ की थीं। किसी अमेरिकी राष्ट्रपति की पहली बार चीन की यात्रा को सम्भव बनाना (15 से 19 फरवरी, 1972) कीसिंगर के बस की ही बात थी। उन्होंने 1971 में अपनी भारत यात्रा के दौरान भारतीय नेताओं को इस बात का संकेत तक नहीं मिलने दिया कि वह पाकिस्तान जाकर चीन की राजधानी पीकिंग उड़ान भर जाएंगे। जब उनके पीकिंग पहुँचने की खबर पहुँची तो केवल भारत ही नहीं बल्कि सप्ताह के सभी देश भीचके रह गए। चारों ओर डॉ. हेनरी कीसिंगर की राजनय और कूटनीति के चर्चे होने लगे। दरअसल, वियतनाम वार्ता के दौरान उन्होंने तत्कालीन उत्तर वियतनाम के ली डक थो, क्वान थुई जैसे नेताओं से जिस तरह के गोपनीय और सार्वजनिक ढंग से विचार-विमर्श किया उनसे डॉ. कीसिंगर की राजनयिक कुशलता का परिचय मिलता है। वियतनाम युद्ध को सम्मानजनक ढंग से समाप्त करने में निक्सन प्रकारान को जो सफलता मिली उसे डॉ. हेनरी कीसिंगर की सूझबूझ और दूरदर्शिता से ही सम्भव बनाया गया। वियतनाम में शान्ति स्थापना के कारण ही डॉ. हेनरी कीसिंगर और ली डक थो को नोबल शान्ति पुरस्कार प्राप्त हुआ।

कार्यशैली की व्याख्या इस समस्या के समाधान को लेकर डॉ. हेनरी कीसिंगर की कार्यशैली की व्याख्या शुरू हो गई। लगभग साढ़े तीन साल की अवधि में डॉ. कीसिंगर की कार्यक्षमता और कार्यप्रणाली का पता तो लग ही चुका था यह बात भी सामने आ गई कि डॉ. हेनरी कीसिंगर तब तक अपनी कोई गतिविधि सतह पर नहीं आने देते जब तक उसके निरिचत परिणाम सामने आने की उन्हें उम्मीद नहीं होती। अपनी कार्यप्रणाली में वह हर समय गोपनीयता का निर्वाह करते रहे। वह यह भी चाहते थे कि दूसरा पक्ष भी वैसी ही गोपनीयता बरते। इस क्षेत्र में उन्हें यथासम्भव सहयोग भी मिलता रहा चाहे वह मसला वियतनाम का हो चाहे निक्सन की चीन और रूस यात्राओं का और चाहे परिचयेशिया सम्बन्धी वार्ताओं का। अगर कहीं कीसिंगर ने ग़ुचका खाया तो वह अगोला की समस्या थी। यहाँ पर रूस ने भी वैसी ही नीति अपनाई जिसके कि हेनरी कीसिंगर अग्रदूत रहे।

जब अगोला की स्थिति का जायजा लिया गया तो डॉ कीसिंगर के सलाहकारों ने पाया कि यहाँ पर क्यूबा के सैनिक काफी बड़ी तादाद में हैं और क्यूबा के सैनिकों का यहाँ आगमन रूस की विदेश नीति का परिणाम था। डॉ कीसिंगर ने शान्तिपूर्ण ढंग से स्थिति का अध्ययन किया। यदि वह ऐसा न करते तो अमेरिका और रूस के बीच जिस भाईचारे की भावना अर्थात् दोस्तों की बात करते रहे उनमें स्पष्ट दरारें दिखने लगतीं। दरअसल इस तरह की अस्पष्टता को ही कीसिंगर की खूबी माना जाता रहा।

राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन के दिमाग को समझने में डॉ कीसिंगर ने कहीं घूक नहीं की। अपने लगभग ढाई साल के कार्यकाल में जैराल्ड फोर्ड भी उसके बिना काम चलाने में समर्थ नहीं हो सके। देश की विदेश नीति पर डॉ हेनरी कीसिंगर का कुछ इस तरह का अधिकार रहा है कि जाने अनजाने दोनों ही रिपब्लिकन राष्ट्रपतियों के लिए हेनरी कीसिंगर के बिना काम चला पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य रहा। डॉ हेनरी कीसिंगर हमेशा ही अपनी काट अपने पास रखते थे। वह यह बखूबी जानते थे कि उनकी नीतियों में कहीं किस प्रकार की खोल या पोल है और उन पर किस प्रकार का प्रहार किया जा सकता है।

निक्सन की चीन यात्रा और उसके बाद अपनी पाँच चीन यात्राओं के दौरान उन्होंने जो भी चीनी नेताओं से बात की वह दोनों देशों के परस्पर सम्बन्धों तक ही सीढ़े तौर पर सीमित रही। कीसिंगर जानते थे कि ताइवान का मुद्दा चीनियों के लिए अहम् मुद्दा था अतः उस मुद्दे को उन्होंने तब तक अलग रखा और इसकी सहमति भी चीनी नेताओं से प्राप्त कर ली कि जब तक घाउ-एन-लाई, माओत्से तुंग और रिचर्ड निक्सन में बातचीत नहीं हो जाती इस प्रश्न को न उठाया जाए। दरअसल यह मुद्दा विदेश मन्त्रियों के स्तर पर ही उठाया गया और जब इस पर चर्चा हुई तो उस पर अपनी राजनयिक शैली में कीसिंगर ने प्रतिक्रिया की। ताइवान पर अन्ततः चीन का अधिकार है। चीन और अमेरिका की इस निकटता से चीन समुक्त राष्ट्र का सदस्य बना। सुरक्षा परिषद् की स्थायी सदस्यता भी ताइवान के स्थान पर साम्यवादी चीन को दी गई। कीसिंगर इतने दूरदर्शी थे कि उन्हें यह समझने में किसी तरह की कोई कठिनाई नहीं आई कि आने वाले वक्त में उनके सक्रिय सहयोग के बिना विश्व की राजनीति का चल पाना मुश्किल है।

चीन के साथ ही साथ वह सोवियत संघ से भी सहयोग रखना चाहते थे। जहाँ राजनीतिक स्तर पर उन्हें कम जरूरत है वहीं आणविक अस्त्रों के क्षेत्र में रूस के सहयोग की भी उन्हें कम जरूरत नहीं थी। बेशक अमेरिकी क्षेत्रों में कहा जाता है कि डॉ कीसिंगर ने अपने राजनय से अमेरिका को विश्व के दूसरे दर्जे के देश के तौर पर ला खड़ा किया है लेकिन स्थितियों का यदि विश्लेषण किया जाए तो यह निश्चित है कि उनकी विदेश नीति कई मायनों में सफल रही। यह बात दीगर है कि विकासशील देशों के प्रति उनका रवैया अनुकूल नहीं रहा। लेकिन पश्चिमी देशों पश्चिमेशिया तथा अफ्रीकी देशों के प्रति उनकी विदेश नीति को गए आयाम प्राप्त हुए। उनके सतत प्रयत्नों से ही सोवियत संघ के साथ आणविक अस्त्रों पर रोक सम्बन्धी पहला समझौता जिसे 'साल्ट 1' समझौता माना जाता है हुआ और दूसरे पर काफी लम्बी बातचीत हुई। जहाँ डॉ हेनरी कीसिंगर वियतनाम को 'मेरा दुःस्वप्न' कहते हैं वहीं अपनी उपलब्धियों में वह आणविक अस्त्रों पर रोक सम्बन्धी घातों को ही महत्वपूर्ण अजाम देते हैं। निस्संदेह आधुनिक युग में डॉ हेनरी कीसिंगर को एक अत्यन्त प्रखर विदेशमन्त्री के रूप में जाना जाता है।

के.एम.पत्रिकार (K. M. Pannikar)

भारत के आधुनिक राजनयज्ञों में सरदार के एम पत्रिकार के नाम का उल्लेख अद्वय किया जाता है जो चीन में लम्बे असें तक भारत के राजदूत रहे। पत्रिकार के अनुसार राजनयज्ञ "एक देश का दूसरे देश में स्थित आँख और कान" है। कोई भी देश अपने राजनयज्ञों के माध्यम से दूसरे देश की घटनाओं नीतियों और दृष्टिकोणों के बारे में बहुमूल्य जानकारी प्राप्त कर अपनी विदेश-नीति को आवश्यक मोड़ देता रहता है। बहुत से दिचारकों ने चातुर्य, कुरासता, कपट आदि को राजनयिक गुण माना है जबकि पत्रिकार के अनुसार घूर्तता, कपट आदि से पूर्ण राजनय अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में बहुत कम सहायक हो सकता है। कारण यह है कि राजनय अपने देश के प्रति दूसरे देशों की शुभ कामना प्राप्त करने की दृष्टि से प्रेरित होता है और कपट आदि इस उद्देश्य के मार्ग में खतरनाक साधन हैं। दूसरे देशों की शुभ कामना, प्राप्ति के लक्ष्य की पूर्ति चार प्रकार से अधिक अच्छी तरह हो सकती है—दूसरे देश उस देश की नीतियों को ठीक प्रकार से समझे और उसके प्रति सम्मान की भावना रखें, वह देश दूसरे देशों की जनता के व्यापक हितों को समझे एवं सर्वापरि 'वह ईमानदारी से व्यवहार करे। आप बहुत से लोगों को सदा के लिए धोखे में नहीं रख सकते और इस दृष्टि से चातुर्य, कपट आदि पूर्ण कूटनीति के पर्दे में जब छिद्र हो जाएँगे और देश की नीति की असत्यता जाहिर हो जाएगी तो विश्व-समाज में उस देश के स्तर को धक्का पहुँचेगा। पत्रिकार जैसे विचारकों का मत है कि व्यक्तिगत जीवन की नीति अन्तराष्ट्रीय जीवन में भी ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है।

पत्रिकार ने राज्य के प्रति स्वानिमित्त को एक राजनयज्ञ का आवश्यक गुण माना है। उन्हीं के शब्दों में—“राजदूत को उस नीति को क्रियान्वित करना होता है जो उसकी सरकार निर्धारित करती है। ये उसके स्वयं के परामर्शों से नित्र हो सकती है क्योंकि किसी देश की सरकार ही पूरी स्थिति से परिचित होती है जबकि राजदूत केवल अपने विशिष्ट लक्ष्यों को ही जानता है। इसलिए जब उसे उन अनुदेशों को क्रियान्वित करना पड़ता है जो आधारभूत रूप से उसके दिचारों के विरुद्ध हो तो उसे भावना, प्रसूता अथवा मैत्रीभाव से प्रभावित नहीं होना चाहिए और किसी भी स्थिति में उसे सम्बन्धित सरकार को अपने नेत्र टिमटिमाने के द्वारा भी यह प्रकट नहीं करना चाहिए कि उसके स्वयं के दिचार नित्र नहीं हैं।”¹ आदर्श राजदूत को किसी भी परिस्थिति में अपने देश से आए कठे निर्देशों को भुंदा बनाकर अपनी सरकार के व्यवहार का गलत अनुमान नहीं देना चाहिए नले ही उसके देश की विदेश नीति स्वीकारी राज्य को पसन्द न हो।

पत्रिकार जो स्वयं एक सकल राजनीतिज्ञ थे, स्त्रियों के सानिध्य व सम्पर्क को राजनय का सहय्यक मानते हैं। सन् 1926 में फ्रॉंसीसी राजदूत जुलेस केम्बान ने एक लेख में लिखा था कि सम्पत्तीय स्त्रियों का ससर्ग राजदूत के लिए लाभदायक होगा। प्रसिद्ध भारतीय विद्वान धानक्य राजदूतों की स्त्रियों से सम्पर्क का विशेषी था। सनी देशों में स्त्रियों का प्रयोग राष्ट्रीय हित दृष्टि के लिए अति प्राचीनकाल से किया जाता रहा है।

भारतीय इतिहास के अति प्राचीनकाल की विषय वस्तुओं का ऐसा ही प्रयोग था। प्रथम महायुद्ध के काल में माताहारी दिव्यात स्त्री जासूस थी। द्वितीय महायुद्ध काल में एक अमेरिकी सक्ता लिपिक (Cypher Clerk) ने एक रूसी प्रवासी लड़की के प्रेम में कैसाकर रुजवेल्ट और चर्चिल के मध्य आदान प्रदान हुए कई पत्र दिखा दिए थे। वह लड़की वास्तव में जर्मन जासूस थी। इस क्लर्क को इस अपराध के कारण सात वर्ष की सजा मिली थी।¹

पत्रिकार के अनुसार एक आदर्श राजदूत को अपनी सफलता पर गर्व और असफलता पर निराशा नहीं होना चाहिए। पत्रिकार ने राजदूत के दो मूल कार्यों से सहमति व्यक्त की है— प्रथम अपनी सरकार को स्थायी परिस्थितियाँ तथा वहाँ की नीतियों से अवगत कराए रखना। द्वितीय अपने देश की विदेश नीति के क्रियान्वयन के लिए देश से आई आज्ञाओं का सफलतापूर्वक पालन करना। किसी भी राजदूत की सफलता अथवा असफलता का उत्तरदायित्व उस देश की अपनी विदेश नीति पर होना चाहिए न कि राजनयिक पर क्योंकि राजदूत विदेश नीति का निर्माण नहीं करते यह तो उसके विदेश विभाग का कार्य है।² पत्रिकार का मत है कि वार्ताओं के पीछे दबाव का सबसे भयावह व अन्तिम तरीका युद्ध का है। जब समझौते के अन्य सभी साधन समाप्त हो जाएँ तथा वार्ता के माध्यम से किसी समझौते की सम्भावना समाप्त प्राय हो अथवा वार्ता के सफल परिणाम निकलने की आशा ही क्षीण प्रतीत हो तो युद्ध द्वारा समाधान निकाला जाता है।

नरसिंहराय का राजनय

जून 19१1 ई. के लोकसभाई चुनाव में कांग्रेस (1) लोकसभा में सबसे बड़े दल के रूप में उभर कर सामने आई। राजीव गंधी के देहावसान के बाद नरसिंहराय को दल का अध्यक्ष बनाया गया। उनके नेतृत्व में ही कांग्रेस (1) ने लोकसभा के द्वितीय चरण का चुनाव लड़ा। चुनावों के बाद उन्हें ही सर्वसम्मति से लोकसभा में कांग्रेस (1) संसदीय दल का विधिवत् नेता निर्वाचित किये जाने के बाद प्रधानमंत्री पद की शपथ दिलाई गई।

प्रधानमंत्री के रूप में नरसिंहराय ने भारतीय विदेशनीति और राजनय की शैली में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं किये हैं। उनकी राजनयिक शैली की मुख्य विशेषताओं को निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया जा सकता है

प्रथम उनकी नेतृत्व वाली सरकार असलगता की विदेशनीति पर सरकार रूप से कायम है।

द्वितीय श्री नरसिंहराय के नेतृत्व में भारत विकासशील देशों की समस्याओं को प्रभावशाली ढंग से विश्व समुदाय पर उजागर कर रहा है। वेनेजुएला की राजधानी काराकस में हुए 15 देशों के सम्मेलन में दिये गये अपने भाषण में श्री राय ने विकासशील राष्ट्रों के पक्ष से जोरदार ढंग से प्रस्तुत किया था।

तृतीय श्री नरसिंहराय के नेतृत्व में भारत और समुक्तुराज्य अमेरिका के सम्बन्धों में उत्तरोत्तर ढंग से सुधार हो रहा है। दोनों देशों के बीच पूर्व प्रचलित गलतफहमियाँ और कटुता में भी कमी आई है।

1 डॉ. एम. पी. राय वही पृष्ठ 2१7

2 Panniker, The Indian Diplomatic Service, pp. 61-62

राजनयज्ञ के लिए परामर्श (Advice to Diplomats)

प्रत्येक राजनयज्ञ को अपने कार्य एवं दायित्वों का निर्वाह करने की दृष्टि से विचारकों ने कुछ परामर्श दिए हैं।¹ इनका अनुसरण करके एक राजनय अपने लक्ष्य की उपलब्धि सरलता एवं निश्चय के साथ कर सकता है। कुछ उल्लेखनीय परामर्श निम्नलिखित प्रकार से हैं

1 राजनयज्ञ व्यक्तिगत गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। उसमें वे सभी गुण अपेक्षित हैं जो प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य करने वाले में होने चाहिए। उसमें बुद्धिमत्ता विद्वत्ता सूझ-बूझ चातुर्य साहस लगन और अधिक परिश्रम की क्षमता होनी चाहिए। उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून और इतिहास का विशेष ज्ञान होना चाहिए।

2 राजनयिक व्यवसाय में प्रवेश करने वाले प्रत्येक युवा व्यक्ति के लिए एक उचित परामर्श यह है कि उसे दूसरे को सुनना चाहिए और स्वयं नहीं बोलना चाहिए। वह स्वयं केवल इतना ही बोले जितना दूसरे व्यक्ति को वार्तालाप में प्रेरित करने के लिए आवश्यक हो। इस आशय से वह अपने विरोधियों से अधिकोरा सूचनाएँ प्राप्त कर लेता है और स्वयं के दृष्टिकोण को उनसे छिपाए रखता है। ये सूचनाएँ वह अनेक जासूस लगाकर और मारी धन-राशि खर्च करके भी प्राप्त नहीं कर सकता।

3 प्रत्येक राजनयज्ञ को सिद्धान्त रूप से राष्ट्र-हित की सुरक्षा पर सर्वाधिक ध्यान देना चाहिए। ऐसा करते समय उसे अपने स्वविवेक से काम न लेकर अपनी सरकार द्वारा निर्धारित नीति का ईमानदारी से पालन करना चाहिए। यदि वह अपनी सरकार की नीति से सहमत नहीं है तो उसे अपनी बात सरकार तक पहुँचा देनी चाहिए किन्तु विदेशी शासन पर अपने मतभेद को प्रकट नहीं होने देना चाहिए। राजनय द्वारा अपने देश को जो प्रतिवेदन भेजा जाए उसमें ईमानदारी और निष्पक्षता की छाप झलकनी चाहिए। राजनयज्ञ को उदार दृष्टिकोण अपनाना चाहिए तथा अपने प्रतिवेदन को अन्तिम सत्य नहीं मानना चाहिए।

4 राजनयज्ञ को अपने देश की नीति और दृष्टिकोण से स्वागतकर्ता राज्य की सरकार एवं जनता को अवगत कराना चाहिए।

5 राजनयज्ञ को स्वागतकर्ता राज्य पर अपनी आदतें एवं दृष्टिकोण लादने नहीं चाहिए वरन् यथासम्भव अपने परिग्रहणकर्ता राज्य के दृष्टिकोण के अनुरूप बन जाना चाहिए। उसे छोटी छोटी बातों में भी इसका ध्यान रखना चाहिए। उसे वहाँ की भाषा बोलना सीखना चाहिए। जब एक राजनयज्ञ अपने राष्ट्रीय दुराग्रहों को त्याग देता है तो परिग्रहणकर्ता राज्य की जनता और सरकार उसे अपना सम्मान लेती है।

6 राजनयज्ञ को अपने समस्त आवश्यक कागजात ताले-बादी में सुरक्षित रखने चाहिए किन्तु अपनी इस सजगता से परिग्राहक राज्य को विरोधी नहीं बनाना चाहिए।

7 राजनयज्ञ को चाहिए कि वह किसी सरकारी अभिलेख को कार्यालय से बाहर न जाने दे और विरोधी पक्ष द्वारा अधिक साक्ष्यानी से पढ़ने के लिए खुला न छोड़ा जाए।

16 राजनयज्ञ को अपने विरोधी पक्ष को कभी भी दुर्बल मूर्ख या अज्ञानी नहीं समझना चाहिए। उसे उससे निरन्तर चौकन्ना रहना चाहिए।

17 राजनयज्ञ को अपनी भावनाओं पर नियन्त्रण रखने का अभ्यस्त होना चाहिए ताकि उसके चेहरे को देखकर या वाणी को सुनकर उनके हृदयगत भावों को मापा न जा सके।

18 उसे हमेशा लेखन कला में कुशल होना चाहिए क्योंकि प्रतिदिन उसे अनेक टिप्पणियाँ और प्रतिवेदन अपनी सरकार या परिग्राहक राज्य को प्रस्तुत करने होते हैं। विचार-अभिव्यक्ति की दृष्टि से उसे एक कुशल वक्ता भी होना चाहिए।

19 राजनयज्ञ इतना कुशल हाजिर-जवाब और तीव्रबुद्धि हो कि उसके उत्तर हमेशा उसकी सरकार की नीति के अनुसार अथवा अनुकूल रहे। यदि वह कभी ऐसा न कर सके तो दाल देना चाहिए।

20 राजनयज्ञ का दृष्टिकोण उदार और हृदय विशाल होना चाहिए। उसे अपनी भूल स्वीकार करने में किसी प्रकार का सकोच नहीं होना चाहिए।

21 प्रत्येक राजनयज्ञ को व्यवहार कुशल होना चाहिए। वह सामाजिक समारोहों का आयोजन कर अनेक प्रश्नों पर अनौपचारिक बातें कर सकता है और एक दूसरे को समझने का प्रयास कर सकता है। ये समारोह सभी सफल होते हैं जब राजनयज्ञ अत्यन्त मिलनसार सुसंस्कृत शिष्ट एवं परिष्कृत रुचि का हो। इस प्रकार के समारोहों और भोजनों का अपना महत्व होता है। जो कार्य घण्टों विचार विमर्श के बाद भी नहीं हो पाते वे खाने की मेज पर आसानी से हो जाते हैं।

22 राजनयज्ञ की सफलता के लिए एक विशेष परामर्श यह है कि उसे अपने काम में स्त्रियों से सहायता लेना चाहिए क्योंकि समाज में उनका एक विशेष स्थान होता है। वे सन्धि-वार्ता और राष्ट्रीय हितों की पूर्ति में पर्याप्त सहायक सिद्ध हो सकती हैं। प्रकृति ने स्त्री को ऐसे गुण दिए हैं जिनके कारण वह अनेक कठिन कार्यों को आसानी से कर लेती हैं। प्राचीन काल से ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में स्त्रियों का उपयोग होता आ रहा है चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए स्त्रियों की सहायता लेने को कहा था। भारत में विष-कन्याओं का प्रयोग प्राचीन काल से होता आ रहा है।

23 राजनयज्ञ को अपने व्यक्तिगत विचारों के कारण दूसरे पक्ष से किसी प्रकार की ईर्ष्या या द्वेष नहीं रखना चाहिए। दूसरे पक्ष से विरोध प्रकट करते समय कटुता के स्थान पर मधुरता की शैली का सहारा लेना चाहिए।

24 भारतीय राजनयज्ञ सरदार के एम पत्रिकर ने व्यावसायिक दृष्टि से राजनयज्ञ को परामर्श दिए हैं जो यद्यपि नैतिकता की कसौटी पर खरे नहीं उतरते तथापि वे व्यावहारिक रूप से लाभदायक हैं। उनके मतानुसार राजनयज्ञ को चाहिए कि वह अपने स्वार्थ को जन-साधारण के हितों का रूप देकर जनता के समक्ष प्रस्तुत करे। दूसरों का समर्थन एवं सहयोग प्राप्त करने के लिए उसे हमेशा स्वयं को आहत पक्ष के रूप में प्रकट करना चाहिए। वास्तव में क्षति चाहे किसी भी पक्ष की हुई हो लेकिन लाभ इसी में है कि स्वयं को आहत पक्ष बताया जाए। शत्रु को बदनाम करने के लिए उस पर उन सभी दुर्गुणों का आरोप लगाना चाहिए जो उसमें स्वयं में हैं।

25 व्यावहारिक दृष्टि से मैकियावेली का यह परामर्श भी अनुकरणीय है कि यदि किसी को मलाई करनी हो तो उसे थोड़ी-थोड़ी मात्रा में करो और यदि अहित करना हो तो सब एक साथ कर डालो ।

26 राजनयज्ञ को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर कोई प्रकाशन अनाम अथवा दूसरे के नाम से निकालना चाहिए । यदि कोई राजनयज्ञ अपने अनुभवों को प्रकाशित करता है तो इससे दूसरे राजनयज्ञों के व्यवहार में कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं ।

27 राजनयज्ञ को सन्धि-वार्ता को प्रभावित करने के लिए या गुप्त सूचना प्राप्त करने के लिए रिश्वत का प्रयोग नहीं करना चाहिए । इसके अतिरिक्त भेंट देकर भी कोई कार्य नहीं कराना चाहिए क्योंकि इससे उसका सम्मान गिरता है और अनेक अनावश्यक आलोचनाएँ होती हैं जो अन्त में उसके राष्ट्रीय हितों के लिए घातक सिद्ध होती हैं । कुछ विचारकों का इस सम्बन्ध में यह मत है कि यदि एक राजनयज्ञ सद्भावना और मित्रता के रूप में कोई भेंट देता है तथा उसके बदले कोई गलत कार्य करने की माँग नहीं करता तो इसको रिश्वत नहीं कहा जा सकता ।

राजनयज्ञ की बदलती हुई भूमिका (The Changing Role of Diplomats)

प्रारम्भ में राजनय पूर्ण रूप से राजनीति और कानूनी विषयों तक सीमित था और राजनयिक सेवा के सदस्यों का प्रशिक्षण केवल अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क की राखा तक सीमित था । वर्तमान में राजनय का रूप विषय एवं क्षेत्र आदि बदल रहे हैं । उसी प्रकार राजनयज्ञ के दायित्वों में भी अनेक परिवर्तन जा रहे हैं । आज के विश्व में कोई राज्य आत्मनिर्भर या अपने आप में सीमित नहीं रह सकता है । आजकल प्रत्येक राज्य की राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ दूसरे राज्यों को प्रभावित करती हैं । सम्भवतः इसी कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना होती है ।

प्रत्येक राजनयज्ञ इन सम्बन्धों को अधिकाधिक विकसित करने का प्रयास करता है । ये कार्य राजनयज्ञ की दिनचर्या में निहित होते हैं । विश्व की आधुनिक परिस्थितियों में राजनयज्ञ की रोचक दिनचर्या का विवरण निकल्सन ने प्रस्तुत किया है । उनके अनुसार प्रत्येक राजनयज्ञ की दिनचर्या के मुख्य अंग ये हैं (क) पिछले दिनों की घटनाओं, वार्तालापों एवं विचार-विमर्शों के सम्बन्ध में अपने शीघ्रलिपिक (स्टेनो) को लिखवाना । (ख) स्थानीय समाचार-पत्रों में प्रकाशित किसी विशेष महत्वपूर्ण प्रश्न के बारे में अपने पत्र-सहचारी से विचार-विमर्श करना । (ग) अपनी सरकार के टेलीग्रामों या तारों का उत्तर देना । (घ) प्राप्त समाचार सम्बन्धी कार्य निर्देशन करना । (च) विभिन्न विभागों से सम्बन्धित पत्रों का उत्तर स्वयं लिखना । (छ) दोपहर के समय आगन्तुकों से साक्षात्कार करना, इन आगन्तुकों में पत्रकार व्यापारी, परेशान नागरिक आदि होते हैं । (ज) अपराह्न में परिग्राहक राज्य के विदेश मन्त्री से भेंट करना और वहाँ से लौटने पर अपने वार्तालाप की लिखित सूचना अपनी सरकार को भेजना । (झ) इस बीच प्राप्त टेलीग्रामों या तारों का उत्तर देना । इस प्रकार राजदूत की दिनचर्या से सम्पर्क एवं विचारों का निरन्तर आदान-प्रदान रहता है । वह परिग्राहक राज्य तथा प्रेषक राज्य के बीच एक कड़ी का कार्य करता है ।

राजनयज्ञ की भूमिका सम्बन्धी भारतीय विचार (Indian Ideas on the Role of Diplomats)

प्राचीन भारतीय राजशास्त्रों में राजनयज्ञों के कार्यों का विशद विवेचन किया गया है। प्रसिद्ध राजनीति शास्त्री कौटिल्य या चाणक्य के मतानुसार एक राजनयज्ञ के कार्य निम्नलिखित हैं (i) अपने स्वामी का सन्देश दूसरे राजा के पास पहुँचाना तथा उसका उत्तर अपने स्वामी को पहुँचाना (ii) सन्धियों का पालन करना (iii) अपने राजा की शक्ति एवं प्रभाव का प्रदर्शन करना (iv) अपने मित्रों की वृद्धि करना (v) शत्रुओं में फूट डालना तथा शत्रु के मित्रों में भेद पैदा करना (vi) शत्रु की सेना तथा गुप्तघरों की जानकारी रखना (vii) अपने गुप्तघरों के सवालों का संग्रह करते रहना (viii) शत्रु की कमजोरी देखते ही अपना पराक्रम प्रदर्शित करना (ix) सन्धि के अनुसार अपने देश के बन्धियों को मुक्त करना (x) औपनिषदिक उपायों से शत्रुओं की हत्या करना आदि।

कार्यों की उक्त सूची से स्पष्ट है कि उस समय दूत का मुख्य कार्य अन्य राज्यों में जासूसी करना होता था। वह अपने राज्यों के हितों की रक्षा के लिए केवल राजनीतिक स्तर पर ही कार्यवाही करता था।

परिवर्तित कार्य (The Changing Role of Diplomats)

वर्तमान काल में राजनयज्ञों का कार्य क्षेत्र व्यापक बन गया है। उनके कुछ कार्य केवल घरेलू प्रकृति के होते हैं तथा अन्य राज्यों से इनका सम्बन्ध नहीं होता किन्तु अधिकारा कार्यों का सम्बन्ध राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को दृढ़ बनाने से रहता है। जो आपेनहीम ने राजनयज्ञों के कार्यों का उल्लेख करते हुए स्थाई एवं अस्थायी दूतों के बीच भेद किया है। अस्थायी दूतों के कार्य निश्चित नहीं होते तथा ये उनकी नियुक्ति के उद्देश्य के आधार पर निर्धारित होते हैं। स्थाई दूतों के कार्य निम्नलिखित हैं

1 अपनी सरकार की नीति की व्याख्या राजनयज्ञ विदेशों में अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करता है। उसे उसकी सरकार का मुख कहा जाता है। किसी भी प्रश्न पर राजनयज्ञ की राय उसके देश की राय मानी जाती है क्योंकि वह उसी की ओर से बोलता है। वह अपनी सरकार की राजनीतिक आर्थिक सांस्कृतिक एवं सामाजिक नीतियों का स्पष्टीकरण करता है। वह परिग्राहक राज्य की सरकार एवं जनता के सम्मुख अपने राज्य के राजनीतिक दृष्टिकोण सामाजिक परम्परा आर्थिक क्रियाएँ तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करता है।

2 सन्धि वार्ता राजनयज्ञ परिग्राहक राज्य के साथ सन्धि वार्ता करते समय अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करता है। वह विदेश में अन्य राज्यों के साथ भी सन्धि वार्ता करता है। इस रूप में वह अपने राज्य के अग्र्य तथा विदेश मन्त्री का प्रवक्ता होता है। वह प्रेषक राज्य को अपनी वार्ता का प्रतिवेदन भेजता है।

3 राष्ट्रीय हितों की रक्षा राजनयज्ञ की नियुक्ति इसलिए की जाती है कि वह विदेशों में अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा करे। सरदार पत्रिकर के मतानुसार यह सकल विश्व के हितों की रक्षार्थ नहीं बल्कि अपने देश के हितों के संरक्षण के लिए भेजा जाता है।

है। राजनयज्ञ को भावना पूर्वाग्रह एवं मित्रता के आवेश में नहीं बहना चाहिए वरन् अपनी सरकार के निर्देशानुसार कार्य करते रहना चाहिए।

10 नीति निर्माण में सहायक राजनयज्ञ स्वयं नीति निर्माण नहीं करता। वह अपनी सरकार तथा विशेषतः विदेश मन्त्री द्वारा प्रतिपादित नीति को त्रियान्वित करता है। वह अपनी सरकार के दृष्टिकोण को प्रभावित करता है तथा नीति निर्माण के लिए आवश्यक सूचनाएँ प्रदान करता है। उसके देश के प्रति विदेशी सरकारों का दृष्टिकोण उसके स्वयं के व्यवहार पर निर्भर करता है। इस प्रकार नीति के प्रतिपादन में एक देश के राजनयज्ञ की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है।

11 तृतीय राज्य के हितों की रक्षा विदेशों में स्थित एक राज्य के प्रणिध्यावास अनेक प्रकार से तीसरे राज्यों की सेवा कर सकते हैं। यदि किसी राज्य का वहाँ अपना दूतावास नहीं है तो वह अन्य राज्य के दूतावासों से उद्देश्य की पूर्ति करता है। ऐसी स्थिति में इन कार्यों का दायित्व तीसरे राज्य पर ही आता है। एक राजदूत को तीसरे राज्य के हितों का प्रतिनिधित्व करने से पूर्व अपनी सरकार की स्वीकृति प्राप्त करनी होती है। एक बार सामान्य स्वीकृति प्राप्त कर लेने के बाद प्रत्येक व्यक्तिगत सन्धि वार्ता के समय स्वीकृति प्राप्त करना जरूरी है।

युद्ध के समय तटस्थ राज्य का राजनयज्ञ एक युद्धरत राज्य के हितों का प्रतिनिधित्व दूसरे युद्धरत राज्य में करता है। वर्तमान में स्विटजरलैण्ड आस्ट्रिया और स्वीडन द्वारा यह कार्य सम्पादित किया जाता है।

राजनयिक कार्यों की सीमाएँ

(I limitations on Diplomatic Functions)

राजनयज्ञ द्वारा सम्पन्न कार्य पूर्णरूप से असीमित नहीं होते। उनके कार्यों पर अनेक सीमाएँ तथा प्रतिबन्ध रहते हैं। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

1 राजनयज्ञ को अपने सब कार्य परिग्राहक राज्य की सरकार के माध्यम से करने चाहिए। उसे वहाँ के प्रेस से सीधा सम्पर्क रखने की अनुमति नहीं दी जाती। वह परिग्राहक राज्य की सरकार से जो भी पत्र व्यवहार करता है उसे बिना वहाँ की सरकार की पूर्व स्वीकृति के प्रकाशित नहीं कर सकता। वहाँ की जनता से भी राजनयज्ञ सीधा सम्पर्क स्थापित नहीं रख सकता है। उसे राज्याध्यक्ष के माध्यम से ही जनता को सम्बोधित या सूचित करना होता है।

2 राजनयज्ञ के कार्यों पर प्रत्येक देश के राष्ट्रीय कानून द्वारा कुछ सीमाएँ लगाई जाती हैं जो प्रत्येक देश में अलग अलग होती हैं। कुछ सीमाएँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा व्यवहार द्वारा लगाई जाती हैं। इनमें कुछ समानता दिखाई देती है। तदनुसार राजनयज्ञ परिग्राहक राज्य के आन्तरिक सरकारी मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता। वह वहाँ के व्यवस्थापन एवं प्रशासन में अपनी टाँग नहीं अड़ा सकता और न ही व्यवस्थापिका या कार्यपालिका के कार्यों की सार्वजनिक रूप से आलोचना कर सकता है। यदि वह वहाँ की व्यवस्थापिका में प्रकट मत की आलोचना करता है तो इसका कड़ा विरोध किया जाएगा। यदि वह अपने राज्य से असम्बद्ध विवादों में न्यायालय के निर्णयों को गलत बताता है तो

विदेश-नीति एवं राजनय

(Foreign Policy & Diplomacy)

विदेश नीति एवं राजनय दो ऐसे पहिए हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की गन्धी को आगे बढ़ाते हैं। आज सभी राज्यों की कोई न कोई विदेश नीति होती है तथा उसे क्रियान्वित करने के लिए उसी के अनुरूप राजनय का आचरण करना पड़ता है। राज्यों की दूरी घाहे कितानी ही क्यों न हो उन्हें परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने होते हैं। इस युग में कोई देश अन्य देशों की अवहेलना नहीं कर सकता। वह दूसरे देशों की स्थिति हित दृष्टिकोण आकांक्षाएँ एवं शक्ति को ध्यान में रखकर स्वयं की विदेश नीति निर्धारित करता है। ऐसा करते समय वह कुछ कार्य करने का तथा कुछ पर प्रतिबन्ध लगाने का निर्णय लेता है। सम्प्रभु होते हुए भी प्रत्येक राज्य विश्व जनमत अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन आदि के प्रभाव से मर्यादित होता है। आज प्रत्येक राज्य का व्यवहार अन्य राज्यों के व्यवहार को अनुकूल या प्रतिकूल रूप में प्रभावित करता है। इस व्यवहार का अध्ययन ही विदेश नीति की विषय वस्तु है। इस कार्य में राजनय उसका मुख्य सहायक सिद्ध होता है। राजनय द्वारा ऐसे सचन और तरीके अपनाए जाते हैं जिससे अन्य राज्यों के व्यवहारों को अपने हित के अनुरूप बदला जा सके।

विदेश नीति का अर्थ

(The Meaning of Foreign Policy)

विदेश नीति का अर्थ किसी राज्य के ऐसे व्यवहार से है जिसके माध्यम से वह अपने हितों की पूर्ति करता है। इसके द्वारा दूसरे राज्यों के व्यवहार में बाँझनीय परिवर्तन लाया जाता है। इस परिवर्तन के अतिरिक्त विदेश नीति दूसरे राज्यों के कार्यों को नियमित भी करती है। नियमन का अर्थ दूसरे राज्यों के व्यवहार को अपने हितों के अनुरूप यथासम्भव समायोजित करना है। इसके लिए कभी तो अन्य राज्यों के व्यवहार में परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है और कभी यथास्थिति से स्वार्थ सिद्धि हो जाती है। प्रत्येक राज्य अपने राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर विदेश नीति सम्बन्धी निर्णय लेता है। यदि राष्ट्रीय हितों की पूर्ति अन्य देशों के साथ यथास्थिति बनाए रखने में है तो राज्य वैसा करेगा और यदि परिवर्तन उपयोगी है तो वह वैसा प्रयास करेगा। स्पष्ट है कि विदेश नीति में एक राज्य की उन सभी क्रियाओं को शामिल किया जा सकता है जो उसके राष्ट्रीय हित की पूर्ति के लिए अन्य देशों का दृष्टिकोण बदलने अथवा यथावत् बनाए रखने के लिए संचालित की

प्रयत्नशील रहता है जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय शक्ति प्राप्त करना स्वयमेव राष्ट्रीय हित बन जाता है। धर्मार्थवादी सिद्धांत के प्रवर्तकों के मतानुसार शक्ति के रूप में परिभाषित राष्ट्रीय हित ही समस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार का आधार है।

2 नीति निर्माता यह विदेश नीति का दूसरा तत्व है। राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में नीति निर्माताओं के व्यक्तिगत विचार दृष्टिकोण आकांक्षाएँ एवं मूल्यों का पर्याप्त प्रभाव होता है। दो राज्यों के नीति निर्माताओं के दृष्टिकोण की मित्रता ही उनको विरोधी नीति अपनाने को प्रेरित करती है। वर्तमान में संयुक्तराज्य अमेरिका की विदेशनीति के निर्धारण में राष्ट्रपति जार्ज बुश के विचारों का अहम् स्थान है।

3 विश्व शान्ति एवं स्थायित्व प्रत्येक देश की विदेश नीति विश्व शान्ति की स्थापना का प्रयत्न करती है। विश्व शान्ति एवं स्थायित्व के अभाव में राज्य के किसी उद्देश्य की उपलब्धि सम्भव नहीं होती है। अपने संवर्धित स्वार्थों के आधार पर दैष्टिक नीति अपनाने वाला राज्य अधिक समय तक इसका अनुपालन नहीं कर सकता। आज प्रत्येक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय परिवार का सदस्य है। उसे दूसरे देशों के साथ की गई सन्धियों एवं समझौतों का सम्मान करना पड़ता है अन्यथा उसकी विश्वसनीयता समाप्त हो जाती है। विश्व शान्ति एवं स्थायित्व की दृष्टि से प्रत्येक देश अन्तर्राष्ट्रीय कानून विश्व जनमत एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ से प्रभावित होता है तथा अपनी विदेश नीति में इनको समुचित स्थान देता है। इनकी अवहेलना करने वाला बड़े से बड़ा राज्य भी अपने राष्ट्रीय हितों पर कुठाराघात करता है।

4 विचारधारा एवं सिद्धांत प्रत्येक देश की अपनी विचारधारा होती है तथा आर्थिक जीवन राजनीतिक संगठन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि के प्रश्नों पर उसके अपने विचार होते हैं। इन्हीं से वह अपने राष्ट्रीय हितों लक्ष्यों एवं नीतियों के लिए निर्देशन प्राप्त करता है।

5 साधन स्रोत प्रत्येक राज्य की विदेश नीति के लक्ष्य तय करते समय साधन स्रोतों का समुचित ध्यान रखा जाता है। विदेश नीति के लक्ष्य प्राप्त करने के मुख्य साधन हैं प्रचार एवं राजनीतिक सघर्ष आर्थिक साधन साम्राज्यवाद उपनिवेशवाद युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय कानून विश्व जनमत राजनय आदि। प्रत्येक देश अपनी क्षमता एवं स्थिति के अनुसार इन साधनों का उपयोग करता है।

6 राष्ट्रीय धरित्र परम्पराएँ एवं आवश्यकताएँ किसी देश की विदेश नीति का निर्धारण करने में उसका राष्ट्रीय धरित्र परम्पराएँ तथा आवश्यकताएँ महत्वपूर्ण तत्वों का कार्य करती हैं। भौगोलिक वातावरण भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण होता है। भारत की असंलग्नता की विदेशनीति के पीछे इस देश का भौगोलिक वातावरण मुख्य रूप से सहायक रहा है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि 'एक देश की विदेश नीति अन्तिम रूप से उसकी अपनी परम्पराओं से स्वयं के लक्ष्यों से तथा विशेषतः स्वयं के अतीत से जन्म लेती है।'¹

1 "A country's foreign policy ultimately emerges from its own traditions from its own urges from its own objectives and more particularly from its own recent past."
—Jawahar Lal Nehru

विदेश-नीति के लक्ष्य (The Objects of Foreign Policy)

प्रत्येक देश की विदेश नीति कुछ नियमित लक्ष्यों की प्रति का प्रयत्न करती है। इन लक्ष्यों का निर्धारण राष्ट्रीय हित के अन्तर्गत पर किया जाता है किन्तु ये दोनों समानार्थक नहीं हैं। प्रत्येक राष्ट्रीय हित विदेश नीति का लक्ष्य नहीं होता है। केवल उन्हीं राष्ट्रीय हितों को विदेश नीति का लक्ष्य बनाया जाता है जो तत्कालीन परिस्थितियों में देश के उपलब्ध साधनों द्वारा प्राप्त किए जा सकते हैं। विदेश नीति के लक्ष्यों एवं साधनों में अन्तर करना अत्यन्त कठिन है। सद्व्यवहार के लिए कुछ लेखकों के अनुसार 'शक्ति' विदेश नीति का लक्ष्य है जबकि अन्य ने इसे विदेश नीति का साधन बनाया है। इसी प्रकार राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एक दृष्टि से सर्वोच्च लक्ष्य है किन्तु अन्य दृष्टि से यह नगरिकों के दिवंगम की सुविधा प्रदान करने वाला प्रमुख साधन है। प्रत्येक देश अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है।

विदेश नीति का लक्ष्य एक नहीं होता बल्कि प्रत्येक देश एक ही समय में अनेक लक्ष्यों की पूर्ति का प्रयत्न करता है। इसमें कुछ लक्ष्य ऐसे होते हैं जिन्हें वह अपनी शक्तियों की रक्षा हेतु स्वीकार करता है जैसे किस्मिन् ब्रूखन्ड को प्राप्त करना या विरद नगटन की सदस्यता प्राप्त करना। अन्य लक्ष्य ऐसे होते हैं जिनका सम्बन्ध राष्ट्रीय सीमाओं से बाहर अनुकूल व्यवहार बनाने से होता है। शक्ति की स्थापना को ऐसे लक्ष्य का सद्व्यवहार माना जा सकता है। इसी प्रकार अन्तराष्ट्रीय कानून एवं विरद नगटन को बढ़ावा देना भी विदेश नीति का लक्ष्य बन जाता है।

विदेश नीति के कुछ लक्ष्य प्रत्यक्ष होते हैं जबकि अन्य लक्ष्य अन्तर्ग्रह्य होते हैं। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीय सुरक्षा इसके प्रत्यक्ष लक्ष्य हैं जबकि नगरिकों या नगरिक समूहों को सम्मानित करने वाले लक्ष्य अन्तर्ग्रह्य होते हैं। व्यवहार में इन दोनों प्रकार के लक्ष्यों के बीच भेद करना कठिन है क्योंकि नगरिकों के सम्मान राज्य के सम्मान में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। विदेश नीति के लक्ष्यों का एक अन्य वर्गीकरण है—विद्यमानता या क्रान्तिकारी लक्ष्य एवं परम्परागत लक्ष्य। जब एक राज्य नई विद्यमानता बनाने के लिए विदेशों में सतत प्रयत्न करता है तथा अपने रहन सहन को तदनुसार परिवर्तित कर लेता है तो उसके परम्परागत लक्ष्यों के और लक्ष्य भी रह जाते हैं तथा वह एक नए जीवन दर्शन का पृष्ठ पोषक बन जाता है। अन्तर्ग्रह्य लक्ष्यों के अन्तर्गत लक्ष्यों की प्रति का ही प्रयत्न करता रहता है।

विदेश-नीति एवं राजनय में सम्बन्ध : दोनों एक-दूसरे के पूरक

अन्तर्धुनिक व्यवस्था-साधनों के विकास के कारण विदेश-नीति और राजनय का सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ हो गया है। पुराने समय में राजनयज्ञों को पूर्ण शक्तिसम्पन्न बनाकर भेजा जाता था। वे स्वयं ही महत्वपूर्ण संधियों, सम्झौतों एवं दस्तावेजों में निर्णय लेने से बचते किन्तु प्रत्येक प्रश्न पर सरकार की राय जतना सम्भव नहीं था। किन्तु तत्कालीन व्यवस्था-साधनों के अतिक्रमण के बाद राजनयज्ञ की घटनाओं तथा निर्णयों को प्रभावित करने की क्षमता कम हो गई है क्योंकि निर्णय लेने की शक्ति अधिक-अधिक प्रत्यक्ष राज्य की सरकार में स्थित है तथा राज्य सरकार व्यवस्था के कारण विदेश-नीति एवं राजनय का अन्तर्सम्बन्ध हो गया

है। आज का राजनयज्ञ गिरन्तर अपनी सरकार से सम्पर्क रखता है तथा विशेष समस्या उत्पन्न होने पर तुरन्त उससे परामर्श प्राप्त कर लेता है। लेस्टर पीयरसन (Lester Pearson) के मतानुसार राजनय इस अर्थ में विदेश नीति है कि आजकल नीति निर्माता स्वयं ही राजनयिक प्रतिनिधियों का कार्य करते हैं तथा स्वयं अपनी नीतियों को कार्यरूप देते हैं। प्रतिदिन स्थिर सम्मेलनों या विदेश मन्त्रियों के सम्मेलनों के सभाघार सुनने में आते हैं। सन्धि व्यवस्था और उसमें अनेक राज्यों के शामिल होने से राजनय को विदेश नीति से पृथक् करने वाला क्षेत्र कम हो गया है। इस प्रकार वर्तमान सन्दर्भ में विचारकों का यह कहना पर्याप्त सही है कि विदेश नीति व राजनय समानार्थक हैं।

राज्यों की राजनीति तथा उनकी विदेश नीति का निर्धारण देश के राजनेता करते हैं और विदेश नीति का क्रियान्वयन राजदूतों तथा अन्य राजनयिक अधिकारियों द्वारा किया जाता है। राज्य की विदेश नीति के निर्णय में उस राज्य की सामरिक स्थिति और सैनिक शक्ति का बड़ा योग होता है। प्रायः कहा जाता है कि राज्य जितना अधिक सशक्त होगा उतना ही सकल उसका राजनय होगा। जब नीति निर्माता अपने उद्देश्यों का निर्धारण कर लेते हैं और फिर उन उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयत्न करता है तो यही से राजनय का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। विदेश नीति के क्षेत्र में राज्य की सक्रियता बहुत कुछ कुशल राजनय पर निर्भर करती है। राज्य प्रायः चार विकल्पों के आधार पर कार्य करता है राजनैतिक (राजनय) आर्थिक, मानविक और सैनिक। इन विकल्पों में राजनैतिक विकल्प को प्रायः प्रमुखता दी जाती है। वैसे समय और परिस्थिति के अनुसार राज्य उपरोक्त में से कोई भी विकल्प अपना सकता है अथवा अनेक विकल्पों का समुक्त रूप में प्रयोग कर सकता है। राज्यों द्वारा प्रायः राजनीतिक अर्थात् राजनय के मार्ग का ही अधिकाधिक उपयोग किया जाता है और विदेश नीति का उद्देश्य मित्र राज्यों की सख्या बढ़ाना तथा शत्रु राज्यों की सख्या घटाना और महत्वपूर्ण बनना होता है। राजनय के माध्यम से विदेश नीति के इन लक्ष्यों या उद्देश्यों को प्राप्त किया जाता है। वास्तव में एक देश की कुशल विदेश नीति उस देश के कुशल राजनय का परिणाम होती है। हम उसे दूसरे शब्दों में राजनय का वैशाल कह सकते हैं। विदेश नीति और राजनय का सम्बन्ध इस रूप में भी घनिष्ठ है कि आज के युग में तब तक दृष्टि से चाहे अकेले विदेश विभाग को विदेश नीति का निर्माता माना जाए लेकिन व्यावहारिक रूप में राजदूत इसके निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। विभिन्न राज्यों में स्थित राजदूत अपने प्रतिवेदन विदेश विभाग को प्रस्तुत करते हैं जो उन राज्यों के सम्बन्ध में नीति के निर्धारण में अपना पूरा महत्व रखते हैं।

इस घनिष्ठता का अर्थ यह नहीं है कि राजनय और विदेश नीति एक दूसरे के पर्याय हैं। इसके स्थान पर यह कहना उपयुक्त होगा कि विदेश नीति और राजनीति में धोली दामन का साथ है और वे एक दूसरे के पूरक हैं। राजनय और विदेश नीति को एक दूसरे के पूरक के रूप में प्रस्तुत करते हुए डॉ. एम. पी. राय ने लिखा है कि—

‘राजनय स्वयं में विदेश नीति नहीं है। वास्तव में राजनय किसी भी देश की विदेश नीति को क्रियान्वित करने की प्रक्रिया तथा विदेश नीति के लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन है। इनके मध्य भेद करने वाली विभाजक रेखा खींचना अति कठिन है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं क्योंकि ये एक दूसरे की सहायता के बगैर चल नहीं सकते। राजनय विदेश नीति का वह

साधन है जिसकी सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रक्रिया चलती रहती है। वस विदेश नीति और राजनय एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सर दिक्टर विलेजली का भी विचार है कि राजनय और विदेश नीति एक दूसरे के पूरक हैं क्योंकि एक के सहयोग बिना दूसरे का कार्य नहीं चल सकता। राजनय का विदेश नीति से नित्र कोई असि नहीं। ये दोनों मिलकर एक प्रशासनिक नीति का निर्माण करते हैं। नीति ग्यूह रचना निर्धारित करती है तथा राजनय चतुरता को। पैडलफोर्ड और लिंकन का यही मत उनके शब्दों में 'राजनय और विदेश नीति अन्योन्याश्रित हैं। इन दोनों के बीच स्पष्ट ि करना उतना ही असम्भव है जितना नीति और कर्तव्य में।

मार्गेन्थो की भी यही मान्यता है क्योंकि आज विदेश मन्त्री प्रधान मन्त्री राष्ट्र आदि व्यापक रूप से राजनय का उपयोग कर रहे हैं। इस प्रकार राजनय और विदेश तथा राजदूत और विदेश मन्त्रियों के मध्य भेद कम होता चला जा रहा है। मार्गेन्थो शब्दों में 'विदेश मन्त्रालय के साथ राजनयज्ञ अपने देश की विदेश नीति को निर्धार करता है जिस प्रकार विदेश मन्त्रालय विदेश नीति का तन्त्रिका केन्द्र है उसी प्रकार राजनयिक प्रतिनिधि उसके दूरस्थ सूत्र हैं जो केन्द्र एवं बाह्य जगत् में दोनों ओर यत्नयत्न बनाए रखते हैं। सैटो भी विदेश नीति और राजनय में भेद नहीं करता है। इ अनुसार 'डिप्लोमेटिस्ट' शब्द के अन्तर्गत सभी लोक सेवा अधिकारी आते हैं चाहे वे वि विभाग के गृह क्षेत्र में कार्य करने वाले हों अथवा विदेश दूतावासों में। सैटो तो विदेश नीति तक को भले ही वह राजनीतिज्ञ ही हो राजनय का एक अंग मानता है क्योंकि उसे विदेश मन्त्रियों प्रतिनिधियों राजदूतों आदि से समय समय पर वार्ता समझौते आदि पडते हैं तथा आवश्यकता पडने पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों शिखर वार्ताओं आदि में लेना पडता है। डा हैनरी कीसिंगर विदेश सचिव होते हुए भी एक भ्रूल राजदूत कार्य कर रहे थे। एक सफल राजदूत के रूप में इन्होंने अमेरिकी विदेश नीति के क्रियान्व में उत्त्लेखनीय योगदान दिया था। वियतनाम युद्ध की समाप्ति चीन व रूस के साथ सम्बन्ध परिषदी एशिया में युद्ध का अन्त और निम्न सीरिया जोर्डन के साथ नए सम् का श्रीगणेश इन्हीं के कुशल राजनयिक प्रयत्नों का परिणाम था। हॉलेण्ड में तो वि विभाग के किसी सदस्य अथवा राजदूत को ही विदेश मन्त्री बना दिया जाता है जो ६ कार्यकाल की समाप्ति पर वापस विदेश सेवा में आ जाता है। हीटल ने अपनी पुस्त 'डिप्लोमेसी' के एक पुटनेट में 1861 में प्रकाशित एक प्रतिवेदन का उल्लेख करते उपर्युक्त मत का समर्थन किया है। इस प्रकार जहाँ विदेश नीति राष्ट्रीय हित सम्बर्द्धन नीतियों का निर्धारण व निर्माण करती है वहीं राजनय उसकी व्याख्या और समझ परिष् और आवश्यकतानुरूप उसके प्रयोग के संचालन की कार्यदिधि है। वैसे तो विदेश नीति और राजनय एक दूसरे से जुडे हुए हैं परन्तु राजदूत स्वयं विदेश नीति के निर्माण में प्र रूप से कहीं भी सम्बन्धित नहीं होते। ये स्वयं इसका निर्माण नहीं करते यद्यपि अप रूप से वे विदेश नीति के निर्माण अथवा उसे स्वरूप प्रदान करने में सहायक अवश्य हैं क्योंकि कोई देश दूसरे देश के प्रति अपनी नीति का निर्माण उसके राजदूतों द्वारा वि देशों की राजघनियों तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ आदि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रमुख कार्य से समय समय पर भेजे गए प्रतिवेदनों के आधार पर करता है। घाइल्डस के शब्दों

“यद्यपि राजनयिक अपनी अपनी सरकारों की विदेश नीति का आवश्यक रूप से निर्माण स्वयं नहीं करते फिर भी समुद्र पार अपने अपने पदों से भेजे गए प्रतिवेदनों के माध्यम-से वे ऐसी नीति के निर्माण में अथवा उसे स्वरूप प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। ये प्रतिवेदन सदा ही विदेश नीति के निर्माण में मूल्यवान् कच्चे माल के रूप में माने जाते हैं।” के एम पनिस्कर का भी यही मत है।

राजनय के क्षेत्र में सफलता राजदूत के गुण और योग्यता के साथ साथ देश की विदेश नीति की बुद्धिमत्ता पर भी निर्भर करती है। प्रसिद्ध विद्वान् कैलियर्स भी दूत द्वारा भेजे गए प्रतिवेदन की महत्व को स्वीकार करता है जिसके आधार पर विदेश नीति का निर्माण होता है क्योंकि विदेश नीति में निर्णय लेने का प्रगाढ़ सम्बन्ध राजनय के एक प्रधान कार्य प्रतिवेदन देने व वार्ता करने से है। कैलियर्स के शब्दों में यद्यपि सभी सफलताओं या विफलताओं का अन्तिम दायित्व देश में स्थित सम्राट् एवं उसके मन्त्रियों का है तथापि यह उतना ही सत्य है कि ये मन्त्री विदेशों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर ही कार्य करते हैं तथा देश की सरकार पर एक प्रबुद्ध राजनयज्ञ का सम्भावित प्रभाव बहुत दिस्तृत हो सकता है। विदेश में कार्य करने वाले अयोग्य व्यक्ति अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण निर्देशों का कोई उपयोग नहीं कर पाते तथा योग्य व्यक्ति अपनी सूचनाओं एवं सुझावों की यथार्थता एवं तर्कसंगतता द्वारा अत्यन्त साधारण निर्देशों का उत्कृष्टतर उपयोग कर सकते हैं। अतः राजनयिक कार्यों का दायित्व देश में स्थित सरकार और उसके विदेश में स्थित सेवकों द्वारा लगभग समान रूप से बटन किया जाता है। इसी प्रकार सर्वाधिक सफल राजदूत के लिए भी अच्छी विदेश नीति का निर्माण आवश्यक है। क्या मैटरनिख् तेलेरी अथवा पानरोट अकेले ही अपने कार्यों में सफल रहे थे? द्वितीय महायुद्ध के पूर्व जर्मनी और इटली में फ्रांस के राजदूत पानरोट ने अपनी सफलता को यह कह कर टाल दिया था कि वास्तव में तो मुख्य रूप से सूचना देने वाला अथवा सदेशवाहक था। यह तो पानरोट की विनम्रता थी कि उन्होंने अपने को तुच्छ प्रदर्शित किया किन्तु यह सत्य भी है कि उस समय के फ्रांस की शक्ति व सफल विदेश नीति उसकी कम सहायक नहीं रही थी। निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है “किसी देश को दूसरे देश के साथ सम्बन्धों में विद्वतापूर्वक विदेश नीति तथा निपुण योग्य कुशल एवं विद्वतापूर्ण राजनय के मध्य उचित सामंजस्य बैठाना ही पड़ता है। एक के उचित स्वरूप के अभाव में दूसरे का स्वरूप निरिधत ही विकृत हो जाएगा।” अतः कुशल राजनय ही विदेश नीति के लक्ष्यों को सफल बना सकता है।

राजनय और विदेश नीति में अन्तर

राजनय और विदेश नीति एक दूसरे के पूरक हैं तथापि इनमें विरोध भी है इनमें परस्पर महत्वपूर्ण अन्तर या भेद भी हैं। सर विक्टर वेलेजली के अनुसार “राजनय विदेश नीति नहीं है बरन् इसे क्रियान्वित करने वाला एक अभिकरण है।” राजनय और विदेश नीति के बीच साधन और साध्य का सम्बन्ध है। जे आर चाइल्डस के मतानुसार “विदेश नीति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का मूल तत्व है जबकि राजनय ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा इस नीति को संचालित किया जाता है। विदेश नीति की रचना अनेक व्यक्तियों और अभिकरणों द्वारा की जाती है जिनमें राजनय का भी योगदान होता है। राज्य अथवा सरकार

का रूप चाह कुछ भी हो किन्तु विदेश नीति के मूल प्रश्नों का निश्चय उच्च स्तरीय अधिकार द्वारा किया जाता है और महत्वपूर्ण राष्ट्रों का उसने बहुमूल्य योगदान होता है। राजनय द्वारा विदेश नीति को क्रियान्वित करने के लिए सर्वोपयुक्त यंत्र सौंप जाता है। विदेश नीति वैदेशिक सम्बन्धों की आत्मा है जबकि राजनय वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा विदेश नीति को प्रवर्तित किया जाता है। हेराल्ड निकल्सन ने राजनय और विदेश नीति के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'राजनय और विदेश नीति दोनों राष्ट्रीय एवं अन्तराष्ट्रीय हितों में सन्तुष्टि स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। विदेश नीति राष्ट्रीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि पर अधिकारित होती है जबकि राजनय कोई लक्ष्य न होकर एक साधन है। यह उद्देश्य नहीं धरता एक तरीका है। राजनय बुद्धि समझौता एवं हितों के विनिमय द्वारा सम्बन्धों के बीच प्रमुख साधनों पर रोक लगता है। यह ऐसा अनिवार्य है जिससे मध्यम से विदेश नीति युद्ध की अवस्था समझौते द्वारा अपने उद्देश्यों को प्राप्त करती है। हेराल्ड निकल्सन ने राजनय को केवल शक्तिशाली उपयोजन माना है जिसके अमरुत होने पर युद्ध छिड़ जाता है। धर्म तथा परिकल्पना के मतानुसार युद्धकाल में राजनय सम्भव नहीं होता वरन् त्रिशूल से कार्य करता रहता है। विदेश नीति के अन्तर्गत राजनय का उद्देश्य व्यवसायिक सम्बन्धों से दूर दूर रहना है। किन्तु यदि अपरिहार्य बन जाय तो राजनय सैनिक कार्यवाही को प्रत्येक महान् देश की सुरक्षा करने में योगदान करता है। युद्धकाल में राजनय के कार्य शक्तिशाली की अपेक्षा निम्न होते हैं। यदि एक राज्य अन्य राज्यों के साथ आन सन्धियों में सम्मिलित होना चाहता है तो उसके लिए सम्मान राजनय और बुद्धिमान विदेश नीति का सामान्य दायित्व है।

यह विदेश नीति तथा राजनय एक दूसरे के पूरक हैं। वहीं इनमें विरोध भी है। नान्स हिल के अनुसार विदेश नीति प्रकृति में ही सत्ता मूलक है जबकि राजनय प्रयत्न क्रियान्वित है। विदेश नीति विदेशों के साथ सम्बन्धों का मर है जबकि राजनय वह प्रक्रिया है जिसके मध्यम से विदेश नीति क्रियान्वित की जाती है। धर्म और धर्म के शरीर में एक सार है तो दूसरा उसकी प्रक्रिया। मर दिखकर दैत्यों की दोहों के मध्य अन्तर को स्वीकार करता है। इन दोनों में अन्तर नहीं है। अन्तर ही इस नीति को क्रियान्वित करने का साधन है। 'कनडा के 'मूल्य लेखक थियरमन ने भी एक बार कहा था कि 'राजनय नीति निर्माण नहीं करती है यह तो उसका साधन तथा व्यवस्था करती है।' इस जे मॉन्टगो ने इस अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया है— 'विदेश मन्त्रालय नीति निर्माण करने वाला अधिकारी है। यह विदेश नीति का मस्तिष्क है जहाँ बड़ा सत्ता से अनुभव एवं विचार फैलाते हैं तथा इनका मूल्यकन किया जाता है जहाँ विदेश नीति निर्धारित होती है तथा उन अन्तर्गत का निष्कर्ष होता है। उनका राजनयिक प्रतिनिधि वैश्विक विदेश नीति में सम्मिलित करते हैं। जबकि विदेश मन्त्रालय विदेश का मस्तिष्क है राजनयिक प्रतिनिधि इसकी अंशों को मुख अंगुलियों तथा एक प्रकार से इसके प्रसारित अवतार हैं। मॉन्टगो ने आगे लिखा है कि 'राजनयिक प्रतिनिधि केवल अंशों और कान ही नहीं हैं जो विदेश नीति के तन्त्रिका केन्द्र को इसके निर्णयों के उद्घाटन के लिए बड़ा सत्ता की घटनाओं की सूचना देते हैं। राजनयिक प्रतिनिधि मुख और हृदय भी हैं जिनके द्वारा तन्त्रिका केन्द्र से उत्पन्न आदेशों का शब्द एवं कार्य में सम्मिलित होता है। निकल्सन भी राजनय

और विदेश नीति के मध्य भेद करता है। यदि कोई राजदूत यह समझता है कि वह विदेश नीति को प्रभावित कर सकता है तो वह गलती पर है। राष्ट्रीय सुरक्षा समिति में अमेरिकी राष्ट्रपति के विशेष सचिव मैकजॉर्ज बन्डी (McGeorge Bundy) (1961-66) ने हावर्ड विश्वविद्यालय में भाषण देते हुए कहा था कि 'यह प्रदर्शित करना कि विदेश सेवा में भर्ती होकर विदेश सम्बन्धों को प्रभावित किया जा सकता है गलत है। प्रथम महायुद्ध के काल में ब्रिटेन स्थित अमेरिकी राजदूत वाल्टर हाइन्स पेज ने अपने प्रतिवेदनों की उपेक्षा पर नाराजगी व्यक्त करते हुए लिखा है कि 'वह इतना नाराज है कि वह अपने प्रतिवेदन में लिखेगा कि एक भूकम्प में टेम्स नदी गायब हो गई है कि एक साधारण नागरिक ने राजा को घूम लिया है और क्रामवेल् के दुत ने लॉर्ड रामा पर आक्रमण कर दिया है जिससे यह तो पता चले कि वाशिंगटन में कोई इन बातों को नोट करते भी हैं अथवा नहीं मरन्तु स्थिति इतनी गम्भीर नहीं है जितनी बताई गई है।

सर चार्ल्स वेस्टर ने अपनी पुस्तक राजनय की कला तथा व्यवहार (Art and Practice of Diplomacy) में विदेश नीति और राजनय के मध्य अन्तर को स्वीकार किया है। वेस्टर के अनुसार राजनय युद्ध कौशल है तो विदेश नीति व्यूह रचना। युद्ध कौशल के अभाव में व्यूह रचना का कोई महत्व नहीं है इसी प्रकार राजनय के अभाव में विदेश नीति भी व्यर्थ है। हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि एक सफल एवं योग्य राजनय के अभाव में एक उत्तम उचित और यथार्थवादी विदेश नीति भी असफल सिद्ध होगी। प्राचीन भारतीय श्लोक भी इस भेद को स्पष्ट करता है—

बुद्धि शस्त्र प्रकल्प्यङ्गो धन सङ्गतिकः क ।

घार ह्यङ्गो दूत मुख पुरुष कोदपि पार्किष ॥ भाष्य १/५८

अर्थात् राजा की बुद्धि उसका शस्त्र मन्त्री अथ नीति की गुप्तता कथय गुप्तधर नेत्र एवं दूत मुख है।

इस प्रकार राजदूत की योग्यता ही विदेश नीति को सफल बना सकती है। उसकी भूमिका सदेशवाहक से कहीं अधिक है। निर्मित विदेश नीति को वह दूसरों के समक्ष कैसे रखता है तथा उसका स्पष्टीकरण कैसे देता है इसी पर उसकी योग्यता और सफलता निर्भर करती है। इस प्रकार वह अच्छी विदेश नीति को सफल व असफल बनाने की क्षमता रखता है। साथ ही वह बुरी विदेश नीति के बुरे परिणामों को रोकने की भी क्षमता रखता है। एक योग्य और प्रतिभशाली राजदूत अपने देश को सम्मान और प्रतिष्ठा दिला सकता है। विदेश नीति की सफलता राजनय के उत्तम प्रयोग पर ही निर्भर करती है। सारांश में यह कहा जा सकता है कि किसी भी राज्य को यदि अपने वैदेशिक सम्बन्धों में सफलता प्राप्त करनी है तो बुद्धिमत्तापूर्ण निर्धारित विदेश नीति और योग्य निपुण एवं कुशल राजनय का सम्मिश्रण आवश्यक है।

विदेश-सेवा एवं विदेश-कार्यालय

(Foreign Service & Foreign Office)

राजनय के संचालन के लिए उपयुक्त कार्यालय एवं सेवावर्ग अनिवार्य है। इसके कार्य की प्रकृति के आधार पर सेवा की शर्तें और परिस्थितियाँ अन्य सेवावर्ग से भिन्न होती हैं। सामान्य धारणा के अनुसार विदेश-सेवा को अत्यन्त आकर्षक और सम्मानजनक व्यवसाय माना जाता है। इसके सदस्य घाय के घोर पियङ्गु होते हैं और सामाजिक रीति-रिवाज में व्यस्त होते हैं। यह धारणा इस गलत विरवास पर आधारित है कि विदेश सेवा के सदस्य अधिकतर उच्च क्षेणी के बेटे लोग होते हैं जो अल्पाहार की गर्मियों में तथा सन्धि-वार्ताओं में व्यस्त रहते हैं। इस मान्यता का कुछ ऐतिहासिक औचित्य है। प्रारम्भ में विदेश-सेवा का व्यवहार इसी प्रकार का था। अभी भी कुछ लोग इन्हीं परम्पराओं को आदर्श मानकर चलते हैं। फिर भी वर्तमान में इस स्थिति में काफी परिवर्तन आ गया है। आज विदेश-सेवा के सदस्य अभिजात्य अथवा धनिक वर्ग के प्रतिनिधि नहीं होते। वे विदेश सेवा के सदस्य होते हैं तथा परिश्रमी जीवन व्यतीत करते हुए अपने देश के लिए महत्वपूर्ण सेवाएँ प्रदान करते हैं। विदेश-सेवा और विदेश-कार्यालय के योगदान और महत्व का वर्णन केवल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण में नहीं किया जा सकता। हम समुक्त राज्य अमेरिका के सन्दर्भ में विवेचन करेंगे।

समुक्त राज्य अमेरिका ने जब से अपने महाद्वीप और दूसरे द्वीपों के देशों से सम्पर्क स्थापित किया तभी से यहाँ विदेश-सेवा का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इनके कार्य एवं सेवा की शर्तें समय-समय पर बदलती रही हैं। इन पर स्थान का भी प्रभाव पड़ता है। कुछ सेवाएँ शान्तिपूर्ण एवं आकर्षक स्थानों पर कार्य करती हैं जबकि दूसरी सेवाओं को उपद्रवी क्षेत्रों में कार्य करना पड़ता है। विदेश सेवा के सदस्यों को ऐसे स्थानों पर भी देखा जा सकता है जहाँ युद्ध और क्रान्तियाँ आम बातें हों। एल्मर प्लिस्के (Elmer Plischke) के कथनानुसार “विदेश सेवा का जीवन हमेशा आरामदायक नहीं होता। इसके दिन हमेशा शान्तिपूर्वक कागज भेजने और रातें पार्टी एवं भोजों में व्यतीत नहीं होती।”¹ विदेश मन्त्री हाल के कथनानुसार “विदेश सेवा के सदस्यों को मलेरिया का अधिक अनुभव होता है।”

1 “Life in the foreign service is not always one of ease of peaceful pushing during the day and cock tail parties, dinners and dazzling social affairs at night.” — Elmer Plischke

अमेरिकी विदेश सेवा का योगदान (Role of the American Foreign Service)

सयुक्तराज्य अमेरिका की विदेश सेवा के सदस्यों की तुलना सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों से की जा सकती है जो अपना जीवन अपने देश की सेवा में लगा देते हैं। इस व्यवसाय को पर्याप्त सम्मान प्राप्त है। अनेक महत्वाकांक्षी युवक और युवतियाँ इस व्यवसाय की ओर ईर्ष्या और आशापूर्ण दृष्टि से देखते हैं। विदेश सेवा के योगदान के सम्बन्ध में मुख्यतः निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं—

1 विदेश सेवा के सदस्य विदेशों में अमेरिकी जनता और सरकार का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनको विदेश विभाग की आँख कान और मुँह कहा जाता है। समुद्र पार के देशों में ये सरकार की भुजा का कार्य करते हैं और उन्हीं के माध्यम से अमेरिकी नीति और व्यवहार ज्ञात होते हैं।

2 विदेश सेवा सरकार की एक स्वतन्त्र इकाई है। यद्यपि इसके आन्तरिक प्रशासन पर विदेश विभाग के उच्च अधिकारियों का निरीक्षण रहता है तथा इसके पत्र व्यवहार प्रत्यक्ष रूप से विभाग के साथ होते हैं किन्तु कानूनी रूप से यह विदेश विभाग की उप इकाई मात्र नहीं है बल्कि पृथक् विदेश सेवा है। कानून तथा व्यवहार दोनों दृष्टियों से विदेश सेवा को विशेषाधिकार की स्थिति प्राप्त है। यह बहुत कुछ आत्म प्रशासित है। कुछ सीमा तक इसे अपने सेवीवर्ग के कार्यों और अन्य विषयों में पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त है।

3 विदेश सेवा एक क्षेत्रीय अभिकरण (Field Agency) है। अमेरिकी व्यवस्था में विदेश सम्बन्धों का शासन राष्ट्रपति का मौलिक उत्तरदायित्व और कार्य माना जाता है। विदेश मन्त्री या विदेश सचिव उसका मुख्य परामर्शदाता और प्रमुख एजेंट होता है। विदेश विभाग विदेश मन्त्री का कार्यालय होता है और विदेश सेवा उसका क्षेत्रीय अभिकरण है। द्वैदेशिक सम्बन्धों की सामान्य नीतियाँ विदेश सचिव और विदेश विभाग के परामर्श पर कांग्रेस तथा राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित की जाती हैं तथा विदेश सेवा इन नीतियों को कार्यान्वित करती है।

4 विदेश सेवा द्वारा विदेश नीति के स्वरूप पर अप्रत्यक्ष रूप से पर्याप्त प्रभाव डाला जाता है। इसके सदस्यों द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन विदेश नीति सम्बन्धी निर्णयों का रूप निर्धारित करते हैं। इस दृष्टि से विदेश सेवा के उत्तरदायित्वों का महत्व बढ़ जाता है क्योंकि उसके सही और निरिधत प्रतिवेदनों के आधार पर न्यायपूर्ण नीतियाँ और तत्त्व निर्धारित किए जाते हैं किन्तु लापरवाहीपूर्ण प्रतिवेदनों से अनेक राजनयिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

5 विदेश सेवा का स्थान एवं दायित्व मुख्यतः सेवा का है कार्यान्वित का नहीं है। विदेश नीति की क्रियान्विति विदेश सेवा के सदस्यों के अतिरिक्त व्यक्तियों और अभिकरणों द्वारा भी की जाती है। राष्ट्रपति या विदेश मन्त्री स्वयं सचिवालय संपादित करते हैं। अनेक बार राष्ट्रपति अपना विशेष प्रतिनिधि नियुक्त करते हैं या विदेश मन्त्री दूसरे राज्यों के विदेश मन्त्रियों से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करते हैं। सयुक्त राष्ट्रसंघ उसके विशेष अभिकरण तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में प्रतिनिधित्व की दृष्टि से विदेश सेवा का उत्तुलन किया जा सकता है। विदेश नीति सम्बन्धी निर्णयों की घोषणा प्रत्यक्ष रूप से

रेडियो अथवा समाचार पत्रों के माध्यम से की जा सकती है। उपर्युक्त विरलेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि संयुक्तराज्य अमेरिका की विदेशनीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने में विदेश सेवा का महत्वपूर्ण योगदान होता है।

अमेरिकी विदेश-सेवा का विकास (Development of the American Foreign Service)

संयुक्तराज्य अमेरिका की विदेश सेवा का सतत विकास होता रहा है जिस निम्नलिखित रूप से विरलेषित किया जा सकता है

जन्म अमेरिका के प्रारम्भिक इतिहास में अनेक प्रभावशाली राजनयज्ञों का योगदान रहा है। उन्होंने अनेक विषम परिस्थितियों में जटिल समस्याओं के निराकरण के लिए उत्तरेखनीय कदम उठाए इसलिए इस काल को अमेरिकी राजनय का स्वर्णकाल कहा जाता है। इस समय के राजनयज्ञों में जॉन एडम्स जॉन जे थॉमस जेफरसन और सिलासडीने आदि उत्तरेखनीय हैं। बेजमिन फ्रंक्लिन के दौरेय कार्यों की प्रशंसा विदेशों में आज भी की जाती है। राजनय की दृष्टि से प्रतिभापूर्ण प्रारम्भ के बाद भी अमेरिका में विदेश सेवा का विकास धीमी गति से हुआ। जुलाई 1790 में अमेरिकी कॉंग्रेस ने राष्ट्रपति को विदेश प्रतिनिधियों पर घसीस हजार डॉलर प्रतिवर्ष व्यय करने का अधिकार दिया। सन् 1818 में कॉंग्रेस ने विशेष श्रेणियों और देतनों के विशेष राजनयिक पदों की स्थापना की। यह विदेश सेवा का प्रारम्भ था। इसी प्रकार वाणिज्य दूतावास सेवा भी एक पृथक् संस्था के रूप में प्रारम्भ की गई जो 1924 तक राजनयिक सेवा से भिन्न रही। प्रारम्भ में राजनयिक सेवा और वाणिज्य दूतावास सेवा के दायित्वों को एक ही अधिकारी पूरा करता था किन्तु 14 अप्रैल 1792 को एक पृथक् वाणिज्य दूतावास की व्यवस्था की गई। इस सेवा का तीव्र गति से विकास हुआ और 1830 के अन्त तक संयुक्तराज्य अमेरिका के 150 से भी अधिक वाणिज्य दूत दुनिया के व्यापारियों के व्यापारिक कन्द्रों में अमेरिका का प्रतिनिधित्व करने लगे जबकि राजनयिक प्रतिनिधियों की संख्या कुल 19 थी।

1850 के सुधार - सन् 1812 के युद्ध के बाद अमेरिका की स्थिति मुख्यतः घरेलू मामलों में केन्द्रित हो गई। राजनयिक और वाणिज्य दूतावासों में की गई नियुक्तियाँ लूट व्यवस्था से प्रभावित हुई। फलतः 1822 में तत्कालीन विदेश मंत्री लिविंग्स्टन ने जॉब के बाद राष्ट्रपति के सम्मुख एक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। उसमें यह सकारिश की गई कि राजदूतों और वाणिज्यिक दूतों के देतन तथा अन्य सुविधाओं में वृद्धि की जाए ताकि उन्हें व्यक्तित्व आय पर निर्भर न रहना पड़े। इन सुझावों पर कॉंग्रेस ने बीस वर्ष बाद विचार किया और 1 मार्च 1855 तथा 18 अगस्त 1856 के अधिनियमों द्वारा विशेष सेवासों के पद, देतन शृंखला देतन एवं कर्तव्य आदि में सुधार किया।

गृहयुद्ध और उसके बाद - गृहयुद्ध के बाद संयुक्त राज्य पुनः अपने आन्तरिक मामलों की ओर केन्द्रित हो गया और लगभग 50 वर्ष तक विदेश सेवा में सुधार के लिए कोई व्यवस्थापन नहीं हो सका। 1 मार्च 1893 के अधिनियम द्वारा कॉंग्रेस ने पहली बार सम्पूर्ण स्तरीय राजदूतों की नियुक्ति की अनुमति दी। इसे अमेरिकी राजनय के विकास का सीमा चिह्न कहा जाता है। इससे पूर्व किसी भी अमेरिकी दूत को राजदूत नहीं कहा जाता

था। सन् 1894 में राष्ट्रपति क्लीवलैण्ड ने फ्रांस जर्मनी ग्रेट ब्रिटेन इटली और रूस के लिए पूर्ण स्तरीय राजदूत नियुक्त किए। इसी काल ने वाणिज्यिक दूतावास सेवा में भी सुधार का अभियान चला। 6 फरवरी 1895 को कार्यपालिका आदेश द्वारा वाणिज्य दूतों की नियुक्ति के सम्बन्ध में कुछ व्यवस्थाएँ की गईं किन्तु व्यवहार में अभी भी लूट व्यवस्था जारी रही।

राष्ट्रपति टी. रुजवेल्ट ने व्यापक पुनर्गठन और सुधारों की सिफारिश की। उसने राजनयिक सेवा में योग्यता व्यवस्था को लागू किया। विदेश मन्त्री रूट ने उम्मीदवारों की परीक्षा के लिए एक परीक्षा बोर्ड की स्थापना की। बाद में कॉंग्रेस ने भी इसका समर्थन दिया। 5 अप्रैल 1906 को एक अधिनियम द्वारा वाणिज्यिक दूतावास सेवा की घन व्यवस्था को पूर्णरूप से परिवर्तित कर दिया गया। राष्ट्रपति रुजवेल्ट ने 27 जून 1906 को कार्यपालिका आदेश द्वारा वाणिज्यिक दूतों की नियुक्ति और पदोन्नति को 1833 के नागरिक सेवा अधिनियम के अधीन रख दिया। सन् 1909 में राष्ट्रपति टाफ्ट ने सभी राजनयिक अधिकारियों को नागरिक सेवा का स्तर प्रदान किया। अब लूट व्यवस्था का अन्त हो गया और सेवावर्ग का स्तर क्रमशः ऊँचा उठता गया। 5 फरवरी 1915 को कॉंग्रेस अधिनियम द्वारा इस व्यवस्था में और सुधार किया गया।

सन् 1924 का रोजर्स अधिनियम प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान अमेरिकी राजनयिक और वाणिज्यिक दूतावास के अधिकारियों के कार्य मात्रा और गुण दोनों दृष्टियों से बढ़ गए। प्रारम्भ में अमेरिकी तटस्थ रहा किन्तु बाद में युद्ध में शामिल हो गया। तटस्थ काल में अमेरिका के दूतों ने विभिन्न युद्धरत राज्यों के दीर्घ कार्य सम्पन्न किए। युद्ध में उलझने के बाद भी अमेरिकी दूत अनेक कार्य करते रहे। इसके लिए राजनयिक और वाणिज्यिक दूतावास में बिना परीक्षा के अस्थायी नियुक्तियों की गईं। सेवावर्ग की सख्या बढ जाने से अनेक गम्भीर कमजोरियाँ पैदा हो गई थीं। रोजर्स ने इस विषय में रुचि ली। उसके विदेश मन्त्री से विचार करने के बाद इन सेवाओं के पुनर्गठन हेतु कॉंग्रेस में विधेयक प्रस्तुत किया जिसने 24 मई 1924 को कानून का रूप लिया। इस रोजर्स अधिनियम के अनुसार राजनयिक और वाणिज्यिक दूतावास सेवाओं को विदेश सेवा में एकीकृत कर दिया गया तथा आपस में पद बदलने की सुविधा दी गई। सभी नियुक्तियों और पदोन्नतियों को केवल योग्यता पर आधारित किया गया। सभी कर्मचारियों को किसी विशेष पद का नाम न देकर श्रेणी में वर्गीकृत कर दिया गया।

सन् 1931 का अधिनियम और द्वितीय विश्वयुद्ध विदेश सेवा में अनेक सुधारों के बाद भी कुछ दोष कायम रहे। सन् 1928 में विदेश सम्बन्धों पर सीनेट की एक समिति ने इन दोषों पर प्रभाव डाला। इसके निराकरण के लिए 23 फरवरी 1931 को मोसेस लिन्थिकम (Moses Linthicum) अधिनियम पारित किया गया। सन्दर्भानुसार विदेश सेवा बोर्ड के सेवावर्ग को पुनर्गठित किया गया और इसके सदस्य तीन वर्ष के लिए राजदूतों के पद पर नियुक्ति के लिए अयोग्य ठहरा दिए गए। वर्गीकरण व्यवस्था को बदला गया वेतन में वृद्धि की गई वार्षिक छुट्टियाँ और मत्ते तथा अग्रिम वेतन देने की व्यवस्था की गई।

सन् 1927 में पृथक् विदेश सेवा बनाये गये। इनमें वाणिज्य और कृषि विभागों को प्रतिनिधित्व दिया गया। 1 जुलाई 1939 को राष्ट्रपति रूजवेल्ट की पुनर्गठन योजना में अमिकरणों को विदेश सेवा के साथ संयुक्त कर दिया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध काल में संधीय प्रशासनिक इकाइयों की संयुक्त पारखाएँ स्थापित की गईं तथा इन्हें मूनि पेट्रे (लेण्डलीज) युद्ध कार्य निष्पादना के विदेश सन्तुष्ट पार की जासूसी एवं प्रचार और अमेरिकी सांस्कृतिक सम्बन्धी कार्यक्रमों का संचालन आदि कार्यों का दायित्व सौंपा गया। इन सभी कार्यों के लिए यह अनिवार्य था कि विदेशों में भारी सख्या में सेवीवर्ग रहे। साधारणतः यह आशा की जा सकती थी कि विदेश-विभाग एवं विदेश सेवा इन कार्यों का प्रबन्ध करेंगे किन्तु विदेश मन्त्री कैरडेल हल के प्रभाव से यह निर्णय लिया गया कि ये दोनों इन उत्तरदायित्वों को न सम्भालें। इसके लिए कुछ स्वतन्त्र एवं पृथक् अमिकरणों की स्थापना की गई। उदाहरण के लिए, अर्थिक सुरक्षा बोर्ड, लेण्ड लीज प्रशासन युद्ध सूचना कार्यालय, ऋण नीति सेवा कार्यालय आदि। इस व्यवस्था के कारण क्षेत्राधिकार प्रशासनिक एकता और नीति सम्बन्धी समन्वय की समस्या उत्पन्न हुई।

विदेश सेवा के बढ़ते हुए दायित्व को पूरा करने के लिए अधिक सेवीवर्ग की नियुक्ति करना आवश्यक बन गया था। सन् 1941 के मध्य में यह निर्णय लिया गया कि सकटकाल के लिए अस्थायी नियुक्तियों की जाए। ऐसी नियुक्तियों को सहायक (Auxiliary) कहा गया। इन विदेश सेवा सहायकों (Auxiliaries) का भयन सावधानीपूर्वक किया गया और योग्य अमेरिकियों को इसमें शामिल किया गया। इन सहायकों में दो प्रकार के व्यक्ति थे—विशेषज्ञ तथा कनिष्ठ अधिकारी। विदेशी विशेषज्ञों में वे पुराने व अनुभवी व्यक्ति थे जिनको अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और वित्त, कृषि, सांस्कृतिक सम्बन्ध आदि में विशेषज्ञता प्राप्त थी। इनको विशेष आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए नियुक्त किया गया। कनिष्ठ अधिकारियों को आवश्यकतानुसार उपवाणिज्य दूत के रूप में नियुक्त किया गया। युद्धकाल में नई नियुक्तियों के लिए परीक्षाएँ नहीं ली गई थीं इसलिए पदोन्नत अधिकारियों के स्थान की पूर्ति इन सहायकों द्वारा की गई।

1945 में जर्मनी और जपान के आत्मसमर्पण के बाद युद्धकाल के सकटकालीन अमिकरण समाप्त कर दिए गए। इन अमिकरणों के कुछ कार्य और सेवीवर्ग विदेश विभाग को सौंप दिए गए। युद्ध के अन्तिम दिनों में जब सहायक सेवा (Auxiliary) को हटाना अनिवार्य हो गया तो विदेश सेवा में मानव शक्ति को खपाने की समस्या उत्पन्न हो गई।

1945 और 1946 के अधिनियम 3 मार्च 1915 को अस्थाई कानून द्वारा विदेश सेवा में प्रशासनिक, द्वितीय और लिटिक सेवीवर्ग की एक नई श्रेणी गठित की गई। योग्य सहायक सेवा के अधिकारियों को इस नई श्रेणी में रखकर स्थाई स्तर प्रदान किया गया। 3 जुलाई 1946 को विदेश सेवा मानव शक्ति विधेयक पारित हुआ। इसने अगले दो वर्षों में 250 विदेश सेवा अधिकारियों की नियुक्ति की शक्ति प्रदान की। वे नियुक्तियाँ किसी भी वर्गीकृत ग्रेड में उम्मीदवार की उम्र, अनुभव व योग्यता के आधार पर हो सकती थीं। उम्मीदवार की उपयुक्तता का आधार 15 वर्ष की अमेरिकी नागरिकता, उम्र पूर्व सैनिक सेवा का अनुभव तथा विदेश मन्त्री द्वारा निर्धारित परीक्षा उत्तीर्ण करना आदि थे। इनके बाद नियमित विदेश सेवा की परीक्षाएँ प्रारम्भ की गईं। प्रारम्भ में सेवाकालीन लिखित और मौखिक

परीक्षाएँ प्रारम्भ हुई बाद में तीन एक जैसी परीक्षाएँ सशस्त्र सेनाओं एव भूतपूर्व सैनिकों के लिए प्रारम्भ की गई। सितम्बर 1947 में नियमित सामयिक व्यावसायिक परीक्षाएँ होने लगी।

विदेश सेवा अधिनियम 1946 उपर्युक्त मानव शक्ति अधिनियम 1946 के अतिरिक्त 13 अगस्त 1946 को विदेश सेवा अधिनियम पारित किया गया जिससे विदेश सेवाओं का पूर्ण पुनर्गठन हो गया। यह अधिनियम सशोधित रूप में आज भी विदेश सेवा का आधार है। इस अधिनियम में पूर्वस्थिति व्यवस्थापनों को परिवर्तित और सहिताबद्ध कर दिया तथा सेवीवर्ग की सेवा की शर्तों एव गती वर्गीकरण प्रशिक्षण एव प्रयोग के लिए महत्वपूर्ण तथा व्यापक व्यवस्थाएँ की गई। युद्धकाल में सेवाओं के संगठन और प्रशासन की दृष्टि से अनेक दोष दृष्टिगोचर हुए थे जिनमें सुधार किया जाना अनिवार्य था। अधिनियम द्वारा विदेश सेवा के नए विदेशक विदेश सेवा बोर्ड विदेश सेवा परीक्षक बोर्ड और विदेश सेवा संस्था की व्यवस्था की गई। इससे वेतन भत्ते और सेवा निवृत्ति के प्रावधानों में सुधार हुआ तथा सभी सेवीवर्ग को एक जैसी ढाँचे में वर्गीकृत किया जो कुछ परिवर्तनों के साथ आज भी प्रचलित है। इस अधिनियम ने विदेश मन्त्री के निर्देशन के अधीन एक समन्वित सेवा की व्यवस्था की। अब सेवीवर्ग का प्रबन्ध पुनः शक्तिकालीन व्यवस्था जैसा हो गया।

हूवर कमीशन की सिफारिशें 1949 1949 में प्रस्तुत हूवर कमीशन के प्रतिवेदन में सर्वाधिक विवादपूर्ण सिफारिश विदेश सेवा से सम्बन्धित थी। इसकी मुख्य सिफारिश यह थी कि कुछ स्तरों से ऊपर की विदेश सेवा और विदेश विभाग से सेवीवर्ग को कुछ वर्षों में एक विदेश कार्य सेवा (Foreign Affairs Service) के रूप में संयुक्त कर दिया जाए। यह समुद्र पार एव देश में सेवाएँ प्रदान करे। प्रतिवेदन में यह कहा गया कि दोनों को पृथक् रखने से नागरिक सेवा और विदेश सेवा के बीच ईर्ष्या और असमानता की भावना उत्पन्न होती है तथा एक ही समस्या के लिए दो प्रशासनों की आवश्यकता होती है। इसमें कहा गया कि विदेश सेवा के अधिकारी दीर्घकाल तक विदेशों में रहने के कारण देश से अपना सम्बन्ध खो देते हैं। दूसरी ओर विभागीय अधिकारी अन्य राष्ट्रों से कम सम्बन्ध और उसकी कम जानकारी रखते हैं।

हूवर कमीशन के मुख्य प्रस्ताव निम्नलिखित थे—(i) नवीन विदेश कार्य के सभी सदस्य घर और बाहर सेवा करने के लिए बाध्य होने चाहिए। (ii) यद्यपि एकीकरण कानून द्वारा कर दिया जाए तथापि इसकी क्रियान्विति कई वर्षों में होनी चाहिए। (iii) कुछ श्रेणियों को छोड़कर अन्य सभी सेवीवर्ग को नई एकीकृत सेवा में सम्मिलित किया जाना चाहिए। (iv) जो अधिकारी विदेश विभाग से ऐसी सेवा में न आना चाहें उन्हें सरकार की दूसरी इकाइयों में परिवर्तित कर दिया जाए और जो आना चाहें वे प्रार्थना पत्र तथा मौखिक परीक्षा में शामिल हों। (v) एकीकृत सेवा निवृत्ति अधिकार सभी दृष्टियों से एक समान होंगे। (vi) युवक अधिकारियों पर सेवा के प्रथम 15 वर्षों में अधिक दायित्व डाले जाने चाहिए। (vii) एकीकृत सेवा स्थापित नहीं होनी चाहिए वरन् यह विदेश मन्त्री के निर्देशन और निरीक्षण के अधीन रहनी चाहिए।

ब्रिस्टन समिति का प्रतिवेदन हूवर कमीशन की सिफारिशों को कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सका और इसलिए विदेश मन्त्री जॉन फॉर्स्टर डलेस ने 1954 में सेवीवर्ग के सम्बन्ध में एक सरकारी समिति नियुक्त की। इस समिति का अध्यक्ष हेनरी ब्रिस्टन को

नियुक्त किया गया। 18 मई 1954 को संसि ने एक सुदृढ़ विदेश सेवा की स्थापना की सिफारिश की गई को प्रस्तुत किया। इसकी मुख्य सिफारिश यह थी कि विदेश सेवा का एकीकरण दो दश के अन्दर किया जाए। विदेश मंत्री डब्लेस ने इसकी सिफारिश को स्वीकार कर लिया और उन्हें प्रोत्साहित करने का निर्देश दे दिया। सन् 1954 से '56 तक एकीकरण के प्रयत्न किए गए। इस कार्य में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं किन्तु विदेश सेवा ने नए रक्त के आगमन से पर्याप्त लाभ भी हुआ। अमेरिकी कंग्रेस ने 1954-55-1955 और 1960 के सत्रों में द्वारा 1946 के अधिनियम में आदेशदाक और दौलतिय परिदर्शन किए हैं और अमेरिकी विदेश सेवा का वर्तमान स्वरूप इसी संशोधित अधिनियम पर आधारित है।

अमेरिकी विदेश सेवा की वर्तमान स्थिति (The American Foreign Service Today)

अमेरिकी विदेश सेवा के संबंध पर विदेश न्याय या विदेश मंत्री और राजदूत होते हैं। इनके नीचे अमेरिकी विदेश सेवा की मुख्यतः तीन श्रेणियाँ हैं—विदेश सेवा अधिकारी (F.S.O.) विदेश सेवा आर्थिक अधिकारी (F.S.R.) और विदेश सेवा स्टॉक अधिकारी तथा कर्मचारी (F.S.S.O. तथा F.S.S.) विदेश सेवा स्थानीय कर्मचारियों (F.S.L.E.) का स्तर में भी मंत्री सचिव ने कर्मचारी कार्य करते हैं जो विदेशों में स्थित विदेश सेवा कर्मचारियों की सहायता करते हैं।

राजदूत और मंत्री (Ambassadors and Ministers)

राजदूत या मंत्री परिग्रहण राज्य की राजधानी में निवास के अधिकार का कार्य करते हैं। वे अपने स्टॉक के सदस्यों को व्यक्तिगत विदेश देने के लिए उत्तरदायी होते हैं। वे राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। लेकिन इनकी पुष्टि सेंनेट द्वारा किया जाना आवश्यक है। उनका प्रेषित राजदूत हवा अधिकार नहीं है और इसलिए उनका धन आदेश रूप से अर्जेंट विदेश सेवा में नहीं किया जा सकता। इनकी नियुक्ति में राष्ट्रपति को पक्ष स्वेच्छा का अधिकार रहता है। आमतौर पर व्यवस्थित रूप से व्यक्ति के राजदूत या मंत्री पद पर नियुक्त किया जाता है। समय समय पर राजनीतिक नियुक्तियाँ भी होती हैं। अर्जेंट विदेशों में प्रत्येक वर्ष अमेरिकी निवास राजदूत स्तर का है।

विदेश सेवा अधिकारी (Foreign Service Officers)

यह विदेश सेवा का मध्य मध्यमवर्गीय स्तर है। मध्य स्तर के निवास = अधिकारी महत्त्वपूर्ण कार्य इन अधिकारियों द्वारा सम्पादित होते हैं। ये एक मध्य स्तर में निवास के अधिकार राजदूत या मंत्री का स्टॉक होते हैं। इनकी नियुक्ति मंत्रालय के परामर्श पर राष्ट्रपति द्वारा की जाती है किन्तु इनमें राष्ट्रपति को स्वेच्छा का अधिकार नहीं है क्योंकि इनकी नियुक्ति का अधिकार सिविल और नौसैनिक प्रशासक होते हैं। इन अधिकारियों के पद का नाम राजदूत-सहायक निवास दूत-सहायक और विदेश निवास में स्थित निवास है। विदेश निवास में नियुक्त अधिकारी विदेश सेवा अधिकारी का नाम भी होता है।

विदेश सेवा के स्थानीय अधिकार सम्बन्ध राजनयिक एवं उच्च शिक्षा दूत-सहायक देने नियुक्त किया जाता है। इनके अतिरिक्त अनेक अन्य नाम भी हैं। उनका नियुक्त

के प्रमुख के अधीन सर्वोच्च स्थापित होता है तथा श्रेणी के अनुसार चौथी प्रथम द्वितीय या तृतीय स्तर का सचिव बहा जाता है। कुछ बड़े राजदूतावासों में निश्चय के प्रमुख की सहाय्यता के दूतावास का मंत्री एवं मन्त्री पार्षद होता है। वाणिज्य दूतावास कार्यालयों में अधिकारियों का पदसंघान इस प्रकार होता है महावाणिज्य दूत वाणिज्य दूत एवं उपवाणिज्य दूत। ये नाम पदाधिकारी के बाम की अपेक्षा उदासी श्रेणी के सूचक अधिक हैं।

सन् १९४६ के अधिनियम द्वारा विदेश सेवा के अधिकारियों को ७ श्रेणियों में रखा गया। बाद में इसमें तीसरी श्रेणियाँ और बढ़ा दी गईं। इन अधिकारियों के आठ वर्ग (Classes) हैं। पदोन्नतियों योग्यता के अन्तर पर भी जाती है। यदि एक अधिकारी निश्चित काल में पदोन्नत नहीं हो पाता तो वह स्वतः ही सेवानिवृत्त हो जाता है। विदेश सेवा अधिकारी आवश्यकताानुसार जहाँ भेजे जाते हैं वही सेवा करते हैं। इसका वाणिज्य दूतावास राजनयिक निश्चय तथा विदेश विभाग में अदल बदल कर उपयोग किया जाता है। कभी कभी उन्हें राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार श्रम कृषि विज्ञान या अन्य सम्मेलनों अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों या सामुदायिक अभिकरणों का काम सौंपा जाता है। उन्हें विचार विमर्श या प्रशिक्षण के लिए किसी भी सरकारी अभिकरण में नियुक्त किया जा सकता है। ये सम्भारणत कुछ वर्षों बाद एक पद से दूसरे पद पर स्थानान्तरित होते रहते हैं। कानून के अनुसार प्रत्येक विदेश सेवा अधिकारी जो उदासी सेवा के प्रथम १५ वर्षों में कम से कम ४ वर्ष देश में कार्य करना होगा।

विदेश सेवा आरक्षित अधिकारी

(Foreign Service Reserve Officer)

इसकी स्थापना १९४६ के अधिनियम द्वारा मुख्यतः आवश्यक योग्यतापूर्ण विशेषज्ञों की अरथादी मर्ती के लिए की गई थी। अगस्त १९६४ में आरक्षित अधिकारियों को १० वर्ष के लिए नियुक्त किया जाने लगा तथा इसके बाद कम से कम एक वर्ष के लिए सेवा को हटाकर उन्हें पुनः १० वर्ष के लिए नियुक्त किया जा सकता था। इन अधिकारियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा ७ होकर विदेश मन्त्री द्वारा की जाती है। इन्हें विभागीय अध्यक्ष की स्वीकृति के बाद किसी भी सरकारी अभिकरण अथवा गैर सरकारी क्षेत्र से लिया जा सकता है। यह आशा की जाती है कि इस तरह से केवल विशेष प्रकृति के और असाधारण योग्यता वाले लोग आरक्षित अधिकारी द्वितीय विश्वयुद्ध काल में नियुक्त किए जाने वाले विदेश सेवा सहयोगी (Auxiliary) की भाँति हैं।

विदेश सेवा आरक्षित अधिकारियों की नियुक्ति विदेश सेवा की एक मूल श्रेणी के लिए की जाती है। नियुक्ति के समय उनकी उच्च योग्यता और अनुभव का ध्यान रखा जाता है। इस व्यवस्था के अनुसार परिवर्तित परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए बाहर से विशेषज्ञों को लिया जा सकता है। ये अधिकारी विदेश सेवा में स्थायी स्तर प्राप्त नहीं कर पाते किन्तु पद पर रहते हुए विदेश सेवा अधिकारियों के समान वेतन मते विशेषाधिकार तथा अन्य सुविधाएँ प्राप्त करते हैं। यदि विदेश मन्त्री यह अनुभव करे कि एक आरक्षित अधिकारी को राजनयिक या वाणिज्य दूतावास के स्तर पर कार्य करना चाहिए तो वह इससे लिए राष्ट्रपति से प्रार्थना करेगा और राष्ट्रपति सीनेट की सहमति से ऐसी स्वीकृति प्रदान

कर सकेगा। इन आरक्षी अधिकारियों को उनकी विशिष्ट कृत तैयारी के कारण सचरा सहचरी के रूप में रखा जा सकता है और ये प्रायः राजनीतिक अधिक सत्कृति श्रमिक खनिज सूचना या अन्य ऐसे ही विषयों से सम्बन्धित रहते हैं।

विदेश सेवा स्टाफ तथा अन्य कर्मचारी

(Foreign Service Staff and Other Employees)

विदेश सेवा स्टाफ अधिकारियों एवं अन्य कर्मचारियों में वे सभी अमेरिकी सेना सम्मिलित हैं जिनका ऊपर उल्लेख नहीं किया गया है। वे मुख्यतः प्रशासनिक, वित्तीय एवं लिपिक वर्ग के कर्मचारी होते हैं। इनकी नियुक्ति किसी विदेश परीक्षा के बिना निम्न मन्त्री द्वारा की जाती है। इनकी नियुक्ति निम्नलिखित नागरिक सेवा की नियुक्तियों की समान दोगुना और अनुभव के अनुसार की जाती है। इस स्टाफ में 22 से भी अधिक श्रेणियों के कर्मचारी होते हैं। इनका कार्य और पदोन्नति इसके अनुभव तथा दोगुना पर निर्भर होती है। विदेश सेवा कर्मचारियों के अतिरिक्त विदेश मन्त्री की स्वीकृति से समुद्र पर देशों में कुछ विदेशी लिपिक तथा अन्य कर्मचारी नियुक्त कर दिए जाते हैं। वे प्रायः लिपिक, स्टेनोग्राफर, व्याख्याता, अनुवादक, टकाकर्ता, टेलीग्राफ ऑपरेटर, मशीन ऑपरेटर, आदि होते हैं।

वाणिज्य दूतावास के अधिकर्ता (Consular Agents)

प्राचीनकाल में एक वाणिज्य दूतावास के अधीन अनेक बन्दरगाह रहते थे जहाँ अमेरिकी जहाजों का आवासन रहता था। ऐसी स्थिति में वाणिज्य दूत को दूसरे बन्दरगाहों के निवासियों के अधिकारों नियुक्त करने पड़ते थे। नियुक्ति के समय अमेरिकियों को प्रत्येक देश की जातीयता दी जाती थी। इनकी सच्चा क्रमशः बढ़ती घटती रही है। सन् 1946 के अधिनियम में इन अधिकारियों की नियुक्ति का उल्लेख था किन्तु उनके कर्तव्यों का उल्लेख नहीं था। आजकल अधिकर्ता एक अमेरिकी या विदेशी व्यापारी होता है जो प्रायः व्यस्त बन्दरगाह में रहता है जहाँ नियमित वाणिज्य दूत नियुक्त नहीं किए जा सकते। उसका प्रमुख कार्य निम्नलिखित वाणिज्य दूतावास के अधिकारियों की सहायता और सहयोग करना है।

विदेश सेवा स्थानीय कर्मचारी

(Foreign Service Local Employees)

प्रारम्भ में यह परम्परा थी कि विदेशियों को प्रमुख वाणिज्य दूत अधिकारी द्वारा लिपिक के रूप में नियुक्त किया जा सकता था किन्तु कानूनी रूप से ऐसे कर्मचारी व्याख्याता, अन्य छोटे मोटे कार्यों के अतिरिक्त कोई कार्य नहीं करते थे। द्वितीय विश्वयुद्ध तक इन राजदूतवास और वाणिज्य दूतवास में अनेक महत्वपूर्ण पदों पर लगाया गया था। सन् 1946 के अधिनियम में ऐसे विदेशियों की नियुक्ति की व्यवस्था थी। इस श्रेणी के कर्मचारी स्थानीय कहलाते हैं। ये अनेक प्रकार के कार्य सम्पन्न करते हैं। इन स्थानीय कर्मचारियों की उपयोगिता यह होती है कि ये स्थानीय रीति रिवाजों, परिस्थितियों तथा जनता परिचित रहते हैं। इनसे अमेरिकी राजनयिकों का कार्य सुविधाजनक बन जाता है। यह स्पष्ट है कि कोई पदाधिकारी इन स्थानीयों की सहायता के बिना ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर सकता किन्तु इनको ऐसे कार्यों में नहीं लगाया जाता जिनसे अमेरिका की सुरक्षा खतरे में पड़ सके। इनको महत्वपूर्ण कगजत नहीं सौंप जाते। इन कर्मचारियों का वेतन सम्बन्धि

रा के जीवन स्तर के अनुसार निर्धारित किया जाता है। सामान्यतः इनको वहाँ के मापदण्ड। अधिक ही वेतन दिया जाता है। उनको पेंशन दी जाती है तथा अनेक देशों में उनको विदेशी सम्बन्धी सुविधाएँ दी जाती हैं।

अमेरिकी विदेश सेवा का मूल्यांकन

(An F valuation of the American Foreign Service)

संयुक्तराज्य की विदेश सेवा दूसरे राज्यों के साथ उसके मित्रतापूर्ण सम्बन्धों के निर्वाह में योगदान करती है। यद्यपि अमेरिकी नीतियों और उद्देश्यों का महत्व है तथापि इस देश के प्रतिनिधियों के चरित्र का भी उल्लेखनीय प्रभाव होता है। विदेश सेवा के महत्व को देखते हुए समय समय पर इसका अध्ययन करना अनिवार्य है ताकि इसके दोषों का निराकरण किया जा सके। सन् 1946 के विदेश सेवा अधिनियम द्वारा अनेक प्रकार से विदेश सेवा का पुनर्गठन हुआ। इसके अनुभव पर आधारित नवीनताओं को लागू किया गया किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि अब विदेश सेवा पूर्णतः दोषमुक्त हो चुकी है। आज भी इसमें अनेक दोष हैं जिनमें से कुछ का दायित्व विदेश सेवा पर है। उदाहरण के लिए कुछ राजदूतों का गलत आचरण विदेश सेवा का दोष नहीं कहा जा सकता जबकि ये आजीवन राजनयिक नहीं हैं। राजदूत पदों पर राजनीतिक निपुणियों की यही कीमत चुकानी पड़ती है। देश की विदेश नीति को क्रियान्वित करने का दायित्व कांग्रेस राष्ट्रपति और जनता पर ही डाला जा सकता है जिसके विनियोग के अभाव में ऐसा हुआ। विदेश विभाग भी आरोप मुक्त नहीं रह सकता क्योंकि यह आन्तरिक विभागीय मामलों में उलझा रहता है। स्वयं विदेश सेवा भी दोषमुक्त नहीं है क्योंकि इसने हमेशा अवसरों का पूरा लाभ नहीं उठाया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ में विदेश सेवा अपने कार्य के लिए अपर्याप्त पाई गई। इसने अपनी समस्याओं का मुकाबला करने के लिए कोई तैयारी नहीं की। वर्तमान में परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं तथा इस परिवर्तित विश्व के दायित्वों को पूरा करने के लिए विदेश सेवा को सामाजिक पुनरीक्षा अनिवार्य है। हवर कमिशन ब्रिस्टन समिति एच सीनेट की विदेश सम्बन्धी की समिति के सुझावों के आधार पर इसे सुधारा जा सकता है। स्वयं विदेश सेवा को भी समय समय पर अपना आत्म निरीक्षण एवं मूल्यांकन करते रहना चाहिए।

विदेश सेवा की मन स्थिति विदेश सेवा के विरुद्ध एक मुख्य आलोचना यह की जाती है इनकी मन स्थिति रुढ़िवादी एवं परम्परावादी होती है। नवागन्तुक अधिकारी को शीघ्र ही यह ज्ञात हो जाता है कि सेवा में उसका प्रवेश कोई साहसिक या रोमान्टिक कार्य के लिए नहीं हुआ। उसका अधिकांश समय औपचारिकतापूर्ण कार्यों में ही व्यतीत हो जाता है। छोटे स्थानों पर अधिकांश कागजी कार्यवाहियाँ आजीवन अधिकारी द्वारा सम्पन्न की जाती हैं। बड़े मिशनो में कागजी कार्य युवा सदस्यों द्वारा किये जाते हैं। बड़े अधिकारियों का अधिकांश समय स्वयं को घटनाओं से सूचित रखने में ही व्यतीत हो जाता है। इन कार्यों में उसकी कल्पनात्मक शक्ति एवं पहल की प्रतिभा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अपने सीमित और कृत्रिम वातावरण में कार्य करता हुआ वह शीघ्र ही एक विशेष मन स्थिति का बन जाता है। उस पर सेवा का मनोविज्ञान छा जाता है।

पदोन्नति की दृष्टि से विदेश सेवा के सदस्य को एक विशेष मनस्थिति अपनानी पड़ती है। पदोन्नति सनी होती है जबकि कोई कर्मचारी लम्बे समय तक सेवा में रहे और कठिनई से बचता रहे। विदेश सेवा में कठिनई से बचने का अर्थ यह है कि कोई कर्मचारी किसी प्रश्न पर ऐसा दृष्टिकोण न अपनाए कि उसे दरिष्ठ अधिकारी द्वारा निरस्त कर दिया जाए। क्षेत्र में कनिष्ठ अधिकारियों की कार्यकुशलता प्रतिवेदन पर दरिष्ठ अधिकारी के हस्तक्षर होते हैं। ये प्रतिवेदन व्यवसायिक सुरक्षा और पदोन्नति की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं। अल्पकालिक अधिकारी शीघ्र ही यह जान जाता है कि उसे या तो अपनी सेवा स्थायी करानी चाहिए या छोड़ देनी चाहिए। समय गुजरने के साथ कर्मचारी पूरी तरह से सिद्धान्तवादी बन जाता है और अपनी पहल तथा कार्य करने की शक्ति को खो देता है।

स्पष्ट है कि विदेश सेवा आवश्यक रूप से व्यवसायिक प्रतिभा को प्रोत्साहित करती है। इसका स्तर और मूल्य बनए रखने के लिए कुछ मापदण्ड स्थापित किए जाते हैं। इनमें अनुशासन, एकरूपता और पूर्ण निष्ठा के सिद्धान्त शामिल हैं। दीर्घकाल में या तो व्यक्तिगत अधिकारी को उन्हें स्वीकार कर लेना चाहिए अथवा वह सक्रिय और प्रगतिशील सदस्य नहीं रह जायेगा। ऐसे मापदण्डों के बिना विदेश सेवा बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं रह सकेगी। इस प्रकार एक प्रभावशाली विदेश सेवा की रक्षा करना, जो सम्पूर्ण व्यवसायिक सेवा के गुणों से युक्त हो, एक गम्भीर समस्या है। दरिष्ठ पदों के कर्मचारी कुछ समय तक पुराने आजीवन अधिकारियों के अधीन रहते हैं। फलस्वरूप वे विदेश सेवा के मादी रूप को प्रभावित करते हैं।

सेवीवर्ग का द्वैतवाद या एकीकरण : द्वितीय विश्वयुद्ध के समय अनेक सरकारी अधिकारियों ने अपने प्रतिनिधि समुद्र पार के देशों में भेजे और उनमें से अधिकांश ने अपना कार्य अल्पकालिक कुरालता के साथ निर्वह किया है। इससे यह प्रश्न उठा कि विदेश-सेवा जैसी आजीवन की आज क्या आवश्यकता है ? कुछ आलोचकों ने यह मत प्रकट किया कि विदेश सेवा को विदेश-मन्त्रालय से समुक्त कर देना चाहिए तथा दक्षिणतन और समुद्र, पार के कार्यलयों के कर्मचारियों के बीच पूर्ण अदला बदली की व्यवस्था होनी चाहिए तथा समस्त सेवीवर्ग पर एक जैसे नागरिक सेवा नियम लागू होने चाहिए। दूसरी ओर एक अन्य विचार यह व्यक्त किया गया कि आजीवन सेवा (Career Service) पूरी तरह से सन्तुष्ट तथा प्रतिस्पर्धी है उसे छोड़ना नहीं चाहिए। जब हृदय आयोग तथा ब्रिस्टन समिति ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया तो इस प्रश्न पर भी विचार हुआ। उनका मत था कि एक निली जुली सेवा प्राप्त करने के लिए दोनों सेवीवर्ग सेवाओं का एकीकरण एक देना चाहिए।

सेवीवर्ग के एकीकरण के सम्बन्ध में अलग अलग विचार व्यक्त किए जाते हैं। इसके विरुद्ध एक मुख्य आलोचना यह की जाती है कि जिन विदेश सेवा अधिकारियों को विदेश सेवा में लिया जाएगा वे पुनः क्षेत्र में भेजे जाने तक के समय को जैसे जैसे निकालने का प्रयत्न करेंगे। उनका ध्यान हमेशा इस बात पर रहेगा कि उन्हें अगले कार्य के लिए कहीं भेजा जाएगा। दूसरी ओर विदेश दिग्गज अनेक योग्य विशेषज्ञों से दक्षित हो जाएंगे। इनसे वे कुछ लोग विदेश जाने की अपेक्षा त्यागपत्र दे देने और तो विदेश चले भी जायेंगे वे विदेशी भाषा एवं अन्य योग्यताओं के अभाव में कठिनई अनुभव करेंगे। दूसरी ओर विदेशों में रहने का अनुभव प्राप्त करने वाले अधिकारी देश में रहकर कार्य करने में कठिनई अनुभव

करने के लिये उन्हें वहाँ के उत्तरदायित्वों के लिए आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त नहीं होगा। एक अन्य शिकायत यह भी जाती है कि इन दोनों प्रकार की सेवाओं के एकीकरण से दोनों ही हतोत्साहित हो जाती हैं। सुप्रशिक्षित विदेश सेवा अधिकारियों को विदेश विभाग में अपना नया दायित्व अतिरिक्त प्रतीत होता है। दूसरी ओर विदेश विभाग के स्टाफ विशेषज्ञ अधिकारियों को पदोन्नति के लिए ऐसे अधिकारियों से स्पर्धा करनी होती है जो भाषाओं और राजनयिक कार्यों में पूर्ण रूप से प्रशिक्षित होते हैं। ऐसी स्थिति में सेवाओं के एकीकरण का कार्य समस्यापूर्ण बन जाता है। यह प्रश्न धीरे धीरे खिया जाना चाहिए।

अधिकारियों का विशेषीकरण विदेशी सेवा भी एक अन्य मुख्य समस्या से दीवर्ग का विशेषीकरण है। युवा अधिकारियों को राजनयिक तथा शान्तिपूर्ण दूतावास के कार्यों में लगाने से तथा स्थानान्तरण होते रहने से उन्हें अधिक भौतिक विशेषीकरण प्राप्त नहीं हो पाता। यह सच है कि कुछ क्षेत्रों में भेजे गए उच्चस्तरीय अधिकारियों को उस क्षेत्र का पूर्व अनुभव होता है किन्तु समस्त सेवा में यह बात दिखाई नहीं देती। एक अधिकारी प्रारम्भ में यदि चीन भेजा जाता है फिर उसे लेटिन अमेरिका, जर्मनी और अफ्रीका भेज दिया जाता है तो उसे किसी भी क्षेत्र में विशेषज्ञता प्राप्त नहीं हो पाती। वह कहीं की भी परिस्थितियों के साथ उचित सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता। उपर्युक्त विरलेक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अमेरिकी विदेश सेवा के सामुख्य ओक बहिष्ठाइयों उपरिधत है।

भारतीय विदेश सेवा और विदेश कार्यालय (Indian Foreign Service and Foreign Office)

भारतीय विदेश सेवा और भारतीय राजनय

भारत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में नया राष्ट्र नहीं था। जैसा कि डॉ॰ पुष्पेश पन्त ने लिखा है 'ओक देशों के साथ भारत सांस्कृतिक व्यापारिक सम्बन्धों का इतिहास सैकड़ों वर्ष पुराना है। औपनिवेशिक दारमता के काल में इस परम्परा में व्यवधान पड़ गया था पर बर्ताविया शासनाधीन भारत में भी औपनिवेशिक भारतीय राजनय स्वतन्त्र रूप से सम्पन्न हो रहा था। कुछ घुने हुए देशों उपनिवेशों के साथ भारत के राजनयिक सम्बन्ध थे तथा भारत अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेता रहा था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत ने इन औपनिवेशिक तातों को तोड़ा नहीं बल्कि यह कोशिश की कि उन्हें नए साथे में ढाला जाए। सन् 1946 में अन्तरिम सरकार के शासकाल में केवल 7 भारतीय राजनयिक विदेशों में थे जबकि आज इनकी संख्या सैकड़ों में है। भारतीय सरकार को यह पता लगने लगा था कि राजनयिक दायित्व अत्यन्त जटिल है। सभी जगह राजदूतों की नियुक्ति सम्भव नहीं थी। फिर राजनयिक कर्म अनेक स्तर पर सम्पन्न होता है जिसके लिए विशेषीकरण की आवश्यकता होती है। भारतीय विदेश नीति को कर्म में कार्यान्वित करने के लिए एक पेशेवर भारतीय विदेश सेवा का संगठन जरूरी हो गया था।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय विदेश सेवा का गठन कैसे किया जाए यह एक दिकट समस्या थी पर शीघ्र ही इस समस्या को हल कर लिया गया। यह निर्णय किया गया कि विदेश सेवा में प्रवेश परीक्षा द्वारा ही नियुक्ति की जाए लेकिन प्रारम्भ में बड़ी उम्र के कुछ अभ्यार्थी भी लिए जाएं। इनमें से कुछ सैनिक सेवाओं से और कुछ अन्य व्यवसायों से लिए

गए और भारतीय विदेश सेवा के गठन और विस्तार का सिलसिला चल पड़ा। भारतीय विदेश सेवा के लिए सेना से लिए गए अधिकारी बहुमूल्य साबित हुए और कुछ अन्य अधिकारियों ने भी अपने ध्यान की उपयोगिता सिद्ध की। राजदूतों को उचित दिशा निर्देश देने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। अतः जब मेनन (के पी एस) और आसफअली को क्रमशः चीन और अमेरिका में स्वतन्त्र भारत का पहला राजदूत नियुक्त किया गया तो प्रधानमंत्री नेहरू ने उनके मार्ग दर्शन के लिए एक लम्बी टिप्पणी लिख भेजी। इसकी कुछ महत्वपूर्ण हिदायतें जैसा डॉ. पुष्पेश पन्त ने लिखा है इस तरह थी—

“हमारे राजदूत एक महान् देश का प्रतिनिधित्व करेंगे और यह सही भी है कि वे और लोगो को इस बात का अहसास कराएँ पर उन्हें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि वे एक गरीब देश का प्रतिनिधित्व करते हैं जहाँ करोड़ों लोग भुखमरी के कगार पर खड़े रहते हैं। उन्हें कोई भी काम ऐसा नहीं करना चाहिए जो इसके विपरीत हो।” उन्होंने भारतीय राजनयिकों को यह सलाह भी दी कि वे सर्वथा ही भारतीयों की तरह रहे अंग्रेजों के नकलची न बने।

भारतीय विदेश सेवा के प्रारम्भिक वर्षों में गरिमा और कौशल की कमी खटकती रही और अनेक राजनयिकों ने अपना गृह कार्य करने के स्थान पर ऐश्वर्य और बेक्रिकी का बाना पहन कर अपनी जिम्मेदारियाँ पूरी करनी चाही। समय के साथ विदेश सेवा में निखार आता गया और अनेक भारतीय राजनयिकों ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। आज विश्व के अधिकांश देशों में भारतीय राजदूत नियुक्त हैं। राष्ट्रमण्डलीय देशों में भारतीय उच्चायुक्त नियुक्त हैं। बहुत से देशों में भारतीय महावाणिज्य दूत और वाणिज्य दूत नियुक्त हैं। सयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत का विशेष प्रतिनिधि नियुक्त है। इतना सब कुछ होते हुए भी भारतीय विदेश सेवा और भारतीय राजनय उस स्तर से भी दूर है जो ब्रिटिश और अमेरिकी विदेश सेवा तथा राजनय का है। भारतीय राजनयिकों की नियुक्ति करते समय सार्वजनिक जीवन के विशिष्ट व्यक्तित्वों के साथ साथ भारतीय विदेश सेवा के वरिष्ठ अधिकारियों को इस पद पर नियुक्त किया जाता है। वर्तमान में विदेश सेवा को सक्षम और गतिशील बनाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

भारतीय विदेश मन्त्रालय

भारत की भौगोलिक स्थिति एवं विदेश नीति के सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के नियमन और संचालन में एक विशेष प्रकार की भूमिका निभाते हैं। भारत का विदेश मन्त्रालय अन्य देशों के साथ भारत के सम्बन्धों का नियमन करने वाली विदेश नीति के निर्माण एवं क्रियान्वयन के लिए उत्तरदायी है।

विदेश मन्त्रालय का प्रारम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में 1783 में विदेश विभाग की स्थापना हुआ था। स्वतन्त्रता से पूर्व इसके दो विभाग थे विदेश विभाग और राष्ट्रमण्डलीय सम्बन्ध का विभाग। 1947 में इनको मिलाकर एक मन्त्रालय बना दिया गया। सन् 1948 में इस मन्त्रालय को सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालय से बाह्य प्रचार विषय का हस्तान्तरण भी कर दिया गया। मार्च 1949 में इसके नामकरण में से ‘राष्ट्रमण्डलीय सम्बन्ध’ शब्द निकाल दिया गया और इसका नाम केवल विदेश मन्त्रालय रखा गया।

विदेश मन्त्रालय का संगठन

विदेश मन्त्रालय भारत सरकार का एक विशाल मन्त्रालय है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व यह मन्त्रालय सदैव ही गवर्नर जनरल की देखरेख में रहा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् जब तक पण्डित जवाहरलाल नेहरू भारत के प्रधानमंत्री रहे तब तक विदेश मन्त्रालय उन्होंने अपने पास रखा। उसके बाद भी इस मन्त्रालय के प्रधान सदैव कैबिनेट के महत्वपूर्ण सदस्यों में से रहे। वर्तमान में माधवसिंह सौलकी विदेशमन्त्री हैं। श्री जे एन दीक्षित विदेश सचिव हैं।

इस मन्त्रालय का प्रधान भारत सरकार की कैबिनेट के स्तर का एक मन्त्री होता है और उसकी सहायता हेतु प्रशासकीय स्तर पर तीन सचिव होते हैं। पहले इन तीनों सचिवों के कार्यों में समन्वय स्थापित करने के लिए एक महासचिव (सेक्रेटरी जनरल) भी हुआ करता था। यह पद कुछ समय पूर्व में समाप्त किया गया है। अब तीनों सचिव अपने अपने क्षेत्रों में सीधे मन्त्री महोदय के पास अपनी अपनी फाइले सम्प्रेषित करते हैं। विदेश सचिव निम्न सम्भागों (Divisions) के कार्य के लिए उत्तरदायी होता है (1) अमेरिकन सम्भाग (2) यूरोप सम्भाग (3) चीन सम्भाग (4) पाकिस्तान सम्भाग (5) समुक्त राष्ट्र तथा सम्मेलन सम्भाग (6) सकटकालीन मामलों का सम्भाग (7) अफ़ेशियन सम्मेलन तथा घालू अनुसन्धान सम्भाग (8) नयाधार सम्भाग (Protocol Division) (9) विदेशी प्रचार सम्भाग।

विदेशी मामलों का प्रथम सचिव (1) दक्षिण सम्भाग (2) उत्तरी सम्भाग (3) परिपत्र तथा बीसा सम्भाग के कार्य की देखभाल करता है।

विदेशी मामलों का द्वितीय सचिव (1) अफ्रीका सम्भाग (2) पश्चिमी अफ्रीका और उत्तरी अफ्रीका सम्भाग (3) प्रशासन सम्भाग (4) आर्थिक सम्भाग (5) ऐतिहासिक सम्भाग और (6) कानूनी एवं सधि सम्भाग के कार्य के लिए उत्तरदायी होता है।

सचिवों के अलावा अपर सचिव समुक्त सचिव आदि भी हैं। विदेश मन्त्रालय का अपना सचिवालय है।

विदेश मन्त्रालय सप्ताह भर में राजनयिक (Diplomatic) तथा कौंसली कार्यालयों (Consular Offices) को कायम रखता है मन्त्रालय में 85 अनुभाग (Sections) हैं जिनमें 38 तो प्रशासनिक (Administrative) हैं और 47 प्रादेशिक (Territorial) तथा तकनीकी (Technical) हैं। ये अनुभाग निम्नलिखित 12 सम्भागों में वर्गीकृत किए गए हैं—

- (1) अमेरिकन सम्भाग (American Division) उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका के देश और विदेशी सहायता।
- (2) यूरोप सम्भाग।
- (3) चीन सम्भाग।
- (4) दक्षिणी सम्भाग पश्चिमी एशिया तथा दक्षिण पूर्वी एशिया उत्तरी अफ्रीका सूडान अफगानिस्तान ईरान ब्रह्म श्रीलंका पारपत्र (Ceylon Passport) और दृष्टाक एशियन अफ्रीकन तथा कोलम्बो शक्ति सम्मेलन (Visual Asian African and Colombo Powers Conference)।

- (5) अफ्रीका सम्भाग (African Division) (उत्तरी तथा दक्षिणी सूडान के अलावा अफ्रीका) ।
- (6) पाकिस्तान सम्भाग (Pakistan Division) ।
- (7) नयाचार सम्भाग (Protocol Division) नयाचार कौसली कार्य (Consular Work) तथा देशान्तरवास (Emigration) ।
- (8) प्रशासन सम्भाग (Administration Division) विदेश स्थित भारतीय मिशन तथा प्रधान कार्यालयों (Headquarters) के प्रशासन (अर्थात् कर्मचारी दर्ग तथा गृह सम्बन्ध) स्थापना सम्बन्धी मामले (Establishment Matters) बजट तथा लेखे समान्य प्रशासकीय मामले ससद् कार्य ।
- (9) विदेशी प्रचार सम्भाग ।
- (10) विदेशी सेवा निरीक्षक दर्ग (Foreign Service Inspectorate) तथा अपहृत व्यक्ति (Abducted Person) ।
- (11) ऐतिहासिक सम्भाग ।
- (12) उत्तरी सम्भाग यह सम्भाग उत्तरी चीन तथा चीन के साथ सम्बन्धों के बारे में व्यवहार करता है ।

विदेश मन्त्रालय के अधीनस्थ कार्यालय निम्न प्रकार हैं—

- (क) देशान्तरवास संस्थान (Emigration Establishment) ।
- (ख) उत्तरी पूर्वी चीन में एजेन्सी ।
- (ग) नग पहाड़ी टुंगसांग क्षेत्र ।
- (घ) महानिरीक्षक का कार्यालय (Office of the Inspector General) असम राइफल ।

विदेश मन्त्रालय का वेलफेयर यूनिट मुख्यालय तथा विदेश स्थित मिशनों में काम करने वाले सभी कर्मचारियों के सामान्य हित कल्याण की देखभाल करता है ।

विदेश मन्त्रालय के कार्य¹

विदेश मन्त्रालय के कार्यों को निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है—

- (1) वैदेशिक मामले ।
- (2) विदेशी एवं राष्ट्रमण्डलीय देशों से सम्बन्ध ।
- (3) भारत में विदेशी राजनयिक दूतियाँ अधिकारियों एवं संपुष्ट राष्ट्रसभ तथा उसकी विशिष्ट सत्यताओं के अधिकारियों से सम्बन्धित मामले ।
- (4) पसपेट एवं वीस ।
- (5) भारत से विदेशी एवं राष्ट्रमण्डलीय देशों को तथा वहाँ से भारत को अपराधियों का प्रत्यपन ।
- (6) वैदेशिक एवं राष्ट्रमण्डलीय देशों से राज्य टिप्पण निवारक निरोध सम्बन्धी मामले ।
- (7) भारत में विदेशी एवं राष्ट्रमण्डलीय देशों के निवासियों का स्वदेश की पुनरागमन तथा इन देशों से भारतीय नागरिकों के आगमन सम्बन्धी मामले ।

- (8) भारतीय उत्प्रवासन अधिनियम 1977 के अधीन भारत से समुद्र पारीय देशों को एवं वहाँ से भारत को समस्त उत्प्रवासियों का उत्प्रवासन ।
- (9) सभी वाणिज्य दूतों विषयक कार्य ।
- (10) शिक्षा मन्त्रालय की सास्कृतिक छात्रवृत्तियों सम्बन्धी योजनाओं के कार्यों एवं विदेशों में भारतीय मूल के निवास करने वाले वैयक्तिक छात्रों के लिए भारत में भेदिकृत एवं इजीनियरिंग महाविद्यालयों में आरक्षित स्थानों का प्रवेश सम्बन्धी समन्वय कार्य ।
- (11) विदेशी एवं राष्ट्रमण्डलीय देशों के आमन्त्रुओं एवं राजनयिक तथा वाणिज्य दूतों तथा प्रतिनिधियों सम्बन्धी समारोहात्मक कार्य ।
- (12) पाण्डिचेरी गेआ दमन एवं दीव विषयक फ़ास एवं पुर्तगाल सम्बन्धी मामले ।
- (13) हिमालय पर पर्यटारोहण ।
- (14) सीमा क्षेत्रों में समन्वय एवं विचार कार्य ।
- (15) समुक्त राष्ट्रसंघ उसके अन्य अंग एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन ।
- (16) भारतीय विदेशी सेवा ।
- (17) भारतीय विदेशी सेवा शाखा ।
- (18) बाह्य प्रचार ।
- (19) राजनीतिक सन्धियाँ ।
- (20) युद्ध की घेबणा एवं समाप्ति विषयक विज्ञप्तियाँ ।
- (21) विदेशी क्षेत्रधिकार ।
- (22) खुले समुद्र एवं आकाश में किए गए अपराध एवं ऊँचतियाँ । भूमि समुद्र या आकाश में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विरुद्ध किए गए अपराध ।
- (23) भारत की भूमि सीमा का सीमांकन ।
- (24) भारत द्वारा नेपाल सरकार को कोलम्बो योजना के सहयोगी आर्थिक विकास के अधीन प्रदत्त आर्थिक एवं प्राविधिक सहायता ।

विदेश मन्त्रालय के राजडा एवं कार्य का अध्ययन पर बतलाता है कि विदेशों से सम्बन्धित भारत सरकार के जितने भी विषय अधवा कार्य हैं उन सबका नियमित निर्वाह इसी मन्त्रालय के द्वारा किया जाता है । अन्य देशों से शत्रुता मित्रता अधवा तटस्थता के सम्बन्ध स्थापित करने के निर्णय भी इसी मन्त्रालय में लिए जाते हैं । इसके दूतावासों को विदेशों में भारत की ऐसी आत्खों एवं कानों की सड़ा दी जा सकती है जो दूसरे देशों के सम्बन्ध में भारत सरकार को समय समय पर आवश्यक सूचनाएँ देते रहते हैं । इसी सूचना के आधार पर भारत सरकार उन देशों से अपने सम्बन्धों में आवश्यक परिवर्तन करती रहती है ।¹

भारतीय राजडा को कुशल और प्रभावी बनाने का मुख्य उत्तरदायित्व भारतीय विदेश मन्त्रालय पर है और यह उचित है कि विदेश मन्त्रालय समय समय पर भारतीय राजदूतों और राजनयिकों का सम्मेलन आयोजित कर उनका मार्गदर्शन करे । भारतीय राजदूतों की

कार्य पद्धति आज भी बहुत-कुछ पुराने ढर्रे पर है। भारतीय राजदूतों का यह कर्तव्य है कि वे विभिन्न देशों की अर्थ-स्थिति का अध्ययन करें और भारत के साथ अपना वाणिज्य बढ़ाने की दिशा में हर जरूरी प्रयत्न करें। भारत को आत्म-निर्भरता दिलाने में भारतीय राजनय एक महत्वपूर्ण योगदान दे सकता है। वह सम्बन्धित देशों के साथ भारत के व्यापारिक और आर्थिक सम्बन्ध बढ़ा सकता है। बर्तमान हमारे राजदूत इस दिशा में सक्रिय हों। पित्तलई समिति ने सिफारिश की थी—“भारत के दूसरे देशों में भेजे जाने वाले राजदूतों के घयन एवं नियुक्ति के लिए विदेश मन्त्रालय में वर्तमान में कोई वैज्ञानिक पद्धति नहीं है। प्रशासकीय दृष्टि से यह अत्यन्त उपयोगी होगा यदि विदेश मन्त्रालय किसी ऐसे प्रकौष्ठ अथवा शाखा का गठन करे जो राजदूतों के घयन एवं उनकी योग्यताओं आदि के विषय में समुचित सूचना आदि एकत्रित कर सके।”

विदेश प्रचार

विदेश मन्त्रालय का एक मुख्य कार्य ‘विदेश प्रचार’ है। विदेश प्रचार जितना व्यापक और प्रभावपूर्ण होगा भारतीय राजनयिकों का कार्य भी उतना ही सरल बन सकेगा। विदेश प्रचार राजनय का एक अनिवार्य अंग है और इसका मुख्य दायित्व भारतीय विदेश सेवा के प्रतिनिधियों राजनयिकों आदि पर है।

“मन्त्रालय का विदेश प्रचार प्रभाग भारत के विदेश सम्बन्धों से सम्बद्ध समग्र प्रचार कार्य के लिए उत्तरदायी है। यह प्रभाग विदेश स्थित भारतीय मिशनों द्वारा किए जाने वाले प्रेस सांस्कृतिक सम्बन्ध प्रचार तथा सांस्कृतिक कार्य की देखरेख करने और उसमें ताल-मेल बिठाने के लिए भी जिम्मेदार है। यह प्रभाग विदेश स्थित मिशनों को अपने-अपने प्रत्यायन के देशों में वहाँ की जनता और वहाँ के प्रचार तन्त्र के समक्ष भारत की विदेश नीति के सभी पक्षों को उचित रूप से प्रस्तुत करने के सम्बन्ध में सहायता देता है और इसके बारे में उन्हें समुचित पक्षसार भी उपलब्ध कराता है। उन्हें भारत की राजनीतिक आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक घटनाओं से भी इस तरह अवगत रखा जाता है जिससे कि विदेशी सरकारों और वहाँ के लोगों की भारत के साथ सम्बन्ध विकसित और विस्तृत करने में दिलचस्पी पैदा हो।”

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन में विदेश मन्त्रालय की अहम भूमिका है।